

श्रीकालू उपदेश वाटिका

आचार्य श्री तुलसी धवल समारोह के अभिनन्दन में

श्रीकालू उपदेश वाटिका

कवयिता

आचार्य श्री तुलसी

सम्पादक

अमरण श्री सागरमलजी : मुनि श्री महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम'

प्रबन्ध सम्पादक

श्री सोहनलाल बाफणा



१९६१

आत्मा राम एण्ड संस

दिल्ली · जालन्धर · जयपुर · मेरठ · चंडीगढ़

SHRI KALOO UPADESH VATIKA

by

Acharya Shri Tulsi

Rs. ~~12.50~~

[श्री जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कलकत्ता १ के सौजन्य से]

COPYRIGHT 1961 © ATMA RAM & SONS, DELHI-6

ग्रन्थ-संकलयिता

श्री सोहनलाल चिण्डालिया

प्रकाशक

रामलाल पुरी, संचालक

आत्माराम एण्ड संस

काश्मीरी गेट, दिल्ली-६

हौज खास, नई दिल्ली

चौड़ा रास्ता, जयपुर

माई हीरां गेट, जालन्धर

बेगमपुल रोड, मेरठ

विश्वविद्यालय क्षेत्र, चण्डीगढ़

प्रथम संस्करण : १९६१

मूल्य : ~~१२.५०~~

मुद्रक

सत्यपाल धवन

दी सैण्ट्रल इलेक्ट्रिक प्रेस

८०-डी, कमला नगर, दिल्ली-६

समर्पण

श्रीकालू गुरुदेव ! म्हारी भेंट सिकारो थे ।
अपणो जाण स्वयमेव, सकरण दृष्टि निहारो थे ।
भेंट सिकारो, नजर निहागे, मति रे विसारो देव ॥

बाल अवस्था बीती म्हारी गुरु चरणां री छांह ।
खिण-खिण याद आवे बो चेहरो, लम्बी गुरुजी री बांह ॥

मीठी-मीठी हीरां तोली बोली में उपदेश ।
इग्यारह वर्षा मैं मुणियो अंकित हृदय हमेश ॥

सोवत, जागत, ऊठत, बैठत, बात-बात में सीख ।
म्हारै तन-मन रग-रग मे रम, बगगी लोह री लीक ॥

राजस्थानी पद्यां में है तिणारो ओ अनुवाद ।
'श्रीकालू उपदेश वाटिका' गुरु-वचनामृत स्वाद ॥

गुरु-चरणां स्युं प्राप्त सभायो ग्रन्थ रूप ओ ज्ञान ।
गुरु-चरणां में आज समर्पण, स्वीकृत हो भगवान ॥

सम्पादकीय

आचार्य श्री तुलसी बहुमुखी व्यक्तित्व के धनी हैं। उन्हें किसी एक ही वर्ग विशेष में खपा लेना सहज नहीं है। उनके जीवन की एक धारा उन्हें सूर, तुलसी, कबीर आदि प्राक्तन सन्तों व भक्तों की परम्परा में एक अभिनव तुलसी के रूप में ला खड़ा करती है। सूर शुद्धाद्वैत के पुनरुद्धारक वल्लभ स्वामी के शिष्य थे। वे वैष्णव धर्मी, पुष्टिमार्गी साखा के सन्त थे। श्रीकृष्ण इनके आराध्य तथा उपास्य थे। इन्होंने श्रीकृष्ण के प्रति रचे गये अपने लीला पदों में अपनी भक्ति-उपासना को साकार रूप से चित्रित किया है। सन्त तुलसी राम के उपासक थे 'सिया-राम मय सब जग जानि' के रूप में उनकी विनम्र उपासना थी। अमुक्तमूल नक्षत्र में पैदा हुए, इसलिए माता-पिता ने जन्मते ही परित्याग कर दिया था। नाना परिस्थितियों को पारकर वे रामचरित-मानस के रचयिता बने। सूर की तरह ये भी सगुण भक्ति मार्ग के उपासक थे। कबीर अद्वैतवादी होते हुए भी एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे। भक्ति-मार्ग के निर्गुण उपासकों में इनका नाम मूर्धन्य है। इनके गुरु का नाम रामानन्द था। गुरु और भगवान् में इनकी एकात्मक बुद्धि थी। भक्ति और उपदेश इन सभी सन्तों के जीवन-विषय थे। आचार्य श्री तुलसी भारतवर्ष की प्राग्-ऐतिहासिक जैन-परम्परा के अनुयायी सन्त हैं। भक्ति, ज्ञान और कर्म का समन्वित रूप ही इनका जीवन-दर्शन है। ऐकेश्वरवाद और अद्वैतवाद के बिना भक्ति का कोई अन्य रूप भी बनता है, यह जैन-दर्शन से जाना जा सकता है। भक्ति और उपदेश के साथ कृतित्व भी आचार्य श्री तुलसी के जीवन का एक अभिन्न अंग है और इसीलिए वे सन्त साहित्य के इतिहास में एक नया अध्याय बन जाते हैं। दशो पद्यात्मक ग्रन्थ आप अब तक लिख चुके हैं जो सन्त साहित्य की परम्परा में श्रीवर्द्धक बने हैं। उन्हीं ग्रन्थों में 'श्रीकाल उपदेश वाटिका' भक्ति पदों और उपदेश पदों की एक मुक्ता माला है।

भाषा का स्वरूप

सन्त साहित्य की भाषा प्राचीन काल से ही विभिन्न रूपों में बहती रही है। भावाभिव्यक्ति के प्रकार विशेष ने उसे एक स्वतन्त्र भाषा जैसा रूप भी दिया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसे सधुक्कड़ी भाषा के नाम से कहा है। सधुक्कड़ी का अर्थ है—नाना भाषाओं का मिश्रित रूप। इस भाषा के मुख्य प्रयोक्ता सन्त कबीर हैं।

सूर की भाषा मुख्य रूप से ब्रज है और तुलसी की मुख्य भाषा अवधी । दोनों ने ही विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं के शब्दों का प्रयोग भी प्रचुर मात्रा में किया है । तुलसी विधिवत् अधीत थे । वे विभिन्न शास्त्रों के अध्येता और संस्कृतज्ञ थे । सूर श्रुति-ग्राही थे । उनकी बुद्धि कुशाग्र थी ; अतः उन्हें श्रवण-सुलभ पाण्डित्य मिला । कबीर जुलाहा थे । परिवार-निर्वाह के लिए आर्थिक सामर्थ्य भी उन्हें कुछ न्यून ही मिला था । उनकी विद्या उन्हें ससंग से ही उपलब्ध हुई थी । किसी भाषा के वे व्याकृत प्रयोक्ता नहीं थे । डा० रामकुमार का कहना है—‘कबीर की भाषा बहुत अपरिष्कृत है । उसमें कोई विशेष सौन्दर्य नहीं ।’ फिर भी कबीर की भाव-व्यंजना ने भाषा-दोष को बहुत कुछ ढाक दिया है । भावों की प्रखरता भाषागत दोषों की ओर पाठक का ध्यान ही नहीं जाने देती । आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं—भाषा पर कबीर का जबर्दस्त अधिकार था । वे बाणी के डिक्टेटर थे । जिस बात को उन्होंने जिस रूप में प्रगट करना चाहा है, उसे उसी रूप में भाषा से कहलवा दिया है—बन गया है तो सीधे-सीधे, नहीं तो दरेरा देकर । भाषा कुछ कबीर के सामने लाचार-सी नजर आती है । उसमें भागों ऐसी हिम्मत ही नहीं है कि इस लापरवाह फक्कड़ की किसी फरमाइश को नाहीं कर सके । और अकथ कहानी को रूप देकर मनोग्राही बना देने की जैसी ताकत कबीर की भाषा में है वैसी बहुत कम लेखकों में पाई जाती है । असीम अनन्त ब्रह्मानन्द में आत्मा का साक्षीभूत होकर मिलना कुछ बाणी के अगोचर—पकड़ में न आ सकने वाली ही बात है । पर, ‘बेहदी मैदान में रहा कबीरा सोय’ में न केवल उस गम्भीर निगूढ़ तत्त्व को मूर्तिमान कर दिया गया है, बल्कि अपनी फक्कड़ाना प्रकृति की मोहर भी मान दी-गई है । बाणी के ऐसे बादशाह को साहित्य-रसिक-काव्यानन्द का आस्वाद कराने वाला समर्थ तो उन्हें दोष नहीं दिया जा सकता ।’

आचार्य श्री तुलसी के लिए संस्कृत अधीत और अधिकृत भाषा है । राजस्थानी उनकी मातृभाषा है और हिन्दी मातृभाषावत् है । वे तीनों ही भाषाओं में रचना करते हैं । कबीर की तरह भाषा को दबाकर चलने की मनोवृत्ति आप में भी पाई जाती है । संस्कृत में तो व्याकरणाचार्यों ने किसी के लिए मुक्त चल सकने का रास्ता ही नहीं छोड़ा है । राजस्थानी और हिन्दी में आप अपने प्राक्तन ग्रन्थों में बहुत मुक्त चले हैं । विभिन्न भाषाओं के शब्दों का प्रयोग कर लेना और विभिन्न शब्दों को पद्य सुविधा के अनुसार अपभ्रंश रूप दे देना आपके बाएं हाथ का खेल रहा है । परन्तु भाषा की एक रूपात्मकता और साहित्यिकता के युग-सत्य को आपने उपेक्षित करना भी नहीं चाहा है । इसकी अभिव्यक्ति श्रीकालू उपदेश वाटिका की प्रशस्ति में लिखी गई ये पंक्तियां भली-भान्ति कर देती हैं—

सम्बत एक लाडनू फागण मास जो,
सारां पहली परमेष्ठी पंचक रच्यो ।

समै समै फिर चलतो चल्यो प्रयास जो,
 सो 'उपदेश वाटिका' रो ढाचो जच्यो ॥
 पर प्राचीन पद्धती रै अनुसार जो,
 भाषा बणी मूग चावल री खीचडी ।
 वापिस देख्या एक-एक कर द्वार जो,
 तो अखरी बोली मिश्रित बैठी-खडी ॥

अर्थात् विक्रम संवत् २००१ के फाल्गुन में सर्वप्रथम मैने परमेष्ठी पंचक रचा । समय-समय पर तत्सम पद्य रचनाएँ और भी होती रही । वही सब मिलकर यह उपदेश वाटिका बन गई । प्राचीन पद्धति के अनुसार उन रचनाओं की भाषा कुल मिलाकर खीचड़ी बन गई । इसे अन्तिम रूप देने के लिए जब मैने एक-एक रचना को फिर से देखा तो मुझे खडी और बैठी^१ दोनों भाषाओं का निश्चित रूप खटका । तदनन्तर नाना व्यस्तताओं में मैने इसका परिष्कार किया और विशुद्ध राजस्थानी भाषा का ही अन्व इसे बना डाला ।

राजस्थानी भाषा का अब तक कोई व्याकरण नहीं है और न इसका कोई सर्वसम्मत एकरूप ही है । राजस्थानी वैसे संस्कृत और हिन्दी के बहुत निकट है । केवल क्रिया पदों का अन्तर पड़ता है । जैसे—

त्वं प्रभाती गायसि—संस्कृत
 तू प्रभाती गाता है—हिन्दी
 तू प्रभाती गावै है—राजस्थानी

अज्ञान^२ श्री तुलसी संस्कृत के महान् पण्डित है, इसलिए आपकी राजस्थानी संस्कृत प्रधान होनी ही थी, फिर भी इस संकलन को जनभोग्य समझकर आचार्य-वर ने इसे भाव और भाषा की दृष्टि से गूढ़ नहीं होने दिया है । अन्य विभिन्न भाषाओं के उत्तम और तद्भव शब्दों का प्रयोग आपने यथास्थान किया है, जिसे कि राजस्थानी का स्वरूप ही मानना चाहिए । कोई भी ऐसी भाषा नहीं है, जिसमें पार्श्ववर्ती भाषाओं के थोड़े बहुत शब्द गृहीत नहीं हुए हैं ।

साहित्यिकता

पौराण्य अंकन में साहित्यिकता का कषोपल रस और अलंकार रहे हैं । पाश्चात्य साहित्य विधि में बौद्धिकता, भावनात्मकता, कलात्मकता और शैली इन चार विशेषताओं को साहित्य की कसौटी माना है । कबीर के साहित्य में बौद्धिकता की प्रधानता है, सूर के साहित्य में भावनात्मकता की प्रधानता है, बिहारी और केशव में कलात्मकता की तो तुलसी के साहित्य में भावना और बुद्धि के सन्तुलित तत्त्व

१. हिन्दी को खड़ी बोली कहते हैं, इसलिए आचार्य श्री ने यहां राजस्थानी को बैठी बोली कहा है ।

की। आचार्य श्री तुलसी एक सन्ध्यास्त मनस्वी है और वे भी विरक्ति प्रधान जैन परम्परा में। उनके जीवन की निश्चल मर्यादाएँ हैं और समाज के भी मर्यादित स्वरूप में उनका विश्वास है। उनके साहित्य में भावना और कल्पना निरंकुश उड़ाने नहीं भर सकती और न शृंगार रस ही अभिज्ञान गोकुल और कुमारमन्मथ के उत्कर्ष पर पहुँच सकता है। फिर भी मानव स्वभावों का कलात्मक चित्रण कवि का धर्म होता है और उसे अन्य सन्त कवियों की तरह आचार्य श्री तुलसी ने भी निभाया है। उन्होंने अपने श्रीकालू यशोविलास, भरत-मुक्ति, आषाढभूति, अग्नि-परीक्षा आदि काव्यों में ध्वनि, रस, अलंकार, बौद्धिकता, भावनात्मकता आदि सभी गुणों को मूर्त रूप दिया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ भक्ति पदों व उपदेश पदों का समवायी रूप है। इसमें एक मंगल-द्वार और चार प्रवेश हैं। इनमें सरस रागोपेत गीतिकाएँ हैं। प्रत्येक गीतिका में कम से कम ४ और अधिक से अधिक १७ गाथाएँ हैं। मंगलद्वार में आराध्य-स्तुति है, जिनमें रचयिता का उत्कट भक्ति निदर्शन है। प्रथम प्रवेश में मनुष्य जीवन की दुर्लभता और व्यसन-मुक्ति पर बल दिया गया है। द्वितीय प्रवेश में अष्टादश पाप-मुक्ति की प्रेरक गीतिकाएँ हैं। तृतीय प्रवेश में अनित्य, अशरण आदि षोडश भावनाओं पर पृथक्-पृथक् गीतिकाएँ हैं। चतुर्थ प्रवेश में पाँच समिति, तीन गुण्डि व पर्व सम्बन्ध गीतिकाएँ हैं। कुल मिलाकर १४४ गीतिकाओं का यह संग्रह श्रीकालू उपदेश वाटिका ग्रन्थ है। श्रद्धास्पद श्रीकालूगणी तेरापथ के अष्टम आचार्य तथा आचार्य श्री तुलसी के दीक्षा-गुरु थे, अतः यह ग्रन्थ उनके नाम से रचा गया।

भक्ति-निदर्शन

जैन-दर्शन की मान्यता है, आत्मा स्वयं अपने ही उपक्रमों से पवित्र और अपवित्र होती है। कोई विराट या अविराट शक्ति इस विषय में उसे अनुगृहीत नहीं करती। फिर भी साधक की अन्त-शुद्धि के लिए चार शरण और पाँच परम इष्ट आराध्य रूप होते हैं। साधक कहता है—

मैं अरिहन्तो का शरण ग्रहण करता हूँ।
मैं सिद्धों का शरण ग्रहण करता हूँ।
मैं साधु का शरण ग्रहण करता हूँ।
मैं सर्वज्ञ निरूपित धर्म का शरण ग्रहण करता हूँ।

इसी प्रकार पाँच परम इष्टों के विषय में वह कहता है—

मैं अरिहन्तों को नमस्कार करता हूँ।
मैं सिद्धों को नमस्कार करता हूँ।
मैं आचार्य को नमस्कार करता हूँ।
मैं उपाध्याय को नमस्कार करता हूँ।
मैं लोकस्थ सभी साधुओं को नमस्कार करता हूँ।

इसी मन्त्र युग पर जैन धर्म में भक्तिवाद का विकास हुआ है। यह सच है कि कर्तृत्ववाद की भूमि पर आत्म-समर्पण की अनुभूतियों को निखरने का जितना अवकाश है, उतना व्यक्तिपरक ईश्वरता की भूमि पर नहीं हो सकता और न वह अपेक्षित ही रहता है। वहाँ व्यक्ति स्वयं में पूर्ण है। अपने पुरुषार्थ से वह सिद्धावस्था को प्राप्त होता है। वह कृतकृत्यता की अवस्था है। वहाँ करना कुछ भी शेष नहीं रह जाता, इसलिए कर्तृत्ववाद भी अपेक्षित नहीं रह जाता। वह सिद्धावस्था निरंजन-निराकार, जन्म-मृत्यु और अन्य आधि-व्याधि से मुक्त जीवन-विकास की परिपूर्ण और शाश्वत स्थिति है। अनेक आत्माएँ उस स्थिति को प्राप्त कर चुकी हैं और अनेकों के लिए उसे प्राप्त करने की सम्भवता है। साधक इन सिद्ध आत्माओं को आदर्श मानता है। उस स्थिति तक स्वयं पहुँच सके, इसलिए उन्हें ही वह भक्ति-निदर्शन का आलम्बन मानता है। अरिहन्त वे पुरुष हैं जो सदेह स्थिति में होते हुए भी अष्ट कर्म आवरणों से चार कर्म आवरणों को दूर कर चुके हैं। वे राग-द्वेष मुक्त हैं, इसलिए वे वीतराग हैं। मन और इन्द्रियों को जीत चुके हैं, इसलिए वे जिन हैं, वे धर्म-तीर्थ के प्रवर्तक हैं, इसलिए वे परोपकारक हैं। ऐसे जिन भगवान् श्री महावीर थे। भगवान् श्री महावीर प्रभृति चौबीस तीर्थंकर इस काल-प्रवाह में हो चुके हैं। इससे पूर्व भी हर काल-प्रवाह में ऐसी चौबीसिया होती रही हैं और आगामी काल-प्रवाह में होती भी रहेगी। जैन भक्तिवाद के अरिहन्त और सिद्ध ये दो ही मुख्य आधार हैं। अन्य दो शरण धर्म और साधु तथा तीन इष्ट आचार्य, उपाध्याय और मुनि हैं। इन आधारों पर भी भक्तिवाद का अतिशय विकास हुआ है। गुरु का स्थान जैसे कबीर की वाणी में भगवत् स्वरूप बना है, उससे कहीं अधिक जैन धर्म में उस पद की गरिमा है। जैन और जैनतर भक्तिवाद में कितना ही भूमिका-भेद रहा हो, भक्ति-निदर्शन के भावनापरक और बौद्धिक प्रकार में जैन मुमुक्षु पीछे नहीं रहे हैं। आचार्य श्री तुलसी उस भक्ति मार्ग के अग्रिम पथिकों में से एक हैं। उनकी भक्ति का प्रकार और उनकी भावाभिव्यञ्जना उनकी रचनाओं में स्वयं मुखरित होती है। वे अपने आराध्य अरिहन्त प्रभु की स्तुति में कहते हैं—

प्रभु म्हारे मन-मन्दिर में पधारो,

करूँ स्वागत-गान गुणारो ।

करूँ पल-पल पूजन प्यारो ॥

चिन्मय ने पाषाण बणाऊँ ? नहिँ मैं जड़ पूजारो ।

अगर, तगर, चन्दन क्यूँ चरचूँ ? कण-कण सुरमित थारो ॥

नहिँ फल, कुसुम की भेट चढाऊँ, मैं भाव भेंट करणारो ।

आप अमल अविकार प्रभुजी, तो स्नान कराऊँ ब्यारो ॥

नहिँ तत, ताल, कसाल बजाऊँ, नहिँ टोकर टणकारो ।

केवल जस झालर झणणाऊँ, धूप ध्यान धरणारो ॥

म्लान स्थान चचलता निरखी, न करो नाथ ! नकारो ।

तुम थिरवासे निरमलता पा, होसी थिरचा वारो ॥

वीतराग, मोह, माया त्यागी, मतना मोहि विसारो ।

अशरण-शरण, पतित-पावन, प्रभु 'तुलसी' अब तो तारो ॥

उक्त कृति मे मृन्मय और चिन्मय के भेद निरूपण से जहा बुद्धि तत्त्व प्रखर हुआ है; वहा 'म्लान स्थान चचलता निरखी न करो नाथ नकारो' इसमे भावना तत्त्व भी अपनी सीमा तक उभर आया है ।

आपकी रचनाओ मे स्वरूप चित्रण भी अपनी पराकाष्ठा पर पहुचा है । वीतराग स्तुति मे आप बतलाते है—

वीतराग नित्य सुमरिए, मन स्थिरता ठाण ।

वीतराग अनुराग स्यू, भजो भविक सुजाण ।

वीतराग पद पावणो, जो बारम गुणठाण ॥

बीज कर्म तरा रा कह्या, दोऊ राग 'ह' द्वेष ।

ध्यानानल मे होमिया, रह्या शेष न लेश ॥

द्वेष रेस समझै सहू, त्यू ही राग रो माग ।

समझावण ने आपरी, अभिधा वीतराग ॥

सम छव जीवनिकाय मे, अभयंकर देव ।

सकल शुभकर स्वामरी, वाणी मिष्ट सुधेव ॥

अक्षय सुख अपवर्ग रो, लह्यो लहिस्ये नाथ ।

'तुलसी' प्रणमे प्रेम स्यू, जुग जोडी हाथ ॥

आचार्य श्री तुलसी मान्यताओ और विद्वासो से निर्गुण उपासको की परम्परा के निकट है, परन्तु भावाभिव्यक्ति के प्रकारो को आपने रूढ़ नहीं होने दिया है । उपचार-भेद से आपने भक्ति-निदर्शन के अनेको प्रकारो को काम मे लिया है । स्याढाद की भूमि पर स्थित साधक के लिए ऐसा करना बाधक भी नहीं है । अपेक्षाएं तत्त्व को सुरक्षित रखती हुई वाग्-विस्तार का मार्ग खोल देती हैं । वे नहीं देने वालों से मागते हैं—'देवो-देवो जी डगर'; वे नहीं आने वालों को बुलाते हैं और नहीं सम्भालने वालों के चरणों मे अपने आप को छोड़ देते हैं । अरिहन्त प्रभु के प्रति वे कहते हैं—

मोहि स्वाम संभारो, मोहि स्वाम ।

स्वाम संभारो, नाथ संभारो, मै शरणागत थारो ।

भगवन् ! मति रे बिसारो, मोहि स्वाम संभारो ॥

पल-पल छिन-छिन घडी-घडी निश-दिन ध्याऊं ध्यान तुम्हारो ।

सर्वदर्शी समदर्शी तुम हो, आन्तर भाव निहारो ॥

सहज रूप कर करुणा, शरणागत रा कारज सारो ।

भव-सागर मे नैया म्हारी, अब तो पार उतारो ॥

भूमिका-भेद के कारण अन्य सन्तो व आचार्य श्री तुलसी के भक्ति-निदर्शन में एक मौलिक भेद रह जाता है। कहा जाता है—चित्रकूट में तुलसी की रामकथा सुनने के लिए हनुमानजी कुष्ठी के रूप में स्वयं आते और इसी कारण राम से भी उनका साक्षात्कार हुआ। जिसके विषय में यह किंवदन्ति चलती है—

चित्रकूट के घाट पर भई सन्तन की भीर ।

तुलसीदास चन्दन घसे तिलक देत रघुवीर ॥

यह भी कहा जाता है, गोस्वामी तुलसी ने राम-लक्ष्मण को हरिण का शिकार करते साक्षात् देखा। महाकवि सूर के विषय में कहा जाता है, अपने भाइयों की मृत्यु के शोक में विह्वल होकर एक बार कुएं में गिर पड़े थे। भगवान् कृष्ण ने वहां उन्हें साक्षात् दर्शन दिये। महाकवि जायसी के विषय में कहा जाता है, भगवान् ने कुष्ठी के रूप में उनके साथ भोजन किया। और भी सन्तों और भक्तों के विषय में भगवत्-साक्षात् की नाना कथाएं प्रचलित हैं। आचार्य तुलसी के भक्ति-प्रकरण में ऐसी घटनाओं के लिए कोई अवकाश या अपेक्षा नहीं है। उनके आराध्य अरिहन्त और सिद्ध भक्त और अभक्त के लिए सम व राग-द्वेष-मुक्त आत्माएं हैं। कबीर प्रभृति अन्य निर्गुण सम्प्रदायी सन्तों के भी इस विषय में यही भूमिका है। अपने-अपने इष्टों से भावनात्मक साक्षात्कार ही वहां अभिप्रेत है।

वैराग्य पद

श्रीकाल उपदेश वाटिका के चार प्रवेशों में वैराग्य पद है। सगुण, निर्गुण सभी सन्तों ने संसार की निस्सारता को भान्ति-भान्ति से व्यक्त किया है। आत्म-दोषों के उन्मूलन की प्रेरणा दी है। कबीर और तुलसी के पद आज जन-जन के मुख पर हैं। आचार्य तुलसी के वैराग्य पद भले ही साहित्यिक समीक्षा के विषय न बने हों, पर लोक-मानस पर उनका व्यापक प्रभाव पड़ रहा है। 'अगुनत गीत' नाम से उनका प्रथम संकलन कुछ वर्षों पूर्व सामने आ चुका है। श्रीकाल उपदेश वाटिका में उन्होंने व्यवस्थित प्रकार से वैराग्य पदों की संयोजना की है। रचना की भाषा प्राजल और भाव हृदयग्राही हैं।

राग और द्वेष का तत्त्वमूलक और हृदयस्पर्शी वर्णन करते हुए आप कहते हैं—

राग री रैस पिछारणो ।

हो...आखिर पडसी थाने अन्तर जगारणो ।

द्वेष, राग दो बीज करम रा,

बाधक दोन्यू आत्म-धरम रा,

हो...साधक ने आवश्यक यांरो मूल मिटारणो ।

द्वेष समझ मे झट आ ज्यावै,
 रैस राग री बिरला पावै,
 हो...खुलै ढक्कै कूबै री उपमा क्यूं न बखाणो ।
 द्वेष-दाव, हिमपात राग है,
 पण दोन्यां री एक लाग है,
 हो...है दोन्या रो काम कमल रो खोज गमाणो ।
 काठ काट अलि बाहर आवै,
 कमल पाखडी छेद न पावै,
 हो द्वेष, राग रो रूपक जाण सको तो जाणो ।
 बिल्ली चूहे ऊपर ताकै,
 बा आख्या बचिया ने भाकै,
 हो . द्वेष, राग रो ओ अन्तर चोडे पितवाणो ।
 दशवे गुणठाणै स्यूं मुनिवर,
 पड़ै राग री ठोकर खाकर,
 हो...कइया ने तो आ ज्यावै पहलो गुणठाणो ।
 'गौतम' न भी ज्ञान अटकग्यो,
 भव-भव 'रूपीराय' भटकग्यो,
 हो...रुल्या राग स्यूं किता, नही है ठोड ठिकाणो ।
 द्वेष राग रो करो निवेडो,
 मोह 'कर्म' नै जइयां उखेडो,
 हो 'तुलसी' वीतराग बण अजर अमर पद पाणो ।

संस्कृत भाषा के सूक्त-मुक्ताओं को भी कहीं-कहीं आपने ज्यों का त्यों राजस्थानी भाषा के धागे में पिरो दिया है—

'गालीवान् कठं स्यू लासी माग मधुर बच प्यारो,
 थे तो मृदुल मनोहर भाषी अपणो विरुद विचारो ।'^१

गौतम बुद्ध के समक्ष एक रोषातुर व्यक्ति आया और गालियां देने लगा । गौतम बुद्ध मौन रहे । वह बहुत देर तक गालियां देता रहा । उसके कोष से गालिया समाप्त हो गईं और वह चुप हो गया । भगवान् बुद्ध ने कहा—विज्ञ पुरुष ! कोई व्यक्ति अपनी कोई वस्तु तुम्हें दे और तुम उसे न लो तो परिणाम क्या होगा ?

पुरुष—यही तो परिणाम होगा कि उसकी वस्तु उसके पास रह जायेगी ।

गौतम बुद्ध— तुमने मुझे अग्रणीत गालिया दी, पर मैंने तुम्हारी एक भी गाली स्वीकार नहीं की है । इसका परिणाम क्या होगा ?

१. ददतु ददतु गालि गालिवन्तो भवन्तः

पुरुष अवाक् रह गया और मन ही मन अपने किये पर पश्चात्ताप करने लगा ।
गाली के सम्बन्ध से भगवान् बुद्ध की इस उक्ति को आपने कितने सुन्दर
शब्दों में बान्धा है—

गाली दे कोई थे मत लेवो, खरी खिम्या पितवारो ।

उगरी वस्त उगरे रहसी, 'तुलसी' रैस पिछारो ।

गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा था—

एक घड़ी आधी घड़ी आधी मे पुनि आधि ।

'तुलसी' सगत साधु की कटै कोटि अपराधि ॥

आचार्य श्री तुलसी कहते हैं—

'साठ घड़ी हुवै रात दिवस री दो अपणी कर डारो ।

तो पिए बचस्यो दोय भील स्यू' (ज्यू) सेठ लह्यो छुटकारो ।

और क्रिया जो सभै न पूरी, समरण मति रे विसारो ।

साचै मन कर भजन प्रभु रो 'तुलसी' जनम सुधारो ।'

जीवन की नौका को अंवर के बीच से उबारने की बात को कितने सुन्दर प्रकार
से कहा है—

भज मन प्रभु अविनाशी रे ।

बीच भवर में पड़ी नावड़ी काठे आसी रे ।

सूता सूता थारी बेलों बीती खासी रे ।

'तुलसी' सद्गुरु बिना तनै कुण और जगामी रे ।

गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा था—

तुलसी दया जु पारकी दया आपकी होय ।

तू किणने मारे नहीं तो तने न मारे कोय ।

आचार्य श्री तुलसी अपने शब्दों में कहते हैं—

पर दया नाम व्यवहारे ।

निज आतम पाप उबारे ।

जीवन की नश्वरता के सम्बन्ध से महाकवि सूर ने कहा था—

जा दिन मन पंछी उडि जैहैं ।

ता दिन तेरे तन तरुवर के सबै पात भरि जैहैं ।

कहं वह नीर, कहा वह शोभा, कहं रंग रूप दिखैहैं ॥

जिन लोगन सो नेह करतु है तेहि देखि धिनैहैं ।

अजहुं मूढ करां सत-संगति सन्तन में कुछ पैहैं ॥

नर वपु धरि जाने नहि हरि को जन्म की मार जो खैहैं ।

'सूरदास' भगवंत-भजन बिनु वृथा सुजन्म गवैहैं ॥

आचार्य श्री तुलसी जीवन को सार्थक बनाने के लिए अपनी सैली से कहते हैं—

मानव ! क्यूँ न विचारै रे ?
 कोडी साटै मिल्यो अमोलक हीरो हारै रे ।
 बुद्धि और विवेक-शक्ति है घट में थारै रे ।
 जराण बराँ अराजाण कोण क्यूँ तुझने बारै रे ॥
 छोड़ प्रकाश रह्यो चावै रजनी अन्धारै रे ।
 आंख मूढ़ अनभिज्ञ चलै क्यूँ लकड़ी सहारै रे ॥

व्यक्तित्व की दृष्टि से

आचार्य श्री तुलसी का व्यक्तित्व अपने कृतित्व में ही नहीं समा जाता । जितना वह उससे समाता है, उससे कहीं अधिक वह उससे बाहर रह जाता है । वैसे तो सूर, कबीर, तुलसी आदि सन्त भी अपने-अपने जीवनकाल में भी प्रभावशाली रहे हैं । उनके उपदेश प्रसंगों से व उनकी साधना से सर्वसाधारण के अतिरिक्त राजा और सच्चा भी प्रभावित होते रहे हैं । बादशाह अकबर ने महाकवि सूर के भवित् पद सुने, अन्त में उसने चाहा मेरे विषय में भी कुछ कहा जाए । सूर ने गाया—

नाहि रह्यो मन में ठोर ।

नंद नंदन अछत कैसे आनिए उर और ?

चलत, चितवन, दिवस जागत, सपन सोवत राति ।

हृदय तै वह स्याम मूरति छन न इत-उत जाति ॥

गोस्वामी तुलसीदासजी की भी बादशाह जहागीर व अकबर से भेंट हुई, ऐसी अनेकों किंवदन्तियाँ हैं । मीरा ने तो इन्हे एक भक्त विचारक मानकर एक पञ्चबद्ध पत्र इनके पास भेजा ही था, जिसमें उसने लिखा था—

श्री तुलसी सब सुख निधान, दुःख हरन गुसाई ।

बारहि बार प्रनाम करूँ अब हरो शोक समुदाई ॥

घर के स्वजन हमारे जेते, सबन उपाधि बढ़ाई ।

साधु संग अरु भजन करन मोहि देत क्लेश महाई ॥

बालपने तै मीरां कीन्ही गिरघर लाल मिताई ।

सो तौ अब छूटत नहिँ क्योहूँ लगी लगन बरियाई ॥

मेरे मात पिता के सम हो, हरिभक्तन सुखदाई ।

हमको कहा उचित करिबो है सो लिखियो समुझाई ॥

तुलसीदासजी ने इसका उत्तर लिखा था—

जाके प्रिय न राम विदेही ।

तजिये ताहि कोटि बैरी सम यद्यपि परम सनेही ॥

तज्यो पिता प्रह्लाद, विभीषण बन्धु भरत महतारी ।
 बलि गुरु तज्यो, कान्त ब्रज-बनिता, भये सब मंगलकारी ॥
 नातो नेह राम सों मनियत, सुहृदय सुसँव्य जहा लौ ।
 अंजन कहा आख जो फूटै बहुतक कहाँ कहा लौ ॥
 तुलसी सो सब भाति परम हित, पूज्य प्रानतै प्यारो ।
 जागो होय सनेह राम-पद एतो मनो हमारो ॥

प्रभाव-विस्तार-दृष्टि से उक्त सन्तों का व्यक्तित्व अपने-अपने जीवन काल में विभिन्न प्रकार का रहा है। सूर गोवर्धन गिरि के कृष्ण-मन्दिर में अपने गुरु बल्लभ स्वामी द्वारा नियुक्त 'कीर्तनिये' थे। प्रतिदिन नये पदों से आरती उतारा करते थे। विशेषतः उन्हीं पदों का सकलन सूर सागर बना है। इससे पूर्व पच्चीस वर्ष वे अपने गांव से ४ कोस दूर तालाब के किनारे वृक्ष के नीचे रहे।

गोस्वामी तुलसीदासजी ने विभिन्न तीर्थों की यात्राएँ की। चित्रकूट, काशी आदि उनके मुख्य निवास स्थान रहे। सूर और तुलसी ने न तो कोई अपना स्वतन्त्र मत ही चलाया और न उनके कोई परम्परा सम्बद्ध सन्तों का कोई शिष्य वर्ग ही था। कबीर एक अभिमत के अनुसार आजन्म अविवाहित थे। दूसरे अभिमत से वे एक पारिवारिक प्राणी थे। उनकी स्त्री लोई थी। पुत्री कमाली थी और पुत्र कमाल था। वे जुलाहा थे और उनके आर्थिक साधन भी दुर्बल थे; ऐसा उनके पद्यों से पता चलता है। फिर भी कबीर ने अपना स्वतन्त्र पथ चलाया, अपने अनुयायी बनाए और दूर-दूर तक घूमे। जहाँ-जहाँ गये वहाँ-वहाँ उनकी ख्याति भी फैली। आचार्य श्री तुलसी का व्यक्तित्व सब ओर से उत्कर्ष प्रधान रहा है। सम्पन्न और भरे-पूरे परिवार में आपका जन्म हुआ। ११ वर्ष के वयोमान में आप दीक्षित हो गये और अपने गुरु आचार्य श्री कालूगणी के भावी उत्तराधिकारी शिष्य के रूप में मन भा गए। २२ वर्ष के वयोमान में आप विशाल तेरापंथ के सर्वाधिकार सम्पन्न आचार्य बन गए। सैकड़ों साधु तथा लाखों लोग आपके धार्मिक निर्देशन में आ गए। ३३ वर्ष के वयोमान में आपने नैतिक जागरण का शख फूका। अगले वर्ष अगुव्रत-आन्दोलन को व्यवस्थित रूप दे दिया। देश के पूर्वी से पश्चिमी और उत्तरी से दक्षिणी अंचल की बृहत् साधु संघ के साथ आपने प्रभावशाली पद-यात्राएँ की। भारतवर्ष की राजधानी दिल्ली में राष्ट्र के उच्चतम नायको ने जन समारोहों में उपस्थित होकर आपके कार्य का अग्निनन्दन किया। अब आचार्यवर अपने ४७ वर्ष के वयोमान में चल रहे हैं और बहुत कुछ आपको करना है। मानना चाहिए, सन्त परम्परा में आप प्रथम हैं जो अपने जीवन काल में ही इतना उत्कर्ष देख पाये हैं। कालक्रम की दृष्टि से कबीर का जीवनकाल सं० १४५५ से १५०५ या १५७५ तक का माना जाता है। सूर का जीवन काल सं० १५३५ से १६४० तक का है। गोस्वामी तुलसी का जन्म सं० १५८६ से १६८० तक का है। आचार्य श्री तुलसी का जन्म १६७१ का है। विगत

ॐ इन नभी मन्त्रों की आयु सौ से ऊपर या लगभग की रही है। आशा है, इस युग के महान् सन्त आचार्य श्री तुलसी भी शतायु होंगे और अपने दिव्य आलोक से अनेकों पाँदियों को आलोकित करेंगे।

अपनी बात

श्रीकाल उपदेश बाटिका के सम्पादन में बहुत बड़ा प्रश्न सांकेतिक उदाहरणों का था। एक-एक गीति में अनेकों सांकेतिक कथानक भी हैं। उन कथानकों का द्वारा ग्रन्थ के साथ न हो तो ग्रन्थ सम्पादित जैसा लगता ही नहीं और न वह नवसाधारण के लिए उतना उपयोगी ही बन पाता। सारे कथानक लिखे जाएं तो मूल ग्रन्थ से भी तिगुना, नए सिरे में लिखना अपेक्षित होता था। परन्तु सोचा यही गया, सारे कथानकों का साथ रहना ही ग्रन्थ-गरिमा की दृष्टि में उपयुक्त होगा। कुछ लोग भले ही उनमें से अधिकांश कथानकों से परिचित हों, परन्तु सर्वसाधारण के लिए तो वे अपूर्व रस सामग्री ही हैं। मुझे भी बहुत सारे कथानक खोज पड़ताल से ही मिल सके हैं। कथानकों का सकलन इसलिए भी अपेक्षित माना गया कि प्राचीन सन्त साहित्य में निदिष्ट कुछ-कुछ घटनाएँ और कथानक लुप्त प्राय भी देखे जाते हैं, यही स्थिति भविष्य में इस ग्रन्थ के साथ न हो। कथानक हिन्दी में लिखे गये हैं। मूल ग्रन्थ राजस्थानी में है। कुल मिलाकर दोनों ही भाषा भाषियों के लिए उसकी समान उपयोगिता हो गई है। गायक और वाचक दोनों ही प्रकार के स्वाध्याय प्रेमियों के लिए यह एक निराला ग्रन्थ बन गया है।

प्रस्तुत सम्पादकीय तुलनात्मक शैली से लिखा गया है। इसके पीछे अभिप्राय था—मनुष्य साधारणतया अतीत को खोद-खोदकर खोजता है और वर्तमान पर भूल डालता है। इससे वर्तमान सदा ही भविष्य में खोदकर निकालने का विषय बनता जाता है। पिछले वर्षों तक कबीर, तुलसी, सूर आदि भक्त कवियों का हिन्दी के इतिहास में कोई स्थान नहीं था। इनके साहित्य को कोरा साम्प्रदायिक क्रिया काण्डों का पुलिदा मानकर एक ओर छोड़ा गया। परन्तु धीरे-धीरे शोधकों की पैनी निगाह सम्प्रदायों के भीने आवरण में रही उन भक्तों की साहित्यिक अभिव्यक्तियों पर पड़ी और उन्हें बटोरने में उस भीने आवरण को नगण्य कर देना पड़ा। अब भी यह मानकर चलना भूल होगी कि अतीत की इस विरासत को पूर्णतया बटोर लिया गया है। कितने सूर और तुलसी अब भी अतीत की परछाई में ढके पड़े होंगे। जैन परम्परा के उन नक्षत्रों पर तो शोधकों की अब तक आंख भी नहीं लगी है। हिन्दी भाषा के इतिहास में इस सम्बन्ध में जो अब तक जुड़ा है, वह बहुत ही अपर्याप्त है। अतीत का अन्वेषण तो अपेक्षित है ही परन्तु वर्तमान की उपलब्धियों से हिन्दी साहित्य कोरा न रहे, यह और भी अधिक अपेक्षित था। इसी दृष्टि से प्रस्तुत सम्पादकीय को कुछ तुलनात्मक और समीक्षात्मक पृष्ठ देने की बात ठीक लगी।

धर्माचार्यों और धर्मोपदेशक मुनियों के साहित्य को साम्प्रदायिक कह कर

टालने की बात आज भी साहित्यिक जगत में चल रही है। यही कारण है, हिन्दी साहित्य अब तक दार्शनिक गहराई नहीं पा रहा है। कबीर का अद्वैत साहित्यिक धारा का विषय बन गया, इससे भारतीय चिन्तन की समग्र गहराई हिन्दी साहित्य में नहीं आ गई। स्याद्वाद जैसे अनेको बुद्धि-प्रधान चिन्तन अब तक साहित्यिक-धारा में नहीं आ पा रहे हैं। सहस्रो पीढ़ियों द्वारा अर्जित चिन्तन की उस गहराई के लिए यदि द्वार बन्द रखे जाएं तो वह हिन्दी साहित्य का ही अभागापन प्रमाणित होता है। धार्मिक परम्पराएं सदा में स्थायी विचार-निधि जनता को देती रही हैं। वेद, आगम और त्रिपिटिक इन्हीं परम्पराओं की देन हैं। रामायण, महाभारत और गीता भी इन्हीं परम्पराओं की देन हैं। इस ग्रन्थ-सन्दोह को पृथक् कर देने से भारतीय संस्कृति कोई वस्तु नहीं रह जाती। आज भी वे धार्मिक परम्पराएं युग के भावों और युग की भाषा में स्थायी विचार सामग्री जनता को दे रही हैं। आचार्य श्री तुलसी का साहित्य उस अगाध मंदाकिनी और नवीन साहित्य उपवन का एक संयोजक माध्यम होगा, ऐसी आशा है।

तुलनात्मक शैली से सम्पादकीय लिखना इसलिए भी अपेक्षित था कि गोस्वामी तुलसी के पद जनता में चिरकाल से प्रचलित हैं और आचार्य श्री तुलसी के शिक्षापद भी जनता में व्यापक प्रसार पा चुके हैं और पा रहे हैं। आगे चलकर यह सब बहुत भ्रामक और संदिग्ध बन सकता है। आज भी ऐसे लोग मिलते हैं, जिन्होंने अगुबत-आन्दोलन को गोस्वामी तुलसी के अनुयायी साधुओं का आन्दोलन मान रखा है। मेरी दृष्टि में ऐतिहासिक स्पष्टता बनाये रखने के लिए आचार्य श्री तुलसी की प्रत्येक कृति के साथ इस सम्बन्ध से कुछ व्यक्त करना उपयोगी ही नहीं आवश्यक है।

आचार्य श्री तुलसी अपने नैसर्गिक कवित्व में एक ओर जहाँ मानव की सहज अनुभूतियों को ललित वाक्य विन्यासों में अनुबद्ध कर शिक्षात्मक उदाहरणों के संकेत से हृदयग्राही बना देते हैं, वहाँ वे सैद्धान्तिक मान्यताओं का एक सुन्दर सगम बन जाती हैं। प्रस्तुत कृति में परिशिष्ट के रूप में जहाँ साकेतिक उदाहरणों को खोलने की आवश्यकता प्रतीत हुई, वहाँ पारिभाषिक प्रकरणों को भी कुछ विस्तार के साथ खोलना अपेक्षित माना गया। सिद्धहस्त कवयिता की दार्शनिक मान्यताएं प्रायः रचना को अपने आप में समेटे चला करती हैं। उस दर्शन से अनभिज्ञ या अल्प परिचित के लिए वे प्रकरण प्रायः दुष्पाठ्य बन जाया करते हैं। लेखक स्वयं या सम्पादक पाठक की सुगमता के लिए परिशिष्ट में उन पारिभाषिक शब्दों का अर्थ दे दिया करते हैं। इस कृति के सम्बन्ध में भी मुझे पाठक की यह कठिनता अनुभव हुई। किन्तु इस कृति में शब्दों की केवल परिभाषाएं ही दे देना, मैंने सम्पादक का धर्म नहीं समझा। अतः सरलता के साथ उन पारिभाषिक शब्दों व प्रकरणों को कुछ व्याख्या के साथ दूसरे परिशिष्ट में दिया गया है। जहाँ तक बन सका है, व्याख्याओं का आधार आगम रहे हैं। जो प्रकरण

आगमो से उपलब्ध न हो सके, उन्हें अन्य प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर भी दिया गया है। जैन व जैनैतर कोई भी इसे पढ़कर इसके हार्द तक पहुँच सके, यह दृष्टिकोण विशेष रूप से बरता गया है।

बहुधा बहुत सारे व्यक्तियों को किसी भजन के कुछ पद्य याद होते हैं। सारा भजन पढ़ने के लिए वे ग्रन्थ में उसे खोजते हैं। न मिलने पर झुझला जाना स्वाभाविक ही होता है। बहुत सारे ग्रन्थों को खोजने पर मुझे भी ऐसा ही अनुभव हुआ। परिशिष्ट में पद्यानुक्रम दे देने से यह भी सुगमता हो जाती है। आदिचरण अनुक्रम में दिये गये हैं और उन पद्यों के प्रथम चरण को अकारादि क्रम से परिशिष्ट सख्या तीन में दिया गया है।

आचार्यवर ने सं० २०१५ कानपुर चतुर्मास में इस ग्रन्थ को सम्पन्न किया। इसके मूल में आचार्य श्री के ज्येष्ठ बन्धु मुनि श्री चम्पालालजी का अनुरोध था। मुनि श्री सागरमलजी 'श्रमण' तथा श्रावक श्री सोहनलाल सेठिया इस कृति के समायोजक थे।

जब से मैंने इस ग्रन्थ का सम्पादन आरम्भ किया, ऐसा अनुभव हुआ, यह तो बहुत ही सरल कार्य है, पर ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता गया, सरलता कठिनता में परिणत होती गई। सम्पादन की गुरुता व कठिनता समय की अल्पता करने के साथ ही साथ मानसिक भार भी बढ़ती जा रही थी। किन्तु श्रद्धास्पद मुनिश्री नगराजजी की सतत-प्रेरणाओं व मार्ग-दर्शन ने उस गुरुता व कठिनता पर विजय पाने की शक्ति दी। मुनि महेन्द्र-कुमारजी 'द्वितीय' ने बहुत दिनों तक साथ बैठकर मेरे परिश्रम में हाथ बटाया है। मुनि विनयवर्धनजी का भी उल्लेखनीय सहयोग रहा है।

सं० २०१२ श्रावण शुक्ला २
वृद्धिचन्द स्मृति भवन
नयाबाजार दिल्ली

मुनि महेन्द्रकुमार 'प्रथम'

अनुक्रम

मंगल द्वार

१ से ३०

१. परमेष्ठी पचक ध्याऊ	३
२. प्रभु म्हारे मन-मन्दिर मे पधारो	५
३. देवो देवोजी डगर जो सिद्धिनगर पहुचावै	६
४. धर्माचारज अब तारो	७
५. भविक उपाध्यायजी ने नित ध्यावो	८
६. दोन्यू हाथ जोडकर करो	९
७. परमेष्ठी पंच सुप्यारा	१०
८. मोहि स्वाम सम्भारो	१२
९. प्रभु को ध्यान धरूँ	१३
१०. त्रिकरण जोग विशुद्ध बिबुधजन	१४
११. देव अरिहन्त भजो भावै	१५
१२. वीतराग नित्य सुमरिए, मन स्थिरता ठारण	१७
१३. जीवन ज्योति जगावा आपां, जिनवर चरणां लाग रे	१८
१४. आओ ! आओ ! प्रभुवर आओ ! मन मन्दिर तैयार है	१९
१५. ओ म्हांरा गुरुदेव	२०
१६. सुज्ञानी गुरु रो गोरव गावै	२१
१७. आनन्द आनन्द आज, सन्त है आपारै घर पावणा	२४
१८. सन्ता रा खुल्ला है बारणा	२६
१९. साधना हो साधना सन्ता री कठिन करारी रे	२८
२०. समता रा सागर सन्त सुखी संसार मे	२९

प्रथम प्रवेश

३१ से ६८

१. चेतन अब तो चेत	३३
२. दुर्लभ अविन्तामणि सम पायो प्राणी ओ मानव अवतार	३४
३. स्वर्गा री पाई, सम्पत्ति सुकृत कमाई	३५
४. पाप बस प्राणियां हुवै नरक निवासी रे	३६
५. बिन नर भव शिव नही पावै	३८

६. सुज्ञानी अब तो सुरत संभाल, सुअवसर आओ है	४०
७. अब मानव जन्म मिल्यो जागो	४१
८. नर-देही व्यर्थ गमाई नां	४२
९. सुजना जागो रे, सुजना जागो रे	४३
१०. भवि जीव दया व्रत पालो	४४
११. भुली मत पीवो रे भवियां भांग तम्बाकू	४५
१२. मानवी ! ओ मानवी !! थे मानो ओ माया जाल समेटो रे	४६
१३. मानव ! क्यों न विचारै रे	४७
१४. मन ! क्यों मुरझावै रे, मानव-भव व्यर्थ गमाव	४८
१५. सड़कां सांकड़ी रे चेतन, चलणो सजग सचेत	४९
१६. रे मनवा ! किए विध तोहि मनाऊं	५०
१७. हठीला झनलै मनड़ा ! म्हारो अब कह्यो	५२
१८. निज भूल सुधारोजी	५३
१९. सुजन निज अवगुण पर दृग डारो	५४
२०. आगे आओ ए !	५५
२१. भजन बिनां बावला	५७
२२. भज मन प्रभु अविनाशी रे	५८
२३. चेतन चिदानन्द चरणां में, सब कुछ अरपण कर थारो	५९
२४. मूँधा मोलो मिनख जमारो, मिनखां अहल न हारज्यो	६०
२५. सुण सदगुरुजी री वारी	६१
२६. अम्बर में कड़के बिजली कड़ी	६२
२७. सतसंगति लाभ कमालै	६३
२८. निज मन समझाओ, मतना बिलसाओ, कुव्यसन सात में	६५
२९. महकै मोहराज री मही-मण्डल में महिमा अपरम्पार	६७
३०. प्राणी करणी निर्मल कीजै	६८

द्वितीय प्रवेश

६६ से ११०

१. मति सेवो पाप अठारै	७१
२. प्राणी पाप निवारो रे	७२
३. नर-धर्म अहिंसा धारो	७३
४. राखो मिनख पराँ रो मिनखां मान	७४
५. त्यागो त्यागो रे भवि प्राणी त्यागो पाप अदत्तादान	७५
६. काम में मत मुरझो प्राणी	७७
७. सुजन जन मन समता धारो	७८

८. छोड़ो व्यूँ कोनी क्रोध रो नशो	७२
९. मानो मानोजी कह्यो, अब क्रोध तजो असुहाणो	७३
१०. नर क्षमा धर्म धारो	७४
११. मत बगो मिजाजी	७५
१२. भवि अब मानव जन्म सुधारो	७६
१३. मृदुपण जन अपनावो	७७
१४. माया री सीठी है मार	७८
१५. मत करजे नर कपटाई	७९
१६. नर सरल हृदय बग जयावो रे	८०
१७. अति लालच में चित्त लुभावो मति	८१
१८. मतनां कोई चित्त लुभावो	८२
१९. लाय जो लालच री	८३
२०. धारो गुरु वारणी हो	८४
२१. राग री रँस पिछाणो	८५
२२. दिल द्वेष निवारो	८६
२३. कलह में मति राखो	८७
२४. सोच तूँ ओ मानव मतिमान	१००
२५. मत पिगुनपणो अपनावो	१०१
२६. भविजन पर-परिवाद न बोलो	१०३
२७. सुणो मयण ! सही	१०५
२८. सत्यवादिता सभै न थां स्यूँ	१०७
२९. माया युत वितथ म' बोलो	१०८
३०. मिथ्यादर्शनशाल्य म' सेवो	११०

तृतीय प्रवेश

१११ से १२८

१. मुक्ति रा मार्ग	११३
२. मूढ़ व्यूँ मुरझावै रे	११५
३. मूढ़ समझ नहीं पावै	११६
४. रे चेतन मन मगरूरी में	११७
५. तेरो कुणु त्रायी	११८
६. तूँ सोच समझ यदि पाई	१२०
७. चेतन ले लै शरणा च्यार	१२२
८. अरिहन्त-शरण में आजा	१२४
९. हा हा फस्या सकल संसारी	१२६

१०. मैं हाल समझ नहीं पायो	१२८
११. हा ! हा ! संकटमय संसारी	१२९
१२. तू आयो है एकलौ भाई	१३०
१३. चेतन ! करले जरा विवेक	१३१
१४. चेतन ! निज मन्दिर तू जो ले	१३२
१५. संकट सरिता में न्हावै	१३४
१६. मानव मानो म्हांरी बात	१३५
१७. संयम सरवर में न्हालै	१३६
१८. आश्रव स्यूं राख उदासी	१३७
१९. म्हारो हीरां जड़ियो	१३८
२०. शिव-साधन सदुपाय	१४०
२१. करो भवि संवर पंथ प्रयाण	१४२
२२. चेतन ! संवर स्यूं कर प्रेम	१४३
२३. निर्जरा हो निर्जरा	१४४
२४. वारह भेदे तप अपनावो	१४५
२५. पल-पल सफल सभावो	१४६
२६. जय जैन धर्म जग मंगलीक	१४७
२७. जय हे जय जय श्री जिन धर्म	१४८
२८. सेवो जैन धर्म भवि प्राणी, जाणी सुर तरुवर साख्यात	१४९
२९. जैन धरम जग-सार कहायो	१५१
३०. षड् द्रव्यात्मक लोक	१५३
३१. नकशो दुनियां रो निजरां में थे ल्यावो	१५४
३२. रे चेतन ! खिल्यो भाग सौभाग	१५५
३३. मत खो दीजै मदमत्त मनुज ! ओ बोधि रत्न दुष्प्राप्य	१५६
३४. सुख पा रे मित्र मन ! विश्व-मित्र बराज्या रे	१५८
३५. सब विश्व-मैत्री में रमण करो	१५९
३६. हुलस हजार बार	१६१
३७. हुलसावोजी सुजन, मन मत्सर-भाव मिटावो	१६२
३८. हा ! दुनियां डूबी जावै रे, म्हाते करुणा आवै रे	१६४
३९. मुदित मना पीड़ित प्राणी रो	१६६
४०. मना ! माध्यस्थ भावनां भा रे	१६७
४१. मन मौन भावना भावै	१६८

चतुर्थ प्रवेश

१६९ से २१४

१. प्रवचन माता आठ कहावै

१७१

२. ईयां समिति मे मजग रहो श्रमण मती	१७३
३ भाषा-समिति सिखावे रे	१७४
४. मुनि सयम राता, तीजी	१७७
५ मुनि जीवन मदा जगामो, समिति प्रादान मे	१७८
६. राखो परउण-पूजण रो पूरो ध्यान	१८०
७. आकक्षा है सयम रो मोल	१८२
८. राखज्यो वग मे सदा जवान	१८४
९ रोको काया री चचलता ने थे श्रमण मती	१८६
१० मतिवन्त मुग्गी ! सुकुलिणी हो श्रमणी गुरु शिक्षा धारिये	१८७
११. श्रावक ! व्रत धारो	१९०
१२. सुरंगो गील समो	१९२
१३. वडे भाग स्यू मिल्यो श्रावका	१९६
१४. नहो कीज रे निशि-भोजन	१९८
१५. तप तपा भवि भाव स्यू	२००
१६. पर्व पञ्चण नो	२०२
१७. मायो जैन जगत रो प्रमुख	२०३
१८ हिल मिल श्रावक सारा जी	२०५
१९ देखो दुनिया भोली जी	२०६
२०. प्रक्षय तीज मनावो	२०८
२१ प्रक्षय तृतीया दिन आदीश्वर कीन्हो उत्तम पारणो	२१०
२२ है सब अर्मा मे प्रमुख रूप स्यू , दान-धर्म रो स्थान	२११
२३ प्रशस्ति	२१३

परिशिष्ट १

सांकेतिक उदाहरण

२१५ से ५८८

१ भीलपुत्र	२१७
२ रोहिण्य	२१८
३. सुलस	२२७
४. सीभाग्यशाली लकड़हारा	२३०
५. यभी तो नवेरा ही है ?	२३३
६. बिम्बसार और अनाथी	२३६
७. वक्रवर्ती का भोजन	२४०
८ ब्राह्मण और चिन्तामणिरत्न	२४१

६. खाती और उसका पुत्र	२४२
१०. मकान का अभिलाषी बनिया	२४३
११ मरगोत्सुका वृद्धा	२४५
१२ फूला मालिन	२४६
१३ राजा और व्यामजी	२४७
१४. सेठ और उसका रत्न	२४८
१५. इलापुत्र	२५१
१६. आषाढमुनि	२५६
१७. स्थूलिभद्र	२६२
१८. विजय-विजया	२७६
१९. सेठ की लडकी	२८१
२०. चन्दनबाला	२८४
२१. आश्रमोजी राजा	२८२
२२. मुभद्रा	२८५
२३. सेठ और दो भील	३०२
२४. घी और तम्बाकू	३०४
२५. लोहवणिक्	३०६
२६. मूर्ख लकड़हारा	३०८
२७. भाग्यवान् अन्धा पुरुष	३०९
२८. पत्थर, हीरा और जौहरी	३१०
२९. जटायु	३१४
३०. राजा प्रदेशी और केशी श्रमण	३१५
३१. सेठ का पुत्र-प्यार	३२२
३२. रावण और इन्द्र		३२६
३३. मुनि मेतार्य	३३०
३४. हाथी के भव में मेघकुमार	३३४
३५. भगवान् अरिष्टनेमि, सती राजिमती और रथनेमि	३३६
३६. वसुराजा	३४५
३७. बाल्मीकि	३४६
३८. जितरात्रु और मुकुमाला	३४८
३९. पद्मिहोन्नय मूलकारणम्	३५६
४०. सन्त और धोबी	३५८
४१. कृत्तपुत्र	३५९
४२. चण्डिकाधिक	३६१

४३. कूरगङ्गक	३६४
४४. भगवान् श्री महावीर और संगम	३६७
४५. स्वामी जी का तप	३६९
४६. चक्रवर्ती सनत्कुमार	३७१
४७. बाहुबली	३७३
४८. दो छात्र	३७५
४९. महाबल	३७८
५०. पुरोहित	३७९
५१. साहसगति	३८२
५२. निलानवे का फेर	३८५
५३. सागर सेठ	३८७
५४. मम्मल सेठ	३८९
५५. बादशाह	३९१
५६. जम्बूकुमार	३९३
५७. गौतम स्वामी	४३४
५८. दो सेठ	४३५
५९. वेगवती	४३८
६०. कुण्डरीक	४४०
६१. भावदेव और नागला	४४३
६२. पाप का घट	४४९
६३. नन्दन मणिहारा	४५२
६४. आषाढभूति	४५३
६५. प्रसन्नचन्द्र राजर्षि	४५७
६६. भाई के प्रति बहिन का स्नेह	४५९
६७. भरत की अनित्य भावना	४६३
६८. थावरचा पुत्र	४६५
६९. सुभूम	४६७
७०. उदाई राजर्षि और अभीचक्रुमार	४७२
७१. मर्मप्रकाश से परिवार-नाश	४७९
७२. गालिभद्र और धन्ना	४८३
७३. जिनरक्ष और रयणादेवी	४९२
७४. नमि राजर्षि	४९४
७५. गजसुकुमाल	४९५
७६. तुम्बी और तीर्थ-स्नान	४९६

७७. गाजीखान और मुल्नाखा	४६८
७८. मल्लिकुमारी	५००
७९. अर्जुनमाली	५०३
८०. हरिकेशी मृत्ति	५०६
८१. समुद्रपाल	५०७
८२. धर्मरुचि	५०८
८३. सन्त सुकौगल	५०९
८४. मरुदेवा	५१२
८५. दृढप्रहारी	५१४
८६. श्रमणोपासक श्रमणक	५१७
८७. मृगापुत्र	५२१
८८. एक दिन का राजा	५२४
८९. खन्वक मुनि	५२७
९०. दन्तिल	५३०
९१. सेठ पद्मरुचि	५३५
९२. बैया और बन्दर	५३६
९३. श्रेणिक का नरक गमन	५३७
९४. पाली के बाजार में नाटक	५३८
९५. तेल के दण्ड	५३९
९६. दो-चार अंगुल कपडा	५४०
९७. अम्यागत औषधि और आचार्य श्री कालुगरी	५४१
९८. कम्बल में बिच्छू	५४२
९९. जो देखती है, वह बोलती नहीं	५४३
१००. कौन से ऊँट बैठे हैं ?	५४४
१०१. पूणिवा श्रावक	५४५
१०२. भानन्द श्रावक	५४७
१०३. सुलस	५४९
१०४. रानी बेलना	५५५
१०५. जहर मिश्रित छाछ	५५७
१०६. रात्रि-भोजन और चूहे का आचार	५५९
१०७. वनमाला	५६१
१०८. धन्ना अन्नगार	५६५
१०९. शंख और शतक श्रावक	५६७
११०. श्रियासकमार	५७०
१११. रूपीराय	५७२
११२. शेर और माया की मार	५७५

११३. राजर्षि शिव	५७७
११४. नन्दीसेन	.	.	५८०
११५. केशव कुमार	५८४

परिशिष्ट २

पारिभाषिक संक्षिप्त व्याख्या	.	.	५८६ से ६५६
------------------------------	---	---	------------

परिशिष्ट ३

पद्यानुक्रम	६५७ से ६८८
-------------	-----	-----	------------

♦

द्वार

परमेष्ठी पंचक ध्याऊं,
मैं सुमर सुमर सुख पाऊं,
निज जीवन सफल बणाऊं ॥

अरिहन्त सिद्ध अविनाशी,
धर्माचारज गुण-राशी,
है उपाध्याय अभ्यासी,
मुनि-चरण शरण में आऊं ॥१॥

सहु मुक्ति-महल रा वासी,
पधराया व पधरासी,
ज्योति में ज्योति मिलासी,
अस्तित्व अलग लग गाऊं ॥२॥

निस्वारथ पर-उपकारी,
जग जीवन रा हितकारी,
हो बार-बार बलिहारी,
मैं छिन-छिन ध्यान लगाऊं ॥३॥

ज्यांरी वाणी कल्याणी,
सद्धर्म मर्म दरशाणी,
घट-घट समता सरसाणी,
सुण हृदय कमल विकसाऊं ॥४॥

जिनमत में मत्र अनादि,
है नमोक्कार अविवादी,
सुमरण स्यूं हुवै समाधि,
'तुलसी' नित शीश भुकाऊं ॥५॥

प्रभु म्हांरे मन-मन्दिर मे पधारो,
 करू स्वागत-गान गुणां रो ।
 करू पल-पल पूजन प्यारो ॥

चिन्मय ने पाषाण बणाऊ ? नहि मै जड़ पूजारो ।
 अगर, तगर, चन्दन क्यू चरचू ? कण-कण सुरभित थारो ॥१॥

नहि फल, कुसुम की भेंट चढ़ाऊं, मैं भाव भेंट करणारो ।
 आप अमल अविकार प्रभूजी, (तो) स्नान कराऊं क्यांरो ॥२॥

नहि तत, ताल, कंसाल बजाऊ, नहि टोकर टणकारो ।
 केवल जस भालर भणणाऊ, धूप ध्यान धरणारो ॥३॥

म्लान स्थान चंचलता निरखी, न करो नाथ ! नकारो ।
 तुम थिरवासे निरमलता पा, होसी थिरचावारो ॥४॥

वीतराग, मोह, माया त्यागी, मतनां मोहि विसारो ।
 अशरण-शरण, पतित-पावन, प्रभु 'तुलसी' अब तो तारो ॥५॥

लय—आसावरी

संगल द्वार]

[५

देवो देवोजी डगर जो सिद्धिनगर पहुंचावै ।
भवि पलक-पलक थारो अपलक ध्यान लगावै ॥

किरा मारग स्यूं श्री जिनवरजी शिवपुर धाम सिधावै ?
सर्वदर्शी, सर्वज्ञ, स्वभावे, आत्म-सुख अपगावै ॥१॥

अक्षय अरुज अनन्त अचल अज अव्याबाध कहावै ।
अजरामर-पद अनुपम सम्पद, आवागमन मिटावै ॥२॥

निकट अलोक प्रदेश अनन्ता क्यूं हतभाश रहावै ?
पैंतालीस लाख योजन में क्यूं कर सकल समावै ॥३॥

साक्षात्कार हुवै यदि साहिब, दयादृष्टि दिखलावै ।
वीर पुत्र जो 'भील पुत्र' ज्यूं नहि घबराट मचावै ॥४॥

ज्योतिर्मय सच्चिदानन्द पद, प्रणाम्यां पाप पलावै ।
तन्मय तन मन हुलसी, 'तुलसी' सिद्ध स्तवन सुगावै ॥५॥

लय—आये आयेजी वदरवा

धर्माचारज अब तारो, प्रभु लीन्हो शरण तुम्हारो ।
कुछ करुणा-दृष्टि निहारो, धर्माचारज अब तारो ॥

भव सागर है अथग अमित जल, नहि कहि निजर किनारो ।
काल अनन्तो बीत्यो भमतां, भगवन अबै उबारो ॥१॥

साश्रव आतम नाव पुराणी, पल-पल जल पैसारो ।
डगमग-डगमग डोल रही है, नहि कोई खेवण हारो ॥२॥

डगर-डगर में मगर भयकर, पग-पग पर डर बांरो ।
तरुण तूफान उठै हडबड़कै, धड़कै दिल दुनिया रो ॥३॥

भटक रह्यो मन भवर-भवर मे मांभी बण मतवारो ।
आप बिना इण विषम समय में गुरुवर ! कवण सहारो ॥४॥

प्रतिनिधि आप प्रथम पद रा हो, सबल शक्ति संचारो ।
करुण पुकार सुणो भगता री, 'तुलसी' पार उतारो ॥५॥

लय—पानी मे मीन पियासी

भविक उपाध्यायजी ने नित ध्यावो ।
निज जीवन ध्येय बणावो ॥

परमेष्ठी पचक में ज्यांरो चौथो पद है चावो ।
'शामोउवज्झायाण' सुजनां सुमर-सुमर सुख पावो ॥१॥

सूत्र, अर्थ, तदुभय आगम रो गहन ज्ञान यदि चाहवो ।
तो तुम उपाध्यायजी रे चरणा, बलि-बलि भक्ति बढ़ावो ॥२॥

पंच महाव्रत, पचाचार निपुण, गुण-गरिमा गावो ।
आचारज री भुजा दाहिणी, सुधिजन शीश झुकावो ॥३॥

शान्त, दान्त, उपशान्त, गुणागार, शासणदेव दृढावो ।
अमृत-वागर, ज्ञान-उजागर, कर-कर विनय रिभावो ॥४॥

परम प्रभात समय हो सम्मुख मंगल-गान सुणावो ।
'तुलसी' विमल भावनां स्यू भज, करमां री कोड खपावो ॥५॥

लय—नाथ कैसे कर्म को फन्द छुड़ायो

दोन्यू हाथ जोड़कर करो, साधुजी रे चरणा में परणाम ।
 चरणां मे परणाम रे सुजन जन, करतां पाप पलावै ।
 पावै अजरामर शिव-धाम ॥

आत्म-साधना करै रे निरन्तर बै साधु कहिवावै ।
 भावै विमल भाव अविराम ॥१॥

पंच महाव्रत करण जोग जुत आजीवन सुध पालै ।
 भालै शिव मग, आठ् याम ॥२॥

निज जीवन-धन गुरु अनुशासन शीश चढ़ाता विचरै ।
 करणी करै सदा निष्काम ॥३॥

पर उपकार परायण पल-पल भल उपदेश सुणावै ।
 ध्यावै भविजन ज्यारों नाम ॥४॥

अप्रतिबन्धविहारी भारी निज, पर आतम तारै ।
 सारे 'तुलसी' बंछित काम ॥५॥

लय—असल दुपट्टो फूल रे गुलाबी

परमेष्ठी पंच सुप्यारा,
जीवन-धन प्राण सहारा ।
आध्यात्मिक जगत उजारा ॥

अरिहन्त प्रथम लहै ख्याति,
संहार च्यार घनघाती,
द्वादश है सघाती,
शिव-पंथ वतवणहारा ॥१॥

है सिद्ध, सिद्ध-गिन्यासी,
अज अजरामर अविनाशी,
क्षय अखिल कर्म री राशी,
वास्तव वसु गुण वसनारा ॥२॥

धर्मचारज धृतिधारी,
निष्कारण पर-उपकारी,
लाखां री नैया तारी,
छव युक्त तीस गुणवारा ॥३॥

लय—मैं ढूँढ फिरी जग सारा

है उपाध्याय अधिकारी,
गणपिटका रा भण्डारी,
गणना पच्चीस गुणां री,
जिन-शासन गगन सितारा ॥४॥

महाव्रत धर मुनि बड़ भागी,
कान्ता कांचन रा त्यागी,
गुण सप्तबीस बैरागी,
गुरु अनुशासन में सारा ॥५॥

सहु निर्विकार निर्मोही,
तजि आस्रव आत्म-विसोही,
जड़ स्यू जग-जडता खोई,
गूजै पग-पग जय नारा ॥६॥

सवत एके सुविलासै,
निज जनम-भूमि सुख वासै,
'तुलसीगणि' स्वमुख प्रकाशै,
गुण पांच पदारा सारा ॥७॥

मोहि स्वाम सभारो, मोहि स्वाम ।
 स्वाम सभारो, नाथ सभारो, मै शरणागत थागे ।
 भगवन् ! मति रे बिसारो, मोहि स्वाम सभागो ॥

पल-पल छिन-छिन घड़ी-घड़ी निश-दिन ध्याऊ ध्यान नुम्हारो ।
 सर्वदर्शी समदर्शी तुम हो, आन्तर भाव निहागे ॥१॥

तीन तत्त्व अरुपाच पदां मे प्रमुख स्थान स्वीकारो ।
 और देव देवाधिदेव प्रभु अनन्त चतुष्टय धारो ॥२॥

बिहरमाण तुम बीस निरन्तर लेखो उनकृष्टांगो ।
 इकसोसित्तर एक समय में, भाग बड़ी दुनियां गो ॥३॥

सहज रूप कर करुणा, शरणागत रा कारज सारो ।
 भव-सागर में नैया म्हारी, अब तो पार उतांगो ॥४॥

मन-मन्दिर में सदा विराजित, ल्यो प्रभु पूजन म्हारो ।
 'तुलसी' तुम चरणाम्बुज-लोलुप भ्रमर-भाव बहनारो ॥५॥

लय—पर घर लाज न मारो

प्रभु को ध्यान धरूं, करि तन मन की इकतान ।
ध्यान धरूं, सब पाप हरूं, करू शान्त सुधारस-पान ॥

मन-मन्दिर ओ मांहरो, तुम प्रतिबिम्बित प्रतिमान ।
करूं प्रतिष्ठा प्रेम स्यू, प्रभु कर-कर स्वागत-गान ॥१॥

प्रतिपल बलि पूजन करूं, सज भक्ति-कुसुम भगवान् ।
अटल उतारू आरती, रच दीपक वर विज्ञान ॥२॥

देइ-देइ तीन प्रदक्षिणा, करू नमण भाव, तज मान ।
स्तवना तीरथनाथ री, करू करण दुरित घमसान ॥३॥

चरण कमल लयलीनता, लहु भृङ्ग कुसुम उपमान ।
समरूं देव गुणावली, तब भूलू सारो भान ॥४॥

इकतारी प्रभु आपरी, रहै जिह्वा तुझ अभिधान ।
रोम-रोम में नित रमो, ओ 'तुलसी' रो आह्वान ॥५॥

लय — बगीची निम्बुआ की

त्रिकरणा जोग विशुद्ध बिबुधजन, रामो रामो अरिहन्ताण ।
तन-मन-रजन, अध-रिपु-गजन, भय-भजन भगवन्ताण ॥

मोह महिप नै प्रथम पछाडै, प्रविशत बारम गुणठाण ।
तेरम तोड़ै कर्म-त्रिवेणी, प्राप्त करै केवलनाण ॥१॥

तीर्थकर कहिवावै करकै, तीर्थ चतुष्टय निर्माण ।
राग-द्वेष जीतणै स्य जिन, अगणित गुण-गण गरिमाण ॥२॥

अतिशय है चउतीस ईश की, प्रातिहार्य अठ परिमाण ।
पाच तीस गुण गर्भित वाणी, अग अलौकिक सठाण ॥३॥

शरणागत जन तारण कारण, कर्म निर्जरण निर्वण ।
सरल सरस उपदेश मुणावै, परिषदि सुर, नर, असुराण ॥४॥

जय-जय'निष्कारण करुणाकर, भीषण भव-सागर त्राण ।
'तुलसीगणि' मधुर स्वर गावै, धुर परमेश्वर महिमाण ॥५॥

लय—प्रभाती

देव अरिहन्त भजो भाव
हृदय ज्युं पावन बरण ज्यावै
थाग भव-सागर को आवै

जिनेश्वर धर्म-सृष्टि करता, जगत-प्रभु त्रिभुवन का भरता ।
पाप सन्ताप सकल हरता, नही जन्मान्तर संसरता ॥
तीन अवस्था में हुवै, ब्रह्मा, विष्णु, महेश ।
एक अवस्था मे तीना रो सारै काम जिनेश ॥
द्वेष अरु राग नही ल्यावै ॥१॥

तपस्या तीव्र-तीव्र करके, अभिग्रह उग्र-उग्र धरके ।
च्यार घनघाती अघ हरके, ज्ञान, दर्शन, केवल वरके ॥
धर्म देशना प्रथम में च्यार तीर्थ नै थाप ।
परम प्रभु तीर्थकर होवै, खोवै जग-सन्ताप ॥
पाप विभु-दर्शन स्यू जावै ॥२॥

लय—नेम की जान बणी भारी

संगल द्वार]

[१५

लक्ष्य कल्याण स्व-पर करणो, पाप शरणागत रोहरणो ।
 भाव जन-जागृति रो भरणो, तारणो और स्वयं तरणो ॥
 निष्कारण करुणानिधि, जनपद करै विहार ।
 भव-भयहारी, है आभारी ज्यांरो ओ ससार ॥
 पार कुण प्रभुता रो पावै ॥३॥

चतुर्दश गुणस्थान गाहवै, अवस्था शैलेशी पावै ।
 भरण ज्यू भालर भरणपावै, अघाती च्यारुं खप ज्यावै ॥
 अजरामर अपवर्ग मे, अक्षय और अनन्त ।
 ज्यांरो जाप जप्या आतम मे, निज गुण-गण विकसन्त ॥
 अन्त 'तुलसी' शिव पहुचावै ॥४॥

वीतराग नित्य सुमरिए, मन स्थिरता ठाण ।

वीतराग अनुराग स्यू, भजो भविक सुजाण ।
वीतराग पद पावणो, जो बारम गुणठाण ॥१॥

बीज कर्म तरु रा कह्या, दोऊ राग रु द्वेष ।
ध्यानानल मे होमिया, रह्यो शेष न लेश ॥२॥

द्वेष रेस समझै सहु, त्यही राग रो माग ।
समभावण नें आपरी, अभिधा वीतराग ॥३॥

सम छव जीवनिकाय मे, अभयकर देव ।
सकल शुभकर स्वामरी, वाणी मिष्ट सुधेव ॥४॥

अक्षय सुख अपवर्ग रो, लह्यो लहिस्ये नाथ ।
'तुलसी' प्रणमें प्रेम स्यू, जुग जोड़ी हाथ ॥५॥

लय—पदम प्रभु नित सुमरिये

मंगल द्वार]

[१७

जीवन उयोति जगावां आपा, जिनवर चरणां लाग रे ।
गुण गा-गाकर करम खपावा, पावा भव जल थाग रे ॥

बीत्या द्वेष-राग दोन्यू जब, बाज्या वीतराग रे ।
जीत्या क्रोधादिक छव शत्रु, जिनवरजी महाभाग रे ॥१॥

धर्म-सृष्टि का करता प्रभुवर, हरता पाप अथाग रे ।
त्रिभुवन का उद्धरता भरता, शासणनाथ सुहाग रे ॥२॥

दुनिया रा सब देव प्रभु, 'देवाधिदेव' बडभाग रे ।
सुर, सुरेश, नर सेवै प्रतिपल धर आन्तर अनुराग रे ॥३॥

बारह विध परिषद में प्रभुवर, वरसे अमृत वाग रे ।
सुण श्रोता शिर डोलै, डोलै ज्यू पूगी पर नाग रे ॥४॥

नहीं भोगी भामणियां का, नही नृत्य वाद्य स्यू राग रे ।
जग-भंभट खटपट में भगवन्, जरा न लेवै भाग रे ॥५॥

सुमरण स्यू भय नाशै, नाशै धन स्यू जियां निदाघ रे ।
बुझै आग भौतिक विषयां री, जागै हृदय विराग रे ॥६॥

सर्वदर्शी, सर्वज्ञ शरण में, आवै जो जन जाग रे ।
'रोहिण्य' ज्यू तरै, 'सुलस' ज्यू वरै, मुक्ति रो माग रे ॥७॥
हृदयहार जीवन री ज्योति, उज्ज्वल जल-निधि भाग रे ।
'तुलसी' वर मधुकरता लूटे, प्रभु-पद पद्म-पराग रे ॥८॥

लय—बाजरै री रोटी पोई

आओ ! आओ ! प्रभुवर आओ ! मन मन्दिर तैयार है ।
मन मन्दिर तैयार म्हांनै थारो ही आधार है ॥

वीतराग, महाभाग त्यागमय सारो जीवन आपरो,
शब्दां स्यू के वरणन होवै, प्रभुरे पुण्य प्रताप रो ।
सदुपदेश रो प्यासो खासो, रहै सारो ससार है ॥१॥

जनम-जनम री अविकल अविचल सफल करी शुभ साधना,
द्वेष-राग रो क्लेष मिटायो, कर अनुपम आराधना ।
भरधा लोक-मानस में, साचा सयम रा संस्कार है ॥२॥

मिटी विषमता जीव मात्र पर समता री धारा बही,
वण्या त्रिलोकीनाथ आथ सारी दुनियां री संग्रही ।
ओगुण वरयो न एक, भरयो सद्गुण रो पारावार है ॥३॥

तारण-तरण शरण अशरण रा अनुपमेय अज्ञेय हो,
सर्वदर्शी, सर्वज्ञ, सुधामय, श्रेय, ध्येय, अद्वेय हो ।
भक्त हृदय 'तुलसी' रो सारो जीवन ही उपहार है ॥४॥

लय—मानव बोलो, मानवता के

ओ म्हांरा गुरुदेव !
 भव-सागर पार पुगाओजी,
 म्हारे रूँ रूँ मे रम जाओजी ।
 अज्ञान अन्धेर मिटावोजी ॥

अगणित गुण गरिमा धारी, बहो पाच महाव्रत भारी ।
 आजीवन अटल निभावोजी ॥१॥

इन्द्रिय औ' मन रो जोडो, मन बिना बाग रो घोड़ो ।
 निशदिन निज वश बरतावोजी ॥२॥

कांचन कामिनी रा त्यागी, हो ब्रह्म रूप थे सागी ।
 भगतांरी लाज रखावोजी ॥३॥

निःस्वार्थ पर उपकारी, सब मन री ममता मारी ।
 छिन-छिन जिनघर्म दिपावोजी ॥४॥

इक ओर देव अधिराजै, इक ओर धर्म छवि छाजै ।
 मध्यस्थ सदा सुख पावोजी ॥५॥

लय—दीपांवाले नन्द

रजकण नें करो सुमेरु, जलकण नें जलनिधि हेरु ।
पंगू नें पहाड़ चढ़ावोजी ॥६॥

अशरण नें शरणो थारो, निर्बल-बल सबल सहारो ।
पतितां नें पूज्य बणावोजी ॥७॥

थारै बिन घोर अन्धारो, कुण पंथ दिखावण हारो ।
भूल्यां ने मारग ल्यावोजी ॥८॥

थाने पलक-पलक मै ध्याऊ, चरणा सर्वस्व चढ़ाऊ ।
'तुलसी' अब दया दिखावोजी ॥९॥

सुज्ञानी गुरु रो गोरख गावै ।

ओ अथाग भव-सागर सहज्यां, बिना तरी तिर ज्यावै ॥

है गुरु दिव्य देव घर-घर का,

पावन प्रतिनिधि परमेश्वर का ।

गुरु गोविन्द खड़्ग्या लख गुरु ने, पहली शीश नमावै ॥१॥

श्रीगुरुवर रै चरण सहारै,

अपणो जीवन शिष्य सुधारै ।

बधै दूब ज्यू बाड़ां सारै, भू पर इतर लुटावै ॥२॥

डाली ऊपर फल जल खीचै,

सीचणहार गोड़ नें सीचै ।

दूट पड़े फल जो जल में तो सड़-गल बदबू पावै ॥३॥

गन्दो गल्यां नल्यां रो पाणी,

मिल गंगा में मोजां माणी ।

इरद-गिरद यदि पड़े उछल, गंगा जल आब गमावै ॥४॥

लय—असली आजादी अपनाओ

अनुचित-उचित ज्ञान नही गुरु बिन,
सत्य-असत्य भान नही गुरु बिन ।
तत्त्व-अतत्त्व छान नही गुरु बिन, जडता सुगुरु मिटावै ॥१॥

सद्गुरु मुगत-पथ रा मेढ़ी,
गुरु बिन मोख खीर है टेढ़ी ।
एड़ी घिसे खिसे चहै चोटी, गुरु बिन गोता खावै ॥६॥

बिन्दु सिन्धु 'तुलसी' बग जयावै,
गुरुवर महर नजर जो पावै ।
'रह्यो काल तक जो कठिहारो, आज कुबेर कहावै' ॥७॥

आनन्द आनन्द आज, सन्त है आपारे घर पावणा ।
मिलजुल के सारो समाज, गावो रे मगल बधावणा ॥

बाही दिवाली रू बोही दशेरो,
सन्तजी रो आंगणै मे पावन पग फेरो ।
तारण-तरणी जिहाज, जीवन ज्यू लागे सुहावणा ॥१॥

सूनी ही कांकड्या रू सुना घर दावणा,
सूनी रसोया सूनी सारणा रू वारणा ।
सूना-सूना सारा कामकाज, सन्ता बिन लागे अलखावणा ॥२॥

सन्त तो साचे ही म्हारै माथे रा नोर है,
हिवड़े रा हार, म्हारै कालजै री कोर है ।
राखै है भगतां री लाज, भव-भव रा पातक मिटावणा ॥३॥

पौढे ना पिलंग और ओढे ना रजाई,
चढ़े ना सवारी और पहरे ना पनाही ।
धरती पर सोणै री रिवाज, कठै पड़्या गिदरा बिछावणा ॥४॥

लय—बोम्बे पधारो गुरु

पैसे रो पग-पग आकर्षण अपार है,
गुरुजी रै इगरी ना दर मे दरकार है ।
सजम रो साचो है साज, और कछु देणां न पावणां ॥५॥

शील में न ढील देखो डील भरै साखड़ी,
सांच नै न आंच जांच देखो यांरी आंखड़ी ।
मुलमुल सो कोमल मिजाज, साजबाज नही को सजावणां ॥६॥

त्याग और तपस्या ही सन्तारी साधना,
आही यांरी भेंट और आही आराधना ।
'गुलसी' लख भव-सिन्धु पाज, लोका रा लोचन लुभावणां ॥७॥

सन्ता रा खुल्ला है बारणां,
कबही ल्यो कोई निहार।
खुद ही है द्वार पहरेदार ॥

दरखत री छांह और चन्दा की चांदणी,
सूरज री धूप लेण कुणसी सीमा बणी।
सब रो समान अधिकार ॥१॥

निर्धन, धनवान, पुण्यहीन, पुण्यवान हो,
हरिजन, महाजन, मजदूर हो किसान हो।
हिन्दू या मुस्लिम संसार ॥२॥

जात की न जांच, जांच इशानी शान री।
ऊंच है कि नींच देखो बानगी जबान री।
आगे आचार व्यवहार ॥३॥

धार्मिक अधार्मिक हो फिर भी गुरु भेंट ल्यो,
खोल के दिमाग सारी शंका समेट ल्यो।
सेठ लो मुनि 'अज हु सवार' ॥४॥

आणै स्यूं पहली है सूनो संकोच क्यू ?
खाणै स्यूं पहली अजीरण रो सोच क्यू ?
परखो कर प्यार एक बार ॥५॥

लय—बोम्बे पधारो गुरु

आस्यो सद्भाव स्युं तो पास्यो फल चौगुणो,
लास्यो दुर्भाव तो भी थाने है भोगणों।

• कर्षणी ज्यू कड़वी रो भार ॥६॥

पत्थर री मार, फिर भी फल में मिठास है,
घिसकर भी चन्दन में वास है, सुवास है।

‘तुलसी’ है साधना साकार ॥७॥

साधना हो साधना सन्ता री सन्ता री कठिन करारी रे ।

कांपै सुण कमजोर कलेजो, वीरां री बलिहारी रे ॥

खड़गां री धारां पर बहणो, अपणै मन पर रहणो रोब जमायां ।

कहणो सरल गरल है पीणो, खबर पडै अजमायां रे ॥१॥

जर, जोरु री जटिल समस्या, दुनिया सारी परेशान है भारी ।

सत सरलता स्यू सुलभावै, विभव छोड़ ब्रह्मचारी रे ॥२॥

आशा नाम नदी प्रति गहरी, लहर लहर मे जहर तरचो संन्यासी ।

आश दासता छोड़ बणाई आशा अपणी दासी रे ॥३॥

‘सच्चं भयवं’ ‘सारभूय’, आ महामहिम महावीर विभु री बाणी ।

प्राण जाय पर रहै सत्य प्राण, सन्त करै कुर्वाणी रे ॥४॥

‘खुहं पिवासं दुस्सिज्जं’ शिर केश लोच है कठिन काम कमजोरां ।

निरपवाद जो पैदल-यात्रा, जीवन-जग सजोरां रे ॥५॥

छलना चलै न मन री कलना, खलना हो यदि अशुभ कर्म रो आंको ।

हास खेल दी बात न, जोगारंभ रो मारग बांको रे ॥६॥

संग छार, कर डार बगल मे, क्रोध रोंध कर मार-मार मद हाथी ।

अनड़ नमावै ‘बिम्बसार ज्यू ‘तुलसी’ सन्त अनाथी रे’ ॥७॥

लय—राखना रमकड़ा

समता रा सागर सन्त सुखी संसार में ।

निज आत्म उजागर सन्त सुखी संसार में ॥

है सन्तोष शान्ति रो साधन वीतराग री बाणी ।

ममता मार, पछार चार रिपु, खोली सुखरो खाणी रे ॥१॥

काचर-बीज, कर्म रो कर्ता ओ मन सदा सतावै ।

सन्त सांकडे भीड़ टीड री मोत मुट्ठी मे आवै रे ॥२॥

सात-सात पीढ़्यां रो सांसो घर गृस्थी रो देखो ।

कल री चिन्ता करै न मुनिजन ओ सुख दुख रो लेखो रे ॥३॥

जमी बिना जोखिम री शय्या, करतल करे सिराणो ।

बनिता विरति प्रसग रग में पोढे मुनि महाराणो रे ॥४॥

मन में समता, तन मे समता, समता रस में भूलै ।

शान्त सुधारस पी-पीकर दुनिया की दुबिधा भूलै रे ॥५॥

निन्दा और प्रशंसा मे सम, समता जीवन मरणै ।

मान और अपमान मान सम, रमे जु समता सरणै रे ॥६॥

रम्यो रहै समता में 'तुलसी' स्वर्गाधिक सुखमणै ।

साधु-वेषधर विषय-विलासी, नरक यातना ताणै रे ॥७॥

लय—तरकारी ले लो मालण आई

प्रथम प्रवेश

चेतन अब तो चेत,
चेत-चेत चौरासी मे तू भमतो आयो रे ।
भयंकर चक्कर खायो रे ॥

मोक्ष-साधना रो सुध साधन जो अति दुर्लभ गायो रे ।
'चक्री-भोज्य' सम मुश्किल ओ मानव-भव पायो रे ॥१॥

आर्यक्षेत्र, उत्तम कुल जो नहीं, तो पायो, नहीं पायो रे ।
लम्बी आयु, देह निरोगी भाग्य सवायो रे ॥२॥

पूरी पांचू मिली इन्द्रियां, सद्गुरु सग सुहायो रे ।
इरा बिन नमक बिहूणो भोजन, किरा नै भायो रे ॥३॥

सारी सामग्री पा, जो नहीं बांछित लाभ कमायो रे ।
तो 'ब्राह्मण' ज्यू चिन्तामणि स्यू काग उडायो' रे ॥४॥

दान शील तप भाव नाव में, बैठ हृदय विकसायो रे ।
'तुलसी' भव-सागर रो लेठो, सकल मिटायो रे ॥५॥

लय—पनजी मुठे बोल

दुर्लभ चिन्तामणि सम पायो प्राणी ओ मानव अवतार ।
ओ मानव अवतार, चेतन क्यू खोवै बेकार ॥

चौरासी रै चक्कर में तू रूल्यो अनन्ती बार ।
नरक कुण्ड मे सही सजोरी जमदूता री मार ॥१॥

ढोर हुयो तू परवशता में ढोयो भारी भार ।
जगल मे जद बण्यो जिनावर, थारी हुई शिकार ॥२॥

माटी, जल, जलचर, थलचारी, बिच्छ, सांप, सियार ।
घोर बेदना सही सबल स्यू, दुर्बल स्यू फुंकार ॥३॥

किती बार तू मरचो गर्भ में, जननी ने सहार ।
काट-काट कर बारै काढ़्यो, हा ! दु.ख हृदय-बिदार ॥४॥

जनम-जनम री सचित करणी, आज हुई साकार ।
मानव चोलो रतन कचोलो, कोड़्यां में मत हार ॥५॥

तज जजाल हाल ही कर तू, परम तत्त्व स्यू प्यार ।
जाग-जाग दै भालो सतगुरु, 'तुलसी' तारणहार ॥६॥

लय—म्हारा सतगुरु करत विहार

स्वर्गा री पाई, सम्पत्ति सुकृत कमाई ।
 पव महाव्रत, बारह व्रत री, तीव्र तपस्या वा जिनमत री ।
 धारी है अथवा धराई ॥१॥
 पुण्य बध तिण तप रै लारै, प्राणी जिणस्यू स्वर्ग सिधारै ।
 ज्या फूलां री सेज बिछाई ॥२॥
 उपजै देव-दुष्य मे आकर, मुहूर्तान्तर मे यौवन पाकर ।
 देखै नजर उठाई ॥३॥
 रमभ्रम-रमभ्रम नृत्य रचाती, कि किच्चादिक प्रश्न उठाती ।
 ऊभी है सुरबधू आई ॥४॥
 पैसठ भोमिया ऊच महल में, चाकर देव सदैव टहल मे ।
 पाकी है प्रबल पुण्याई ॥५॥
 श्वासोच्छ्वास लहै पखवारै, इक सागर आयुष रै लारै ।
 मौज करै मनचाही ॥६॥
 आहार सहस वर्षा इक बारै, इक सागर आयुष रै लारै ।
 निर्जर जरा नै मिटाई ॥७॥
 पल्योपम तो पल सम जावै, दु.ख रो सपनो भी नही आवै ।
 वाह प्रभुताई पाई ॥८॥
 आ सम्पत्ति तो पिण ध्यावै, मानव-भव नै निश दिन चावै ।
 नही स्वर्गा में धार्मिकताई ॥९॥
 परमार्थ पथ नही नर-भव बिन, सोचो सहज पल-पल छिन-छिन ।
 'तुलसी' सीख सुणाई ॥१०॥

लय—बदी ना करणा

पाप बस प्राणियां हुवै नरक निवासी रे ।
अधम अध ताणियां सहै बेदन खासी रे ॥

पीड़ै जो पर प्राण नै, मुख भाखै भूठी बात ।
चोर हरै धन पारको, करै कूड़-कपट दिन-रात ॥१॥

नहीं परमेसर नै भजै रे करै नही सतसग ।
त्याग-तस्पया स्यू परै (वोही) जोवै जम रो जग ॥२॥

कुंभी मे जा ऊपजै मुख छोटो पेट विशाल ।
काट-काट कर काढतां, अरड़ाट करै असराल ॥३॥

क्षेत्र बेदनां है घणी जठै गरमी शीत अनन्त ।
प्यास असंख्य समुद्र रो जल पायां ही न बुझन्त ॥४॥

विषमी बेतरणा नदी जल जाणक लोही राध ।
वृक्ष जिहां कूड़शामली तल बैठ्यां हुवै विशाद ॥५॥

मेह अन्धारी रात स्यू जिहां अनन्त गुणो अन्धियार ।
पलक मात्र पावै नहीं रे प्राणी सुख-सचार ॥६॥

परमाधार्मिक देवताजी जो है पनरै प्रकार ।
रूप विचित्र रची-रची रहै नेरइयां री लार ॥७॥

लय—चौरासी मे चाक ज्यू

विविध शस्त्र स्यू बीध नै पग माही दै रे पछार ।
आक्रन्दै करुण स्वरै, विलपै कर हाहाकार ॥८॥

घोर रौद्र दुख भोगता रे वीतै काल असंख ।
धार्मिक करणी करण नै कद पावै अवसर रंक ॥९॥

जो सुख-दुःख अत्यन्त मे रे काल गमै इकधार ।
इरा करण स्यू नरक मे भाई करणी दुवकर कार ॥१०॥

आगम मे ई वासते कह्यो नर भव रो रे महत्त्व ।
पामी शिवगामी बणो, ओ है 'तुलसी' अन्तर तत्त्व ॥११॥

बिन नर भव शिव नही पावै,
जो तीन गति फिर आवै ।
पचेन्द्रिय भी कहिवावै ॥

स्वर्गा मे सदा विलासी,
पल-पल रहै भोग-पिपासी ।
कुण करणी याद करावै ॥१॥

नरका में जो रे ! निवासी,
हरदम रहै दुःख री फांसी ।
कुण धार्मिक कथा सुणावै ॥२॥

अब पशु-जोणी जो बाकी,
है विषमी गति बलदां की ।
नाकां में नाथ घलावै ॥३॥

जो बात करो करमां री,
बहै भार मार जरबां री ।
तांगा री तोख उठावै ॥४॥

जो महिष महाबल बाजै,
नर परवश डरतो भाजै ।
जल कोठ्यां भर-भर ल्यावै ॥५॥

लय—बिन दया धर्म नही पावै

हय, हाथी, नाहर, बघेरा.
पशु निज परवश्य घरोरा ।
सहु शून्य विवेक कहावै ॥६॥

बिन ज्ञान तत्त्व कुरा जाणै,
तत्त्वज्ञ धर्म पहिचानै ।
सहयोग सुगुरु रो चावै ॥७॥

अतएव मनुज-भव भारी,
है चिहुगति में अधिकारी ।
दश बोल जो कोल पुरावै ॥८॥

नर भव पा संयम साधै,
निज आतम नै आराधै ।
'तुलसी' नित लाभ कमावै ॥९॥

सुज्ञानी अब तो सुरत सभाल, सुअवसर आयो है ।
सकल सामग्री युत सुविशाल, मनुज-भव पायो है ॥

मिल्यो मानव-भव मुँधै मोल,
पुण्य स्यू डीलां वण्यो सुडोल ।
सघन घन, परिजन री रमभोल,
हृदय विकसायो है ॥१॥

मिल्यो सब जोग, न सतगुरु जोग,
हुयो तब सब सजोग ही मोघ ।
बिना सतगुरु रै त्याग रु भोग,
अलग कुरा गायो है ॥२॥

मिल्या अब सतगुरु तरणी नाव,
करा सतसगति मन उच्छाव ।
जाव श्रद्धा शिव-गमन भुकाव,
भाग्य लहरायो है ॥३॥

तदपि मोहान्ध करम कर नीच,
कमायो दुगुणो कलिमल-कीच ।
पाप तर दुष्कृत जल स्यू सीच,
पतित कहिवायो है ॥४॥

छोड़ दै अब निद्रा आलस्य,
शीघ्र कर जो कर्तव्य अवश्य ।
सुणावै 'तुलसी' तत्त्व-रहस्य,
हर्ष घन छायो है ॥५॥

लय—इक दिन उडै ताल से हस

अब मानव जन्म मिल्यो जागों

ओ यौवन, धन, तन, तरुणाई,
ऐश्वर्य, अलौकिक अरुणाई ।
इक खिरण मे दूटै ज्यू तागो ॥१॥

है कूच की नौबत बाज रही,
कोई काल गयो कोई आज सही ।
कुण जागै कुण करसी मागो ॥२॥

जो मानव जिसी करै करणी,
आखिर तो बिसी पड़ै भरणी ।
इं ठोड़ न चाल सकै ठागो ॥३॥

नर-जीवन धोली चादर है,
चिऊ गति मे इणरो आदर है ।
इण पर मत लागणद्यो दागो ॥४॥

जो जीवन री उन्नति चावो,
'तुलसी' संजम-पथ अपणावो ।
सारी दिल की दुविधा त्यागो ॥५॥

लय—प्रभु वासुपूज्य भज ले

नर-देही व्यर्थ गमाई नां ।
कर्मा रो करज कमाई ना, विषयां मे दिल विलमाई नां ।६

तू भटक्यो लख चौरासी में,
चढ्यो जनम-मरण री फासी मे ।
रह्यो काल अनन्त उदासी में,
अब फिर बी रस्ते जाई ना ॥१॥

धन दौलत अरु सम्पत्ति सबको,
अस्तित्व बिजली रो भबको ।
दृष्टान्त है पाण्डव-कौरव रो,
मगरूरी मन मे ल्याई ना ॥२॥

मन मोहन स्त्री, परिजन, न्याती,
स्वारथ मे . है सारा साथी ।
'बिन स्वारथ मार्चो सुत खाती,
मूरख ! ज्यादा मुरझाई नां ॥३॥

आशा आशा रै बन्धन मे,
पञ्चेन्द्रिय विषय-निरुन्धन मे ।
'शिर फूट पड्यो अभिनन्दन मे,
बा काम इमारतं आई नां' ॥४॥

है विषम करम-गति दुनिया में,
इक छिन मे कुण गति कुण पामें ।
मत राच लोभ अरु ललनां में,
'तुलसी' शिक्षा विसराई नां ॥५॥

लय—बन जोगी मन भटकाई ना

सुजना जागो रे, सुजना जागो रे ।
गुरु सीख सुणावै, परमारथ-पथ लागो रे ॥

सुर्गा में सुख शय्या पाई, नरका कुम्भी बासो रे ।
तिरजंचा में बुद्धि-विकलता, नहि कहि ज्ञान उजासो रे ॥१॥

सूतां सूता समय वितायो, तीन गति रो सारो रे ।
अब जाभरको है नर रो भव, निज कर्तव्य निहारो रे ॥२॥

प्रात समय उठ परमात्म रो, सुध मन समरण कीजै रे ।
भजन सरोवर मे कर मज्जन, शान्त सुधारस पीजै रे ॥३॥

सतपुरषां री सतसंगत में, पल-पल सफल मनावो रे ।
सतसंगत सब गुण रो साधन, उत्तम जन अपनावो रे ॥४॥

काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ मे, मत ना मन मुरभावो रे ।
क्षणभंगुर है मानव रो तन, जीवन सफल बणावो रे ॥५॥

अर्हन् देव, सुगुरु सुध साधु, धर्म दयामय धारो रे ।
तीन तत्त्व है रत्न अमोलक, करल्यो हार हियारो रे ॥६॥

पांच महाव्रत वा द्वादश व्रत, समकित युत स्वीकारो रे ।
'तुलसी गणपति' अति उद्योगे, मानव जनम सुधारो रे ॥७॥

लय—भवि तुम चेतो रे

भवि जीव दया व्रत पालो ।
निज जीवन ने उजवालो जी हो,
दिल गहरो रंग रचालो जी हो ।

केइ एकन्द्रिय कहिवावै, पचेन्द्रिय जाव लहावै जी ।
सब जीवित रहणो चावै, सुख शान्ति भावना भावै जी ॥१॥

निज जीवन निज ने प्यारो, तिमही पर-जीव विचारो जी ।
कमजोर देख मत मारो, आखिर बो बैरी थारो जी ॥२॥

दुःखित अरु दीन दुभागी, चाहै जीवन सौभागी जी ।
'बुढ़िया मरवा अनुरागी, बाहि साप-सांप कर भागी जी' ॥३॥

'पर दया नाम व्यवहारे, निज आतम पाप उबारै जी ।
जो पाप न लागै लारै, कुण हिसा करतो हारै जी ॥४॥

मानव भव लाभ उठावो, मत भारी कर्म कमावो जी ।
'तुलसी' परमारथ पावो, थे जीव-दया अपणावो जी ॥५॥

लय—जी हो बना गहरो रंग गहरो रंग

भूली मत पीवो रे भविया भाग तमाखू ।

गांजो, सुलफो तिम साथ, जरदो मन झालो हाथ ।

बीड़ी, सिगरेट सघात, त्यागो चाहो जो सुख सात ॥

भांगां बागां बिच घोटै मोटै सिलाडे, छोटै-मोटै मिल सग ।

पीवै अरु पावै हो मन की गोठ पुरावै, होवै कहि रग मे भग ॥१॥

भगड़ी कहिवावै पावै बुद्धि-विकलता, आवै चोहट्टे दौड़ ।

‘फूलां माला-सी करणी’ स्वमुख सराहवै, पावै फल जैसी खोड़ ॥२॥

ताकै नर इत उत फिरतो तुरत तमाखू, आखू पर जेम बिडाल ।

जबोल नहि पावै होको चिलम बिलमवा, तब लों न गले तसु दाल ॥३॥

चिलम्यां हित बेइलम्यां पै कर-कर जोड़ी, माफी युत साफी मांग ।

जाची जल हलफल करतो घूट ही खाचै, सांचै अहा केता सांग ॥४॥

खू खू करतो नित खांसै, धस धस धांसै, हांसै लखि शिशु हर बार ।

थू थू कर थूकै हो चूकै नहि घर आंगण, मूकै नहि तो पण छार ॥५॥

बेचै घरको घी गावो, लावै तमाखू, लागै हाता बिच दाग ।

दारभै नहि क्यू रे कलेजो सहज बिचारो ? बांसै मुखड़ो मनु बाग ॥६॥

गांजै अरु सुलफै डुलपै पेय न दोन्यू, जरदो नहि खाणो जोग ।

बीड़ी, सिगरेट, सयाणा ठेट नासिका, नर भव नासण हित रोग ॥७॥

मानव तन को ओ मोको मिलियो अनोखो, रोको मत मुधा विकास ।

‘तुलसी’ गुरु कालू कृपया साफ सुणावै, त्यागो थे व्यसन विलास ॥८॥

लय—तमाखू

मानवी ! ओ मानवी !! थे मानो ओ माया जाल समेटो रे ।
 ज्ञानामृत री जो रे पिपासा, ज्ञानी गुरु पद भेटो रे ॥
 दो-दो घोड़ों पर असवारी, क्योंकर थांरी, चलसी मनै बताओ ।
 माल भी खाणा, मोख भी जाणा, फोकट दिल फुसलाओ रे ॥१॥
 करी नही सगत सन्ता री, भगवन्तां री (कहो) कोण सुणावै वाणी ।
 बिना ज्ञान है बैल जिन्दगी, बहै तैल री घाणी रे ॥२॥
 गुरु लोभी, चेलो भी लोभी, चलै जगत मे, दोन्यू ठगां ठगाई ।
 पत्थर-नाव बैठकर दोन्यू, डूबे दरिया माही रे ॥३॥
 सप्ता सुणाली सात रात दिन, कथा भट्टजी, अति आयास उठायो ।
 आतम-ज्ञान न मिल्यो महिप नै, खिल्यो न दिल कुमलायो रे ॥४॥
 गुरु चेलै पर, चेलो गुरु पर, मढे दोष, पर मूल बात नही खोजै ।
 'खोयो रत्न बजार बीच और घर आंगण में सोझै रे' ॥५॥
 नारद न्याय निवेड्यो निर्मल, गोडा लकड़्यां, (दे) दोन्यां ने रे गुड़ाया ।
 कर प्रश्नोत्तर भीतर-भीतर, गुरु चेला चिमठाया रे ॥६॥
 कनक कामणी के फदै में दोन्यू बन्ध्या, कहो कुण किरणै तारै ।
 पथिक और पथदर्शक दोन्यू, अन्ध जिन्दगी हारै रे ॥७॥
 बन्धन-मुक्त महान सन्त री, शरण ग्रहो जो चाहो भव-जल तिरणो ।
 मन नें मांज, आंख नें आंजो, मिटै ज्यू जामण मरणो रे ॥८॥
 जल में न्हायां, सांग रचायां, सुणो रे भायां, कुण निज कारज सारया ।
 'तुलसी' तुलसी राम नाम पर, आखिर तन, मन वारया रे ॥९॥

लय—राखना रमकड़ा

मानव । क्यू न विचारै रे ?
 कोडी माटै मिल्यो अमोलक हीरो हारै रे ।
 बुद्धि और विवेक-शक्ति है घट मे थारै रे ।
 जाण बणै अणजाण कोण क्यू तुझने वारै रे ॥१॥
 छोड़ प्रकाश रह्यो चावै रजनी अन्धारै रे ।
 आख मूद अनभिज्ञ चलै क्यू लकडी सहारै रे ॥२॥
 पाई की नही आय, खरच घर क्षमता बारै रे ।
 मरै दुतरफी मार अरे । इण पचम आरै रे ॥३॥
 दयित बिहूणी नार नैण क्यू काजल सारै रे ।
 ओछी रकम उधार, साच बोल्या मा मारै रे ॥४॥
 निज जीवन-निर्माण दिशा में पलक पसारै रे ।
 (तो) पहुचै पल मे पार लाग्योड़ी नाव किनारै रे ॥५॥
 दुनिया री दुबिधा में क्यू अपणो हित हारै रे ।
 दुनिया बणसी भिनख बण्या, आ थारै सारै रे ॥६॥
 मध्यम मार्ग अणुव्रत सफल साधना धारै रे ।
 हो अपणो पुरुषार्थ सन्त तब 'तुलसी' तारै रे ॥७॥

लय—मनवा नांय विचारी रे

मन । क्यू मुरझावै रे, मानव-भव व्यर्थ गमावै ।
जो खिण-खिण जावै रे, बा पाछी फिर नही आवै ॥

मधुकर मधु सयुत रे, उपवन मे सुमन टंटोलै ।
तिम चेतन नव तन रे, नही एक निकेतन ठावै ॥१॥

फल पल्लव बिन तरु रे, पछी जिम छिन में छोड़ै ।
तिम चेतन तन नै रे, तू क्यू अति प्रेम बढावै ॥२॥

चीवर जिम जीरण रे, तजि मानव नव-नव पहिरै ।
तिम चेतन प्राक्तन रे, तजि नूतन तन हित धावै ॥३॥

जिम बाट बटाऊ रे, लहै बीच सराय बसेरो ।
तिम चेतन तन में रे, आखिर नव बास बसावै ॥४॥

दिनकर नै देखो रे, हो उदय, शाम का आँधै ।
तिम दुनिया सारी रे, कहो कुरण-कुरण स्थिरता पावै ॥५॥

सुकृत अरु दुष्कृत रे, ए सदा आपरा साथी ।
तन, घन, परिजन में रे, क्यू चेतन चित्त लुभावै ॥६॥

मानव भव मेलो रे, है मुश्किल मिलणो भाई ।
'तुलसीगणि' गावै रे ! फिर क्यू नहीं लाभ उठावै ॥७॥

लय—रामूडा साथी रे

सङ्का सांकडी रे चेतन, चलणो सजग सचेत ।
 बाट अनि बाकडी रे, जीवा पग-पग ऊपर चेत ॥
 सारी जोण्या में सिरै रे, मानी मिनखा-जोण ।
 दरवाजो दोहरो मिल्यो रे, खाज खिणै अब कोण ॥१॥
 'अन्ध दशा अजमायवा रे, मत बह आख्यां मूद ।
 सिद्ध पुरुष वरदान लै रे, खोल चटाकै चूध' ॥२॥
 'बेहोसी में बावलो रे, उलझ्यो इलाकुमार ।
 जाग्यो आखिर जोश मे रे, बन्दो बारम्बार' ॥३॥
 'लालच लाडू रो लग्यो रे, ओआषाढ़ अणगार ।
 संयम खो पाछो संभ्यो रे, एक सुगुरु बच-कार' ॥४॥
 अप्रमाद आराधना रे, जीवन जागृति हेत ।
 आप्त-पुरुष उपदेशना रे, 'तुलसी' शुभ सकेत ॥५॥

लय—सुण सुण साधजी

रे मनवा ! किए विध तोहि मनाऊ ?
क्यों कर तुझ पर काबू पाऊ, छिन-छिन ध्यान लगाऊ ॥

घर को दुशमन है घर फाड़ू,
क्यू कर अपनी जाघ उघाड़ू ।
आ उलभन सुलभाऊ,
कुणसो पथ अपनाऊं ॥१॥

चुपके अन्दर ले चिमठायो,
नरम गरम बण बहु समभायो ।
पर कोई असर न पाऊ,
साची बात सुणाऊ ॥२॥

‘ऐने जिए जिया पंच’ प्रमाणं,
सच्चं नैः-स-गं-ह-सा-गं ।
अब सन्देह न लाऊ,
पूरण प्रत्यय पाऊ ॥३॥

‘राजुल-बच थभ्यो रहनेमि,’
‘गिरतो संभ्यो प्रभवो प्रेमी’ ।
मैं भी प्रयत्न ठाऊं ।
क्यू न सफल बणाजाऊं ॥४॥

लय—टूट गया इकतारा

क्लीव कहै मन संस्कृत-वाणो,
मैं भी अब तो सच कर मानी ।
जाणी क्यू रे ! छिपाऊ,
दिल को दरद दिखाऊं ॥१॥

भव-भव भारी जोखिम भोगी,
अब को सयण मिलै सहयोगी ।
रोगी रो रोग मिटाऊ,
तप, जप कर तन ताऊ ॥६॥

साधू ब्रह्मचर्य नव गुप्ति,
बाधू जीवन सधन सुषुप्ति ।
'तुलसी' तुलातुल जाऊ,
आत्माराम कहाऊ ॥७॥

हठीला मानलै मनड़ा ! म्हारो अबै कह्यो ।
रठीला मानलै चितड़ा ! म्हारो अबै कह्यो ॥

थारै रे कारणौ ओ म्हारो, तन कितनो कष्ट सह्यो ।
छिन-छिन चिन्ता रूप चिता में, बल-जल छार हुयो ॥१॥

रस को लोभी चसकै पड़ियो, गटकायां ही गयो ।
दवा शरण अब मरणाशकी उदर रोग उदयो ॥२॥

व्यसनी विषय-वासना में तू, बण बेशरम बह्यो ।
मरै मरयो ज्यू कहै भरतरी, कुत्तो कान कुह्यो ॥३॥

अज्ञानी मृग, मीन, पतंगो, दीपक बीच दह्यो ।
तू जानी, मानी मेरा मनवा, क्यू बण क्लीव रह्यो ॥४॥

सोचू बात प्रभात रात, फिर सारो महल दह्यो ।
करस्यू कड़ी प्रतिज्ञा अब नही करस्यू चित्त चह्यो ॥५॥

वीर वीरता 'स्थूलिभद्र' री, स्थिरता क्यूं न लह्यो ।
निर्विकार पूरो बणाएऊं, ज्यू 'विजया विजयो' ॥६॥

देखी जो दयनीय दशा, अब पकड़ूं पंथ नयो ।
रे मन ! सहयोगी बण 'तुलसी' अब बो बखत गयो ॥७॥

लय—हठीला कानजी

निज भूल सुधारोजी,

भूल सुधारो मूल सुधारो, उंडी बात बिचारो ।

अपराणी-अपराणी भूल सुधारचा, सुधर जाय जग सारो ॥

नुक्ताचीणी ओरां री तो, करण नयन मुंह फारो ।

डूगर बलती जग देखै पर, पगतल क्यू न निहारो ॥१॥

अपनी भूल भयकर तो भी, ज्यू-त्यू ढाकण ढालो ।

कमी पराई राई जिति-सी, पहाड करै परबारो ॥२॥

पात रोग रो रोगी देखै, पीत रग सगला रो ।

दोषी री भी आही हालत, दिये तलै अन्धारो ॥३॥

अपनी प्रकृति सुधारचा ही, नर होवै सबनै प्यारो ।

उदाहरण यदि सुणणो चावो, तो है 'सेठ सुता' रो ॥४॥

पहिलो ओ कर्तव्य भव्य जन, अपराणो घर संभारो ।

'तुलसी' हेतुभूत सन्त जण, (पर) निज स्यू निज निस्तारो ॥५॥

लय—म्हाने चाकर राखोजी

सुजन निज अवगुण पर दृग डारो ।
 पर-गुण सप्रेम निहारो ।
 मन मच्छरता मत धारो ।

निज अवगुण नै हेय भाव स्यू, क्षण-क्षण निरखण हारो ।
 तिम पर गुण आदेय भाव स्यू, बो नर जगत सितारो ॥१॥

पर-अवगुण अवगुण, निज-गुण गुण, निरखण जो जग ढारो ।
 निज मे बेभ्र चालणी जितरा, समझो अमल इशारो ॥२॥

‘अप्या मित्तममित्त’ रो ओ सुन्दर पाठ चितारो ।
 तज निज निज अवगुण गुण भजल्यो, (तो) होसी सहज सुधारो ॥३॥

मिनख इस्यो कोई बिरलो जग मे, जो ओगुण स्यू न्यारो ।
 डूगर बलती दुनिया देखै, पगतल न हुवै निजारो ॥४॥

मानव जनम अमूल्य अतूषम, मन्दिर-मणि सम सारो ।
 ‘तुलसी’ तज अवगुण आवरणी, सद्गुण स्नेह सचारो ॥५॥

लय—अधु म्हारे मन मन्दिर मे

आगै आओ ए ।

आगै आओ ए बाया । समाज मे जागृति ल्याओ ए ।

आगै आओ ए ।

आगै आओ ए । मानव जाति रो मान बढ़ाओ ए ।

सामायक सबर पडिकमणो, नितरी रीत निभाओ ए ।

पण व्यावहारिकता, विवेक ने क्यूं बिसराओ ए । ॥१॥

गुरु-दर्शन सेवा बखाण रो मन मे घणो उमाओ ए ।

(पण) बाता री रमभोल्या मे, क्यू बखत बिताओ ए ॥२॥

तपो तपस्या तीब्र-तीब्र थे हिम्मत घणी दिखाओ ए ।

पण आत्मा मे क्षमा किती है, ध्यान लगाओ ए ॥३॥

धर्म ठिकाणै मे तो पूरी, धर्मात्मा कहलाओ ए ।

(पण) घर मे रोजीना री, किचकिच क्यू न मिटाओ ए ॥४॥

आवश्यक कामा मे तो, थे लजवत्या बराज्यावो ए ।

कठै रहै बा शरम, बैठ जद गाल्या गाओ ए ॥५॥

घरका नै तो टिचकारचा स्यू सैना मे समझाओ ए ।

(पण) बिसायत्या स्यू खुल-खुल, बाता खूब बराणाओ ए ॥६॥

लय—चरचा धारो रे

अथम प्रवेश]

[५५

आजादी रो के ओही थे, लाभ उठाओ ए ॥७॥

चन्दनबाला और सुभद्रा, सीता बरणी चाओ ए ।

(पण) पैली बारा आदर्श नै तो अपणाओ ए ॥८॥

सत्य, शील, सन्तोष, शान्ति रो, शुभ श्रु गारसभाओ ए ।

मातृ पक्ष रो गौरव 'तुलसी' सदा दिपाओ ए ॥९॥

भजन बिना बावला ।

होरो कोड्या मे मत हारो, थोडी उ डी बात बिचारो ॥

परम पूज्य परमात्म प्रभु रो नाम प्राण स्यू प्यारो ।

चुरा चुरा परमेसर गुण मोती करल्यो नी हार हियारो ॥१॥

और हार है भारभूत सब ओ सुख दुख मे थारो ।

खिण-खिण इणने समरो स्याणा मानो मानो नी कहणो म्हारो ॥२॥

भूठा है सब जग रा भभट ओ है साचो साहरो ।

अधम उधारण, भवदधि तारण, जीवन रो उजियारो ॥३॥

निर्धन रो धन, निर्बल रो बल, शरणागत रखवारो ।

मोक्ष पन्थ रो, मोटो सबल, अक्षय सुख सचारो ॥४॥

प्रात उठ मन मैल मिटाकर मच्छर भाव निवारो ।

नवकरवाली जपो निरन्तर तन्मयता तुम धारो ॥५॥

साठ घडी हुवै रात दिवस री, दो अपणी कर डारो ।

तो पिण बचस्यो 'दोय भील स्यू (ज्यू) सेठ लह्यो छुटकारो' ॥६॥

और क्रिया जो सभै न पूरी समरण मति रे बिसारो ।

साचै मन कर भजन प्रभु रो 'तुलसी' जनम सुधारो ॥७॥

लय—मन्दिर मे काई दूढती फिरै

भज मन प्रभु अविनाशी रे ।

बोच भवर मे पडी नावडी काठे आसी रे ॥

चारो म्हारो कर-कर सारो, जनम गमासी रे ।

कोड्या साटै हीरो खोकर, तू पिछतासी रे ॥१॥

खूत्यो काम राग दल-दल मे, बण्यो बिलासी रे ।

क्यू पोमावै बैठयो खावै टुकडा बासी रे ॥२॥

अघरम मे अणजाण ! धरम रो मेल मिलासी रे ।

‘धी मे तम्बाकू न्हाख्या स्यू होसी हासी रे’ ॥३॥

जाण बूझतो भूठी खीचाताण मचासी रे ।

‘लोह बारिण्यै रो साथी ससार बतासी रे’ ॥४॥

पाप-पुण्य दो परभव जाता सागै जासी रे ।

किया आपरा कर्मा स्यू ही दु ख-सुख पासी रे ॥५॥

सूता सूता थारी बेला बीती खासी रे ।

‘तुलसी’सद्गुरु बिना तनै कुण और जगासी रे ॥६॥

लय—मनवा बाय बिचारी रे

३८]

श्रीकाल उपदेश वाटिका

चेतन । चिदानन्द चरणा मे सब कुछ अरपण कर थारो ।
सफल बणा सतसगत मे, मूघा मोलो मिनख जमारो ॥

खाली हाथा आयो है तू, जासी खाली हाथा रे ।
लारे रहसी इण दुनिया मे, जस अपजस री बाता रे ॥
थोडै जीणो रै खातर क्यू बाधै शिर पापा रो भारो ॥१॥

कोड्या साटै अहल हार मत, ओ हीरो लाखीणो रे ।
विष मत घोल वासना रो, शान्त सुधा-रस पीणो रे ।
अति भीणो परमारथ रो पथ, तू है नश्वरतन स्यू न्यारो ॥२॥

भरयो अनन्त अखूट खजानो, गाफिल थारै घर मे रे ।
क्यू न निहारै, बारै बारै क्यू भटकै दर-दर मे रे ।
'आग छिपी अरणी मे ढूढै, काठ काट मूरख कठिहारो' ॥३॥

एक नयो पैसो भी थारै नही चालसी सागै रे ।
करद्या आपरा कर्मा स्यू ही, सुख-दुख मिलसी आगै रे ।
सजम रे मारग पर चाल्या 'तुलसी' निश्चित है निस्तारो ॥४॥

लय—वृन्दावन का कृष्ण कन्हैया

प्रथम प्रवेश]

१५६

मूघा मोलो मिनख जमारो, मिनखा अहल न हारज्यो ।।
प्रो किम्मत चूकाज्यो, मत थोडै मे सारज्यो ।।

प्रगटी पूरबली पुण्याई,
पाई अपनी खरी कमाई ।
सातू बाता रो सुख भाई,
अब मत जाज्यो रे इतराई ।
इण मनडै ने मारज्यो ॥१॥

बरणो मुश्किल ह्वै सन्यासी,
सारी ममता कोण मिटासी ।
रहणो है यदि सद गृहवासी,
तो मत बराज्यो रे बिलासी ।
दुर्व्यसना नै वारज्यो ॥२॥

‘माग्यो एक इस्यो वरदान,
देखू निज घर मे पकवान ।
आधो पुरुष बडो पुनवान’,
‘तुलसी’ सिद्ध पुरुष सता स्यू ।
अरणो जनम सुधारज्यो ॥३॥

नय—म्हारा लाडला ब्याईजी

सुण मद्गुरूआ री वाणी,
जीवन री किम्मत आकज्यो ।
होवैला नहि तर हाणी,
मत उरहो परहो भाकज्यो ॥

चढ्यो हाथ हीरो लाखीणो,
घर मे कामधेनु रो धीणो ।
इणरो तत्त्व समझणो भीणो,
आ शिव-पथ री सहनाणी ।
मत चरण धूल स्यू ढाकज्यो ॥१॥

‘अज्ञानी अण समझू आगर,
हीरो पत्थर एक बराबर ।
पर, जोहरी री ठोकर खाकर,
रतन अमोलक जाणी ।
मत पैसे खातिर फाकज्यो’ ॥२॥

पतली पग डण्ड्या मे बहणो,
चोर लुटेरा बिच मे रहणो ।
पडै नही ज्यू सकट सहणो,
‘तुलसी’ सीनो ताणी ।
पग हुशियारी स्यू हाकज्यो ॥३॥

सय —मेरा रग दे तिरगी चोला

अम्बर मे कडकै बिजली कडी ।
होकै रहिज्यो रे राही हुशियार ॥

धुमड घोर है गगन मण्डल मे, अजब अन्धेरी छाई
पथ नही सूझै हृदय अमूमै, डाफर स्यू काया कुम्हलाई ॥१॥

तरुण तूफान अरुण हो अन्धड, आख-मीचता आवै ।
भारी बिरखा बाढ नदद्या मे, जीवडो जोखिम स्यू घबडावै ॥२॥

पापी मोर पपीहा बोलै, हसा हुआ प्रवासी ।
काठै खड्या रूखडा डोलै, मिन्टा मे कूटिया लुट जासी ॥३॥

खिण खिण मे जो ख्यात राखता, चढता मोटै माल ।
'जाए जाती खोखा खाती' बहग्या बै पिण पाणी रै बालै ॥४॥

उजड्या पड्या हजार रा घर, कुण गिराती कर पावै ।
'इला पुत्र' 'आपाढ मुनि री' 'तुलसी' हुलसी बलिहारी जावै ॥५॥

लय—मन्दिर मे काई दूढती फिरै

सतसगति लाभ कमालै ।
 मानव भव सफल बगालै रे,
 निज जीवन-धन अपनालै रे ।

पल भर सगति सन्ता की,
 हुवै आतम-सुख री भाकी ।
 बिरला ही किम्मत आकी,
 त तन्मय रूप रचालै रे ॥१॥

जो सत्य, अहिसाधारी,
 जो विमल हृदय ब्रह्मचारी ।
 प्रभु का अप्रतिम पुजारी,
 गुण-गाथा नित गालै रे ॥२॥

निज मन पर रोव जमावै,
 लालच री लाय बुझावै ।
 उत्तम उपदेश सुणावै,
 त् हरदम हृदय बिठालै रे ॥३॥

ग्रधमा नै सन्त उधारै,
पतिता नै पार उतारै ।
डूवत की नैया तारै,
चरणा मे शीश भूकालै रे ॥४॥

‘जा पखी गोध कहावै,
बो नाम जटायू पावै ।
राघव निज भ्रात बणावै’,
तू सन्त शरण फल पालै रे ॥५॥

‘जो नास्तिक नृप परदेशो,
गुरु मिल्या कृपानिधि केशी ।
करघो मोक्ष मार्ग अन्वेषी’,
जैनागम ज्योति जगालै रे ॥६॥

है पतन कुसग प्रभावै,
उत्थान सुसग स्वभावै ।
‘तुलसीगणि’ साफ सुणावै,
सतत सतसग सभालै रे ॥७॥

निज मन समझाओ, मतना बिलमाओ, कुव्यसन सात मे ।
शिक्षा अपणाओ, चावो जो रहियो थे सुख सात मे ॥

सचित सुकृत स्यू मिली सरे, मुश्किल मानव देह ।
महाव्रत, द्वादश व्रत ग्रही सरे, उन्नत करल्यो एह ।
व्यसन कुसग प्रसग स्यू सरे, मति रे उडावो खेह ॥१॥

प्रथम व्यसन जुओ कह्यो सरे, सब व्यसना शिरमोड ।
जुडे जो इण री जोड मे सरे, कुणसी दूजी खोड ।
नाम जुआरी जगत मे सरे, पसरे ठोड ही ठोड रे ॥२॥

मास आहारी मानवी सरे, पावै नाम पिशाच ।
मादक वस्तु प्रयोग स्यू सरे, रहै विषय मे राच ।
नरक पाहुणा बै बणो सरे, आगम आखै साच रे ॥३॥

मद्यपान स्यू मत्तता सरे, चेतन जड हो जाय ।
जननी, सुत-जननी विषे सरे, भेद न समझै काय ।
जलै अग, जालम तणो सरे, बलै अभिन्तर लाय रे ॥४॥

पतित तस्त जीवन पथ स्यू सरे, करै ज्यो वेश्या भेट ।
भाडै बिकती भामणी सरे, अखिल जगत की ऐठ ।
गमै उभय भव मे भमै सरे, ज्यू घडियाला रेट रे ॥५॥

लय—मूरख लखज्या रे

प्रथम प्रवेश]

[६५

मृगया मे मृग ज्यू रुलै सरे, पापधि लहै पाप ।
नर भव माहि नृशसता सरे, अथग कमाई आप ।
जमद्वता घर जाय नें सरे, करसी विविध विलाप रे ॥६॥

आत्म-शक्ति री बचना सरे, परधन-हरण प्रयास ।
राजदण्ड, जग भडना सरे, बिलय हुवै विश्वास ।
बुरो कार है चोर रो सरे, लहै न सुख री सांस रे ॥७॥

धान छोड धूली भखै सरे, प्रिय जिणनै परनार ।
खोवै तन, धन, आबरू सरे, खा जूता री मार ।
पापी पढै पाताल मे सरे, मिनखा जोणी हार रे ॥८॥

उत्तम करणी ना हुवै सरे, (तो) तजो अधमता तोर ।
दुर्लभ दश वस्तु मिली सरे, भजो जिनेश्वर भोर ।
'तुलसीगणि' उपदेशना सरे, साभै वचन सजोर रे ॥९॥

महकै मोहराज री मही-मण्डल मे महिमा अपरम्पार ।

महिमा अपरम्पार रे सुबुध जन,
फैली घर-घर देखो, लेखो जाएँ जाणहार ।

बिना पिया मधु प्याली प्राणी, पागलसो बराज्यावै ।
छावै अद्भुत मोह मतवार ॥१॥

वसु, वसुन्धरा बणी न किण री, इतिहासा मे हेरो ।
मेरी मेरी कहै ससार ॥२॥

म्हारो घर है, म्हारो परिकर, मैं सब रो, सब म्हारा ।
सारा भूठा घडा गिवार ॥३॥

म्हारी जाति, देश है ऊचो, मैं सब रो अधिकारी ।
सारी म्हारापण री मार ॥४॥

म्हारापण सो भार न जग मे, म्हारापण दु ख निरखो ।
परखो 'सेठ विदित सुत प्यार' ॥५॥

पक्षपात मे चक्षुपात कर, भूठो हठ नही त्यागै ।
जागै जग मे मोह प्रचार ॥६॥

विजय प्राप्त कर मोह महिप स्यू, जो नर जन्म सुधारै ।
बारै 'तुलसी' निज उपहार ॥७॥

नय—असल दुपटो म्हारो लाल रे गुलाबी

प्रथम प्रवेश]

[६७

प्राणी करणी निर्मल कीजै ।

करणी निर्मल कीजै, लीजै, परभव सफल बरणाय ।

सीमै जिम बाद्धित फल पाय ॥

नीठ-नीठ मानव-भव पायो, सतगुरु सग सुहाय ।

अब परमारथ-पथ साधन मे, क्यू दिल हिचकिच खाय ॥१॥

तीन पथ है सन्त जनोदित, चाहै सो अपनाय ।

कठिन, कठिनतर और कठिनतम, तिम अनुगुण फल पाय ॥२॥

पच महाव्रत पथ कठिनतम, बहन करै मुनिराय ।

अधिक अधिक पन्द्रह भव माहे, शिव लहै कर्म खपाय ॥३॥

हूजो श्रावक रा बारह व्रत, समकित युक्त सभाय ।

परिमित काले मोक्ष सिधावै, भव-सख्या न गिणाय ॥४॥

केवल समकित मय मग तीजो, तत्त्वरुचि कहिवाय ।

निश्चय शिवगामी देशूणो, अर्घं पुद्गल रे माय ॥५॥

समकित घर पिण सात बात रो, बन्धन षाडै नाय ।

सुख स्यू जन्मान्तर सचरतो, अक्षय सौख्य लहाय ॥६॥

दान, शील, शुभ भाव, तपस्या, जो तुझ हृदय सुहाय ।

सोही आदर, मत आलस कर, अवसर बीत्यो जाय ॥७॥

‘तुलसी’ कामधेनु सम पाइ, मज्जुल मानव काय ।

मूरख अब चिन्तामणि स्यू, तू मत ना काग उडाय ॥८॥

लय—सुगणा पाप पक परिहरिए

द्वितीय प्रवेश

मति सेवो पाप अठारै,
इम सतगुरु हेला मारै ।
थारे शिर पर काल पुकारै ॥

घटती जावै आयु खिण-खिण, अजली-जल अनुसारै ।
कृण जाणै किण अवसर माहि, मानव पाव पसारै ॥१॥
बिरलो ही कोई इण युग मे, जो सौ बरस निकारै ।
साठ, पचास, तीस, चालीसा, परभव-पन्थ जुहारै ॥२॥
तिण मे पिण सुख रहै न पूरो, तुम तर तटी किनारै ।
करणी जिसी बीसी ही भरणी, है के थारे सारै ॥३॥
पुण्य पाप रा फल है परगट, जो कोई आख उधारै ।
एक मनोगत मोजा माणै, इक नर नगर बुहारै ॥४॥
पुण्योदय स्यू राजा रावण, इन्द्र पिजरे डारै ।
बरताई निज आण दुहाई, तीन खण्ड मे सारै ॥५॥
सोवन-लका बणी बिराणी, परिजन सह पसवारै ।
पापोदय हथियार हाथ रो, हा ! खुद ने ही मारै ॥६॥
सम्पति विपति, विपति अरु सम्पति, पुण्य-पाप रे लारै ।
'तुलसी' सौख्य, शान्ति जो चाहो, तो पाप तजो परवारै ॥७॥

अर्थ—पानी मे मीन पियासी

द्वितीय प्रवेश]

[७१]

प्राणी पाप निवारो रे,
प्रथम प्राणातिपात ।
राखो मैत्री सब रै साथ ॥

आगम मे दश जीवन-शक्ति, प्राण नाम आख्यात ।
तसु अतिपात—वियोजन करणो, है प्राणातिपात ॥१॥
जीणो है सगला नै बाहलो, जी हित छोडै राज ।
तो थे क्यू काढो मुंह बारै, मारण री आवाज ॥२॥
ज्यू थारो थाने दोरो, त्यू औरा रो जाण ।
मति मारण रो पाठ चितारो, आठू पोहर सुजाण ॥३॥
पापधि कहो कितनी सचै, पापधि करणार ।
निरपराध पचेन्द्रिय-हिंसा, हा ! हा ! पाप-प्रचार ॥४॥
धन्य घरा पर सन्त अहिंसक, 'मेतारज' अवतार ।
एक विहग-घात-टालण खुद, प्राण किया न्योछार ॥५॥
थावर-हिंसा जो नही छूटे, तो त्रस-हिंसा त्याग ।
मानवता रो मान बढावो, बपरावो बैराग ॥६॥
घार अहिंसा अणुव्रत जागृत, करल्यो विमल विवेक ।
मानव-जन्म सुधारो 'तुलसी' सौ बाता री एक ॥७॥

जय—माढ

नर-धर्म अहिंसा धारो,
हिंसा स्यू हृदय निवारो रे ।
मत नर-भव हीरो हारो रे ॥

है धर्म अहिंसा भारी, मन वचन काय स्यू जाणी,
धार्मिक जग मे अधिकारी । नहिं किण री जान दुखाणी ।
सब जीवा रो हितकारी, मैली निज वृत्ति बणाणी,
है इण स्यू सफल जमारो रे ॥१॥ है हिंसा हृदय विचारो रे ॥२॥

प्रतिपक्ष अहिंसा होवै,
जो विश्व-मैत्री सजोवै ।
भव-सचित पातक घोवै,
सर्वत्र शान्ति सचारो रे ॥३॥

निज स्यू शश घात पिछाणी, पशुवा री करण कहानी,
ऊँचो पग राख्यो ताणी । सुण'नेम फिरया बिन राणी' ।
की प्राणा री कर्वाणी, आगम मे वीर बखाणी,
'कुंजर-भव मेघकुमारो' रे ॥४॥ त्यू 'तुलसी' जन्म सुधारो रे ॥५॥

लय—काया का पिंजर डोलै रे

राखो मिनख पणै रो मिनखा मान ।
 भूठ मत बोलज्यो ॥
 ज्यू नही होवै जग-हासी घर मे हाण ।
 भूठ मत बोलज्यो ॥

भूठ बात रो पातक मोटो, खोटो कार कहावै ।
 पीढ्या दर पीढ्या री सची पेठ, प्रतीत गमावै ॥१॥

क्रोध, लोभ, भय, हास, भूठ रा कारण प्रभु फरमावै ।
 अन्तरमन री आ कमजोरी, कायर जन दिखलावै ॥२॥

हुई जकी अण हुई बतावण, क्यू नर जाल बिछावै ।
 पाप छिपायो छिपै न भाई । आखिर तो चौडै आवै ॥३॥

बात-बात मे भूठ बोलतो, जको नही शरमावै ।
 पछै साच बो बोलै तो भी, दुनिया नै भूठ लखावै ॥४॥

‘अघर तपै सिंहासण वसु रो’, सचवादी रै दावै ।
 भूठ बोल बो पड्यो नरक मे जैन रामायण गावै ॥५॥

अवगुण रो भडार असच वच, तज ‘तुलसी’ सुख पावै ।
 सत्य अणुव्रत धार सुजानी, जीवन सफल बणावै ॥६॥

सय—मदिर मे काई दूढती फिरै

त्यागो त्यागो रे भवि प्राणी त्यागो पाप अदत्तादान ।
 पाप अदत्तादान इण स्यू निज पर रो नुकसान ।
 निज पर रो नुकसान उतरै मानवता रो मान ।

प्रकट पाप है पर घन हरणो,
 चोर बाज दुर्गति सचरणो ।
 बरणो अजश महान ॥१॥

सत्त्वहीनता और अनडता,
 आत्म-बचना जुर्म र जडता ।
 इण रा ए अहलाण ॥२॥

मृषावाद चोरी रो भाई,
 सहवर्ती हद हेज सदाई ।
 हिसा बहन समान ॥३॥

माल बाट लेवै मिल न्याती,
 पकडीज्या कुण होसी साथी ।
 'बाल्मीकि' आख्यान ॥४॥

ज्यू माखी भोजन मे आवै,
 खायो पीयो तुरत कढावै ।
 (त्यू) माल परायो जाण ॥५॥

लय—काटो लाग्यो रे देवरिया

वचन मे आ लत पड ज्यावै,
खोटी सग, रग फिर ल्यावै ।
दोरी छूटै बाण ॥६॥

मोटी चोरी ने तो छोडो,
अणुव्रत री सुख-सेज्या पोढो ।
'तुलसी' शिक्षा मान ॥७॥

काम मे मत मुरझो प्राणी ।

क्यू मिनख परौरो खरो खजानो करो धूड-धारी ॥

धी स्यू भभकै आग, भोग स्यू काम-राग जाणी ।

बुझै शान्त रस पाणी स्यू आ सद्गुरु री बाणी ॥१॥

जोबन धन रो जोश भुलावै होश करै हारी ।

(कोई)मतवालै हाथी ज्यू,हरदम रहै गरदन तारी ॥२॥

माईता री मिली कमाई, सीधी समुदारी ।

(अब)सात व्यसन मे राच, फेरदै पीढ्यारै पाणी ॥३॥

सुणी हुसी 'जितशत्रुराय औ सुकुमाला राणी ।

राज-भ्रष्ट हो रल्या, खाख बै रोही री छाणी' ॥४॥

छोडो काम-भोग अति आशा, दिल समता आणी ।

घारो शील अणुव्रत 'तुलसी', सुख री सहनारी ॥५॥

सुजन जन मन समता धारो ।

है सन्तोष, शान्ति साधन धन री ममता मारो ॥

भाईता स्यू मोह न भाया स्यू भाईचारो ।

प्राणा स्यू भी आज जगत नै है पैसो प्यारो ॥१॥

गरमी बढता ही चढ ज्यावै ऊपर नै पारो ।

ज्यू-ज्यू धन आवै, त्यू-त्यू मन बढतो रहै थारो ॥२॥

लोभी रै आ लगन करू धन भेलो दुनिया रो ।

कोडी-कोडी हित खोवै महातम मानवता रो ॥३॥

पुत्र, पौत्र, परपौत्र, गोत्र सुख सोचै सगला रो ।

पतो न पल रो पढै आपरो के होवण हारो ॥४॥

हित अणहित के हुवै विचारू क्यू मै औरा रो ।

आप आपरी करणी साधू मै मतलब म्हारो ॥५॥

एकण रै घर ढेर, अेक घर सासो टुकडा रो ।

बडी विषमता बणी आज जग परेशान सारो ॥६॥

भाई-भाई, मा-बेट्या मे विग्रह करणा रो ।

कुटिल परिग्रह तजो, भजो पथ शिव, शिव-दत्तवारो ॥७॥

घर गृहस्थ रै सरै न धन बिन तो पिण माया रो ।

अति सग्रह क्यू करो, अणुव्रत 'तुलसी' स्वीकारो ॥८॥

लय—तावडी धीमो पढज्या रे

[३८]

[श्रीकालू उपदेश वाटिका]

छोडो क्यू कोनी क्रोध रो नशो ।
थारी आख्या मे लोहि रो, ऊफाण ॥
थारी अक-बक बकणै री पडगी बाण ।
दूजा ने कालै नाग [ज्यू डसो ॥

क्रोध बडो दुर्गुण दुनिया मे, घट-घट मे वसना रो ।
जिए घट मे नही क्रोध निवासी, बो नर जगत सितारो ॥१॥

पचेन्द्रिय प्राणी री यद्यपि, करै न कतल बिचारो ।
तदपि कषायी नाम कुपित रो, आगम-वचन निहारो ॥२॥

प्रेम परस्पर दर पीढ्या रो, शिष्टाचार सदा रो ।
खिए भर मे तिणखे ज्यू तोडै, एक बचन कहि खारो ॥३॥

गाली सुण्या न हुवै गूमडा, छिदै न अवयव थारो ।
थे जो सहस्यो समभावा स्यू, तो बो पिछ्छतावण हारो ॥४॥

गालीवान कठै स्यू ल्यासी, माग मधुर बच प्यारो ।
थे तो मृदुल, मनोहरभाषी, अपणो विरुद बिचारो ॥५॥

जठै क्रोध है, अहकार री नियमा तजै न लारो ।
सुण दृष्टान्त 'सन्त धोबी रो' मन री रीस उतारो ॥६॥

'विफल कियो कुल पुत्र रोष, ज्यू भट बारह वर्षा रो' ।
साची क्षमा धरै उर 'तुलसी' होवै सफल जमारो ॥७॥

लय—मन्दिर मे काई दूढती फिरै

मानो मानोजी कह्यो, अब क्रोध तजो असुहाणो ।
 बणो सहनशील यदि सुखमय समय बिताणो ॥
 आख्या लाल होठ थर-थर कर, कापै ज्यू तरु-पानो ।
 अगल-डगल मुख बचन कुपित रो, परखो पागलवानो ॥१॥
 बो क्यू सोचै पीड पराई दिल मे बण्यो दिवानो ।
 आत्म-घात करण नै आघो, क्रोधी करै कदानो ॥२॥
 मुक्कै रो प्रत्युत्तर मुक्को, मत कोई मन ठानो ।
 शान्त करो प्रतिशोध भावना, अक्षय क्षमा खजानो ॥३॥
 चड कोपवश 'चडकोशियो पन्नग' मद मस्तानो ।
 क्षमा-भाव स्यू सहस्रार-सुर, है इतिहास पुराणो ॥४॥
 गाली दै कोई थे मत लेवो, खरी खिमा पितवाणो ।
 उण री वस्त उण रै रहसी, 'तुलसी' रैस पिछ्छाणो ॥५॥

नर क्षमा धर्म धारो ।

आध्यात्मिक सुख-साधन हृदय रोष वारो ॥

श्रमण-धर्म जो दशविध जैनागम गावै ।

स्वति धर्म तिण माही, प्रथम स्थान पावै ॥१॥

क्रोध कलह रो कारण, क्षान्ति शान्ति हेतु ।

क्रोध अथग अघ-जलनिधि, क्षान्ति सघन सेतु ॥२॥

क्रोध दाव दुर्दमतम, शान्ति जलद-धारा ।

क्रोध शत्रु नै जीतरण, क्षान्ति खडग-धारा ॥३॥

दुर्जन जन आदतवश दुर्जनता न तजै ।

तो सज्जन दुर्जनता क्यू कर कहौ भजै ॥४॥

सगम सगम स्यू यदि, वीर न वीर रहै ।

तो क्षमा शूर अरिहन्ता, बोलो कोण कहै ॥५॥

तीव्र तपस्या जो की तेरापन्थ पति ।

(तो) आज समाज निहारै, पग-पग पर प्रगति ॥६॥

यद्यपि मुश्किल बरणणो पूर्ण क्षमाशाली ।

तदपि साधना कीजै, मति दीजै गाली ॥७॥

जो रे और तप न हुवै, दिल हठ शान्ति धरो ।

‘क्लरगङ्क’ मुनि ज्यू, ‘तुलसी’ शीघ्र तरो ॥८॥

लय—अयि जय भिक्षु दैपेय

मत बरगो मिजाजी, देखी दुनिया री दुर्बल साहिबी ।
 नर भव री बाजी, हारद्या स्यू चोरासी अबगाहिबी ॥
 ओछापण स्यू मन स्यू मानव, नही मिजाज मे मावै ।
 'टीटोडी ज्यू एक टाग पर, आखो गगन उचावैजी' ॥१॥
 मैं मनुष्य, म्हारो कुल ऊचो, तेज तरणिमा म्हारी ।
 अग अरणिमा अब्बल अनुपम, छेकी छवि दुनिया री जी ॥२॥
 वाह बलिष्ठता लोह-कुशी मै खुशी-खुशी मे तोड़ू ।
 छज्जा अर दरवाजा डाकू, भीत भचीडा फोड़ू जी ॥३॥
 कोण कुटुम्बी जो रे आज तक, म्हारी आण उथापी ।
 भान जिया मध्याह्न जेठ रो, म्हारो भाल प्रतापीजी ॥४॥
 जकै काम मे हाथ पसारयो, अबलो हुई न हानि ।
 दाता बिच दे लोक आगली, आ म्हारी पुनवानीजी ॥५॥
 भाषण शंली अजब नवेली, मै अजोड अपणाई ।
 बडा-बडा वक्तावा री भी, सुण-सुण मति चकराईजी ॥६॥
 दशकषर री दिव्य विभूति, पल मे बरणी पराई ।
 मुघाऽभिमान करै पामर नर, अन्तर मेरु राईजी ॥७॥
 तज अभिमान, मान बच मानव, मुश्किल मानव जोणी ।
 'तुलसी' सनतकुमार चक्री 'ज्यू, तप कर आतम धोणी जी ॥८॥

लय—म्हारी रस सेलडिया

ભવિ અબ માનવ-જનમ સુધારો, મન અભિમાન નિવારો થે ।
જો ગુણવાન બણો, મતિવાન બણો, મન માન નિવારો થે ॥

પામર પોમાવૈ,
મગરૂરી મે નહી માવૈ ।
મન સ્યૂ મહાન બણ જ્યાવૈ,
અણજાણ પણૈ રી ભીત ઉઠારો થે ॥૧॥

મૈ હૂ મતિશાલી,
મહિમા મ્હારી નિરવાલી ।
શોભા હૈ સબ સ્યૂ આલી,
ઠાલી બાદલ જ્યૂ જીભ ન ખારો થે ॥૨॥

‘રાવણ સા રાણા,’
ભૂમીશ્વર કઈ મસ્તાના ।
‘દુર્યોધન, દ્રોણ દિવાના,’
જો દશા અન્ત મે હુઈ વિચારો થે ॥૩॥

લય—શ્રી મહાવીર ચરણ મે

દ્વિતીય પ્રવેશ]

[૮૩]

हिटलर री फोजा,
घारी जो मन मे भोजा ।
मिस्टर मुसोलियन, तोजा,
है आज कठै बै खोज निकारो थे ॥४॥

जब मान मिटायो,
'बाहूबल केवल पायो ।
ब्राह्मी, सुन्दरी समझायो,'
'तुलसी' अविनय तज, विनय बघारो थे ॥५॥

मृदुपन जन अपणावो, सुख पावो ।
निज मृदुपन स्यू विनयी बणाकर, मच्छर भाव मिटावो ॥

अविनय उच्छृखलता जागै जोर,
अह-भाव स्यू अवगुण अवनति और ।
बरा विनम्र फलवान वृक्ष ज्यू खुद भुक्, जगत भुकावो ॥१॥

रवि मडल रो रोकै प्रखर प्रकाश,
मिलै धूलि-कण कोमलता स्यू खास ।
बिन कोमलता पड्या गल्या मे, पत्थर ठोकर खावो ॥२॥

निज विनम्र व्यवहार उदार विलोक,
सहज्या ही नमज्यावै सारा लोक ।
गुण रो है आकर्षण जग मे, पग-पग पर परखावो ॥३॥

विनय विहीन न पावै जान-विकास,
जो गुरु सुरगुरु सादृश करै प्रयास ।
समुचित 'उभय छात्र रो उपनय, भिक्षु-वचन गुण गावो' ॥४॥

अहकारमय आमय, विनय इलाज,
मार्दव भेषज, भिषगराज जिनराज ।
'तुलसी' शुभ अनुपान शान्तरस, पी निरोग बराज्यावो ॥५॥

लय—एक न सको तो जावो

माया री ी है मार, खोटी रे खोटी प्रवचना ।
 ऋजुता ीचो उपचार, खोटी रे खोटी प्रवचना ॥

मायावी आखिर मे पावै आरामना ।
 पशुवा री वृत्ति, ओ मिनखा रो काम ना ।
 आगै पशु जोणी तैयार ॥१॥

मन मे की और, और बोली मे, चाल मे ।
 दूसरे नै ज्यू-त्यू फसायो चूवै जाल मे ।
 (पण) हो जावै खुद ही शिकार ॥२॥

क्रियारूप धर्म नही तो भी दिल साफ जो ।
 केवल सरलता स्यू टलै पाप-ताप तो ।
 जुगलिया रो सुर्गा अवतार ॥३॥

माय नै तो माया, ऊपर करणी करै घणी ।
 निश्चै मे आखिर बै चूक ज्यावं है अणी ।
 उपनय ल्यो 'महाबल अणगार' ॥४॥

जीणो कितोक, दभ दल-दल मे ना फसो ।
 बारलो'र मांयलो, थे राखो दिल एकसो ।
 'तुलसी' है आतम उद्धार ॥५॥

लय—मुम्बई पधारो

मत करज्ये नर कपटाई,
है कपट भपट दुखदाई रे ।
कपटाई दुख री खाई रे ॥

रुलता-रुलता महा मुश्किल स्यू मानव-देही पाई रे ।
केड़े काल रहै सब ही रै, बात बिसर मत ज्याई रे ॥१॥

दाव-पेंच पग-पग पर चालै, दोन्यू ठगा ठगाई रे ।
पग है बुरो फेसलो अन्तिम, विजय बरै सच्चाई रे ॥२॥

परवचन जो पटुता ठाणै, करै घणी धुरताई रे ।
'बिल्ली वाली हुवै दुदंशा', 'पुरोहित नाक कटाई रे' ॥३॥

सोना, चादी कितना सचो, साथ चलै ना पाई रे ।
धन ही सब दुविधा री जड है, स्याणा मन समझाई रे ॥४॥

मरल हृदय समभाव मित्रता, 'तुलसी' दिल अपनाई रे ।
अमन चैन जो चावै, मानव छटक छद्म छिटकाई रे ॥५॥

सय—बन सके तो भगती करना

नर सरल हृदय बराज्यावो रे ।
 थे मन रो मैल मिटावो रे ।
 मत कडुआ कर्म कमावो रे ॥

हृदय सरलता है अति सुन्दर, अन्तर मन अपणावो रे ।
 जो ऊचो जीवन जीणो तो, आर्जव भाव बढावो रे ॥१॥

बात-बात मे कपट कुटिलता, कर क्यू कुटिल कहावो रे ।
 आखिर इण रो बुरो नतीजो, फौकट दिल बहलावो रे ॥२॥

मान महातम मायावी रो, देख न मन ललचावो रे ।
 'अन्तिम गति साहस गति वाली', थोडा-सा सुसतावो रे ॥३॥

खो इज्जत, विश्वास, आबरू, इण भव मे दु ख पावो रे ।
 ऊपरलो पानो नही आवैं, रहै पग-पग पिछतावो रे ॥४॥

बाहिर, भीतर एक सरीखो, अपणो हृदय बराज्यावो रे ।
 ऋजुता गुण मे रमता 'तुलसी' जीवन-ज्योति जगावो रे ॥५॥

सब—नदी नाला मे बह ज्याऊ काई रे

८८]

[श्रीकाशु उपवेश यादिका

अति लालच मे चित्त लुभाओ मति ।
निज जन्म निरर्थ गमाओ मति ॥

आहा ! आशा असीम,
जग मे जीणो ससीम ।
अब थे आभै रै पेडी लगावो मति ॥१॥

चाहे जितनो धन मेलो,
आखिर चलणो अकेलो ।
चख मूद कै चूष दिखावो मति ॥२॥

‘रहता शान्ति स्यू सेठ,
पडकर निन्लाणू की फेट’ ।
सोषै पेट ज्यू ऐठ लगाओ मति ॥३॥

कर-कर दुनिया री होड,
बणणो चावो बेजोड ।
आखिर होड मे भोड फुडावो मति ॥४॥

वस्तु विनिमय रो साधन,
है धन चालै इण स्यू जीवन ।
तो थे साधन नै साध्य बणावो मति ॥५॥

लय—यहा आने का कष्ट उठावो मति

थोडे जीणै रै खातिर,
भाई होकर लोभातुर ।
भूठा छल-बल रा जाल बिछावो मति ॥६॥

सुख-साधन सन्तोष,
राखो हिवडै मे होश ।
बाणी सन्ता री आ बिसरावो मति ॥७॥

सादो जीवन बणाओ,
'तुलसी' सजम बढावो ।
खिए-खिए लाखिणी व्यर्थ बितावो मति ॥८॥

मत ना कोड चित्त लुभावो, लालच री लाग मे ।
क्यो जीवन व्यर्थ गमावो ? आर्थिक अनुराग मे ॥

धन स्यू नही कोई मानव धापै,
(जो) मिल ज्यावै मेरु रै मापै ।
के बाकी बचै बतावो,
इन्धण ज्यू आग मे ॥१॥

तन री तृष्णा तनिक कहावै,
मन री तृष्णा मिणी न ज्यावै ।
सागर रो सलिल पिलावो,
तो ही नही थाग मे ॥२॥

बडा-बडा शास्त्रा रा वेत्ता,
सस्था, सघ, राष्ट्र रा नेता ।
यदि निरखण नैण उठावो,
खेलै ई फाग मे ॥३॥

लय—माहे रमजान मे

द्वितीय प्रवेश]

जोगों, जती, सन्त, सन्यासी,
मुनि, फकीर, तपसी, बनवासी ।
सब ल्यावो, ल्यावो, ल्यावो,
गावै इक राग में ॥४॥

जाबक कम दुनिया मे जीणो,
खाणी रोटी, पाणी पीणो ।
'तुलसी' सन्तोष सभावो,
अन्तर वैराग मे ॥५॥

लाय जो लालच रो,
घट-घट मे रही छा़य, आ है बुरी बलाय ।
शान्ति-स्रोत बहाय, भटपट परी बुभाय ॥

घन इन्धन स्यू बढती ज्यावै,
तृष्णा पवन प्रेरणा पावै ।
मन सकल्प स्नेह सिचावै,
भालो भाल जगाय ॥१॥

गुण उपवन मे दाह लगावै,
अवगुण धूम रूप प्रगटावै ।
विनय, विवेक भस्म बराज्यावै,
हृदयागण कलुषाय ॥२॥

दुनिया सारी लाय-लपट मे,
जोगी जन भी जल्य़ा भपट मे ।
हाथ पसार पड्या खटपट मे,
कर-कर हाय ही हाय ॥३॥

शान्त करो सन्तोष सलिल स्यू,
सन्ता री सगत कर दिल स्यू ।

जय—तोता उड जाना

द्वितीय प्रवेश]

[१३]

अलग रहो अत्याश अनिल स्यू,
ओ ही सरल उपाय ॥४॥

घरी रही 'सागर' री पूजी,
'मम्मण' सा भी मरग्या मूजी ।
आखिर साथ चली ना कूजी,
पड्या नरक पिछ्छताय ॥५॥

नहि मणि मारणक भोज्य कहावै,
पत्थर स्यू भी दरड पुरावै ।
'पातशाह री बात सुणावै,'
क्यू बैठ्या मुह बाय ॥६॥

यद्यपि धन सचै गृहवासी,
निज कुटुम्ब-पोषण-अभिलाषी ।
मुस्किल बराणो है सन्यासी,
तदपि बुझाय अथाय ॥७॥

लंघी भगी लख चोरासी,
पाई नर-देही गुणराशी ।
'तुलसी' जो अति लोभ जगासी,
सो रहसी पिछ्छताय ॥८॥

धारो गुरु-वाणी हो, प्राणी सुखद सन्तोष ।
बिन सन्तोष नही कही शान्ति, देखो कर दिल होश ॥

मन री प्यास बुझै नही चाहै, शत सागर-जल शोष ।
'इच्छा ज्यू आकाश अनन्ती', वीर-वचन निर्दोष ॥१॥

खावण अन्न, वसन पहिरणनै, है घर सम्पत्ति ठोस ।
मरणासन्न दशा तो पिण, नहि रहै मन मे खामोस ॥२॥

भरत-भरत केई नर मरग्या, धरग्या अविकल कोष ।
लार न तार चलयो कोई रै, ओही बडो अफसोस ॥३॥

'तुलसी' 'जम्बू' बण्यो विरागी, सुण सुधर्म गुरु-घोष ।
पामर तू अति लोभ लगन मे, क्यू होवै बेहोश ॥४॥

लय—देखो म्हारा अनदाता रो तप रह्यो

द्वितीय प्रवेश]

[६५

राग री रंस पिछाणो ।
 हो...आखिर पडसी थानै अन्तर जगारो ॥
 द्वेष, राग दो बीज करम रा,
 बाधक दोन्यू आत्म-धरम रा ।
 हो साधक नै आवश्यक यारो मूल मिटाणो ॥१॥
 द्वेष समझ मे भट आ ज्यावै,
 रंस राग री बिरला पावै ।
 हो ..खुलै ढक्यै कूवै री उपमा क्यू न बखाणो ॥२॥
 द्वेष-दाव, हिमपात राग है,
 पण दोन्या री एक लाग है ।
 हो . है दोन्या रो काम कमल रो खोज गमाणो ॥३॥
 काठ काट अलि बाहिर आवै,
 कमल पाखडी छेद न पावै ।
 हो द्वेष, राग रो रूपक जाण सको तो जाणो ॥४॥
 बिल्ली चूहे ऊपर ताकै,
 बा आख्या बचिया ने भाकै ।
 हो...द्वेष, राग रो ओ अन्तर चौडै पितवाणो ॥५॥

दशवे गुणठाणें स्यू मुनिवर,
पडे राग री ठोकर खाकर ।
हो कह्या ने तो आ ज्यावै पहलो गुणठाणो ॥६॥

‘गौतम’ न भी ज्ञान अटक्यो,
भव-भव ‘रूपीराय’ भटक्यो ।
हो रूल्या राग स्यू किता, नही है ठोड ठिकाणो ॥७॥

द्वेष राग रो करो निवेडो,
मोह कर्म नै जड्या उखेडो ।
हो ‘तुलसी’ वीतराग बरण अजर अमर पद पाणो ॥८॥

दिल द्वेष निवारो वारो वारो वारो ।
दूषित हृदय सुधारो ज्यू पावन मन हुवै थारो ॥

छोटा मोटा सब जीवा स्यू, मैत्री-भाव बधारो ।
नही कोई शत्रु, शत्रु यदि है तो अनुचित कार्य तुम्हारो ॥१॥

राच पाप मे आप आतमा, अपरागो करै बिगाडो ।
तिण तुलना मे करै न शत्रु, कण्ठ-छेद करणा रो ॥२॥

द्वेष भाव स्यू पतन आपरो, निश्चित रूप निहारो ।
औरा रो नुकसान करण मे, नही है थारो सारो ॥३॥

‘बाज व्योम मे, भूपर पारधि, बिच मे पखी बिचारो ।
दोन्यू काल-गाल मे पूग्या, विहग बच्यो परवारो’ ॥४॥

मानवता रो महातम आको, ऊडी बात बिचारो ।
मित्र-भाव मे रमता ‘तुलसी’ बाछित कारज सारो ॥५॥

कलह मे मति गचो,
है कलह कलुप री खारा ।

छोटी-छोटी बात मे कर लेवें खीचानाण ।
रूप कदाग्रह रो रचै, ऐ भगडै रा अह्लाण ॥१॥
वदन बचन अनुचित वदै, नही नग मे रहै जवान ।
कर्तव्याकर्तव्य रो, सहु भूलै कोवी भान ॥२॥
मात, तात, गुरु, भ्रात रो, है जग मे जो सम्मान ।
कलही कलकल तो करै, डक छिन मे ही अपमान ॥३॥
अकलह मे हुवै एकता, रहै जग मे सुन्दर शान ।
कलहकार घर-घर लडै, है 'उभय सेठ आख्यान' ॥४॥
घर खोवै घर रो कलह, तिम देश, राष्ट्र पहिचान ।
सस्था, दल, सोसाइटी, है लडने मे नुकसान ॥५॥
कलहप्रियता परिहरो, सुन सद्गुरु रो फरमान ।
'तुलसी' भव-सागर नरो, नजदीक करो निर्वाण ॥६॥

लय—बगीची निम्बुवा की

द्वितीय प्रवेश]

[६६

सोचतू ओ मानव मतिमान, अनर्थक पातक अभ्याख्यान ।
पातक अभ्याख्यान करै ओ बडा-बडा नुकसान ॥

कोई पर भी आल अणूतो, देणो अभ्याख्यान ।
आ मानव री परम अधमता, कलुषित करै जबान ॥१॥

परगुण देख रहै मन जलतो, जाण बगै अणजाण ।
अणदेखी, अणसुणी बात कर, करदैं मोटी हाण ॥२॥

ज्यू-त्यू मूरख करणो चावै, औरा रो अपमान ।
खुद रो कितो अनिष्ट हुवै, ओ भूलै सारो भान ॥३॥

बो अपणो सचित सुख पावै, ध्यावै तू अपध्यान ।
'बिल्ली रा बछ्या नही टूटै छिका' रे ! अज्ञान ॥४॥

छुटपुट भूठ बोलणो भी है, अनुचित कहै भगवान ।
(तो) कितो पाप है आल देण मे, कुण करसी अनुमान ॥५॥

'वेगवती भव मे मुनिवर पर, धरयो कलक महान ।
सीता सकट सहा भयकर,' राम-चरित्र प्रमाण ॥६॥

अणुव्रत री ल्यो समझ भावना, ओ नैतिक अभियान ।
मानवता रो मान बढावो 'तुलसी' शिक्षा मान ॥७॥

लय—पिया तेरा चेत गया बाजार

मत पिशुन पणो अपणावो,
मानवता रो यदि दावो
गुरु-शिक्षा सफल बणावो ।

चवदम पाप चुगल मे पावै,
लुक-छिपकर जो चुगली खावै,
अवगुण नै मिले वढावो ॥१॥

मुंह आगे मधु, विष पीछे स्यू,
'हाडी सिरका कर नीचे स्यू',
(क्यू) जल मे खोज मिलावो ॥२॥

छिन-छिन छिद्र गवेषण करणो,
ओ नित, रो धन्धो अघ भरणो,
पर - मल - धोवण भावो ॥३॥

चुगली जो मानव-मुख उगली,
दुनिया री सब दुविधा चुगली,
सुगली उपमा पावो ॥४॥

लय—करमन की रेखा न्यारी

जो परहित न हुवै थरै स्यू,
तो क्यू करो बुरो लारै स्यू,
आ बात जरा समझावो ॥५॥

पावै दुमुंही खल री ख्याति,
बरण माखी, माछर रा साथी,
पीठमास क्यू खावो ॥६॥

निन्दा-चुगली करणी छोडो,
'तुलसी' गुण स्यू नातो जोडो,
जीवन-ज्योति जगावो ॥७॥

भवि जन पर-परिवाद न बोलो,
 बोल कुबोल जहर मत घोलो ।
 बिना विचारचा मुह मत खोलो,
 बोलो बचन-रतन सम तोलो ॥

निन्दा पर-परिवाद कहीजै,
 इण दुर्गुण स्यू निज गुण छीजै,
 रगीजै कलिमल स्यू चोलो ॥१॥

बो भूठो जीवा रो घाती,
 है कालो काजल रो साथी,
 दीखन रो दीसै बेडोलो ॥२॥

करै मिलावट चोर-बजारी,
 नीत बिगाडी बो व्योपारी,
 न्हाखा रो कर दियो गबोलो ॥३॥

बो नेतो खेलै आख मिचौनी,
 करण करावण नै की कोनी,
 निकमो पड्यो मचावै रोलो ॥४॥

लय—थोडी-थोडी धीरज राखो तपसराजी

बो है नीच कुटिल हृद दर्जे,
इसै कुमाणस नै कुण बरजे,
है कुल-हीण जात रो गोलो ॥५॥

अमुक चोर अति अत्याचारी,
लपट, दारुखोर, जुआरी,
बो उत्तम कुल-बास बसोलो ॥६॥

घूसखोर अफसर सरकारी,
बी रै भूख लगी रिपिया री,
बात सुराण जनता री बोलो ॥७॥

पत्रकार बो धन रो पाजी,
न्यूज छाप दै राजी-राजी,
(जो) पैसा स्यू भरदे कोइ भोलो ॥८॥

जो आक्षेप व्यवितगत बाजै,
मत बोलो ज्यू पर दिल दाभै,
'तुलसी' निज आतम टटोलो ॥९॥

सुणो सयण । सही बचता रहिज्यो, सोहरो पातक सोलमो ।
जो और नही तो मत लिज्यो, ओ सतगुरुजी रो ओलमो ॥

अधरम मे राजीपणो रति,
धार्मिकता मे अरुचि अरति ।
ओ पाप सोलमो रति-अरति ॥१॥

है बडी बला सजम बहणो,
पग-पग ऊपर सकट सहणो ।
गृहवास भलो यू नही कहणो ॥२॥

के लाभ तपस्या तीव्र तपो,
यदि मरणो है, खा जहर खपो ।
नही तो नित भोजन-जाप जपो ॥३॥

निशि-भोजन न करो पाच तिथी,
सब्जी मति खावो रोज मिति ।
करणी के मानव-जन्म इति ॥४॥

लय—मतिवन्त मुनि

-मुमरो तुम 'कुडरीक' करणी,
खो सहस्र बरस री शुभ सरणी ।
रति-अरति बसे बरि बेतरणी ॥५॥

मन 'भावदेव' रो भ्रान्त हुयो,
अरति-रति स्यू आक्रान्त हुयो ।
वनिता समझाया शान्त हुयो ॥६॥

सजम मे राखो सदा रति,
हो विषय-वासना स्यू विरति ।
'तुलसी' नजदीक हुवै मुगति ॥७॥

सत्यवादिता सभै न था स्यू तो रहणो चुपचाप है ।
 कपटाई कर भूठ बोलणो, जग मे मोटो पाप है ॥
 एक भूठ नै ढाकरा, कितनी भूठ पड़े है बोलणी ।
 दाव पेचकर गल्या-घूचल्या कित्ती पड़े टटोलणी ।
 फसा दूसरे नै फदे मे, बचणो चावै आप है ॥१॥
 साच-भूठ सब भूल ठगै, औरा नै बैठ बाजार मे ।
 लाई बेची, घाई पेची, चालै कारोबार मे ।
 कूड-कपट कर ज्यू-त्यू अपणी, राखी चावै छाप है ॥२॥
 आजकाल री राजनीति मे, जो पेचीदी चाल है ।
 कहणी और, और ही करणी, बात-बात मे जाल है ।
 ज्यू-त्यू कुरसी पाणै री धुन, मानवता नै आप है ॥३॥
 एक बार तो भूठ-साच कर, काम सारलै आप रो ।
 'मोडो-बेगो फूट्या सरसी, घडो भरिज्या पाप रो' ।
 आ लखणा स्यू आखिर आवै पाती पश्चाताप है ॥४॥
 थोडै जीणै रै खातिर, क्यू करै अणू ता काम तू ।
 सरल बणा तन, मन, वाणी नै, जो चावै आराम तू ।
 'तुलसी' 'परभव मे नही, पोपाबाई रो इनसाफ है' ॥५॥

—सय—बाजरे री रोटी पोई

माया युत वितथ म' बोलो ।
गुरु-वचन रतन अनमोलो ॥

माया अघ घटा ज्यू छाई,
बच वितथ पवन परवाई ।
महापातक जल बरसावै,
सताप सरिन सरसावै ॥१॥

माया अघ आग धुकाई,
अनृत घृत री सीचाई ।
प्रज्वलित अग्नि पसरावै,
गुण उपवन भस्म बणावै ॥२॥

माया कटु कलुष री क्यारी,
वच मृषा बहै बिच वारी ।
क्यू नहि विकसे दु ख-बाढी,
दिल सोचो विज्ञ विचारी ॥३॥

पर-अहित करण जो ध्यावै,
निज स्वार्थ सिद्धि रै दावै ।
चाहे जिम छद्म छिपावै,
आखिर कर मल पिछतावै ॥४॥

लय—इह अवसर धनजी आवै

जो मानव अति मायावी,
तिर्यच गति लहै ठावी ।
इम आगम-बच सभाली,
म' करो माया कटाली ॥५॥

‘तपस्या मे पिण कर माया,
मल्ली जिन स्त्रीपन पाया’ ।
(जो) विश्वासघात रो प्यासी,
कुण जाणै कुण गति पासी ॥६॥

मिथ्यादर्शनशल्य म' सेवो, पाप अठारमो रे ।
चाहो जो मुगति सुख लेवो, तज जग कारमो रे ॥

ओ है अमित काल रो साथी,
थारो बराग्यो ज्ञाती-न्याती ।
आतम-गुण रो मोटो घाती,
जिण स्यू शिव-मन्दिर री पहली पेडी मे रमो रे ॥१॥

जीव अनन्ता इण बन्धै मे,
काल बितावै फस फन्दै मे ।
अति दुख पावै इण धन्धै मे,
अरहट-घटिया ज्यू भव-सागर मे इण स्यू भमो रे ॥२॥

तत्त्वातत्त्व विवेक न आवै,
धर्माधर्म मर्म बिसरावै ।
सद्गुरु कुगुरु न परखण पावै,
जिण स्यू काच, साच मणि अन्तर नहि समझै समो रे ॥३॥

'तुलसी'नर-भव सफल बणावो,
मिथ्यादर्शनशल्य मिटावो ।
समकित रतन जतन कर पावो,
'नन्दन मणियारे', 'आषाढभूति' जिम मती गमो रे ॥४॥

लय—मूदडी

तृतीय प्रवेश

मुगति रा मारग, प्रभु च्यार बतावै रे ।

तिण मे भावना, अगरेश कहावै रे ॥

भावै भावना ॥१॥

जो दान, शील, तप आदरणी नावै रे ।

तो आ अकेली शिवपुर पहुचावै रे ॥२॥

जो दान, शील, तप अघ-बध खपावै रे ।

तिण मे भावना रो साहरो चावै रे ॥३॥

आ धर्म ध्यान रा भेदा मे आवै रे ।

है महा निर्जरा, एकाग्र बणावै रे ॥४॥

तन्मयता, हठता, समता सरसावै रे ।

साधन शान्ति रो, भव भ्रान्ति हटावै रे ॥५॥

भावा भावा स्यू श्रेणी चढज्यावै रे ।

निज गुण मे रमै, वर केवल पावै रे ॥६॥

भावा री महिमा महितल महकावै रे ।

चढता भाव ही, बाजी जीतावै रे ॥७॥

लय—भावै भावना

‘ऋषि प्रसनचन्द’ रो, उपनय अजमावै रे ।
अन्तर-भाव रो, ओ प्रगट दिखावै रे ॥८॥

सकल्प-शक्ति निज, जो सदा बढावै रे ।
भाव-विशुद्धता, सहज्या सज ज्यावै रे ॥९॥

सन्ता री सगत मे, हृदय लगावै रे ।
भाव-विशुद्धता, सहज्या सज ज्यावै रे ॥१०॥

सज्जन्मय भाए मे, जो समय बितावै रे ।
भाव-विशुद्धता, सहज्या सज ज्यावै रे ॥११॥

आतम-चिन्तन मे, जो जोश जगावै रे ।
भाव-विशुद्धता, सहज्या सज ज्यावै रे ॥१२॥

सगला पर मत्री, मन मैल मिटावै रे ।
भाव-विशुद्धता, सहज्या सज ज्यावै रे ॥१३॥

जोगुणीजन रा गुण, प्रमुदित चित गावै रे ।
भाव-विशुद्धता, सहज्या सज ज्यावै रे ॥१४॥

भव-पीडित प्राणी पर करुणा ल्यावै रे ।
भाव-विशुद्धता, सहज्या सज ज्यावै रे ॥१५॥

आग्रह-विग्रह मे, माध्यस्थ स्वभावै रे ।
भाव-विशुद्धता, सहज्या सज ज्यावै रे ॥१६॥

ज्यू भावितात्म मुनि, निज आत्म रमावै रे ।
पावन भावना त्यू, ‘तुलसी’ भावै रे ॥१७॥

मूढ बरण क्यू मुग्धभावै रे ।

क्षण भगुर डरण दुनिया मे थिर रहगो चावै रे ॥

बिद पख-चन्द्र कला ज्यू, जीवन घटतो जावै रे ।

काया, माया बादल-छाया, ज्यू बिलमावै रे ॥१॥

दिनूगै रवि ऊगै, आयण आथम ज्यावै रे ।

मिलै गत रा नारा, प्रातर पतो न पावै रे ॥२॥

फूल खिलै जो डाली पर, आखिर कुम्हलावै रे ।

पाणी रा बुदबुदा देर कितिएक टिकावै रे ॥३॥

सूत्या काल राजमहला मे मौज उडावै रे ।

आज भिखारी बै दर-दर रा, तू पोमावै रे ॥४॥

पाणी रो लोटो पण हाथा स्यू न उठावै रे ।

बै धोलै दोफारा माथै लकड्या न्यावै रे ॥५॥

सैण सनेही स्वारथ रा कुरा आडो आवै रे ।

‘भाई नै चूल्हो फूकणियो बहन बतावै रे’ ॥६॥

पल रो पतो पडै नही की रो की हो ज्यावै रे ।

‘भरत-चक्री’ ज्यू ‘तुलसी’ अनित भावना भावै रे ॥७॥

लय—मनवा नाय बिचारी रे

मूढ समझ नहीं पावे ।
नश्वर जग मे क्यू नर ललचावै ॥

स्वर्गा-सी मानी मोजा, दुनिया खेची निज खोजा ।
बै नर रोझा जिम बोझा बखत बितावै ॥१॥

पहिलै क्षण आण दुहाई, दूजै क्षण हुई चढाई ।
तीजै क्षण हा, न्याती-जन शोर मचावै ॥२॥

गहरा सम्बन्ध बणालै, कितना रस थाट रचालै ।
बिजुरी घनवालो ख्यालो क्यू बिसरावै ॥३॥

जीवन री क्षण-भगुरता, निरखण सभालै सुरता ।
बै ज्यू 'थावरचा सुत' आनन्द मनावै ॥४॥

'चक्री भरतेश्वर' भूलै, अशरण भावा रै भूलै ।
जग रा सब बन्धन छिन मे तोड बगावै ॥५॥

स्वारथ स्यू सभृत सारी, दुनिया तलवार दुधारी ।
सुख रो मारग सयम 'तुलसी' दरसावै ॥६॥

लय—स्वीकार करो श्रद्धाजलिया रे

रे ! चेतन मन मगरूरी मे, क्यू फूँयो जावै हे ?
है आ अनित्यता दुनिया गी, क्यू भूँयो जावै है ?

जन्मोच्छ्रव री रग रलिया मे हा हर्ष बधावणा ।
बी जग्या मोगमय मृत्यु दिल नै दहलावै हे ॥१॥

हा जठै महल महलायत मजुल मन भावणा ।
बै बण्या खडहर, देख्या आख्या भर, आवै है ॥२॥

बै शहर सुरगा नागाशाकी हिरोशिमा जिमा ।
पल मे गटमबम बारो खर खोज मिटावै है ॥३॥

ही जठै रात दिन उठनी लहरा आनन्द री ।
बी ठोड भूख स्यू मरना प्राणी कुरलावै है ॥४॥

क्षण-भगुर इन्द्रधनुष-सी आ है सागी नाहिबी ।
पहचान स्वरूप शुभकर 'तुलसी' समझावै है ॥५॥

लय—प्रभु पार्श्वदेव चरणों मे

तृतीय प्रवेश]

[११७]

तेरो कृण त्रायी,
जरा समझते भाई ।
करले सुकृत कमाई ॥

घोरातक आय जब घेरै,
करै अन्धेरो मध्य दुफैरै ।
डाक्टर, वैद्य खड्या मुह फेरै,
लगै न एक दवाई ॥१॥

जोबन जोश-होश सब हरसी,
जद बूढापो कण्ठ पकडसी ।
गलित शरीर नयन मुख भरसी,
बरासी कोरा सहाई ॥२॥

वज्र कपाट, कोठि बिच बडसी,
तिनखो जुगल होठ बिच धरसी ।
तो भी आखिर मरणो पडसी,
कर गरमी नरमाई ॥३॥

मुख मे थारा सारा साथो,
दु ख मे कोण बटावै पाती ।
इरणे समझ्यो 'मन्त अनाथी',
विमल भावना भाई ॥४॥

सुख-दु ख मे 'गरण चत्तारी',
आ सरणि आध्यात्मिकता री ।
'तुलसी' निज पर आनय तारी,
सारी दुविधा ढहाई ॥५॥

तू सोच समझ यदि पाई,
अब भी चेतो कर भाई ।

गरणागत री शान रुखार,
सकट सरिता स्यू रे उबारै ।
दुविधा दरखत मूल उखारै,
(बो ही) साचो बरौ सहाई ॥१॥

कभी न चावै कोई मरणो,
सब चावै स्वच्छन्द विचरणो ।
औरा पर अनुशासन करणो,
(पर) पोते नहि पुण्याई ॥२॥

बन-बन भम्यो ढोर को नाई,
घर-घर भीख माग कर खाई ।
अशरणा मे उमर गमाई,
अब भी गतिविधि बाही ॥३॥

धन-परिजन स्यू जो रे उबरता,
क्यो 'सुभूम' 'सागर' सा मरता ।
कद नरेश नरका मे पडता,
मानव मन समझाई ॥४॥

लय—कर्मन की रेखा

अब अरिहन्त शरण अपणालै,
सिद्ध साधु रो म्मरण सभालै ।
जैन धर्म हिय हार बणालै,
(कुण) आ बिन इण जग भाहि ॥५॥

ऐ च्यारु सुख-दु ख रा साथी,
स्वारथिया सब जाती-नाती ।
'तुलसी' शुध मन 'मन्त अनाथी',
अशरण भावना भाई ॥६॥

चेतन ले लै शरणा च्यार,
 साचो आरो ही आधार ।
 सारो स्वारथियो ससार,
 कोई थारो नही है ॥

श्री अरिहन्त, सिद्ध, अणगार,
 साचो धर्म हिय मे धार ।
 ओ ही करसी बेडापार,
 और चारो नही है ॥१॥

जो तू होणो चावै न्याल,
 आ च्यारा रो पल्लो भाल ।
 थारै माथै ऊभो काल,
 कोई पितियारो नही है ॥२॥

जिवडा होकर रही सचेत,
 आ च्यारा स्यू राखी हेत ।
 'चिडिया चुग' ज्यावेली खेत',
 और रखारो नही है ॥३॥

लय—सुगणा सिन्दो नी राम

पग-पग पर थारे लुटाक,
था पर रह्या निशाणो ताक ।
आ च्यारा नै मागै राख,
और सहारो नही है ॥४॥

ऐ है अत्राणा रा त्राण,
ऐ है अप्राणा रा प्राण ।
'तुलसी' करै कोड कल्याण,
थारो-म्हारो नही है ॥५॥

अरिहन्त-शरण मे आजा,
शिव-सुख री भाकी पाजा ।

देव देव अरिहन्त बिराजै,
सर्वदर्शी, समदर्शी बाजै ।
मदुपदेश दुनिया मे साझै,
स्मर जीवन-ज्योति जगाजा ।
(तू) अरिहन्त-शरण मे आजा ॥१॥

सिद्ध, सिद्ध सब कारज कीन्हा,
सिद्धि नगर डेरा कर दीन्हा ।
चिन्मय ज्योतिर्मय जो चीन्हा,
हो तन्मय भान भुलाजा ।
तू सिद्ध-शरण मे आजा ॥२॥

वज्रादपि कठोर व्रत पालै,
अटल साधना-पथ पर चालै ।
तारण-तरण स्व-विरुद निभालै,
मुनि-चरणा शीश झुकाजा ।
तू साधु-शरण मे आजा ॥३॥

लय— तू मन मन्दिर में आजा

व्यक्ति व्यक्ति मे है दृढ निष्ठा,
कष्ट सहायक प्राप्त प्रतिष्ठा ।
शिवपुर सेरी बडी वरिष्ठा,
अन्तर हृदय रमाजा ।
तू धर्म-शरण मे आजा ॥४॥

आ च्यारा रै सिवा न भाई,
जो सकट मे हुवै सहाई ।
'तुलसी' ज्यू 'अवनीश उदाई',
रू-रू मे रग रचा जा ।
(त)चत्तारि-शरण मे आ जा ॥५॥

हा हा फस्या सकल ससारी यू ससार मे रे ।
ज्यू कोई अनुचित कारजकारी कारागार मे रे ॥

हा धन ! हा धन ! की धुन भारी,
यदि धन तो कुण करै रखारी ।
यदि सुत तो नही आज्ञाकारी,
बणै जुआरी, खावै जूत ऊत व्यभिचार मे रे ॥१॥

'सुत सुविनीत कर्कशा नारी,
पुत्र-बधू हुई मोसा मारी ।
घर मे खुली कलह री क्यारी',
सुण सुण लोक हसे दे ताली मध्य बाजार मे रे ॥२॥

पुत्र-पिता कई चढे अदालत,
पति-पत्नी री भी वही हालत ।
सोदर री कुण शान सभालत,
सादत पडदायत मा, बहिना री इजहार मे रे ॥३॥

कई सट्टे मे फिरै सटोरी,
जग रही हृदय लोभ री होरी ।
बेईमान बण करलै चोरी,
लै टटोली बासण बरतण तक घरबार मे रे ॥४॥

लय—मूदडी

जो जन्मोत्सव गान गुवाया,
जो वैवाहिक मोद मनाया ।
जपती जीवन में मुख पाया,
बल-जल भस्म बण्णा बै आया जम-दरवार में रे ॥१॥

दुनिया रगभवन-सी लागी,
बाइसकोप, थियेटर सागी ।
घर-घर बार बिगुल-सी बागी,
कृत्रिम नाट्य-भवन में रागी क्यो जनता रमै रे ॥६॥

भविजन अब तो मन समझावो,
जा जग स्यू छुटकारो चावो ।
'तुलसी' 'शालिभद्र' पथ पावो,
यू ससार-भावना भावो गुरु उपकार में रे ॥७॥

मै हाल समझ नहीं पायो भाया है के ओ ससार ?
क्यूँ बरा आसक्त जगत में मानव खोवै आपणो सार ?

सकट सरिता कोकाट करै,
विपदा री बेलडिया पसरै ।
मद भरघा मतगज देख हूवै दिल सशय ओ कातार ॥१॥

सताप सलिल री गहराई,
लालच री लहरा लहराई ।
मन मायी मगरमच्छ लख लागै ओ कोइ पारावार ॥२॥

भवि भव-भव अभिनव वेश धरै,
पुदगल नट स्यू (मिल नृत्य करै ।
कही लडै, मरै, झड पडै, अरे ! ओ नाटक है साकार ॥३॥

पहिले दिन सुर-सुख री आभा,
दूजै दिन नहीं तन पर गाभा ।
आ क्षण-भगुरता देख जचै ओ इन्द्रजाल जजार ॥४॥

देखी दुनिया री गति इसी,
श्री वीर जिनेश्वर कही जिसी ।
बेसी नहीं तो 'परदेगी' ज्यू कर 'तुलसी' निज निस्तार ॥५॥

लय—पीर-पीर क्या करता रे नर

हा ! हा ! सकटमय ससार ।

निरख-निरख करुणाद्रं बरौ मन, (पर) होवै के प्रतिकार॥

नहि धन तो दु ख, बहु धन तो दु ख, तिम नहि बहु परिवार ।

राका नै दु ख, राजा नै दु ख, बरते दु खम आर ॥१॥

बिन मतलब ही प्राणी ढोवै, म्हारापण रो भार ।

हा धन ! हा धन ! धुन मे कितना, बराग्या मोत-शिकार ॥२॥

इन्द्रिय विषय-दासता दर-दर, घर-घर कलह करार ।

अपणै-अपणै मन री तारौ, नहि मानै कोई कार ॥३॥

नहि हित रो उपदेश सुणै, नहि पोतै अकल उदार ।

धरम-मरम समझण नहि प्रयतन, किया हुवै निस्तार ॥४॥

सतगुरु-सगत स्यू नहि रगत, है कुगुरा स्यू प्यार ।

होवै हास्य निरध अध ने, पूछै पथ प्रकार ॥५॥

मन मान्या कर अरथ धरम रा, पोखै पापाचार ।

धरम-ठगाइ जग मे छाई बढ रह्यो भ्रष्टाचार ॥६॥

जाण-बूझकर 'जिनरक्षित' ज्यू पड रह्या गर्त मझार ।

रत्नादेवी सी जग माया, मोह महिप की मार ॥७॥

जिनवर भाषित, गुरु अनुशासित, पथ पथिकता धार ।

दुनिया कद दुबिधा स्यू ढलसी, 'तुलसी' हृदय-पुकार ॥८॥

लय—पपैया काहै मचावै शोर

तू आयो है एकलो भाई । जासी एकाएक ।
 कोई न सागै चालसी तू करले जरा विवेक ।
 देख हालत ओरा री रे, करै क्यो थारी म्हाारी रे ।
 क, अन्तर ज्ञान जगालै, जगत मे साथी, नही है कोई थारो ॥१॥

सगला भुगतै आपरी भाई करणी आपोआप ।
 गहराई स्यू सोचलै तू कुरा बेटो, कुरा बाप ।
 खाड खिणसी सो पडसी रे, जहर खासी सो मरसी रे ।
 क, अन्तर ज्ञान जगालै, जगत मे साथी, नही है कोई थारो ॥२॥

‘रहणो अपणै आप मे भाई’ ज्यू जगल रो कैर ।
 ना कोई स्यू मित्रता है ना कोई स्यू बैर’ ।
 मस्त है अपणी धुन मे रे, मोज एकाकी पण मे रे ।
 क, अन्तर ज्ञान जगालै, जगत मे साथी, नही है कोई थारो ॥३॥

सपने मे भी सुख नही कोई पावै पर-आधीन ।
 आठ पहर आनन्द मे है सदा सुखी स्वाधीन ।
 रहै निज गुण मे रमतो रे, आपरो आपो दमतो रे ।
 क, अन्तर ज्ञान जगालै, जगत मे साथी, नही है कोई थारो ॥४॥

मूल सकल सघषं रो है द्वैत भाव अवलोय ।
 ‘नमी ज्यू एकाकी भलो’ कोई दिय मिल्पा दु ख होय ।
 एकता सदा सुहावै रे, भावना ‘तुलसी’ भावै रे ।
 क, अन्तर ज्ञान जगालै, जगत मे साथी, नही है कोई थारो ॥५॥

लय—आमै चिमकै बीजली

चेतन । करले जरा विवेक,
 अन्तर आख उठाकर देख ।
 सारी दुनिया एक है ॥
 म्हारी मान सलाह तूं नेक,
 मिटादे भेद-भाव री रेख ।
 सारी दुनिया एक है ॥

देश, वेश, वय, वर्ण, जातिया, वर्ग, कार्य असमान ।
 परण मानव मनुजत्व अपेक्षा, सगला एक समान ॥१॥

एकेन्द्रिय स्यू पचेन्द्रिय पशु, नर्क, देव, नर जाण ।
 चेतन गुण जीवत्व अपेक्षा, सगला एक समान ॥२॥

भान्ति-भान्ति रा मूर्त पदार्थ, भिन्न-भिन्न सस्थान ।
 पर अजीव पुद्गल अपेक्षया, सगला एक समान ॥३॥

धर्माधर्माकाश'रु पुद्गल, जीव काल पहिचान ।
 सोच्या तो द्रव्यत्व अपेक्षा, सगला एक समान ॥४॥

'जो एग जाणइ सो सब्ब जाणइ' कहै भगवान ।
 है 'तुलसी' अद्वैतनयाश्रित सगला एक समान ॥५॥

लय—म्हारा आगणा सूना

चेतन ! निज मन्दिर तू जो लै,
निज मंदिर तू जो लै रे चेतन ! ज्ञान प्रदीप जगार,
मेटी घट अज्ञान अधार ।

काल असीम हुआ अहा ! भमता, भव-दधि भवर मभार ।
दुर्गति री अति दारुण दलना, सहन करी हरबार ।
अब तो अन्तर आख उधार ॥१॥

ब्राहि-ब्राहि करता कइ बारा तरवारा री धार ।
छटक छिदायो, रह्यो मुंह बायो कुण सुगणार पुकार ।
अब तो अन्तर आख उधार ॥२॥

हृदय-विदार अपार वेदना, जनम-मरण मभधार ।
बलि-बलि चढियो, कटियो, बढियो निज घर-द्वार बिसार ।
अब तो अन्तर आख उधार ॥३॥

जिण नै तू अपणो कर मानै, ठानै प्रतिपल प्यार ।
तिण तन री तनुता दिखलाई, 'चक्री सनतकुमार' ।
अब तो अन्तर आख उधार ॥४॥

परिजन-प्रेम घनाघन चचल, क्यो इतनो इतवार ।
'उपनय खाती जिण रो न्याती लीन्हो शीश उतार' ।
अब तो अन्तर आख उधार ॥५॥

लय—सुगणा पाप पक परिहरिये

इन्द्रिय विषय-दासता थारी, भारी होसी हार ।
जोबन जाय जरा ज्यू ग्रावै, त्यू ही करत जुहार ।
अब तो अन्तर आख उधार ॥६॥

वास्तव मे परकीय वस्तु रो, प्रेम ही खतरो धार ।
'दशकधर' री दिव्य विभूति, खतम करी परनार ।
अब तो अन्तर आख उधार ॥७॥

मान जलाश्रय ज्यू मृग जुगली, मृगतृष्णा भरमार ।
दौड-धूप कर प्राण गमाया, तिम तुज गति सभार ।
अब तो अन्तर आख उधार ॥८॥

अब अपनापन इतर वस्तु स्यू निश्चित रूप निवार ।
'गजसुकुमाल मुनि' जिम 'तुलसी' होवै खेवो पार ।
अब तो अन्तर आख उधार ॥९॥

सकट सरिता मे न्हावै, पर कै परताप स्यू ।
चेतन जडता-सी पावै, पर कै परताप स्यू ॥

अजरामर जो मरै' ह जनमे,
चिन्मय चमकै मृन्मयपन मे ।
छिन-छिन मे छवि पलटावै, पर कै परताप स्यू ॥१॥

नग्न-नृत्य कब ही नरका रो,
बरा गुलाम कब ही घरका रो ।
नानाविध कष्ट उठावै, पर कै परताप स्यू ॥२॥

हर्षित कही अनुकूल स्थिति मे,
शोकाकुल दिल रोज मिति मे ।
जो चिदानन्द कहिवावै, पर कै परताप स्यू ॥३॥

मृगतृष्णा मे मृग बन धावै,
नही निज रूप नजर मे लावै ।
धन, परिजन मे मुरझावै, पर कै परताप स्यू ॥४॥

दर्शन, ज्ञान, चरण, तप निजगुण,
आत्मिक सुख लहै 'तुलसी' चुनचुन ।
फिर कभी न विपदा पावै, पर कै परताप स्यू ॥५॥

लय—माहे रमजान मे

मानव मानो म्हारी बात मलिन ओ, गात तुम्हारो रे ।
गात तुम्हारो रे गर्व थे राखो क्यागे रे ॥

उत्पत्ति रो मूल स्रोत ही प्रथम सम्भारो रे ।
फिर अन्तस्थल अवलोकण नै आख उघारो रे ॥१॥

ऊपर स्यू तन दीसै आछो, मोहनगारो रे ।
अन्तर अशुचि असार वस्तु रो है भण्डारो रे ॥२॥

केवल सलिल-स्नान स्यू पावन, व्यर्थ विचारो रे ।
'सब तीर्था मे न्हायो तो भी तूम्बो खारो रे ॥३॥

मूल अशुद्ध न शुद्ध हुवै, कितनो ही सुधारो रे ।
भिक्षु कथित दृष्टान्त 'गाजीखा मुल्लाखा' रो रे ॥४॥

नव-नव वेश ड्रेस स्यू सज्जित, जो तनु प्यारो रे ।
नव-नव स्रोत बहै मल पल-पल लागै खारो रे ॥५॥

सुन्दर ग्रसन, वसन, भूषण रो, करै बिगारो रे ।
उदाहरण ओ 'मल्लीकुवरी' दियो करारो रे ॥६॥

शिव-साधन सामर्थ्य मनुज तनु सार निकारो रे ।
'तुलसी' त्याग, तपस्या स्यू निज नैया तारो रे ॥७॥

लय—म्हारा सतगुरु करत बिहार

सयम सरवर मे न्हालै,
तप साबुन क्यू न लगालै ।
सब आन्तर मैल मिटालै,
प्राणी पावनता पालै ॥

जल बिच जनम मरै पुनि जल मे, जलचर जल मे चालै ।
तो भी हाल हुई नही मुगति, तूं मन नै समझालै ॥१॥
चोरी करकै चोर गगा मे, सौ सौ गोता खालै ।
तो भी पडै तुरत हथकडिया, उपनय ओ अजमालै ॥२॥
'अर्जुनमाली सो हत्यारो, सीधो मुगत सिधालै' ।
सयम-स्नान प्रभाव प्रकट ओ, भव-भव पातक टालै ॥३॥
मूल मलिन ओ तन है तेरो, चाहै जितो न्हुवालै ।
'काक कालिमा कदै न छूटै, कोटि उपाय सभालै' ॥४॥
अशुचि शरीर, सदा शुचि आतम, जो कृत कलुष घुपालै ।
'तुलसी' 'हरिकेशी मुनिवर' ज्यू, जीवन सफल बगालै ॥५॥

लय—पानी मे मीन पियासी

आस्रव स्यू राख उदासी ।
 तू अजरामर बराज्यासी ।
 तू अक्षय शिव-सुख पासी ॥

भीषण भव अटवी मे भटकै, चेतन अज अविनाशी ।
 आस्रव सचित्त कर्म प्रयोगे, निज कर निज गल फासी ॥१॥

ज्योतिर्मय निज रूप न अबलो, पायो बलि नहि पासी ।
 जब लो आस्रव सबल शत्रु को, नही खर खोज मिटासी ॥२॥

अमित शक्तिधर दर-दर घूमै, जड आज्ञा अधिवासी ।
 'कुजर कमल-नाल स्यू बध्यो, सुग-सुग आवै हासी' ॥३॥

कुगुरु , कुदेव, कुधर्म, कुसगति, आग्रह कर अपरासी ।
 करसी पाप, पुण्य जो गिरासी तो रुलसी लख चोरासी ॥४॥

पुद्गल-वस्तु पिपासा पल-पल, अन्तर दिल अभिलाषी ।
 वर अध्यात्मवाद मे अरुचि, चिहु गति गोता खासी ॥५॥

च्यार कषाय लाय मे निज गुण, इन्धन बराज जलासी ।
 मन, बच, काय कुचेष्टा कर-कर, कटुतर कर्म कमासी ॥६॥

लय—पानी मे मीन पियासी

पचासव रत पचेन्द्रिय नै, नही करसी निज दासी ।
करी,भूष,मधुप,शलभ,मृग की ज्यू, निज अस्तित्व गमासी ॥७॥

जो शुभ योग पुण्य रो हेतु, यथासमय खपज्यासी ।
पाप निदान पाछला पाचू, सकट खान खुलासी ॥८॥

हृदय विशाल 'समुद्रपाल' सम, विमल भावना भासी ।
तो अथाग भव-सागर 'तुलसी' बिना तरी तरज्यासी ॥९॥

म्हारो हीरा जडियो आगणियो, कुण मैलो करग्यो रे ।
 म्हारो रत्ना जडियो आगणियो, कुण मैलो करग्यो रे ।
 करग्यो करग्यो करग्यो रे, कचरै स्यू भरग्यो रे ।
 काढ-काढ कचरो मै थाक्यो, पिण नही भाक्यो थाग ।
 कुण बैरी ओ करै अकारज, म्हारै लारै लाग रे ।
 मै नाम विसरग्यो रे ॥१॥

खबर पडै तो इण पापी स्यू, काढू पुरो बैर ।
 पकड पछाडू रू-रू पाडू करछू करडी जेर रे ।
 म्हारी सम्पति हरग्यो रे ॥२॥

मै जाण्यो म्हारै मन्दिर मे, मै ही रहस्यू सोय ।
 द्वार बन्द कर खोल भरोखो, दिव्य प्रदीप प्रजोय रे ।
 कुण दूजो बढग्यो रे ॥३॥

एक हाथ स्यू कचरो काढू, पाच हाथ स्यू पाप ।
 आकर मुझ नै घणो सतावै, किया करू मै साफ रे ।
 मन सासो पडग्यो रे ॥४॥

श्री सद्गुरु-मुख सुणियो आस्रव, सब सकट री खाण ।
 'जम्बू' ज्यू उद्यत है 'तुलसी' इण रो खोज मिटाण ।
 कसकर कमर उतरग्यो रे ॥५॥

लय—म्हारा घणा मोल रो माणकियो

शिव-साधन सदुपाय, सुखद सबर अपणावोजी ।
दु खद भव-कातार मार स्यू, अब तो हृदय हटावोजी ॥

आत्म-तलाब, कर्म-जल आस्रव, नाला रूप कहावैजी ।
आत्म-भवन तो आस्रव द्वार, ओपमा पावैजी ।
है आस्रव अवरोध अर्थ, ओ सबर रो समभावोजी ॥१॥

तीन तत्त्व है रत्न अमोलक, जीव जडी कर मानोजी ।
अहंन् देव, महाव्रतधारी सुगुरु पिछ्छाणोजी ।
धर्म आत्म-शुद्धि रो साधन, रू-रू बीच रमावोजी ॥२॥

हिंसा आदिक पाच पाप जो, विश्व व्यापिता पायाजी ।
इन्द्रिय पाच विकार, प्रमाद पाच पनपायाजी ।
च्यार कषाय हाय ! आ सबनै प्रलयधाम पहुँचावोजी ॥३॥

क्रोध दाव उपशमन जलद सम, उपशम रस अनुशीलोजी ।
आर्जव, मार्दव भावे दभ दर्प नै कीलोजी ।
ले सन्तोष पोष इक छिन मे विजय लोभ पर पावोजी ॥४॥

मन, वच, काय योग सयम स्यू, बाहिर जाण न पावैजी ।
त्याग, विराग भावना स्यू, भावित बराज्यावैजी ।
ज्यादा स्यू ज्यादा जीवन नै, सादापण मे त्यावोजी ॥५॥

लय—दीपाजी रा जाया

निश्चित निज कर्तव्य पथ पर, अविचल दिल बराज्यावोजी ।
कोटि कष्ट यदि पडे खड्या हिम्मत दिखलावोजी ।
'धर्मरुचि' सम धीर, वीर, प्राणा री बली चढावोजी ॥६॥

रोद्र ध्यान रो पथ रोक कर, हृदय दयाद्र बरावोजी ।
आर्य 'सत मेतार्य मनोबल', मति विसरावोजी ।
'तुलसी' शिव-सबल सबर मे पल-पल सफल मनावोजी ॥७॥

करो भवि सबर पथ प्रयाण,
जो करणो जीवन रो कल्याण ।
त्याग है सबर रो अभिधान ॥

आस्रव कर्म बध रो कारण,
सबर नव सम्बन्ध निवारण ।
तारण भवदधि पोत समान ॥१॥

आत्म भवन आस्रव दरवाजो,
आवै नित करमा रो काजो ।
सबर है कपाट बलवान ॥२॥

सास्रव आत्म नाव पुराणी,
आवै सतत करममय पारी ।
सबर है अवरोध महान ॥३॥

आत्म तलाब है आस्रव नाला,
आवै करम नीर दगचाला ।
सबर रोके कर्म बितान ॥४॥

जीवन सयममय बण पावै,
'तुलसी' निज गुण मे रमजावै ।
पावै 'सन्त सुकोशल' स्थान ॥५॥

लय—बना मन मदिर आजीञ्चान

चेतन सबर स्यू कर प्रेम, क्षेम पथ मे बढज्याणो है ।
पथ मे बढज्याणो है, अमर सन्देश सुणाणो है ॥

तज अधीनता आस्रव री भव-भ्रमण मिटाणो है ।
दुर्गति री दारुण दलना स्यू, जीव बचाणो है ॥१॥

पाच प्रकार भार स्यू यदि हलकापण पाणो है ।
निराकार मे निर्विकार बण हृदय रमाणो है ॥२॥

परिमित कर भव-भ्रमण सुमन-समकित महकाणो है ।
तृष्णा वह्नि बुझै विरक्ति स्यू, मन समझाणो है ॥३॥

अप्रमाद मे रम कर मन अकषाय बणाणो है ।
अशुभ जोग नै त्याग अयोगी पथ अपराणो है ॥४॥

‘शालिभद्र’ अरु घन्य ‘घन्न’ स्मृति-पथ मे ल्याणो है ।
‘तुलसी’ सयममय हो खेवो पार लगाणो है ॥५॥

अथ—भूहारा सतगुरु करत विहार

तृतीय प्रवेश]

[१४३]

निर्जरा हो निर्जरा । री करणी,
जिनवर आगम मे वरणी रे ।
भव-सागर तारण नै तरणी,
शिव-सुख री शुभ सरणी रे ॥

सहज, सकाम, अकाम भेद स्यू तीन तरह री, कर्म निर्जरा भाखी ।
तीन्या स्यू आतम उज्ज्वलता, सूत्र अनेका साखी रे ॥१॥
कर्म उदय मे आ भुगतीज्या, सहज रूप मे आत्मा स्यू भडज्यावै ।
सहज निर्जरा स्यू उज्ज्वलता 'मोरादेवी' पावै रे ॥२॥
केवल आत्म-शुद्धि रै खातिर, तपै तपस्या करै निरन्तर करणी ।
बारह भेद सकाम निर्जरा, भव-भव पातक-हरणी रे ॥३॥
बिना मोक्ष री अभिलाषा जो, अन्याशा स्यू निरवद कष्ट उठावै ।
बा अकाम निर्जरा कहीजै, आशिक शुद्धि पावै रे ॥४॥
विस्तृत वर्णन स्वामीजी कृत, नव-पदार्थ री चौपी स्यू थे लेवो ।
ज्ञान सहित करणी कर 'तुलसी' पार लगावो खेवो रे ॥५॥

वारह भेदे तप अपणावो,
भव-भव सचित कर्म खपावो ।
जीवन हलको फूल बणावो ॥

धुर अनशन अरु ऊनोदरता,
वृत्ति-सक्षेप—अभिग्रह करता ।
रस-परित्याग—विगय मत खावो ॥१॥

कायक्लेश—विविध योगासन,
प्रतिसलीन—गुप्त वच, तन, मन ।
अब अन्तरतप हृदय बसावो ॥२॥

प्रायश्चित्त — पाप - सशोधन,
विनय—नम्रता हृदय बिबोधन ।
ब्यावच—सेवा सुखद सभावो ॥३॥

सत् स्वाध्याय, ध्यान शुभ ध्याकर,
अन्तिम कायोत्सर्ग सभाकर ।
मोक्ष नगर रै नेडा जावो ॥४॥

कर्म-रोग, तप दिव्य दवाई,
है अनुपान शान्त-रस भाई ।
'तुलसी' विमल भावना भावो ॥५॥

लय—थोड़ी-थोड़ी धीरज राखो

पल-पल सफल सभाबो धर्म निर्जरा जीवन-ज्योति जगाण ।
 जीवन-ज्योति जगाण रे सुजन जन अविघन प्रयतन ठावो ।
 पावो उज्ज्वलता असमान ॥

त्याग, तपस्या लोक बचन मे जैनागम अनुसारे ।
 गा रे सबर निर्जरा गान ॥१॥

अथवा तप स्यू आत्मोज्ज्वलता जैन निर्जरा जाणी ।
 मानो मानस शान्ति महान ॥२॥

अमित काल रो निविड आवरण इण बिण कोण उडावै ।
 भावै जोवो सकल जिहान ॥३॥

‘दृढप्रहारी सरिखा भारी पतित पूत बणज्यावै’ ।
 गावै गौरव श्री भगवान ॥४॥

सप्तम तत्त्व सतत्त्व समझ मन क्षण-क्षण भविक दृढावो ।
 आवो ‘तुलसी’ के पन्थान ॥५॥

जय जैन धरम जग मगलीक,
लोकोत्तम पावनता प्रतीक ।

तू अमर शान्ति रो दिव्य द्वार,
साधना सार है निर्विकार ।
निश्चित सुधार जब जुड़े तार,
साकार सिद्धि होवै नजीक ॥१॥

सुख-धाम सदा तू आत्म-राम,
अविराम भजन स्युं बढै स्थाम ।
तब शरण-स्मरण रा सुपरिणाम,
सब बाम काम भट हुवै ठीक ॥२॥

पावै जन-जन अभिनव विकास,
जीवन मे उज्ज्वलतम प्रकाश ।
उल्लास मिलै, सहु मिटै त्रास,
विश्वास बरै जद लोह-लीक ॥३॥

लाखा री राखी गई लाज,
पतिता नै तारचा बण जहाज ।
है उत्पीडित मानव-समाज
नै, आज एक थारी अडीक ॥४॥

साथी अभिन्न तव है विवेक,
तू स्रोत एक, धारा अनेक ।
'तुलसी' दिल प्रतिपल अटल टेक,
निष्फल हो सारा अघ अलीक ॥५॥

जय हे जय जय श्री जिनधर्म,
तमसावृत-जग की तू ज्योति, मानवता रो मम ।

तैल बिना जिम दीपक सूनो,
भोज्य अलूणो नमक बिहूणो ।
बिन अम्बर-मणि अम्बर ऊणो, तिम तू मव री शर्म ॥१॥

तू मगी, सब सम्पत सगी,
तुझ बिन ऋद्धि-सिद्धि मव नगी ।
चगी चाल तू ही है सब री, बाकी मारो भर्म ॥२॥

तू सब रै सुख-दुख मे सार्थी,
तैल-ज्योति बिच रहै ज्यू बानी ।
करै शान्तिप्रद स्तवना या कोई निन्दा गर्मगर्म ॥३॥

तव स्मृति मात्र सुखद शिव हेतु,
तव आचरण भवाम्बुधि सेतु ।
लहै 'अरणक' 'अषाढभूति' सा, तव कृपया पद पर्म ॥४॥

प्राणाधार हृदय - अधिराजा,
मम सर्वस्व भेट अपनाजा ।
'तुलसी' घट मे तव स्थिति ताजा, जब लो आठू कर्म ॥५॥

लय—जागो जागो हे नादान

द्वितीय प्रवेश]

[१४९]

सेवो जैनधर्म भवि प्राणी, जाणी सुर तखर साख्यात ।
 सुर तखर साख्यात म' करो सशय दिल तिल मात ॥
 समकित ही मजबूत मूल है जिण रो जग विख्यात ।
 तीन तत्त्व, नव तत्त्व, द्रव्य षट्, श्रद्धामय साक्षात ॥१॥
 पाच महाव्रत सुदृढ शाखा, प्रतिशाखा प्रख्यात ।
 अणुव्रत, शिक्षाव्रत, शुभ भावा रो विस्तार सुहात ॥२॥
 कुसुमावलि, सुगुणावलि जिण रैं लडा लुम्ब लटकात ।
 फल अजरामर पद सुख बिलसो आत्मानन्द उदात्त ॥३॥
 भ्रमत-भ्रमत भव-कानन पायो, मनु-भव अनुपम आय ।
 'पश्चातापे लोह बणिक वत', मत कोई मसलो हाथ ॥४॥
 हृदयागण री आब बढावै, तर छाया दिन रात ।
 जिणाने नहि कोई सेक जरूरी और न चाहवै ख्यात ॥५॥
 त्याग भोग रो अलग-अलग मग समझो सुज सुजात ।
 'सेठ तनयवत घी तम्बाकू म' करो एक सघात' ॥६॥
 दोय सहस्र जेठ बदि द्वितिया शहर लाडणू आत ।
 'तुलसी गणपति' भर परिषद मे परम प्रमोद मनात ॥७॥

लय—म्हारा सतगुरु करत बिहार

जैनधरम जग-मार कहायो,
 आध्यात्मिक रुचि जन अपणायो ।
 विमल शान्ति-सन्देश सुणायो ॥

जगम स्थावर सब सुख प्यासा,
 जीव अनन्त अपरिमित आशा ।
 मति मारण रो पाठ पढायो ॥१॥

पर-धन-लिप्सा, निन्दा-खिसा,
 मच्छर इध्या है सब हिसा ।
 मत्री अहिंसा निज गुण गायो ॥२॥

सावद, निरवद दो अनुकम्पा,
 आदिम मोह-रागमय भूपा ।
 अन्तिम धर्म ध्यान समझायो ॥३॥

अविकल पच महाव्रत धारी,
 पूरण पात्र-दान अधिकारी ।
 इतर अपात्र दान दरसायो ॥४॥

त्याग-भोग रा सरल सुणायो,
 अलग-अलग मारण दरसायो ।
 गुण-पूजा गौरव गरणायो ॥५॥

लय—थोड़ी-थोड़ी धीरेज

निज अवगुण पर क्षण-क्षण भाकी,
पर-गुण क्षण-क्षण लीज्यो आकी ।
जिन उपदेश हमेश सुभायो ॥६॥

सारभूत नव तत्त्व सुरगा,
तत्त्व त्रयी घर आई गगा ।
न्हाया पाप पलाय बतायो ॥७॥

नहि सुख-दुख रो दूजो कर्ता,
आत्मा स्वकृत कर्म ससर्ता ।
विश्व अनादि अनन्त जतायो ॥८॥

नीठ लह्यो मानव-भव प्राणी,
अब अपराधाल्यो शिव सहनाणी ।
'तुलसी' जीवन-पथ सुलभायो ॥९॥

पड् द्रव्यात्मक लोक,
जैनागम यो फरमावैजी ।
भविजन सुगु मन हुलसावैजी ॥

गति, स्थिति मे सदा सहाई,
धर्माधर्मास्ति बताई ।
आकाशाश्रय सब पावैजी ॥१॥

जो काल-वर्तना हेतु,
परिणाम क्रिया है केतु ।
पुद्गल गल-मिलन स्वभावैजी ॥२॥

‘उवओग लक्खणो जीवो’,
हरदम जगै ज्ञान को दीवो ।
‘पुद्गल वश चक्कर खावैजी ॥३॥

स्वर्गापवर्ग छवि छाई,
नर, नरक लोक इण माहि ।
कर्मा स्यू सुख-दु.ख पावैजी ॥४॥

‘तुलसी’ आध्यात्मिक जो है,
निर्भय ‘सन्त सुकोशल’ सो है ।
क्षण मे लोकान्त सिधावैजी ॥५॥

लय—दीपावाले नन्द

नकशो दुनिया रो निजरा मे थे ल्यावो,
भावो रे भावो लोक भावना ।
धर्म ध्यान विमल मन ध्यावो.
भावो रे भावो लोक भावना ॥

ऊर्ध्व, अधो, मध्यस्थ भेद स्यू, है प्रविभक्त सदा रो ।
स्वर्ग, नरक, नर लोक नाम, ओ लोकाकाश विचारो ॥१॥

सुन्दर कही स्वर्ग मन्दिर मे, नाटक धौ धुंकारो ।
कही पाताल हाल मे पापी, कर रह्या हाहाकारो ॥२॥

कही नर लोके भोगै भोगी, 'शालिभद्र' बरतारो ।
'मृगापुत्र' सम कष्ट कुत्र चित्, हा हा पाप प्रचारो ॥३॥

जिहा जन्मोत्सव नृत्य गीत, वादित्र भरण भकारो ।
मृत्यु, शोक, आक्रन्द सुगै तिहा, ओ 'सुत थावरचारो' ॥४॥

प्राप्त जन्म प्रत्येक योनि मे, भुगतै क्लेश करारो ।
अब तो सुण उपदेश सुधामय, प्राणी आख उचारो ॥५॥

सहज प्राप्य सयम, तप स्यू जो, लोकालोक किनारो ।
'तुलसी' तुम 'शिवराज ऋषि' ज्यू, शिवपुर वेग सिधारो ॥६॥

लय—मन्दिर मे काई दूढती फिरै

रे चेतन ! खिल्यो भाग सौभाग,
जतन कर पालै तू ।
नीद नै त्याग अबै तो जाग,
बोधि बपरालै तू ॥

बोधि है दुर्लभ भर ससार,
बोधि है अखिल वस्तु मे सार ।
बोधि बिन जीवन ही बेकार,
हृदय समझालै तू । १॥

बोधि है तत्त्वातत्त्व विवेक,
बोधि आध्यात्मिकगुण मे एक ।
बोधि विद्या-बल स्यू अतिरेक,
देख अजमालै तू ॥२॥

‘चक्रि भोज्यादिक’ उपनयसार,
लह्यो मुश्किल मानव अवतार ।
आर्यता प्राप्त हुई सुखकार,
सुलाभ उठालै तू ॥३॥

लय—एक दिन उठै ताल से हस

करोडा मानव आर्य कहाय,
न धार्मिक जिज्ञासा तक हाय ।
धुक रही एक ही लालच लाय,
बलाय बुझालै तू ॥४॥

जगी जिज्ञासा जो सिद्धान्त,
सुणारो मिलै न अवसर शान्त ।
रहै मन विषया स्यू आक्रान्त,
प्रशान्त बणालै तू ॥५॥

‘मित्यो इक दिवस राज सो मेल’,
रचालै अब घर मे रग रेल ।
फालतू मतकर मानव फेल,
क, ऊध उडालै तू ॥६॥

बोधि दुर्लभता को जो सूत्र,
सभाल्यो यथा ‘इलाचीपुत्र’ ।
सदा सुख ‘तुलसी’ अत्र अमुत्र,
भावना भालै तू ॥७॥

मत खो दीजै मदमत्त मनुज । ओ बोधि रत्न दुष्प्राप्य ।
नही तर करणो अवशेष रहै ला, 'जागल विप्र विलाप' ॥

ओ सब रत्ना रो स्वामी है ,
महिमा महिमण्डल नामी है ।
इण रो गौरव गावै आगम मे अन्तर्यामी आप ॥१॥

ढूढ्या भी जग मे मिलै नही,
खाणी इण री कही खुलै नही ।
जो मिलणो ह्वै तो मिले, एक सतगुरुजी रै परताप ॥२॥

मूल्याकन इण रो कोण करै,
दुनिया रो वैभव पास धरै ।
नही सरै हृदय री अटल आसता, असली मोल अमाप ॥३॥

जिण घट रो ओ नही अधिवासी,
उण रै गल प्रतिपल भव-फासी ।
रहै सदा उदासी जब लो न मिटै मोह कर्म अभिशाप ॥४॥

रखजै धीरज सचमुच शान्ति,
मत डिगी 'आषाढभूति' भाति ।
अद्धा स्यू टलसी पाप ताप सुण 'तुलसी' शिक्षा साफ ॥५॥

लय—पीर-पीर क्या करता रे

सुख पा रे मित्र मन । विश्व-मित्र बराज्या रे ।
कोई शत्रु बरौ तो ही, शत्रु-भाव मत ल्या रे ॥

‘खामेमि सव्वे जीवा’ ओ वीर वाक्य प्रपणा रे ।
विश्व-मैत्री पल मे ज्यू पनपे, सदा प्रयत्न सभा रे ॥१॥

है कुटुम्ब सम सगला प्राणी, प्रेम-भाव दिखला रे ।
सुख, दुख कर्ता थारी आत्मा, औरा नै न बता रे ॥२॥

हो क्रोधित कोई गाली देवै, तो तू मन समझा रे ।
इरा रै कनै देण नै आ ही, मत तू राड बधा रे ॥३॥

दया-पात्र दुशमण नै समझी, दया-भाव उर ल्या रे ।
‘सगम, कोशिक वीर प्रभु’ री बात मती बिसरा रे ॥४॥

सकट, सुख देणै वाला स्यू, मिटा रोस, ममता रे ।
सज्जन-दुर्जन, शत्रु-मित्र पर, राख सदा समता रे ॥५॥

सुखी बरौ सब प्राणी जग रा, मच्छर-भाव मिटा रे ।
पान करै समतामृत रो तू, सदा हृदय स्यू चाह रे ॥६॥

‘खधक’ ‘गज सुकुमाल मुनि’ री, स्मृतिया तू सरसा रे ।
शान्त-सुधारस मे रत ‘तुलसी’ मैत्री-भावना भा रे ॥७॥

सय—देवो देवो जी

सब विश्व-मैत्री मे रमण करो ।
रमण करो भव-भ्रमण हरो ॥

शत्रु-भाव स्यू निज दिल कलुषित,
पर दिल सकट होत खरो ।
जो न भलाई हुवै आप स्यू,
तो क्यू उद्यत करण बुरो ॥१॥

कुण सो सगपण हुवो न जग मे,
किण-किण स्यू थे प्रेम भरो ।
वैर-भाव भी क्यू औरा स्यू,
सचमुच कारण तो उचरो ॥२॥

कहो अनिष्ट-कर्ता ओ म्हारो,
तो थे आगम-पथ बिसरो ।
सुख-दुख-कर्ता अपणी आत्मा,
वीर-वचन मन मे सुमरो ॥३॥

लय—शृणु शिव सुख साधन

तृतीय प्रवेश]

[१५६]

प्रेम-द्वेष स्यू परै मित्रता,
मोह-राग रो मार्ग टरो ।
छोड़ विषमता प्राणिमात्र सह,
समता रो आदर्श वरो ॥४॥

छोटो ही हूँ शत्रु खोटो,
'दतिल' उपनय हृदय धरो ।
दिल री गुंढी खोल सरल बरण,
'तुलसी' भवदधि वेग तरौ ॥५॥

हुलस हजार बार गुणी गुण गाया जा,
मच्छर मान मिटाया जा तू जीवन सफल बनाया जा ॥
दिल मे उमग बढ़ाया जा ।

पालै सयम निर अतिचार,
मोह माया रै ठोकर मार ।
भगती स्यू बारै चरणा मे, हरदम शीश भुकाया जा ॥१॥

करै तपस्या जो कठोर,
काम है घोरातिघोर ।
भोर-भोर बारी मजुल, महिमा तू महकाया जा ॥२॥

पाचू इन्द्रचा मन नै कील,
पालै सदा सुरगो शील ।
बारी गुणमय भील मे तू, परम खुशी स्यू न्हाया जा ॥३॥

स्थविर, तपस्वी, बालक, ग्लान,
करै मुनि-व्यावच अम्लान ।
सेवा-भावी सुविनोता री, करणी सदा सराया जा ॥४॥

लय—जिन्दगी हे मोज मे

धर्म-सघ रा धारण हार ,
निज पर नैया तारण हार ।
गण सिणगार गुरु री गरिमा, गा-गा कर्म खपाया जा ॥५॥

ज्ञान, ध्यान मे जो तल्लीन,
रहै सदा चिन्तन मे लीन ।
ज्ञानी, ध्यानी, स्वाध्यायी, गुणिया रा गुण दरसाया जा ॥६॥

घृणा सदा दुर्गुण स्यू धार,
और गुण स्यू प्रतिपल प्यार ।
'तुलसी' प्रखर प्रमोद भावना, भाया जा, सुख पाया जा ॥७॥

हुलसावोजी सुजन, मन मत्सर-भाव मिटावो ।
 गुणी-गुण गण गोद प्रमोद भावना भावो ।
 आदत रो ओ दोष देख मन मन मैलापण त्यावो ।
 खुशी मनाकर, हर्ष वधाकर, क्यू ना लाभ उठावो ॥१॥
 ओ है जग मे अधिक प्रतिष्ठित, सज्जन चिहु दिशि चावो ।
 मेघावान, महान ज्ञानधर, अन्तर दिल यो गावो ॥२॥
 सुकृति, सुचरित भरित दिल गागर, रसना-रस सरसावो ।
 लगै न दाम छदाम कृपणता, क्यू जबान मे ल्यावो ॥३॥
 बण निरीह निज अवगुण, परगुण निरखण उमग बढावो ।
 आगम बच उत्कृष्ट रसायण, तीर्थकर पद पावो ॥४॥
 'बेगवती' दृष्टान्त विलोको, जो गुण चोर कहावो ।
 'कृरगङ्गक' मुनि गुट-गुण स्यू, 'तुलसी' मोक्ष सिधावो ॥५॥

लय—देवो देवो जी डगर

हा ! दुनिया डूबी जावै रे, म्हानै करुणा आवै रे ।
दिल देख द्रवित हो ज्यावै रे, म्हानै करुणा आवै रे ॥

मोह, माया मे मुरझ्या प्राणी, मूल मरम नही जाणै ।
मन मान्या कर अर्थ धर्म रा, आप आप री तारौ ।
अब कुण बानै समझावै रे ॥१॥

डोल रही आस्था दुनिया री, हा ! नास्तिकता छाई ।
'मुह पर राम, बगल मे छूरी', कैसी करुण कमाई ।
अब श्रद्धा कुण पनपावै रे ॥२॥

मृग-तृष्णा मे मृग ज्यू भटकै, उलझ्या जगत भमेलै ।
त्याग बिना आशा-बछा स्यू, पग-पग पर दु ख भेलै ।
अब कुण रस्तो दिखलावै रे ॥३॥

जाण बरौ अणजाण करै है, आख मीच अन्धारो ।
पाच प्रमाद सेवता प्राणी, जनम गमावै सारो ।
कुण बारी ऊघ उडावै रे ॥४॥

क्रोध, मान, माया, लालच मे, हाय जिन्दगी गालै ।
कुटिल कषाय लाय मे जलता, निज आतम गुण बालै ।
कुण बारी लाय बुझावै रे ॥५॥

लय—मत बनो शराबी रे

मन मत्ते ऊर्ध्वं पथं चाले, बस मे रहै न लाली ।
हुवै न काया ऊपर काबू, गाजै बादल खाली ।
कुण शुभ जोगा मे ल्यावै रे ॥६॥

प्राप्त हुसी श्रवणादि बोल दश, इसा भाग कद खुलसी ।
टलसी भव-दुविधा दुनिया री, विमल भाव स्यू 'तुलसी' ।
आ सदा भावना भावै रे ॥७॥

मुदित मना पीडित प्राणी रो, आध्यात्मिक उपचार ।
करो, हरो भव-भव रा सकट, ओ साचो उपकार ॥

‘पड्यो बैल मारग मे सिसके, सेठ पदमरुचि श्रेष्ठ मति ।
निकट बैठकर नेठ निमल दिल, सभलायो नवकार’ ॥१॥

‘रोगग्रस्त इक गीघ विहगम, जगम तड-फड तड-फड तो ।
सीता सती शान्त कर न्हाख्यो, सन्त चरण सुखकार’ ॥२॥

‘परदेशी नृप पतित शिरोमणि, अत्याचारधा मे अगुवो ।
केशी स्वाम परम कर पावन, मेल्यो स्वर्ग मभार’ ॥३॥

‘सारी-सारी रात जगा री, भूख तृषा मे बेपरवाह ।
दीपा सुत कितना री नैया, करी डूबती पार’ ॥४॥

निज कृतकर्म शुभाशुभ भोगै, यद्यपि सारा ससारी ।
‘तुलसी’ तदपि उचित पथ-दर्शन, निज कर्तव्य निहार ॥५॥

लय—उडी हवा मे चिडिया

मना । माध्यस्थ भावना भा रे ।

व्यर्थ ही पर-चिन्ता मे पड-पड, मत परमार्थ गमा रे ॥

औदासिन्य, उपेक्षावृत्ति और सुखद समता रे ।
है इण रा अभिधान ज्ञान री पावन ज्योति जगा रे ॥१॥

जो कोई चावै तो तू उण नै, हित उपदेश सुणा रे ।
नही तो मौन राख तू भाई, मत ना जीभ चला रे ॥२॥

हित शिक्षा सुण यदि कोई कोपै, तो तू रीस न ल्या रे ।
'करसी जिसी आगलो भरसी,' तू मत मन मुरझा रे ॥३॥

उचित बात अवसर पर कहणी ओ तू फरज बजा रे ।
फिर कोई माने या नही माने, मत कर तू परवा रे ॥४॥

जो बबूल शूल बीरोसी, लेसी हाथ बिधा रे ।
'लोह वाणिये ज्यू आखिर मे रह ज्यासी पिछता रे' ॥५॥

'आम बात रो रोगी राजा, मन्त्री करत मना रे ।
आम आरोग, शोगमय मृत्यु,' उपनय तू अपणा रे ॥६॥

नीति शास्त्र विशेषज्ञा री, एक ही नेक सलाह रे ।
'जबरन जोग सधै नही जग मे,' 'तुलसी' शिक्षेता रे ॥७॥

लय—कैसे कर्म को फद

तृतीय प्रवेश]

[१६७]

मन मौन भावना भावै,
जिहा शिक्षा काम न आवै ।
उपदेश न असर उठावै,
मध्यस्थ स्वस्थ बगज्यावै ॥

है शिक्षा अति बहु मोली,
पर देगी पात्र टटोलीजी ।
यदि लाभ दृष्टि मे नावै ॥१॥

है आत्म-रक्षिका भारी,
कोई राखै दिल बिच धारीजी ।
(तो) 'क्यू घर बैया रो जावै' ॥२॥

सुण हित री बात सुहाली,
अखिया मे ल्यावै लालीजी ।
तो लाली कोण चलावै ॥३॥

भवितव्य भाव कुण टालै,
जो कोड उपाय सभालैजी ।
'नृप श्रेणिक' नरक सिधावै ॥४॥

'जो करसी बोही भरसी',
मृत लारै कहो कुण मरसीजी ।
'तुलसी' तो सहज स्वभावै ॥५॥

लय—बिन दया धर्म नही पावै

चतुर्थ प्रवेश

प्रवचन माता आठ कहावै,
समिति गुप्तिमय सदा सुहावै ।

जिएण रै जीवित एक ही माता,
हरदम बो पावै सुखसाता ।
तो मुनि क्यू नही मोज उडावै ॥१॥

ज्यारी कब ही न वय पलटाई,
है इकसार सदा तरुणाई ।
नहि कहि कोई रोग सतावै ॥२॥

सब री सुत पर पूरी प्रीति,
शोक-स्वभाव नहि दुर्नीति ।
अगज अग अखड ही चावै ॥३॥

पण अनुशासन है जोशीलो,
जो इच्छा हुवै तो अनुशीलो ।
नही कोई जबरन कैद करावै ॥४॥

थोडो भी जो अविनय करसी,
ततखिएण माफी माग्या सरसी ।
साय प्रात न मात लघावै ॥५॥

—लय—थोडी थोडी वीरज राखो

चतुर्थ प्रवेश]

[१७१]

जो सुत मा री आज्ञा पाल,
तो नही सकट स्वप्न निहालै ।
बारम गुणठाणै पहुचावै ॥६॥

दृष्टिवाद घर मुनिवर भारी,
जो नही जननी-निजर निहारी ।
(तो) नरक, निगोदा भिरका खावै ॥७॥

जननी पोख्या सुत पोखीजै,
नही तर तर-तर अगज छीजै ।
आखिर नाम-शेषता पावै ॥८॥

आठ ही माजी रहै जिम राजी,
तिम सहु बरतो सन्मति साभी ।
'तुलसी गणपति' सीख सुणावै ॥९॥

ईर्या समिति मे सजग रहो श्रमण मती ।
 पग-पग पक्की जयणा राखो भाको पथ प्रति ।
 पथ प्रति, मति चूको रे रति ॥

आठू ही मातावा माहि आ ही है बडी ।
 सयम सुत-रक्षा हेत इण नै है मढी ।
 करे पल-पल जतन प्रथम समिति ॥१॥

गात्र, मात्र भूमि जोवो चालता पथी ।
 आकी, बाकी भाकी कोई करो रे मति ।
 जिया रहै सुप्रसन्न माता ईर्या समिति ॥२॥

गाडर ज्यू नीची गावड राखता रहो ।
 मलकता मयगल ज्यू मारग मे बहो ।
 जिया हुवै न नाराज माता ईर्या समिति ॥३॥

बरजो दश बोल हास, कितोल पथ मे ।
 बाता, भकभोल, ठठाठोल, पथ मे ।
 थानै करै है मनाही माता ईर्या समिति ॥४॥

अहिंसा भी हिंसा नाम पावै जो प्रथा ।
 हिंसा भी अहिंसा सुणल्यो आगम-कथा ।
 इण मे हेतुभूत हुवै माता ईर्या समिति ॥५॥

लय—धन्य गजसुकुमाल मुनि

‘बाल्य वये जीत मुनि पाली रै बाजार ।
नाटक नही देख्यो लिखता आख नै उठार’ ।
तो क्यू मारग मे बिसारो माता ईर्या समिति ॥६॥

रात-रात मात थारी बात करै ना ।
प्रात हुया मात बिना काम सरै ना ।
राखै पकी आ रुखाली माता ईर्या समिति ॥७॥

‘भारमल्ल स्वामी नामी तेरापथ मे ।
एक बार चूक दड तेलै रो खमे’ ।
कैसी किन्ही है कडाई माता ईर्या समिति ॥८॥

एक, दो, सौ बार, सहस, लाख जे ।
कोड बार कहू ईर्या माता नै भजो ।
बीदासर मे मोद मनावै ‘तुलसी’ शासणपति ॥९॥

भाषा-समिति सिखावै रे,
विचारो फिर बोलो ।
साचो मारण दिखावै रे,
बोल्या पहली तोलो ॥

ईर्या-समिति रो तो होवै दिन-दिन मे व्यवहार ।
पिए भाषा रो बरतारो तो रात-दिवस इकसार ।
अन्तर-निजरा जोल्यो ॥१॥

मिश्र मृषा भाषा है सावज बन्धै जिण स्यू पाप ।
सत्य और व्यवहार बोलणी आगम रो आलाप ।
साफ दिल अघ धोल्यो ॥२॥

आ दोन्या मे जो भी सावज नही बोलणी भूल ।
जाण बूझकर अपणै पग मे कोण गडोवै शूल ।
फूल कलिया खोलो ॥३॥

मत बोलो अणगमती वाणी कर्कश और कठोर ।
साची कहणी समय देखकर करकै पुरो गौर ।
नही तर चुप होल्यो ॥४॥

लय—शर बाधे कफनवा हो

चतुर्थ प्रवेश]

[१७५]

बिना विचारधा बोलण वालो करलै काम खराब ।
'जय गणिवर पै सन्त जुवारो अपणी खोई आब' ।
वचन विष क्यू घोलो ॥५॥

क्रोध, लोभ, भय, हास्य आदि मे रहै न पूरो फहम ।
चूकै भाषा समिति राखै बेमतलब जो बहम ।
जीवन मत भकभोलो ॥६॥

सयम बढै आपरो पर रो ज्यू बोलो आलोच ।
खरी बात अवसर पर कहता क्यू सूनो सकोच ।
छोड गाला-गोलो ॥७॥

दशवैकालिक, उत्तराध्ययने भाषा रो सुविधान ।
आको शब्द-शब्द री किम्मत राखो पूरो ध्यान ।
क, इत-उत मत डोलो ॥८॥

'ना पुटो वागरे किंचि' मितभाषी रो आदर्श ।
सदा बढावो 'तुलसी' प्रवचन माता रो उत्कर्ष ।
है सजम बहु मोलो ॥९॥

मुनि सयम राता, तीजी तो माता समिति एषणा ।
 जो चाहो माता तो इण री करज्यो सदा गवेषणा ॥
 पहली मा तो सयम सुत नै गमनागमन सिखावै ।
 दूजी भापण, त्यू आ तीजी भोजन विधि बतलावैजी ॥१॥
 पथ्यापथ्य, उचित, अनुचित रो पूरो बेत विचारै ।
 गवेषणा, ग्रह, आस एषणा तीन रूप आ धारैजी ॥२॥
 गवेषणा तो उद्गम उत्पादन रो दोष दिखावै ।
 ग्रहैषणा दश, आस एषणा पाच माडला गावैजी ॥३॥
 मधुकर री ज्यू घर-घर फिर-फिर सन्त गोचरी साधै ।
 शुद्धाशुद्ध विवेक राखकर, माता मन आराधैजी ॥४॥
 प्रासुक, एषणीय परिभोजी सात कर्म गिथिलावै ।
 तद् विपरीत करै दृढ बन्धन, भगवई सूत्र सुणावैजी ॥५॥
 'दो आगल कपडै रै खातिर सयम रतन गमावै ।
 करै न मुनिवर इसी मूरखता श्री भिक्षु फरमावैजी' ॥६॥
 'सह्यो कष्ट प्राणान्त प्राणप्रिय छोगा मात दुलारो ।
 अभ्यागत औषधि नहि लीन्ही, यशोविलास निहारोजी' ॥७॥
 आपद-धर्म कायरा रो पथ, वीर नही अपणावै ।
 भूख, तृषादिक सहै परीषह, हृद हिम्मत दिखलावैजी ॥८॥
 दोय हजार एक की सवत पोष मास बीदाणै ।
 मिलित पचशय सतरै ठाणा 'तुलसी' मोजा माणेजी ॥९॥

लय—म्हारी रस सेलडिया

मुनि जीवन मदा जगाओ, समिति आदान मे ।
निज पल-पल सफल बणाओ, जननी सम्मान मे ॥

तीन्यू मात सिखाई नीति,
चालण,बोलण, भोजन रीति ।
अब वस्त्र, पात्र अपणावो, समिति आदान मे ॥१॥

परिमित वस्त्र-पात्र रहो धारी,
मति लघो मर्यादा गुरा री ।
आगुल आगुल अनुमावो, समिति आदान मे ॥२॥

पडिलेही, पूजी ग्रहो मूको,
दिवस,रात्रि निज नियम म' चूको ।
दुतरफो लाभ कमावो, समिति आदान मे ॥३॥

एक उभय टक पडिलेहण की,
उपधि अखिल जो नन्ही टणकी ।
पडिलेहण मत अलसावो, समिति आदान मे ॥४॥

अण पडिलेह्या राखै जाणी,
मासिक दण्ड जिनेश्वर-बाणी ।
निज आतम सदा बचावो, समिति आदान मे ॥५॥

लय—माहे रमजान मे

कालूराणि निज पर तिन इच्छू,
 कम्बल उभय बीच लखी बिच्छू ।
 कहै वीर-वचन गुण गावो, समिति आदान मे ॥६॥
 पूजण, पडिलेहण, पडिकमणो,
 मूल काम है श्रमणी श्रमणो ।
 मतना थे खलना खावो, समिति आदान मे ॥७॥
 अधिक जाण उपकरण न न्हावो,
 चौकी वाले पर मनि राखो ।
 निज-निज कर्तव्य निभावो, समिति आदान मे ॥८॥
 दोय हजार दोय वत्सर मे,
 पोष मास पुर मोमासर मे ।
 'तुलसी' आनन्द मनावो, समिति आदान मे ॥९॥

राखो परठण-पूजण रो पूरो ध्यान,
 सीखावै माता पाचवी खडी ।
 देखो जैनागम रो विधान,
 दिखावै माता पाचवी खडी ॥

तीजी समिति स्यू भी बढकर पचम समिति बताई ।
 रात-बिरात, मेह-पाणी मे इणनै रोकण री मनाई ॥१॥

आहार-पाणी स्यू भी ज्यादा परठण री जग्या जरूरी ।
 प्रासुक भूमी पहिला देखो, हो चाहै नेडी या दूरी ॥२॥

जयणा स्यू भोजन करता ज्यू अघदल ढीला पाडै ।
 त्यू उत्सर्ग सयत्ना करता मुनिवर कर्म पिछाडै ॥३॥

घृणित समझ उत्सर्ग काम री करो न मन मे ग्लानि ।
 महानिर्जरा, ब्यावच मोटी 'नन्दीषेण' कहाणी ॥४॥

एक घडी दिन थका स्याम का परठण क्षेत्र पलेणो ।
 'किस्या ऊट बैठ्या है' कहकर मन मे नि शक न रहणो ॥५॥

नही नीपजै आत्म-असयम, पलै प्रभु री आणा ।
 टलै सहज मे लोक अवज्ञा, बरतो त्यू सन्त सयाणा ॥६॥

लय—मन्दिर मे काई दूबती फिरै

आवस्सहि, निस्सहि चोविस्था कालो-काले करना ।
 नियम नामहै सारा मोटा प्रतिपल पापा स्यू रहिज्यो डरता ॥७॥
 जो रे धारवा जोग वस्त्र पात्रादिक परठे जाणी ।
 दण्ड निशीथ सूत्र मे आख्यो, वीर प्रभुजी री वाणी ॥८॥
 कालूगणि री सुन्दर शिक्षा सुणी बाल-व्य माही ।
 'तुलसी' पच समिति स्यू समिता रहिज्यो मजग सदा ही ॥९॥

आकणो है सयम रो मोल ।
 मुठी मे मनडै नै राखज्यो ॥
 त्यो अपणी आतमा नै तोल ।
 मुठी मे मनडै नै राखज्यो ॥

ओ मन अगम्य अपरम्पार पारावार है,
 ऊठै सकत्पा-विकल्पा रा ज्वार है ।
 कल्पना री नाना किल्लोल ॥१॥

हवा स्यू भी तेज थारे मनडै री चाल है,
 इण नै जो रोकलें वो हो ज्यावै न्याल है ।
 (पण) मुश्किल मिटावणी है छोल ॥२॥

ओ मन है चचल तुरग बिना बाग रो,
 कूद-फाद रात्यू-दिन राखै ओजागरो ।
 रोको हियै री हिल्लोल ॥३॥

उडतो रह प्रतिपल ओ पखी बेपाख है,
 आख्या बिना ही लेवै दूर-दूर भाक है ।
 पैरा बिना ओ भटकोड ॥४॥

अकुश मे ही मदवै हाथी गी शान है,

अकुश-विहीन करदै मोटो नुकसान है ।

त्य ही ल्यो मन नै टटोल ॥५॥

दोरो हटावगो हे मन म्यु विकार नै,

एक मन नै जीतगो है जीतगो समार नै ।

साचो ओ आगम गे बोल ॥६॥

भौतिक प्रलोभन अनेक भान्त-भान्त रा,

दीखती दुनिया मे एक-एक स्यू है मान्तरा ।

जीवन न जावै यागे डोल ॥७॥

होवै एकाग्र जीव मनो गुप्ति गुप्त हो,

मयम री साधना मे जागतो-सुपुप्त भी ।

वृत्त्या पर करडो कन्ट्रोल ॥८॥

सीखो हमेश मन नै अपगै वश राखणो,

माना रो मान राखो समरम जो चाखणो ।

‘तुलसी’ आ सीख अनमोल ॥९॥

राखज्यो वश मे सदा जबान,
वाणी रो सयम करणै स्यू होवै लाभ महान,
राखज्यो वश मे सदा जबान ॥

वचन रतन मुख कोट कहावै,
होठ कपाट री उपमा पावै ।
राखो जतन सुजाण ॥१॥

बहु बोलै रे पग-पग जोखिम,
बो सुख पावै जो बोलै कम ।
ल्यो हित-शिक्षा मान ॥२॥

बदन बनावट खुद बतलावै,
बोलण रसना एक ही पावै ।
(देखण सुणण) दो आख्या, दो कान ॥३॥

बोलण देखण हारी न्यारी,
क्यो कर बोलै देखण हारी ।
है 'मुनि रो आख्यान' ॥४॥

भगडै री जड आ है बोली,
मिठी खारी पण आ बोली ।
(ओ) माता रो आह्वान ॥५॥

लय—हमारा प्यारा राजस्थान

बोली स्यू हुवै कितना अनरथ,
बोली-बोली मे महाभारत ।
है प्रत्यक्ष प्रमाण ॥६॥

वचन गुप्ति बिन भाषा समिति,
कहण मात्र री समझो सुमति ।
भाख रह्या भगवान ॥७॥

‘निव्वियारत जणायइ वय गुत्ते,
अज्झप्प जोग मुसाहण जुत्ते’ ।
उत्तराध्ययन विधान ॥८॥

‘मोरोण मुणि’ आगम गावै,
मौन अजोग सबर मे आवै ।
‘तुलसी’ है कल्याण ॥९॥

गेको काया री चचलता नै थे श्रमण सती ।
 होसी जोगा पर काबू पाया ही नेडी मुगती ॥
 काया री प्रवृत्ति हरदम चालती रहै है,
 सन्ता । चचलता नै रोकै माता काया-गुपति ॥१॥

काया वश मे करणी बात मामूली नहीं है ।
 पूरी आत्मा मे चाहिजै सयम री शगती ॥२॥

सबसे पहली काया रो निरोध है जरूरी ।
 (अठै) 'ठाणेण मोणेण भाणेण' री जुगती ॥३॥
 मन रै पाप री तो शुद्धि हुवै प्राय मन स्यू ।
 भटकै मोटो दण्ड दिरावै आ काया री गलती ॥४॥

कछवो रहवै जद अपणी इन्द्रया नै सकोच कै ।
 तो फिर पाप स्यालियै रो जोर चलै ना रति ॥५॥
 काया षेर ने तो आछो पीजरै मे राखणो ।
 ओ तो खुल्लो छोडता इ करदै की न की क्षति ॥६॥

मन रो पाप मन ही जाणै बाणी, रो सुणणिया ।
 पण आ काया तो कर देवे है हजार री कती ॥७॥
 'काय गुत्तयायेण मते । जीवे कि जणायई ।
 (गोयम^१) सबर जणायई', आगम री उगती ॥८॥

कानपुर चौमासो सबत दो हजार पनरा ।
 थाने सीख सुणावै 'तुलसी' शासणपति ॥९॥

लय—भूरियै रा काका

मतिवन्त मुणी, सुकुलिणी हो श्रमणी गुरु शिक्षा धारिये ।
पश्चिम रयणी, ऊठ-ऊठ अक्षर अक्षर सम्भारिये ॥

मुनि पच महाव्रत आदरिया,
तजि धण, कण, कचन, परिवर्गिया ।
मनु कचन-गिरिवर कर धरिया ॥१॥

पणवीश भावना पाचानी,
गिणवाई गुरु गणधर ज्ञानी ।
भावो निज-निज कण्ठे ठानी ॥२॥

नव बाड ब्रह्मव्रत नी भाखी,
इक कोट नी ओट अजव राखी ।
समरो निशि-वासर दिल साखी ॥३॥

तेवीस विषय पचेन्द्रिय ना,
बेशयचालीश विकार बना ।
परिहरिये पल-पल शुद्ध मना ॥४॥

हलवै-हलवै मारग हालो,
गाडरवत नीची दृग न्हालो ।
पग-पग धुर समिति सम्भालो ॥५॥

नय—सुणो कान्ताजी धनवन्ता थइ

चतुर्थ प्रवेश]

[१८७]

कटु कर्कश भाषा मति बोलो,
बोलो तो वयण रयण तोलो ।
तो लोक उभय भय नहि डोलो ॥६॥

बयालिय एषण दूषणिया,
तिम पच मण्डला ना भणिया ।
सहु राखो आगुलिया गिणिया ॥७॥

उपयोगे उपधि ग्रहो मूको,
पचमी नी जयणा मति चूको ।
गुप्ति त्रय गुप्त सुमग दूको ॥८॥

है आठू ही प्रवचन माता,
जो रहिस्ये एहनै सुखसाता ।
तो नहि थइस्ये कोई दुखदाता ॥९॥

विधियुक्त उभय टक पडिकमणो,
त्रिण दृष्टिए पडिलेहण करणो ।
है पूजण हेत रजोहरणो ॥१०॥

पडिलहेण, पडिक्कमणो करता,
पचमि गौचरिये सचरता ।
कति बात करो तिम फिर-घिरता ॥११॥

इच्छा मिच्छादिक जे भारी,
कहि दश विष शुद्ध समाचारी ।
आचरिये अहो-निशि अनिवारी ॥१२॥

तेतीशाशातन टालीजै,
असमाधिय नो मद गालीजै ।
सबला सह मूल उखालीजै ॥१३॥

छल-कपट, झूठ मे मति रे फसो,
दिल बाहिर माहि रखो इकसो ।
बिल पैसत पन्नगराज जिसो ॥१४॥

गुरु आणा प्राणाधिक जाणो,
गुरु-दृष्टि निज दृष्टि ठाणो ।
कोई बात मनोगत मति ताणो ॥१५॥

रयणाधिक मुनि नो विनय करो,
अविनय अपलच्छन दूर टरो ।
म'करो ललनाजन रो लफरो ॥१६॥

निज अवगुण क्षण-क्षण सम्भारो,
पर-गुण सह प्रेम परम धारो ।
मन मत्सर टारो परवारो ॥१७॥

गणि-गण म्यू राखो इकतारी,
प्रीतडली पय-साकर वारी ।
तिम उद्धरसे आतम थारी ॥१८॥

गृह मूक्यो मुनि जिह वैरागे,
ग्रही दीक्षा गुरु-कर बड भागे ।
तिम पालण प्रेम रखो सागे ॥१९॥

परिषह थी मन मति कपावो,
सज्जाय भाण प्रतिपल ध्यावो ।
शासण नो महिमा सह गावो ॥२०॥

निन्नाणव पोष महीना मे,
रचि शीखडली स्वर भीणा मे ।
'तुलसी' गणपति दृढ सीना मे ॥२१॥

चतुरधिक पचशय मुनि श्रमणी,
गुरु चरणा मानै मौज घणी ।
सरदारशहर छवि खूब बणी ॥२२॥

श्रावक ! व्रत धारो,

निज जीवन-धन सम्भारो रे, जैनागम रहस्य विचारो रे ।
क्षणिक विषय सुख त्वातिर आतुर, मानव-भव मत हारो रे ॥

अव्रत-नाला बहै दगचाला, रोकण मारग बारो रे ।
आतम रूप तलाव नाव स्यू, करण करम जल न्यारो रे ॥१॥

हिंसा वितथ, अदत्त, विषय-रस, लोभ, क्षोभ करणारो रे ।
निज मन्दिर मे है ऐ तस्कर, खोज मिटावण आरो रे ॥२॥

ईर्ष्या, द्वेष, असूया, मत्सर, भेटण क्लेश करारो रे ।
कलुषित हृदय कलह स्यू दूषित, अपणी वृत्ति सुधारो रे ॥३॥

मुक्ति-महल री पचम पेड़ी, नेड़ी नजर निहारो रे ।
महावीर सन्तान स्थान थे, कायरता न सिकारो रे ॥४॥

निरय, निरय-गति निगम निरोधो, व्यन्तर, असुर विसारो रे ।
ज्योतिषी ऊपर वैमानिक सुर, सीघ्रा डरा डारो रे ॥५॥

धन्य जघन्य समय शिव सम्भव, तीन भवा निस्तारो रे ।
आत्मानन्द अमन्द अपूरव, व्रत-वैभव विस्तारो रे ॥६॥

त्याग नाग नही, सिंह, बाघ नही, माग नही भयवारो रे ।
हृदय-विराग भाग जागरणा, क्यू कापै दिल थारो रे ॥७॥

लय—दुलजी छोडो सो

'चित्त-प्रधान,' 'पूगियो श्रावक,' श्रावक कुल उजियागे रे ।
 'आणान्दादि' उपामक वरगण, मप्पम अग सुप्पागे रे ॥८॥
 'गख पोखली' भगवती सूत्रे, 'मुलमा' नाम चित्तारो रे ।
 'राणी जेलणा' जवग् जयन्ती, ज्यु निज जीवन तागे रे ॥९॥
 भिक्षु-रचित बारह व्रत चौपी, विस्तृत रूप विचारो रे ।
 दृग्-गोचरअथवा श्रुति-गोचर, कग्-कर आत्म उद्धारो रे ॥१०॥
 उगणीसै निन्ताणू वर्ष, चूरू पावम प्यागे रे ।
 प्राणाधिक निज व्रत सम्पत्ति नै 'तुलसी' मदा रुखारो रे ॥११॥

सुरगो शील सभो ।

जग-जीवन रो सिणगार, सब नियमा रो सिरदार ।

शील सभो, ब्रह्मचर्य भजो, निज आतम रो उद्धार ।

चोथो महाव्रत जिन कह्यो, ओ ब्रह्म वृक्ष मन्दार ।

रखवाली जिण री करै, नित एक कोट नव बाड ॥१॥

सिचित समता सलिल स्यू, काई उपचित रहै दिन-रात ।

रक्षित समुचित रूप स्यू, है शिव-सुख फल साक्षात ॥२॥

पचेन्द्रिय वश मे सदा, ह्वै अटल मनोबल और ।

बो ही शील समाचरे, नही पाल सकै कमजोर ॥३॥

बाल ब्रह्मचारी रह्यो, जो आजीवन बिन दाग ।

मानो भुज बल स्यू लियो, बो अथग उदधि रो थाग ॥४॥

दानव, मानव, देवता, काई किन्नर, राक्षस, यक्ष ।

नमै ब्रह्मचारी पगा, है शील-प्रभाव प्रत्यक्ष ॥५॥

सम्पत्ति तरु रो मूल है, सब गुण रो शील अधीश ।

उपमा दशवै अग मे, कही वीर-प्रभु बतीस ॥६॥

लय—बगीची निम्बुवा की

*पालो शील सुधी ,
जीवन सफल बणालो ।
मन मन्दिर उजवालो ॥

ग्रह गणनायक चन्द्र कहावै,
रत्नाकर सागर शोभावै ।
मणिया मणि वैङ्ग्य सुहावै,
तिम सब व्रत मे आलो ॥७॥

प्रमुख मुकुट जिम सब भूषण मे ,
क्षौम-युगल जिम चीवर गण मे ।
वर अरविन्द कमल प्रागण मे ,
त्यू व्रत श्रेष्ठ निहालो ॥८॥

चन्दन मे गौशीर्ष प्रवरतर,
औषधि स्थल उत्तम हिमगिरिवर ।
सीतोदा ज्यो नदिया ठाकर,
त्यू सब व्रत सम्भालो ॥९॥

सागर मे जिम रमण सयभू,
वृक्षा बीच सुदर्शन-जम्बू ।
मुनिवर मे तीर्थकर शम्भू,
है ओ नियम निरालो ॥१०॥

मण्डल गिरि मे प्रवर रुचकवर,
कुञ्जर मे ऐरावत कुञ्जर ।
पशुवा मे मृगपति प्राक्रमधर,
त्यू ओ अतुल उजालो ॥११॥

*लय—बोलो जय भिक्षु

चतुर्थ प्रवेश]

[१९३]

वेगूदेव सुपर्ण कुवर मे,
ब्रह्मलोक देवालय भर मे।
स्थिति उत्कृष्ट अनुत्तर सुर मे,
त्यू अनुपम छवि वालो ॥१२॥

नाग कुमारा बिच धरणेन्दर,
परिषद् सभा सुधर्मा सुन्दर।
अभयदान सब दान पुरन्दर,
तिम सब गुण भूपालो ॥१३॥

प्रथम सहनन, अरु सस्थान,
ध्यान घुरघर शुक्ल ध्यान।
ज्ञान गुरुतर केवलज्ञान,
तिम गुण गरिमावालो ॥१४॥

जिम कृमि रागे रजित कम्बल,
लेख्या शुक्ल सिद्धि पद सम्बल।
क्षेत्र विदेह क्षेत्र मे अक्वल,
तिम व्रत राज विशालो ॥१५॥

मन्दर गिरि, गिरि मे वन नन्दन,
नृप मे जिम चक्री अभिनन्दन।
रथिका आरोहक महास्यदन,
ब्रह्मचर्य तिम भालो ॥१६॥

इस बत्तीस वस्तु स्यू उपमित,
गुण है इण रा अमित'रु अगणित।
पुरुषोत्तम अनुशीलित वरणित,
अटल पथ अपनालो ॥१७॥

'ज्वलज्ज्वाल माला कुला, हुई बन्ही जो जलरूप ।
 प्रकट अतुल फल देखन्यो काड 'सीता'-शील स्वरूप ॥१८॥
 'भचभेड्या हाथी भिड्या, तो ही नहीं उघड्या जो द्वार ।
 मनी मुभद्रा खोलिया' ग्रहो शील प्रभाव अपार ॥१९॥
 'राजीमती मनी महामती, इक ब्रह्मचर्य रै पारा ।
 पडतो गर्यो पलक मे, निज देवर समयम-प्राण' ॥२०॥
 'श्रीमल्ली' 'नेमीश्वर' युगवर्तक, युग अरिहन्त ।
 बाल ब्रह्मचारी पणै, लियो भव-मागर रो अन्त ॥२१॥
 'भारीमल्ल' 'ऋषिरायजी', 'जय' 'मघ' 'माणिक' गुरु 'डाल' ।
 बाल ब्रह्मचारी तप्या, तिम 'कालू' भाल विशाल ॥२२॥
 'विजयकुवर विजया सती, कियो कारज वञ्च कठोर ।
 अविचल शील समाचरयो, रह पति-पत्नी इक ठोर' ॥२३॥
 पीठ दिखावै इण तरह, जो प्राप्त भोग नै खास ।
 चचल चित अविचल करै, तसु लाख-लाख स्याबास ॥२४॥
 चौके मृगसर मास मे, काइ वर्धमान मुनि सघ ।
 'तुलसीगणि' राजाण मे, खिल्यो ब्रह्मचर्य रो रग ॥२५॥

*लय—बगीची निम्बुदा की

चतुर्थ प्रवेश]

१२५

बडै भाग स्यू मिल्यो श्रावका थानै दिव्य प्रकाश है ।
 करणी करणी है सो करल्यो, लाग रह्यो चोमास है ।
 अवसर आछो चोमासै रो, धरम धान धन निपज्यावै ।
 जावै देशावर धन खातर, धान उगावण हल बाहवै ।
 धरम लाभ अब खूब कमावो, सन्ता रो सहवास है ॥१॥
 जैन-मुनि रो आज पछै है, चार महिना थिरवासो ।
 कही साधु कही रहे साधव्या, कही गुरा रो चोमासो ।
 वर उपदेश भडी स्यू हरसी, भवि-चातक मन प्यास है ॥२॥
 सुणो नित्य व्याख्यान ध्यान स्यू, भावो पावन भावना ।
 और करो निरवद्य दलाली, जो सन्ता रै चावना ।
 कल्पाकल्प, अशुद्ध-शुद्ध रो, ध्यान राखणो खास है ॥३॥
 जाण देव, गुरु, धरम मरम, नौ तत्त्वा री पहचारण करो ।
 सीखो तत्त्व-प्रवेश, दीपिका, सही अर्थ रो भान करो ।
 श्रद्धा ज्यू मजबूत बणै, आवश्यक ज्ञानाभ्यास है ॥४॥
 धारो चरचा, बोल-थोकडा, गहन ज्ञान है भावा रो ।
 करो सुजन सकोच मेट कर समाधान शकावा रो ।
 आखिर तो आचारज री बाणी पर दृढ विश्वास है ॥५॥

सय—बाजरै री रोटी पोई

रात्री-भोजन बर्सा ऋतु मे, हर दृष्टि स्य त्याज्य है ।
ब्रह्मचर्य और त्याग मचित ग, धर्म अग अविभाज्य है ।
छोडो वाङ्म-कोप, मिनेमा, रमो न चोपड तास है ॥६॥

प्रात साय करो प्रार्थना, बनणा पाच पदा री थे ।
दरशण, सामायक मत भूलो, राखो रीत सदा री थे ।
बडी तपस्या और मडावो, बारी रा उपवास है ॥७॥

नवकरवाली आतम-चिन्तन सखर अणुव्रत-साधना ।
करो ध्यान, स्वाध्याय, चितारो चौबीसी आराधना ।
भैक्षव शासन खिल्यो कानपुर, 'तुलसी' दिल सोल्लास है ॥८॥

नही कीजै रे ।
 नही कीजै रे निशि-भोजन भविया ॥
 गुरु सीखविया,
 थिर मत ठविया ॥

निशि-भोजन रो पातक मोटो ।
 तोटो बिहु पख अनुभविया ॥१॥
 जबर जलोदर जूका सेती ।
 कुष्ठ हुवै कौलिक चबिया ॥२॥

माखी भोजन सह चाखीजै ।
 जी घबराहट हुवै बमिया ॥३॥
 कटक, वृश्चिक केश क्लेश कर ।
 व्याधि विविध निशि भोगविया ॥४॥

प्राणान्ते पिण रात्रि न जीमै ।
 जैनी साधु साधविया ॥५॥
 काक, कपोत, पोत, चटकादिक ।
 नही चुगै रवि आथविया ॥६॥

राक्षस-भोजन कह्यो रे रात गे ।
ओछी उपमा कही कविया ॥७॥

मानव हो गजनी मे रजे ।
कहो नी कुण गुण मभविया ॥८॥

‘छाछ मथ्यो अहि-विष निशि खायो ।
चिहु जन मूवा याद किया’ ॥९॥

‘ऊदर नो आचार आरोग्यो’ ।
निशि-भोजन अघ पल्लविया ॥१०॥

‘वनमाला पति-पल्लव मूक्यो ।
निशि-भोजन री गपथ लिया’ ॥११॥

अर्घायु री सहज तपस्या ।
निशि-भोजन व्रत साचविया ॥१२॥

‘केशव कुवर तराी पर लहिये ।
उभय भवे अनुपम छविया ॥१३॥

कष्ट पड्या पिण कायम रहिये ।
बहिये जिन मग पग छविया ॥१४॥

‘तुलसी गणपति’ कालूगढ मे ।
निशि-भोजन अघ वर्णविया ॥१५॥

तप तपो भवि भाव स्यू, निज आत्म उजारी रे ।
 कर्म गहन बन छेदणो, तपस्या तीखी कुहाडी रे ॥
 नेह निवारो देह रो, दुख गेह बिचारी रे ।
 छेह देवै छिन-पलक मे, आ है पक्की धुत्तारी रे ॥१॥
 असन, वसन, भूषण भला, मन मोहक जाणी रे ।
 तिण करी नित्य पोखो तुमै, तो पिरा अन्त विराणी रे ॥२॥
 'अग-भग लख पलक मे, भारी तपस्या तिण धारी रे ।
 चोथो चक्री शिव लही, निज आतम तारी रे' ॥३॥
 'चेतन तन भिन जाण कै, भीषण तप स्यू तन तायो रे ।
 धन्य-धन्य धन्लो मुनि, प्रभु आप सरायो रे' ॥४॥
 'भद्रा सुत शालिभद्रजी, कोमल अग सुरगो रे ।
 श्रेणिक-नृप उत्सग मे, जाण्यो अजब अङ्गो रे' ॥५॥
 प्रबल पुण्य रो पोरसो, सम सागर भूली रे ।
 मास-मास तप आदरघो, तू किण बाग री मूली रे ॥६॥
 गौतम गणधर गुणनिलो, करतो कठिन समस्या रे ।
 जाणै दूजी देही महावीर री, करडी कीन्ही तपस्या रे ॥७॥

लय—स्वयमेव

देई-देई इण देह नै, प्रतिदिन प्रेम स्यू पालो रे ।
 इक दिन पाछो मागता, ततखिण काढै दिवालो रे ॥८॥
 कितो इक थारो जीवणो, कुणसी पाई प्रभुताई रे ।
 मटण-गलण तनु नाहरो, क्यू करो कोरी टसकाई रे ॥९॥
 निज तनु वल नै तोल नै, आत्म-शक्ति सभारो रे ।
 'तुलसी गणिवर' सीखडी मुण, भविया दिल धागे रे ॥१०॥

कवित्त

पहिलो दु ख भूख, मुख थूक भी चलावै ।
 भावै होवत उवाक, ऐसी वाकवी तपस्या मे ।
 जीव घबरावै, धाम-धाम प्रसरावै ।
 जब आन्त भी तपावै, थावै बात भी तपस्या मे ।
 नीद कम आवै, दूद सारी ही सुखावै ।
 अग रग पलटावै, पडै कष्ट जो तपस्या ।
 तो भी मन माझी राखै जोरदार वाजी ।
 ता ते ताजी वीर वृत्ति को नमूनो है तपस्या मे ।

पर्व पञ्चषण रो,

सर्व पर्व अधिराज पर्व जिनराज बतायो रे ।

करत-करत अभिलाष मास बारै स्यू आयो रे ॥

बरस पुरुष रै अष्ट मास, अष्टाग समान सुहायो रे ।

च्यार मास पोसाग, पञ्चषण भूषण भायो रे ॥१॥

सवत्सर दिन जीवन जिण रो, जिन-दर्शन मे गायो रे ।

जन-जन रै मन गगन, धर्म रो घन उमढायो रे ॥२॥

बिन आगार सकल मुनि श्रमणी वर उपवास सभायो रे ।

नान्हा मोटा श्राद्ध-श्राविका तिम दरसायो रे ॥३॥

सदिया, भदिया, कदिया श्रावक, आज ममस्त मिलायो रे ।

जैन अजैन परीक्षा, रो वर समय कहायो रे ॥४॥

पौषध अष्ट प्रहरिया अथवा, च्यार प्रहरिया प्रायो रे ।

यथाशक्ति सहु करसी नही, पाछै पिछ्छतायो रे ॥५॥

सावद काम तमाम त्याग, शुभ समय पथ सरसायो रे ।

अन्तर भाव खमाव हृदय रो, द्वेष मिटायो रे ॥६॥

गगाशहर' धर्म री गगा, घर-घर हर्ष सवायो रे ।

'तुलसीगणी' ससध पञ्चषण पर्व मनायो रे ॥७॥

लय—पनजी मूढे बोल

आयो जैन जगत रो प्रमुख पर्व सवत्सरी रे ।
 छायो सकल सघ मे रग धर्म जड हरी-भरी रे ॥
 पर्यूषण पर नाम कहायो,
 भाद्रव मासहि सदा सुहायो ।
 नियमित धवल पक्ष निरमायो,
 प्राय पचमी रो दिन पायो ॥
 आयो जैन जगत रो प्रमुख पर्व सवत्सरी रे ॥
 लाखा लोग आज उपवासी,
 पौषव पचखै वा पचखासी ।
 रात्रि-दिन छित-छित जिन ध्यासी,
 पल-पल सफल बितासी आज समाज घरोघरी रे ॥१॥
 पुर-पुर सघ अमग मिलासी,
 मज्जुल मण्डप सो खिलज्यासी ।
 श्रमण-सती व्याख्यान सुणासी,
 अर्हत मत री आज बजासी मधुरी बासरी रे ॥२॥
 सदिया, भदिया भेला थासी,
 कदिया पिए करतूत दिखासी ।
 गुरु चरणा निज अग भुकासी,
 हिलमिल धार्मिक ज्योति जगासी देश दिशावरी रे ॥३॥

लय—मूदही

चतुर्थ प्रवेश]

[२०३]

साय शुभ प्रतिक्रमण करासी,
जीवा जोनी लख चौरासी ।
हार्दिक भावै खमत खमासी,
तज मन मच्छरता बणज्यासी आज अमच्छरी रे ॥४॥

जीवन सिहालोक लहासी,
वार्षिक विवरण हृदय बतासी ।
निज-निज खलता खोड मिटासी,
'तुलसी गणपति' डूगरगढ मे छई पावस भरी रे ॥५॥

हिल मिल श्रावक सारा जी ।

खमो, खमावो और बहावो मैत्री-धारा जी ॥

खमत-खामणा छव अक्षर मे अर्थ अनोखो भाको ।
पर नो खमण, नमण तिम निजनो, भ्रमण मिटै उभया को ॥१॥

दिल गूढी सूडी लग ऊडी, रुडी मुडी न्हाखो ।
जग जश डूडी सुधरे बोडी, सिकरी हुडी भाको ॥२॥

भूला भूतकाल री भूलो, आगामी अनुकूलो ।
थारी-म्हारी, हलकी-भारी मत कोई भगडँ भूलो ॥३॥

कान्दा छूत उतारघा स्यू तो मूल हाथ नही आवै ।
होय सरल चित्त सदगुरु आगै गुणिजन गुनह खमावै ॥४॥

जैनधर्म भैक्षवगण एकी देखी दृग मति मूदो ।
इक दिन जाणो ऊठ अचानक दुर्गति रो पथ रूधो ॥५॥

‘शखपोखली’ ‘मर्जुनमाली’ ‘चण्डकोशियो’ चण्डो ।
अन्त शान्त दृष्टान्त, विपक्षे नहि ‘अभीच’ दिल ठण्डो ॥६॥

चूरु शहर हुवो इक रगो निन्नाणव चउमासै ।
आश्विन मासे ‘तुलसी गणिवर’ अवसर सीख प्रकाशै ॥७॥

लय—बाबा बेग पघारोजी

अतुर्थ प्रवेश]

[२०५]

देखो दुनिया भोली जी ।

फाल्गुन मासे धूल धमासे खेलै होली जी ।

व्यर्थ विलास हास मे खोवै उज्ज्वल खोली जी ॥

स्याणा-स्याणा माणस बाजै, बाता बडी बनावै ।

होली छारेली दिन सारो, शिष्टाचार गणावै ॥१॥

डफ-सगत स्यू भलो आदमी, पिण डफोल कहिवावै ।

तो बारी कुण सी गति डफ नै, खन्धा शीश चढावै ॥२॥

कालो मूढो, कर पग लीला, मभ रासभ असवारी ।

शीश सुरग सेहरो बाधै, वाह-वाह अक्कल मारी ॥३॥

पाणी ढोलै रग भकोलै, डोलै घर-घर बारै ।

मुख अश्लील भीलवत बोलै, मेली शर्म किनारै ॥४॥

खुल्लै माथै भस्म सघातै, हाथे भालै भोली ।

स्यामी बण-बण स्यान गमावै, ल्यावै सरखी टोली ॥५॥

जीवित मरद बणै केई मुरदा, सीढी माहे सोवै ।

करै खाधिया रामनाम सत, आख्या भर-भर रोवै ॥६॥

अग बिगाडे, रग बिगाडे, ढग बिगाडे सारो ।

असन बिगाडे, वसन बिगाडे, है अज्ञान प्रचारो ॥७॥

लघु—बाबा ब्रह्म पधारोजी

भूषण तज बहू सोला साभै, बिरमोल्या री माला ।
 चान्द मूरज गोबर र जोवो मोह कर्म र चाला ॥८॥
 कुग जाणै हे कुग ही होली, मगला मिल मगलावै ।
 अगाग म्यू पापड मेकै मगलाचार मनावै ॥९॥
 मय्य देव अरु धर्मागधक, जिन दर्शन पूजारी ।
 बिना मद्य मनवाला हो हो म'करो जीवन स्वारी ॥१०॥
 पाप प्रथा नै त्याग प्रबुध जन, निज कर्तव्य निहारै ।
 ऐके फाल्गुन 'तुलसी गणपति', जन्मभूमि नै तारै ॥११॥

अक्षय तीज मनावो ।
 सवत्सर री घोर तपस्या, आदिम जिन गुण गावो ॥
 सभी मिल अक्षय तीज मनावो ॥
 नाभिराज मरुदेवा नन्दन,
 नाम ऋषभ सब जग अभिनन्दन ।
 दम्भ दुरित दाह-ज्वर चन्दन, चित्त वृत्ति मे लावो ॥१॥
 छोड राज, पुर, परिजन, न्याति,
 मत्त मतग, तुरग, पदाति ।
 च्यार हजार शिष्य प्रभु-साथी, गावो चरण बघावो ॥२॥
 भिक्षा लेण-देण विधि कोई,
 नही जाएँ कोई नही जोई ।
 घुर भिक्षाचर बण्या आप ही, अमर भाव अपणावो ॥३॥
 मणि माणिक री भेट चढावै,
 भर-भर थाल सोनैया ल्यावै ।
 असवारी रा अश्व सभा कहै, प्रभुवर नै पघरावो ॥४॥
 भाग्य भले बाबाजी आवै,
 हिलमिल सगला शोर मचावै ।
 पिण नही भोज्य-वस्तु, प्रभु भूखा फेरी सदा लगावो ॥५॥

ज्ञय—असली आजादी अपनावो

चेला रा दिलडा कुमलाग्या,
भूखा प्यामा गेलै लाग्या ।
बज्र हृदय बावै री दृढता, मेरू तुल्य बतावो ॥६॥

श्रीश्रेयास कुमार भरोखे,
बैठ्यो निज स्वप्नार्थ विलोके ।
इ अवसर पर प्रभुवर आया, मोको अबै मिलावो ॥७॥

भरघा पडघा है इक्षु-रस घट,
उतर घाम स्यू घामै भटपट ।
बाबो माडी बूक, प्रपोतो लियो दान रो लावो ॥८॥

बरसी तप महिमा महकावै,
दाता सुजश ध्वजा लहरावै ।
'तुलसी' अक्षय तीज रीझ सुर, पच दिव्य प्रगटावो ॥९॥

अक्षय तृतीया दिन आदीश्वर कीन्हो उत्तम पारणो ।
 रस सेलडिया स्यू -पोतो श्रेयास कुवर उद्धारणो ॥
 गृह, समाज और राजनीति तज, धर्म नीति पथ ध्यावै ।
 बारह मास री विकट तपस्या, सुण मन विस्मय पावै जी ॥१॥
 भिक्षा-विधि अनभिज्ञ सकल जन, नही भोजन बहिरावै ।
 हीरा, माणक, मूगा, मोती, नीलम थाल सभावै जी ॥२॥
 वर मद भरत मतग, तुरगम, ताम जाम कढवावै ।
 कन्या घन्या घाम थक्या सहु, नही प्रभु नजर टिकावै जी ॥३॥
 चेला च्यार हजार भूख स्यू, मन ही मन अकुलावै ।
 बाबोजी तो मूल न बोलै, बार-बार बतलावै जी ॥४॥
 लाग्या पेट भरण रै गेलै, कुण वानै समभावै ।
 कन्द मूल फल भोगी जोगी अलग-अलग हो ज्यावै जी ॥५॥
 हस्तिनागपुर जगम सुरगिरि, पौत्र स्वप्न पुरावै ।
 दान धर्म महिमा महकाइ, पच दिव्य प्रगटावै जी ॥६॥
 पा केवल निर्वाण प्रथम, मरुदेवा मात पुगावै ।
 करो प्रणाम समन प्रभु चरणा 'तुलसी' शीश झुकावै जी ॥७॥

लय—म्हारी रस सेलडिया

है सब धर्मा मे प्रमुख रूप स्यू, दान-धर्म रो स्थान ।
पर दान-धर्म रो लाभ कमाणो, नही कोई है आसान ॥

आ अपणै बस री बात नही,
है औरा रै भी हाथ नही ।
हो दाता, पात्र' र शुद्ध वस्तु रो समुचित रूप मिलान ॥१॥

देणै वाला री कमी नही,
लेणै वाला स्यू जमी ढही ।
पर सही रूप लेणै देणै वाला री के पहिचान ॥२॥

जो पूर्ण परम सयमधारी,
बाह्याभ्यन्तर ममता मारी ।
अधिकारी बै मुनि पात्र दान रा, निरुपम दया निधान ॥३॥

जीवन निर्वाह मात्र भिक्षा,
लै सचय री नही कही शिक्षा ।
दीक्षा दिन स्यू उपकारी, करता रहै उपकार महान ॥४॥

है चर्या सात्विक माधुकरी,
बन भार भूत नही रहै घडी ।
नित हरी भरी दिल कोमल कलिया, शान्त निराली शान ॥५॥

लय—पीर-पीर क्या करता

नि स्वार्थ निज वस्तु देवै,
आरम्भ किया मुनि नही लेवै ।
बै शुद्ध दान दाता कर लेवै, जीवन रो उत्थान ॥६॥

शुद्ध दान हेतु है मुगति रो,
जो अशुद्ध हेतु है दुर्गति रो ।
'तुलसी' बो भवदधि तरसी करसी जो सच्ची श्रद्धान ॥७॥

प्रशस्ति

श्री कालू-गुरु-वचनामृत उपदेश जो,
मै पद्याकित करघो स्मरघो जुग-पाछलो ।
'श्रीकालू उपदेश वाटिका' वेष जो,
प्रस्तुत चाहै सुणो, सुणाओ, बाचल्यो ॥

बड बन्धव चम्पक मुनिवर री खास जो,
रही प्रेरणा प्रथम-प्रथम इए काम मे ।
'नव नव राग, गीतिका सरल सुवास जो,
आचारज-कृति ओपै शासण-धाम मे' ॥

सम्बत एक^१ लाडनू फागण मास जो,
सारा पहली परमेष्ठी-पचक रच्यो ।
समै समै फिर चलतो चल्यो प्रयास जो,
सो 'उपदेश वाटिका' रो ढाचो जच्यो ॥

पर प्राचीन पद्धती रै अनुसार जो,
भाषा बणी मूग चावल री खीचडी ।
वापिस देख्या एक-एक कर द्वार जो,
तो अखरी बोली मिश्रित बैठी खडी ॥

लय—प्रभुवर आवी बेला न्यारे आवशे

१. सम्बत् २००१

पुनरपि परिमार्जन रो मन सकल्प जो,
पर देशाटन, विविध कार्य री व्यस्तता ।
इण रै कारण समय मिल्यो अत्यल्प जो,
सघ सारणा सभी सभाई स्वस्थता ॥

‘श्रीकालू उपदेश वाटिका’ सघ जो,
केवल राजस्थानी भाषा मे बण्यो ।
हिन्दी भाषा मे भी पृथक प्रबन्ध जो,
सार्वजनिक सन्देश-भवन तुलसी चिण्यो ॥

मगल द्वार, मनोहर चार प्रवेश जो,
विविध रागण्या सखर, सरस वर ढाल मे ।
यादगार गुरुवर री रहै हमेश जो,
गाता सुणता सुखकर सोहरी चाल मे ॥

दो हजार पन्द्रह री सम्बत ऐष जो,
भाद्रव सुद छठ गुरु स्वर्गारोहण तिथि ।
‘तुलसी’ तन मन परमोल्लास विशेष जो,
सोलह सती, विनीत सन्त षड्विंशति ॥

परिशिष्ट १

सांकेतिक उदाहरण

: १ :

भीलपुत्र

एक भीलपुत्र मुल से अरण्य मे रहता था । खेती-बाड़ी करता व भेड-बकरियो के पालन-पोषण से अपना जीवन व्यतीत करता । एक दिन राजा वक्र गति के घोडो से प्रेरित हुआ, जगल मे भटकता हुआ इसी भीलपुत्र के पास पहुच गया । राजा प्यास से व्याकुल व यत्रान से चूर-चूर हो रहा था । सारे साथी पीछे रह गए व इधर-उधर भटक गए । ज्यो ही यह भील नजर पडा, उसे धीरज बधा । किन्तु एक दूसरे की भाषा दोनो ही नही समझते थे । सकेतो के आधार पर कुछ बातचीत हुई और राजा ने पानी पिलाने का कहा । भील ने अपने ही जैसा मनुष्य समझकर उसकी सेवा करना अपना कतव्य समझा । ठण्डा पानी, मीठी छाछ व रूखी रोटी राजा के समक्ष उपस्थित की । राजा कुछ आश्वस्त हुआ । छाछ व पानी पिया । रोटी खाई । उसे वह छाछ, पानी व रोटी राजप्रसादो के मनोज्ञ भोजनो से भी अधिक स्वादिष्ट लगे । राजा ने भील का बहुत बडा उपकार माना । उसने सोचा, यदि इस समय यह न मिलता तो न मालूम मेरे प्राण पखेरू कहा होते ? घण्टे, दो घण्टे विश्राम करने के अनन्तर राजा चलने को उद्यत हुआ । किस मार्ग से जाए यह भी उसके सामने समस्या थी । राजा ने भीलपुत्र को साथ लिया । अपने नगर ले गया । वहा उसे बहुत ही आनन्दपूर्वक रखा गया । उत्तम प्रकार के भोजन, महीन, हल्के व सुन्दर वस्त्र, रमणीय मकान, सेवा के लिए दसो-बीसो दास-दासी आदि की भीलपुत्र के लिए राजा ने व्यवस्था कर दी ।

दिन, महीने व ऋतुएं बीतती गईं । शीत से ग्रीष्म व ग्रीष्म से वर्षा ऋतु आ गई । आकाश मे काले-काले बादल, चमकती हुई बिजली व गरजते हुए मेघ को देखकर उसे अपने खेत व घर की याद हो आई । उसे लगा, यदि इस समय खेत न पहुचा तो बारह महीने कैसे बीतेंगे ? दौडता हुआ राजा के पास आया और अनुमति लेकर अपने घर की ओर चल दिया । बहुत दिनो बाद उसके पारिवारिक, सगे सम्बन्धी व मित्र-दोस्त मिले थे । बड़ी खुशी हुई । सबके लिए वह स्वयं जिज्ञासा का विषय बन गया । सारे ही पूछने लगे—कहा गया था ? क्या देखा ? क्या खाया ? कैसे रहा ? कौन मिले ? किन्तु वह तो एक भी उत्तर न दे सका । वह केवल इतना ही कह सका—अच्छा था, आनन्द था, पर वह उस अनुभूति को अपने शब्दो मे बाध कर व्यक्त न कर सका । लोग पूछते ही रहे और वह सकेतो से बताता भी रहा । परिणाम कुछ भी न निकला ।

रोहिण्य

इतिहास प्रसिद्ध राजगृह नगर उदयगिरि, विपुलगिरि, रत्नगिरि, स्वर्णगिरि, व वैभारगिरि आदि पाच पर्वतो से परिवेष्टित था। इन पर्वतो पर भगवान् श्री महावीर के व अन्य तीर्थंकरो के अनेकानेक श्रमणो ने उत्कट तपस्याए की और केवलज्ञान प्राप्त किया। वैभारगिरि पर्वत की गुफाए अपने आप मे जहा घोरतपस्वी श्री शालिभद्र और घन्ता जैसे श्रमणो की स्मृति सजोए हुए है, वहा रोहिण्यो जैसे दुर्ज्ये तस्कर की भी। ढाई हजार वर्ष पूर्व इसी गुफा मे लोहखुरो नामक तस्कर अपनी रोहिणी पत्नी और रोहिण्य पुत्र के साथ आनन्दपूर्वक रहता था। वह क्रूर-कर्मी और अत्यन्त निर्दय था। मगध देश के अनेको सुप्रसिद्ध सेठो के धन और प्राण उसने लूटे थे। उसके नाम मात्र से जनता कापती थी। धर्म व धर्मगुरुओ का वह द्रोही था। पुनर्जन्म, स्वर्ग, नरक आदि मे उसका तनिक भी विश्वास न था। खान-पान, लूट-खसोट और ऐश्वर्य-भुक्ति को ही वह अपना प्रमुख काम समझता था। महीने व वर्ष बीतते गए और इस प्रकार वह लोहखुरो एक दिन जीवन के अन्तिम छोर तक पहुच गया। मरते समय रोहिण्यो को शिक्षा देते हुए उसने कहा—पुत्र ! तू कुलगत रीति के सचालन मे बडा दक्ष है, इसका मुझे हर्ष है। किन्तु आज मैं एक बात विशेष रूप से तुझे कहना चाहता हूँ और उसका जीवन भर ध्यान रखना है। तू जानता है, राजगृह मे आजकल महावीरजी नामक एक व्यक्ति बहुत प्रसिद्ध है। राजा श्रेणिक भी उसके पास जाता है। और भी लाखो व्यक्ति उसके पास जाते है और उसे भगवान् कहकर पुकारते हैं। किन्तु वस्तुतः वह बडा ठग है, इन्द्रजालिक है। तू कभी भी उसके पास मत जाना, उसको मत देखना और न उसकी वाणी ही सुनना। यदि एक बार भी उसके पास चला जाएगा, वह तुझे अपने चक्कर मे फसा लेगा और फिर वहा से तेरा छुटकारा नही हो पायेगा। रोहिण्यो ने पिता के आदेश को श्रद्धापूर्वक स्वीकार किया और किसी भी परिस्थिति मे उल्लघन न होगा, ऐसा विश्वास दिया।

×

×

×

राजगृह नगर मे सर्वत्र हाहाकार मच गया। बड़े-बड़े सेठ भयाकुल हो गए। नाना प्रकार के राजकीय सहयोग से भी चोर नियन्त्रण मे नही आ रहा था। मगध-

सम्राट् श्रेणिक महामात्य अमयकुमार, नगररक्षक, प्रहरी व नागरिक इस तस्कर में हार खा चुके थे। तस्कर रोहिण्य के पास गगनगामिनी पादुकाए व बहुरूपिणी विद्या थी, जिससे वह कभी पकड़ा भी जाता तो भाग निकलता। बहुत बार नगर-रक्षक व प्रहरियों को वह ललकारता भी—यह रहा मैं तस्कर रोहिण्य। मुझे क्यों नहीं पकड़ते? किन्तु ज्यों ही उसे पकड़ने के लिए प्रहरी आगे बढ़ते रूप बदलकर आकाश-मार्ग में वह कहाँ का कहाँ ही चला जाता। वह कर्म में बड़ा चतुर व सावधान था।

ब्रह्ममुहूर्त में एक दिन वह किसी घनाढ्य सेठ की तिजोरी तोड़ने का उपक्रम कर रहा था। अकस्मात् लोगो को पता चल गया। चारों ओर से शोर मच गया, और सैकड़ों आदमी उसे पकड़ने के लिए एकत्रित हो गए। रोहिण्य ने जब शोरगुल सुना, शीघ्र ही दीवार को फादता हुआ भाग निकला। वह बाल-बाल बच तो गया किन्तु अपनी गगनगामिनी पादुकाए जल्दबाजी में वहीं भूल गया। बहुत दूर जाने पर उसे उनका स्मरण हुआ तो वह बहुत दुःखित हुआ, किन्तु वापस जाकर पादुका ले आने का खतरा मोल लेना नहीं चाहता था। चोरी में असफलता और पादुका खो जाने से उसका दिल भुभुलाहट से भर गया। ऐसा दिन उसने अपने जीवन में पहली बार ही देखा था। वह भागा जा रहा था और प्राण बचाने का प्रयत्न कर रहा था। सयोगवश जिस मार्ग से वह दौड़ा जा रहा था उसक पास ही समवसरण में भगवान् श्री महावीर देशना (प्रवचन) कर रहे थे। रोहिण्य को जब यह अनुभव हुआ, उसे अपने पिता की अन्तिम शिक्षा का स्मरण हो आया। वह उसका उल्लघन करना नहीं चाहता था, अतः उसने दोनों कानों में जोर से अंगुलिया डाल ली। कहीं एक शब्द भी भगवान् श्री महावीर का उसके कान में न पड़ जाए। दस-बीस कदम चला होगा, एक तीखा शूल उसके पैर में चुभ गया। वह बड़ी दुविधा में फस गया। यदि शूल निकालने के लिए हाथ का प्रयोग करता है तो महावीर के शब्द उसके कानों में टकराते हैं, जिन्हें वह किसी भी परिस्थिति में सुनना नहीं चाहता। यदि हाथ कानों में ही डाले रहता है तो शूल के कारण एक कदम भी चल नहीं सकता। लोग उसे पकड़ने के लिए पीछा कर रहे थे। बड़े असमजस में वह अपने आपको पा रहा था। आखिर पकड़े जाने के भय से शूल निकालने के लिए कानों से उगली हटाने का मार्ग ही उसने चुना। उसने सोचा, एक क्षण लगेगा, शूल निकाल लूंगा और तुरन्त दौड़ जाऊंगा। पिता की शिक्षा का भी उल्लघन नहीं होगा और सम्मुखीन कष्ट से भी बच जाऊंगा। किन्तु ज्यों ही उसने हाथ हटाया, भगवान् श्री महावीर की यह वाणी उसके कानों में टकराई।

अनिमिस नयणा मणकज्ज साहणा पुप्फ दारुण अमिलाणा

चउरगुलेण भूम न छिवति सुरा जिणाविति ॥१॥

देवता अनिमिष होते हैं। मन के चिन्तन मात्र से उनके कार्य सिद्ध हो जाते हैं। गले में पहनी हुई माला कभी कुम्हलाती नहीं और वे भूमि से चार अंगुल ऊँचे

रोहिण्य]

[२१६]

आकाश में अधर रहते हैं ।

शूल निकालते ही रोहिंगेय उसी प्रकार कान बन्द कर दौड़ा । किन्तु मन में बहुत बड़ी ग्लानि हो रही थी । जीवन भर पिता की जिस अन्तिम शिक्षा का अक्षरशः पालन किया, आज उसका उल्लंघन हो गया । दौड़ता जाता है और भगवान् महावीर का जो एक वाक्य उसके कानों में पड़ गया, उसे भूलने का प्रयत्न करता जाता है । किन्तु भूलने का प्रयत्न करने से तो वह वाक्य अधिक याद होता गया । धीरे-धीरे वह पक्ष उसके सस्कारगत-सा हो गया ।

तस्कर रोहिंगेय का आतंक दिन प्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा था । सारा ही शहर उससे उत्पीड़ित था । आज तक के किए गए सारे प्रयत्न बेकार गए । जनता ऊब गई । एक दिन शहर के प्रमुख-प्रमुख व्यक्ति राज्यसभा में उपस्थित हुए । उनके चेहरो से विषाद और भय झलक रहा था । महाराज श्रेणिक से खिन्नता भरे शब्दों में उन्होंने प्रार्थना की — राजगृह नगर छोड़कर अन्यत्र कहीं चले जाने का अब हम सबने निर्णय कर लिया है । इतने दिन हम इस प्रतीक्षा में थे, तस्कर के आतंक से आप हमें बचा लेंगे, किन्तु सखेद कहना पड़ता है, ऐसा नहीं हुआ । तस्कर का आतंक तो बढ़ता ही गया है । बहुत सारे बड़े-बड़े रईस भिखारी बन गए हैं और बचे-खुचे थोड़े दिनों में और बन जाएंगे । हमें लगता है, तस्कर को मनचाहा करने की यहा पूर्ण स्वतन्त्रता है, अतः हमें यहा से चले जाना चाहिए ।

सम्भ्रान्त नागरिकों के दुःख भरे निवेदन से महाराज श्रेणिक स्वयं बहुत दुःखित हुए और अपने अनुचरो पर क्रोधित भी । उन्हें यह कल्पना भी नहीं थी, तस्कर अब तक नियन्त्रण से बाहर है । इस प्रकार की नगर-अव्यवस्था को सुनकर महाराज की आँखों में खून उतर आया । होठ फटकने लगे और सिंहासन धूजने लगा । नगर-रक्षक को बुलाया गया । सभासदों और सम्भ्रान्त नागरिकों के बीच महाराज श्रेणिक ने उसे आड़े हाथों लिया । महाराज बोले—मुझे लगता है, अब तू जीने से ऊब गया है । नगर में तबाही हो रही है और तू नींद में सो रहा है । इतना समय बीत गया और अभी तक तस्कर नियन्त्रण में नहीं आ सका । मुझे तेरे प्रति कुछ सन्देह होता है । कहीं तेरा ही तो उसे अप्रत्यक्ष सहयोग नहीं है ?

नगर-रक्षक हक्का-बक्का रह गया । उसने यह नहीं सोचा था, महाराज इस प्रकार कभी उलाहना देगे । क्योंकि कर्तव्यपालन में वह पूर्णतः सावधान था । किन्तु आज जब महाराज श्रेणिक की यह फटकार सुनी तो वह स्तम्भित-सा रह गया । उसने अपनी स्थिति स्पष्ट करनी चाही, किन्तु वहा उसका अवलम्बन भी कौन था ? इधर-उधर देखा । महामात्य अभयकुमार पर उसकी दृष्टि पड़ी । कुछ साहस बन्धा । अवसर पाकर महाराज श्रेणिक से उसने निवेदन किया—तस्कर को पकड़ने में मैं अवश्य असफल रहा हूँ । किन्तु निवेदन यह है, वह बहुत कुशल है । मेरी शक्ति, बुद्धि और कुशलता आदि उसके सामने सब परास्त हो चुकी है । साम, दाम, दण्ड व भेद सब

नीनियो से मैंने काम लिया, पर एक में भी सफलता नहीं मिली। खान-पान, ऐग-आगम व परिवार का लालन-पालन सब कुछ गौण मानकर रात-दिन उसके पीछे घूम रहा हूँ। शहर का चप्पा-चप्पा और पहाड़ों की प्रत्येक छोटी और बड़ी गुफा को छान डाला है, पर तस्कर हाथ नहीं आया। कई बार वह हाथ आ भी जाता है, किन्तु उसके पाम इस तरह की विद्या व शक्ति है कि पलक मारते ही अदृश्य हो जाता है। अतः स्वामिन् मैं अपराधी हूँ कि अब तक उसे पकड़ कर आपके समक्ष प्रस्तुत नहीं कर सका।

तस्कर बहुत कुशल है, नगर-रक्षक द्वारा कही गई यह बात महामात्य अभय-कुमार के दिल में चुभ गई। वह खड़ा हुआ और उसने महाराज श्रेणिक से निवेदन किया — नगर-रक्षक को आप क्षमाप्रदान करें और मुझे आदेश दें। शीघ्र ही मैं उसे आपके सम्मुख प्रस्तुत करना चाहता हूँ। महाराज ने अभयकुमार के दोनों प्रस्ताव स्वीकार कर लिए।

अभयकुमार और नगर-रक्षक दोनों ने मिलकर एक गुप्त योजना बनाई। अभयकुमार ने आदेश दिया आज रात को नगर के चारों द्वार खुले रखे जाएँ। एक-एक दरवाजे पर दस-दस, बीस-बीस कुशल प्रहरी छुप कर रहें। रात बीत जान पर कोई भी आए गिरफ्तार कर लिया जाए। यह योजना इतनी गुप्त और इतने शोके समय में बनी कि तस्कर को कुछ भी पता नहीं चल सका। तस्कर प्रति-दिन की तरह आज भी रात के बारह बजे दक्षिण द्वार में प्रविष्ट हुआ। छुपे हुए कुशल प्रहरियों ने तत्काल उसे पाशबद्ध कर लिया। गगन-मार्ग से भागने का उसे तनिक भी अवकाश नहीं मिल सका। सूर्योदय होते ही नगर-रक्षक ने बड़े स्वामिमान और सतर्कता के साथ चोर को राजा के समक्ष उपस्थित किया। चोर को देखते ही राजा आगबबूला हो उठा। उसकी भौंहे तन गई और म्यान से तलवार बाहर निकल गई। चोर को ललकारते हुए राजा ने कहा — मैं जानता हूँ, रोहिण्य चोर तू ही है, जितने सारे शहर को तबाह कर रखा है। मेरे इस शहर में व देश में कोई किसी को कष्ट नहीं देना चाहता, वहा तू ने सैकड़ों व सहस्रों व्यक्तियों को उत्पीड़ित कर रखा है। बहुत दिनों से मैं तेरी खोज में था। आज पकड़ा गया अब तेरा कोई रक्षक नहीं होगा। सच बता तू रोहिण्य है या नहीं ?

मृत्यु के सन्निकट पहुँचे हुए व आपदाओं से घिरे हुए रोहिण्य ने इस समय भी अपने धर्म को नहीं खोया। बड़ी सूझ-बूझ से काम लिया। नम्रता के साथ बोला महाराज, चोर को कब से कड़ा दण्ड देना व साहूकार की रक्षा करना, आपका धर्म है। पर साहूकार को दण्ड देना व उसे चोर बनाना आपका कार्य नहीं है। आपका यह नगर-रक्षक तो निरा बुद्धू है। चोर व साहूकार, अपराधी व अनपराधी की इसको कोई पहचान नहीं है। मैं आपको विश्वास के साथ कह सकता हूँ, मैं चोर नहीं हूँ।

महाराज श्रेणिक—तू कौन है ?

रोहिण्येय—मैं सालग्राम का रहने वाला वैश्यपुत्र हूँ। मेरा नाम दुर्गचण्ड है। वहाँ मेरे जवाहरात की दुकान है और हजारों-लाखों का व्यवसाय चलता है। अनेकों मकान हैं और पचासों मुनीम व नौकर हैं। बड़ी अच्छी इज्जत है। कल मैं अपने गाँव से आपके नगर में आ रहा था। रास्ते में विलम्ब हो गया। ज्यों ही नगर में प्रविष्ट हुआ आपके इन बुद्धू प्रहरियों ने मुझे पकड़ लिया और मुझे रात भर बड़ी कड़ी यातनाएँ देते रहे। एक सम्य नागरिक के साथ इस प्रकार का व्यवहार और वह भी आपके राज्य में देख कर दिल में दर्द होता है। ऐसे ही यदि आगन्तुक व्यक्ति को चोर बनाया गया तो कोई भी व्यक्ति आपके नगर में पैर रखना नहीं चाहेगा। वास्तविक चोर पकड़ा नहीं गया और एक भले व इज्जत वाले आदमी को इस प्रकार गिरफ्तार कर लेना, राज्य के लिए कलक है।

महाराज श्रेणिक—इसका क्या प्रमाण ?

रोहिण्येय—मैं यहाँ आपके पास पाश-बद्ध हूँ और आप अपने अनुचरों को भेज कर जाच-पड़ताल करवा लें। मैंने जो आप से निवेदन किया है, उसमें तनिक भी यदि गलती हो तो आप मुझे उसी समय मौत के घाट पहुँचा दें। मैं अपनी ओर से बचाव का कोई तर्क प्रस्तुत नहीं करूँगा।

महाराज श्रेणिक ने रोहिण्येय की इतनी दृढतापूर्वक दलीलें सुनीं तो कुछ आश्चर्य हुआ। मन तो कह रहा था, यही रोहिण्येय है और उसकी बातों से ऐसा लग रहा था, यह साहूकार है और केवल सन्देह से ही पकड़ा गया है। राजा ने तत्काल अपने अनुचरों को प्रच्छन्न रूप से सालग्राम भेजा और वस्तुस्थिति की जानकारी करवाई। सालग्राम की सारी जनता रोहिण्येय से प्रभावित थी, अतः उसने वही जानकारी दी जो रोहिण्येय ने महाराज श्रेणिक से निवेदन किया था। अनुचर लौट आए। महाराज असमजस में पड़ गए। रोहिण्येय को तत्कर ठहराने के लिए कोई भी प्रमाण उपलब्ध न हो सका। महामात्य अभयकुमार से मन्त्रणा की गई। अभयकुमार ने निवेदन किया—महाराज, यह बल से नहीं छल से पकड़ा जाएगा। मैं अब एक प्रयत्न और करता हूँ।

महाराज श्रेणिक को आखिर कहना पड़ा, तू चोर नहीं है। वैश्यपुत्र है और तेरे साथ उचित व्यवहार नहीं हुआ, इसका मुझे खेद है। अभयकुमार रोहिण्येय के पास आया और उसे अपने हाथों से पाश-मुक्त किया। बड़े प्रेम से मिला और आहूजी के नाम से सम्बोधन करते हुए बोला—अनजान में आपका बड़ा अपमान हो गया। आप जैसे व्यवसाय-कुशल व्यक्तियों से ही मगधदेश की शोभा है। मगध-सम्राट्, मन्त्रियों और अन्यान्य राज्याधिकारियों की आपके साथ पूर्ण सहानुभूति है। मैं समझता हूँ, हमारे कर्मकरों द्वारा हुए अपराध के लिए आप हमें क्षमा-प्रदान करेंगे। आपके व्यक्तित्व को देखते हुए मुझे तो पहले भी यही लग रहा था, आप

तत्त्कर रोहिण्य नही है । जब से मैंने आपको देखा है, मेरे हृदय में आपके प्रति एक सहज अनुराग उत्पन्न हो रहा था । मुझे लगा, जैसे आप और मैं बहुत पुराने मित्र हो । तत्त्कर रोहिण्य अपने चातुर्य पर फूला नहीं समा रहा था । उसने बड़ी कुशलता से अपने लिए बनाए गए दुर्भेद्य चक्रव्यूह को तोड़ डाला था । जितनी बुरी तरह से वह फसा था, उतनी अच्छी तरह से वह बच भी गया । अभयकुमार ने प्रस्ताव रखा, आज आपको मेरे घर भोजन करना होगा । आज से हम दोनों मित्रता के कोमल व स्थायी धागे में आवद्ध होते हैं । रोहिण्य ने इस प्रस्ताव पर कुछ मकोच-सा प्रकट किया, पर अन्ततः अभयकुमार की आग्रह भरी मनुहार को वह टाल न सका ।

दोनों राज-महलों में आए । रोहिण्य को स्वर्ण सिंहासन पर बिठाकर अभयकुमार स्वयं उसकी आवभगत में लग गया । अपने हाथों से उसने नाना स्वादिष्ट मिष्ठान्न परोसे और बीच-बीच में मदिरा मिश्रित जल पिलाया । रोहिण्य भोजन करता हुआ ही बेहोश होकर गिर पड़ा । अभयकुमार ने उसे उठावाया और एक अन्य सुसज्जित महल में पुष्पसैया पर लिटा दिया । महल की सजावट दर्शनीय थी । उसे देखकर सचमुच स्वर्ग का आभास होता था । चारों ओर मादक सुरभि फूट रही थी । प्राणएं बहुमूल्य रत्नों में जडा हुआ था । छत पर बड़े-बड़े समुज्ज्वल मोतियों के गुच्छे लटक रहे थे । वातायनों और द्वारों पर सुनहरे काम किए हुए परदे पड़े हुए थे । जगह-जगह रत्न-जटित प्रतिमाएं व दिवालों पर विस्मय उत्पन्न करने वाले विचित्र चित्र टंगे थे । सुख और ऐश्वर्य के पूरे साधन वहां एकत्रित किए गए थे । उस विशाल महल में उच्च मंच पर विविध मणियों से विभूषित एक स्वर्ण सिंहासन था । शय्या के चारों ओर अभयकुमार द्वारा प्रशिक्षित अप्सराओं के समान चार महिलाएं सतर्क खड़ी थीं । महल के बाहर कुशल गुप्तचर खड़े किए गए जो प्रमुख समाचारों से अभयकुमार को अविलम्ब सूचित करते रहे ।

कुछ समय वहां के स्निग्ध और सुरभित वातावरण से रोहिण्य का नशा दूर हुआ और उसने आखें खोलीं । तत्क्षण चारों युवतियां मधुर शब्दों में जय-जय-कार करती हुई बढ़ाजलि बोल उठी—प्राणनाथ, आपने अपने जन्म में क्या-क्या दुष्कर्म किए ? कितने व्यक्तियों के प्राण लूटे और कितने व्यक्तियों का धन ? कितना ऐश-आराम किया और कितने व्यक्तियों के दिल दुखाए, जिससे आप यहां इस स्वर्ग में हमारे स्वामी के रूप में उत्पन्न हुए ।

रोहिण्य ने चारों ओर एक नजर दौड़ाई । उसे लगा, जैसे कि स्वर्ग में आ गया हो । किन्तु उसे अपनी आखों पर विश्वास न हुआ । क्या मैं स्वप्न तो नहीं देख रहा हूँ ? मेरे जैसे व्यक्तियों के लिए स्वर्ग, कभी नहीं हो सकता । सम्भव है, अभय-कुमार की ही कोई कूटनीति हो । चारों अप्सराओं की ओर जब उसने नजर डाली, भगवान् श्री महावीर की वह बाणी याद हो आई । उसे पूर्ण विश्वास हो गया, यह

षड्यन्त्र है। क्योंकि देवता के अनिमिष नेत्र होते हैं, जबकि ये अनिमिष नहीं हैं। वे आकाश में अवर रहते हैं, जबकि ये भूमि पर खड़ी हैं और उनकी पुष्पमाला सदैव विकसित रहती है, जबकि इनकी कुम्हलाई हुई है। रोहिण्य सावधान हो गया। अभयकुमार यदि कूटनीति में कुशल है, तो रोहिण्य भी उससे कम नहीं है। उसने तत्क्षण उत्तर दिया—मैंने बहुत उग्र तपस्याएँ की थीं। सुपात्र-दान दिया था। बहुत वर्षों तक श्रावक के बारह व्रतों का पालन किया और फिर साधु-धर्म (महाव्रत) भी स्वीकार किया। मैं अपने ज्ञान, ध्यान, तप, स्वाध्याय आदि में प्रतिक्षण लीन रहता था। अन्त समय में मैंने समाधिपूर्वक अनशन किया और पण्डित-मरण प्राप्त कर मैं इस स्वर्ग में उत्पन्न हुआ हूँ और इस अपार समृद्धि का स्वामी बना हूँ।

अप्सराएँ—नहीं स्वामिन् ! आप गलत कह रहे हैं। तप, जप, स्वाध्याय व धर्मानुष्ठान करने वाला व्यक्ति इस समृद्धि को प्राप्त नहीं कर सकता। यहाँ तो वे ही पुरुष उत्पन्न हो सकते हैं जो महान् हिसक, चोर, व्यभिचारी आदि होते हैं। आपने अपने ज्ञान का प्रयोग ठीक नहीं किया, अतः निवेदन है, एक बार फिर सोचिए और बताइए, आप कौन थे और आपने अपने पूर्व जीवन में क्या किया था ?

रोहिण्य—(सरोष) झूठ बोलते और एक व्यक्ति को भ्रमित करते तुम्हें धर्म नहीं आती। यह तो एक बच्चा भी जान सकता है, छल, कपट, दम्भ, हिंसा, चोरी और असत्य आदि का क्या फल होता है ? स्वर्ग धर्मात्मा को मिलता है या पापात्मा को ? तुम अप्सराएँ नहीं हो, तुमने मुझे ठगने के लिए षड्यन्त्र रचा है। किन्तु मैं तो तुम्हें अपना स्पष्ट परिचय बता देना चाहता हूँ। मैं सालग्राम का रहने वाला वैश्यपुत्र था। दुर्गचण्ड मेरा नाम था और लाखों का मेरा व्यवसाय चलता था। मैं धर्मात्मा, धर्मज्ञ और पापभीरु था। ईमानदारी व सदाचार में मैं अग्रणी था।

चारों महिलाएँ सकपका गईं। उनका बाह्यतः फलित न हो सका। गुप्तचरों ने सारी परिस्थिति से अभयकुमार को अवगत किया तो वह भी बहुत निराश हुआ। उसे अपनी चातुरी पर पूर्ण विश्वास था, पर आज वह सफल न हो सकी। अन्ततः रोहिण्य को छोड़ देने का आदेश देना पड़ा।

रोहिण्य वहाँ से चला। उसे हर्ष भी था और ग्लानि भी। हर्ष इस बात का कि अनिच्छा से सुने हुए भगवान् श्री महावीर के एक वाक्य ने उसके प्राणों की रक्षा की और ग्लानि इस बात की कि उसके पिता ने उसके साथ शत्रुभाव बरता। अब उसे लगने लगा, यदि पिता ने मुझे निषेध न किया होता तो आज तक न मालूम मैं कितनी बार उनके उपदेश सुनता, उनके दर्शन करता और सत्संग करता। भगवान् महावीर के प्रति उसका हृदय भक्ति से गद्गद हो रहा था। इस एक ही घटना ने उसके जीवन को एक नया मोड़ दे दिया। समस्त आसुरी वृत्तियाँ अब उसकी मानवी वृत्तियों में परित्यक्त होने लगीं। सारा कला-कौशल जो परधनहरण या परदुःखवर्धन में प्रयुक्त होता था, आज वह अपने स्वरूप को खोजने व पाने के लिए आतुर हो रहा है। घर

की और जाता हुआ यही कामना करता जाता था, अब कब मुझे भगवान् श्री महावीर के दर्शनो का लाभ मिले और मैं अपना उद्धार करूँ । रात-दिन उसके यह एक ही भावना रहती ।

एक दिन रोहिण्योय की भावना फलित हुई । श्रमण-समुदाय के साथ भगवान् श्री महावीर राजगृह नगर में पधारे । महाराज श्रेणिक महामान्य अभयकुमार के साथ दर्शन के लिए आया । हजारों की जनता भी आई । रोहिण्योय भी आया । देशना हुई । भगवान् श्री महावीर ने मानव-जीवन की श्रेष्ठता, उसके संरक्षण आदि का विवेचन किया । सम्यक्त्व, श्रावक-व्रत और साधु-व्रम का निरूपण किया । किस प्रकार एक कुशल व्यक्ति मानव-जीवन को मार्थक कर सकता है और एक मूढ़ व्यक्ति किस प्रकार गवा सकता है । परिपद् के मनोभाव बदले । नाना त्याग-प्रत्याख्यान हुए । देशना से रोहिण्योय की भावना में एक तीव्र उद्वेलन हुआ । उसने मन-ही-मन सोचा, मैंने तो अपना सारा जीवन यो ही व्यर्थ गमा दिया । जीवन का सार नि मार हो गया । मेरा उद्धार कैसे हो सकेगा ? जब भगवान् महावीर के एक वचन ने मेरे प्राणों की रक्षा की है तो यदि मैं इनका शरण ग्रहण कर लूँ तो सम्भव है, मैं अपने दुष्कृत्यों के फल से मुक्ति पा सकूँ । वह परिपद् को लाभकर आगे आया । भगवान् श्री महावीर को नमस्कार किया और प्रार्थना की—भगवन् ! चरण की शरण प्रदान करे । मैं विरक्त होकर आपका धर्म स्वीकार करना चाहता हूँ ।

भगवान् महावीर—कल्याणिक कार्यों में विलम्ब मत करो ।

महाराज श्रेणिक और अभयकुमार दोनों ने उसे देखा । मन-ही-मन कुछ सकुचाए । सोचा, हमने जिसे तस्कर ठहराने का प्रयत्न किया, वह तो साधु-पुरुष है । अब्यात्मा है और भगवान् की शरण में जा रहा है । हमने इसका अपराध किया है । महाराज श्रेणिक ने रोहिण्योय को अपने महलों में आमन्त्रित किया । रोहिण्योय उपस्थित हुआ । अभयकुमार को अपने द्वारा विहित कूटनीति पर लज्जा का अनुभव हुआ । उसके द्वारा क्षमा मागने पर रोहिण्योय का हृदय उमड़ पड़ा । उसने कहा—अपराधी आप नहीं है, अपराधी मैं ही हूँ । जब आपने मुझे अपराधी घोषित करने का प्रयत्न किया, मैंने स्वीकार नहीं किया । किन्तु अब जब कि भगवान् श्री महावीर की वारणी से मुझे प्रकाश मिला, मैं स्पष्टतः स्वीकार करता हूँ, राजगृह में आतंक और भय फैलाने वाला, राज्याविकांग्रियों और जनता की आँखों में धूल भोकर लाखों-करोड़ों का वन हड़पने वाला स्वनाम धन्य तस्कर रोहिण्योय मैं ही हूँ महाराज ! अभयकुमार के बहुत प्रयत्न करने पर भी मैंने अपने आपको प्रकट नहीं होने दिया । किन्तु भगवान् श्री महावीर के दिव्य व्यक्तित्व ने मेरे अन्तर को झकझोर दिया है, अतः अब मुझे स्वीकार करने में अपना भला दिखाई देता है । इतने दिन मुझे आपकी यातनाओं का भय था । आज आत्मा की यातनाओं का भय है । इतने दिन मैं भय के मारे झुपता रहता था, पर आज अभय है, अतः मुझे झुपने की बजा

रोहिण्योय]

[२२५]

आवश्यकता ? अभयकुमार को सम्बोधित कर उसने कहा, महामात्य ! वास्तविक अभय तुम नहीं हो, मैं हूँ ।

राजा श्रेणिक से उसने कहा—महाराज ! अपने महामात्य को मेरे साथ वैभारगिरि की गुफाओं में भेजिए और अपने श्रीमन्तो का लाखों-करोड़ों का अपहृत धन पुनः उनके पास पहुँचा दीजिए ।

राजगृह में यह सारी घटना बिजली की तरह फैल गई । जिसने सुना वही चकित हो गया । तत्कर रोहिण्य को भगवान् श्री महावीर के पास दीक्षित होते सुनकर जनता, जो आज तक उस पर क्रुपित हो रही थी, शान्त हो गई । जिन-जिन श्रीमन्तो का तत्कर रोहिण्य ने धन चुराया था, महामात्य ने उनका वापस पहुँचा दिया । सबकी सद्भावना व सहानुभूति रोहिण्य के साथ हो गई । प्रत्येक व्यक्ति के मुँह पर इस बात की विशेष चर्चा थी, राजा व अन्य अधिकारी जिस पर विजय न पा सके व जिसे न पकड़ सके, भगवान् श्री महावीर के एक वाक्य ने उसके हृदय को किस तरह खींचा कि उसकी सारी भयकरता सात्विकता में परिणत हो गई एक महान् निर्दय चोर समयी बनने को उत्कण्ठित हो गया ।

महाराज श्रेणिक ने रोहिण्य का दीक्षा-उत्सव किया । निर्दिष्ट दिन भगवान् श्री महावीर के चरणों में रोहिण्य सहस्रों की परिषद् में उपस्थित हुआ । जनता से उसने अपने अपराध की क्षमा मागी और भविष्य में सर्व सावध कार्यों के प्रत्याख्यान की भगवान् श्री महावीर से प्रार्थना की । भगवान् ने दीक्षा-प्रदान की । तत्कर रोहिण्य साधु रोहिण्य हो गया और भगवान् महावीर के हाथों पतित का भी इस प्रकार उद्धार हुआ ।

समयी बनने के अनन्तर रोहिण्य ने घोर तपस्या की । नाना अभिग्रह धारण किए । जितना वह पहले स्तेय वृत्ति में शूर था, उतना ही वह कर्म-मल-विच्छेद में भी शूर बना । तप, जप, स्वाध्याय, ध्यान आदि में वह लीन रहता । क्रमशः अपना मनुष्य भव सम्बन्धी आयुष्य पूर्ण कर वह प्रथम स्वर्ग में उत्पन्न हुआ ।



सुलस

सुलस राजगृह का निवासी था। उसका पिता कालकसूरी कसाई था, जो प्रतिदिन पाच सौ भैंसों का बध किया करता था। कालकसूरी कसाई कभी भी और किसी भी प्रतिदान में इस बध को छोड़ने के लिए तैयार न था। एक दिन महाराज श्रेणिक ने उसे अपने पास बुलाया और एक दिन के लिए बध न करने का आदेश दिया। उसने स्पष्ट रूप में यह कह दिया—प्राणों का मैं उत्सर्ग कर सकता हूँ, किन्तु पाच सौ भैंसों के बध को, जिसे मैं अपना कुल-धर्म मानता हूँ, कभी नहीं छोड़ सकता। महाराज श्रेणिक ने उसे बहुत समझाया, पर उसने एक भी न मानी। महाराज ने रुष्ट होकर एक दिन के लिए उसे कुएँ में उतरवा दिया। वहाँ भी वह अपने प्राण से विचलित नहीं हुआ। शरीर पर बहुत दिनों का मेल चढ़ा हुआ था। कुएँ की गर्मी से वह कुछ पिघलने लगा। उसने अपना मेल उतारा और उसके भैंसे बनाए व उन्हें मारकर अपना प्राण निभाया।

बहुत वर्षों तक उसका वह जघन्य कार्य चलता रहा। सुलस इस कार्य से बहुत घबराता था। वह दूसरे के प्राण अपने प्राणों के समान ही समझता था। बहुत बार उसका पिता उसे कहता, किन्तु कभी भी वह उस और नज़र उठाकर भी नहीं देखता। इस प्रकार एक दिन उसका पिता मरणासन्न स्थिति तक पहुँच गया। अपने इकलौते व लाडले बेटे सुलस को अपने पास बुलाकर रुन्धे गले से वह बोला—सुलस ! आज मैं तुम्हें अपने दिल की एक अन्तिम बात कहना चाहता हूँ। क्या तू उसे स्वीकार करेगा ?

सुलस—पिताजी ! मैं आपके आदेश को किस प्रकार टाल सकता हूँ। आप मेरी प्रकृति से परिचित तो हैं ही ?

पिता—हा, सुलस ! मैं तुम्हें ऐसी बात कहना नहीं चाहता, जिसे तेरा दिल स्वीकार न करे।

सुलस—पिताजी ! तब मैं आपके आदेश का उल्लंघन कर ही कैसे सकता हूँ।

पिता—मेरी यह अन्तिम आकांक्षा है कि घर के प्रमुखपद का भार तुम्हें ही ग्रहण करना है और जीवनपर्यन्त उसे उसी तरह निभाना है, जैसे मैंने निभाया है।

सुलस—पिताजी ! मुझे आपका यह आदेश स्वीकार है और मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ, इसका कभी भी उल्लंघन न होगा ।

कालकसूरी का देहान्त हो गया । उसकी अन्त्येष्टि क्रिया भी सम्पन्न हो गई । महीने दो महीने का समय बीत गया । एक दिन परिवार के सारे लोग मिले और उन्होंने सुलस से अपने घर के प्रमुखपद का भार ग्रहण करने के लिए आग्रह किया । सुलस ने वह स्वीकार कर लिया । तदनुसार एक दिन प्रमुखपद की रस्म अदा करने के लिए फिर सारा परिवार इकट्ठा हुआ । सभी ने हिल-मिलकर आमोद-प्रमोद के साथ भोजन किया । एक भैंसा मगाया गया । सुलस के हाथ में तलवार दी गई और कहा गया कि अपनी कुल परम्परा के अनुसार आप इसे भैंसे पर चलाइए । सुलस स्तम्भित-सा रह गया । उसको यह कल्पना तक नहीं थी कि प्रमुख पद को ग्रहण करते हुए किसी एक निरीह पशु को इस प्रकार मौत के घाट उतारा जायेगा । सुलस ने कहा—यह कैसे हो सकता है ?

पारिवारिक—यह तो अपनी कुल-परम्परा है । प्रमुखपद का आसन ग्रहण करने से पूर्व यह तो करना ही होता है ।

सुलस—मुझे यह स्वीकार नहीं । मेरे प्रमुखपद के ग्रहण करने में किसी एक प्राणी का जीवन बूट लिया जाए, यह कैसे न्यायसंगत हो सकता है ? मैं अपना घर सम्भालने के लिए अन्य किसी के घर को ही नहीं, जीवन को ही उजाड़ दूँ, हृदय इस बात को स्वीकार नहीं करता ।

पारिवारिक—आपको पिता के आदेश का तो पालन करना ही होगा ?

सुलस— हा, उसके लिए मैं तैयार हूँ ।

पारिवारिक—तो उसके लिए आज तलवार चलाना नितान्त आवश्यक है । यदि ऐसा न हुआ तो आदेश का पालन नहीं हो सकता ।

सुलस—यदि तलवार चलाना ही आवश्यक है तो इस भैंसे पर क्यों, मैं अपने पैर पर ही चला लेता हूँ, सुलस ने यह कहते हुए अपना हाथ ऊँचा उठाया । पारिवारिकों ने उसी समय उसका हाथ पकड़ लिया । बोले—यह तो नहीं होने देगे ।

सुलस—क्यों ? जब तलवार चलाना ही आवश्यक है तो इस भैंसे में और मेरे पैर में क्या अन्तर है ? आखिर मेरे प्राण जितने मुझे प्रिय हैं, इस भैंसे को भी तो अपने प्राण उतने ही प्रिय हैं । आपको मैं प्रिय लग रहा हूँ अतः मेरे संरक्षण और संभरण के लिए आप इस मूक पशु का बलिदान चाहते हैं, पर यह पशु भी तो आपको उतना ही प्रिय होना चाहिए । मैं बोल सकता हूँ, अपना मन्तव्य स्पष्ट कर सकता हूँ, सुख-दुःख की अनुभूति व्यवत कर सकता हूँ और यह ऐसा नहीं कर सकता । मेरे में व इसमें केवल इतना ही तो अन्तर है । केवल तनिक से इस अन्तर के लिए यह बध मुझे तो स्वीकार्य नहीं है और आपको भी नहीं होना चाहिए । आपको सोचना चाहिए कि वह कुल-परम्परा भी किस काम की, जिसमें इतना भेद-भाव सन्निहित

हो। घर के प्रमुखपद का भार ग्रहण करने को मैं समुद्यत हूँ, किन्तु इस मूक पशु पर मेरा हाथ नहीं चलेगा। बिना तलवार-प्रयोग के यदि ऐसा न हो सकता हो तो मैं वह प्रयोग अपने पैरों पर ही कर सकता हूँ।

सारे ही पारिवारिक मान गए और बिना किसी हिंसा व हिचकिचाहट के उन्होंने मुलस को 'गृहपति' बना दिया।



सौभाग्यशाली लकड़हारा

कम्पिलपुर नगर मे रिपुमर्दन नामक राजा राज्य करता था । वह बड़ा ही नीति-निपुण था । उसी शहर मे अकिचन नामक एक लकड़हारा भी रहता था । प्रतिदिन वह अपने साथियों के साथ जंगल से लकड़िया काटकर लाता और उस आय से अपना जीवन-निर्वाह करता । एक दिन उसे रास्ते मे साधु मिल गए । साधु ने मानव-जीवन की श्रेष्ठता बताई और उसे सत्सग का उपदेश दिया । अकिचन ने कहा—महाराज ! मेरा मन तो बहुत करता है, पर पेट पापी है । इसे भरने मे सुबह का शाम हो जाता है और शाम का सुबह । प्रतिदिन यही व्यथा सताती रहती है । इससे धर्म-कर्म कुछ भी नहीं सुरूता ।

साधु ने कहा—सत्सग और धर्मानुष्ठान के बहुत-सारे प्रकार होते हैं । धर्म-स्थान ही केवल धर्म के लिए हो, ऐसी बात नहीं । वह जीवन के प्रत्येक कार्य के साथ जुड़ा हुआ है और इसीलिए धर्माचरण के लिए किसी समय विशेष या अनुष्ठान विशेष की अपेक्षा नहीं हुआ करती । धर्म तो त्याग और तप प्रधान है और वह चाहे जब हो सकता है । वह तो भावना से सम्बन्ध रखता है । माना कि तुम्हे समय कम मिलता है । रात-दिन पेट की ही चिन्ता रहती है, फिर भी कुछ-न-कुछ व्रत-नियम तो कर ही सकता है ?

अकिचन ने कुछ सोचकर कहा—तो मैं एक नियम कर सकता हूँ । मेरे लकड़ी काटने का ही काम है, पर आज से मैं हरे वृक्ष नहीं काटूंगा । सूखी लकड़ी जहाँ से मिलेगी, लाऊंगा और अपना काम चलाऊंगा ।

प्रतिदिन वह अपने साथी लकड़हारों के साथ जंगल जाता और नियमपूर्वक लकड़िया ले आता । क्रमशः ग्रीष्म ऋतु पूरी हुई और वर्षा ऋतु आ गई । सर्वत्र हरियाली ही हरियाली फूट पड़ी । सूखी जड़ों मे भी कोपलें फूटने लगी । अकिचन के लिए मुश्किल होने लगी । बड़े परिश्रम के बाद कहीं-कहीं सूखी लकड़िया मिलती । साथी सारे परेशान हो जाते । एक दिन प्रयत्न के बाद भी उसे सूखी लकड़िया न मिली तो साथियों ने उसे वही छोड़ दिया । वह बहुत दूर जंगल मे निकल पड़ा । भाद्रव-आश्विन की कड़ी धूप, जंगल का रास्ता, भूखा पेट और लकड़िया न मिलने की परेशानी, फिर

भी अकिचन ने हिम्मत न हारी और न उसने अपने नियम से विचलित होने का ही सोचा । उसके कदम बढ़ते गए, जैसे कि वह मजिल की ओर बढ़ रहा हो । बहुत दूर चले जाने पर उसे सूखी लकड़ियों का एक ढेर दिखाई दिया । वह खुशी से छलांगे मारने लगा । उसने सोचा, अब कई दिन तक तो कहीं भी लकड़ियां नहीं खोजनी होंगी । सीधा यत्र चला आऊंगा और अपना गट्ठर बांधकर घर की ओर चल दूंगा । उस दिन उसे घर पहुंचते-पहुंचते सूर्य डूब चुका था । सोचा, अब कल ही बाजार आऊंगा और मीठा बेचूंगा । वह खाना पकाने बैठ गया ।

अनदत्त सेठ ने अपने मित्रों को इसी दिन सायंकाल शहर के बाहर उद्यान में एक दावत दी । सारे ही मित्र बड़े चाव से आए । एक मित्र को आने में विलम्ब हो गया । जब वह उद्यान की ओर जा रहा था, अकिचन का घर भी बीच में आ गया । उसे एक अद्वितीय मुगन्ध ने आकर्षित कर लिया । वह उससे खिचकर अकिचन के घर आ गया । वहां उसने उन लकड़ियों का गट्ठर पड़ा देखा तो बड़ा आश्चर्य हुआ । उसने आते ही एक रुपया अकिचन की ओर फेंका और कहा—इसकी एक लकड़ी मुझे दे दे । लकड़हारा बड़ा चतुर था । उसके मन में आया, एक लकड़ी का यदि एक रुपया मिल रहा है तो अवश्य दस लकड़ी में चमत्कार है । वह तुरन्त बोल पड़ा—मुझे नहीं बेचना है ।

आगन्तुक व्यक्ति—क्यों नहीं बेच रहा है ? क्या मन में लोभ समा गया है ?

अकिचन—लकड़ियां मेरी हैं । मैं ही अपनी इच्छा का मालिक हूँ । आप यदि एक रुपये से लेकर अपना सारा धन भी मुझे दे दें, मैं देने को तैयार नहीं हूँ । यदि आपकी मेहरबानी हो तो इस लकड़ी के गुण मुझे अवश्य बताएं । मैं आपकी बात से इतना तो अवश्य जान पाया, यह लकड़ी बहुमूल्य है ।

आगन्तुक ने कहा—यह तो वावनाचन्दन है । लाखों रुपये में भी अलम्ब्य है ।

अकिचन ने हैमते हुए कहा—लाखों रुपये की मेरी सम्पत्ति क्या आप एक रुपये में ही खरीद रहे हैं ?

अकिचन ने आगत सज्जन को लकड़ी का एक टुकड़ा बिना कुछ लिए ही देते हुए कहा—आपने तो मुझे इसके गुण बताकर उपकृत किया है । बदना यह सब-कुछ व्यर्थ ही चला जाता ।

सबेरा होते ही एक लकड़ी लेकर अकिचन बाजार में गया । साधियों ने उसका मजाक उड़ाया । व्यंग कसते हुए कहा—हा, यह लकड़ी तेरा पेट अवश्य भर देगी ? किन्तु उसने किसी की भी एक न सुनी । एक बड़े सेठ की दुकान पर पहुंचा और उसे बेचकर सवा लाख रुपये ले लिए । अकिचन के घर अब क्या कमी रह सकती थी । सुख के सारे साधन-प्रसाधन हो गए और उसका विवाह भी हो गया । अच्छे-से-अच्छा व्यवसाय उसके हाथ में हो गया । प्रतिदिन धन बढ़ने लगा । उसे अपने नियम की

महत्ता का अनुभव हुआ । उसे लगा, नियमहीन जीवन भार है और नियम सहित श्रु गार । सयोगवश फिर साधुओं का आगमन हुआ । उसने उपदेश सुना, सम्यक्त्व ग्रहण की । श्रावक के बारह व्रत ग्रहण किए और धर्मानुष्ठान में सारा जीवन समर्पित कर दिया ।



अभी तो सबेरा ही है ?

एक शिशु मुनि किमी गृहस्थ के यहा भिक्षा (गोचरी) के लिए गया। घर मे एक वृद्ध पुरुष व उसकी पुत्र-वधू दो ही व्यक्ति थे। वृद्ध पुरुष नास्तिक व धर्म-कर्म से सर्वथा अनभिज्ञ ही था। मुनि अपनी मयत गति व सहज शालीनता से चलता हुआ रमोई के पाम पहुचा। पुत्र-वधू ने मादर सभक्ति प्रणाम किया। मुनि की छोटी अवस्था व चेहरे के तेज ने उसके मन मे कई सहज प्रश्न उभार दिए। वहिन ने पूछा—‘मुनिवर ! अज हु सवार ?’ मुने ! अभी तो सबेरा ही है ?

शिशु मुनि ने उत्तर दिया—‘बाई काल न जाणियो’ बहिन ! मुझे काल का पता नही चला।

वृद्ध पुरुष ने दोनो का उक्त वार्तालाप सुना तो उसे बहुत विचित्र-मा लगा। वह क्रोध मे भर गया। उसने मन-ही-मन सोचा—दोनो ही कितने मूर्ख हैं। सूर्य मिर पर चढ आया है और मेरी पुत्र-वधू कह रही है, अभी तो सबेरा ही है तथा यह साधु उन्नर दे रहा है—मुझे समय का पता ही नही चला।

वृद्ध पुरुष ध्यान से सुन रहा था और इधर दोनो के प्रश्नोत्तर चल रहे थे। मुनि ने पूछा—बहिन ! तुम्हारे घर का क्या आचार है ?

बहिन—हम तो मुनिवर ! बासी ही खाते है।

मुनि—तुम्हारा पुत्र कितने वर्ष का है ?

बहिन—सोलह वर्ष का।

बहिन—तुम्हारा पति ?

बहिन—आठ वर्ष का।

मुनि—स्वमुर ?

बहिन—वह तो अभी पालने मे ही झूल रहा है।

ज्यो-ज्यो वह वृद्ध पुरुष इस वार्तालाप को सुनता जा रहा था, आगबबूला हो रहा था। एक-एक प्रश्न और उसके उत्तर हृदय मे चुभन पैदा कर रहे थे। उसे यह बात बहुत ही अप्रिय लगी कि हर रोज अच्छे-अच्छे और ताजे भोजन मेरे घर मे बनते है और यह कह रही है, हम तो बासी ही खाते है। जब उसने यह सुना—इसका लठका सोलह वर्ष का है, पति आठ वर्ष का और मैं तो अभी पालने मे ही झूल रहा हूँ उसके आश्चर्य और क्रोध का ठिकाना न रहा। पुत्र-वधू पर वह इसलिए उबल रहा था कि उसने उसके घर की इज्जत खाक कर डाली और शिशु मुनि पर इसलिए कि साधु होकर उसे ऐसे प्रश्न पूछने की क्या आवश्यकता ? बहिन और मुनि के

अभी तो सबेरा ही है ?]

प्रश्नोत्तर समाप्त हो गए थे, अतः मुनि ने भिक्षा-ग्रहण की और वह उसी शान्त स्वभाव से पुनः अपने स्थान की ओर चल दिया ।

वृद्ध पुरुष अपनी पुत्र-वधू के पास आया और उसे बुरी तरह डाटने लगा । गुस्से में आग उगलने लगा—ऐसे ही तो कमीने ये साधु और ऐसी ही घर की इज्जत को धूल में मिलाने वाली तू । ऐसे भी कोई प्रश्नोत्तर होते हैं । खबरदार ! यदि अब कभी ऐसा अवसर आया ।

पुत्र-वधू शान्त स्वर में बोली—पिताजी ! आप मुझे डाटे, यह तो आपको शोभा दे सकता है । आप मुझे कोई आदेश करे, मुझे वह स्वीकार है, किन्तु साधु को मैं अब कैसे निषेध कर सकती हूँ, जबकि वह यहा है नहीं और वहा (साधु के स्थान पर) आप मुझे जाने देते ही नहीं । इससे तो अच्छा यही है कि आप स्वयं ही वहा जाएँ । वहा उनके गुरु भी होंगे । आप उनके सामने यह सारी घटना रख दीजिए और शिष्य को पुनः अपने घर आने के लिए निषेध कर आइए ।

वृद्ध पुरुष के यह बात जच गई । उसने सोचा—मैं बहुधा विचार ही करता था, कभी इन साधुओं को डाटूँ, पर कभी ऐसा अवसर आया ही नहीं । आज बड़ा उपयुक्त प्रसंग आ गया है । जिन्दगी में वह पहली बार साधुओं के स्थान पर पहुँचा । कल्पनाएँ कर रहा था, इस प्रकार छोटे साधु को उलाहना दूँगा और गुरु से दिलवाऊँगा कि कभी वह मेरे घर आने का नाम तक नहीं लेगा । गुरु के पास जब वह पहुँचा, थोड़ा सिर अपने आप झुक गया । उसने गुरु के समक्ष शिशु मुनि की शिकायत करते हुए कहा—आज आपका छोटा साधु मेरे घर जब गोचरी पर आया था, बहुत ही असोभनीय बातें कर गया । गुरु ने शिशु मुनि को बुलाया । वह हाजिर हुआ । वृद्ध पुरुष और शिशु मुनि की ज्यों ही आँखें मिली, शिशु मुनि को मन ही मन कुछ हँसी आई । उसने सोचा, जिसे मैं गुरु के सम्मुख लाना चाहता था, वह आ तो गया । शिशु मुनि ने बड़ाजलि गुरुवर से प्रार्थना की—गुरुदेव ! इनसे ही पूछा जाएँ मैंने आज क्या अशिष्ट आचरण किया ।

गुरु का सकेत पाकर वृद्ध बोला—पहले पहल मेरी पुत्र-वधू और आपके इस शिष्य के बीच में यह प्रश्नोत्तर हुआ । पुत्र-वधू ने कहा—अभी तो सबेरा ही है और इसने उत्तर दिया—मैंने काल को नहीं जाना । क्या ये दोनों ही इतने गवार हैं कि सूरज सिर पर चढ़ आया और वह कहती है, अभी सबेरा है और यह उत्तर देता है, मुझे समय का पता ही नहीं चला ।

गुरु के पूछने पर शिशु मुनि ने कहा—भगवन् ! यह वार्तालाप सत्य है । हम दोनों में यह बात हुई है । बहिन ने मुझे रहस्यात्मक भाषा में पूछा था, अभी आपने इस उमरती हुई अवस्था में ही सन्यास जैसे कठोर मार्ग का अनुसरण कैसे कर लिया ? मैंने उत्तर दिया—बहिन ! काल (मृत्यु) का कोई भरोसा नहीं है । भगवन् ! ये तो ज्ञान की बातें थीं । इसमें उस बहिन का क्या अशिष्ट प्रश्न था और मेरा क्या

अनुचित उत्तर ?

वृद्ध पुरुष शिशु मुनि की बात को बीच ही में काटते हुए बोला—महाराज ! इस बात को तो जाने दीजिए, किन्तु जरा यह बताइए, आपके इस साधु ने पूछा—तुम्हारे घर का क्या आचार-व्यवहार है और उमन उत्तर दिया—हम तो बासी ही खाने हैं, इस प्रकार की बाने करने की क्या आवश्यकता थी और इनमें कौन-सा ज्ञान या वैराग्य भरा था ?

शिशु मुनि ने कहा—गुरुदेव ! जब मैंने उमका यह तत्त्व भरा प्रश्न सुना तो मेरे मन में भी कुछ धार्मिक जिज्ञासाएँ उभर आईं । इसलिए मैंने भी उससे तत्त्व रूप में पूछ लिया—तुम्हारे घर में क्या आचार है अर्थात् क्या धर्मानुष्ठान होता है ? इस पर वहिन न भी उसी तरह उत्तर दिया, हम तो धार्मी ही खाते हैं । पूवजन्म में जो धर्मानुष्ठान किया था, उसका फल तो यथा ऋद्धि-समृद्धि, अर्द्धा मुखी परिवार, निरोग शरीर और पूर्ण इन्द्रिय प्राप्ति हो चुकी है, किन्तु आगामी जीवन के लिए कुछ भी नहीं कर रहे हैं, अतः बासी ही खा रहे हैं । गुरुदेव ! आप ही बताएं इसमें मैंने और उस वहिन ने कौन-सा अभद्र वार्तालाप किया ?

वृद्ध पुरुष—यह तो ठीक, पर जरा इससे यह तो पूछिए, मेरी व मेरे पुत्र व पौत्र की अवस्था पूछने का इसका क्या प्रयोजन था । इस प्रश्न का उत्तर मेरी पुत्र-वधू ने भी तो मक्का ही असगत दिया है । मेरा लड़का तो आठ वर्ष का और पौत्र सोलह वर्ष का । मैं तो जो कि बूढ़ा हो चला हूँ, दात टूट गए हैं, केश सफेद हो गए हैं और अभी तक पालने में ही भूल रहा हूँ । यदि मैं पालन में ही भूलता हूँ, मेरा पुत्र आठ वर्ष का है तो मेरा पौत्र सोलह वर्ष का कहा से आ गया ?

शिशु मुनि ने कहा—जब मैंने उस वहिन को इतना धर्मपरायण व तत्त्वज्ञा जाना तो सहमा मेरे दिल में आया, इसके घर में और भी कोई धर्मज्ञ है या नहीं, यह भी जानना चाहिए । इस उद्देश्य से मेरा प्रश्न था और इसी भावना से वहिन ने मुझे उत्तर दिया था । उमने मुझे बताया—मेरा लड़का तो जन्म से ही धर्म-कर्म को जानता है, क्योंकि वह मेरे ही सम्पर्क में रात-दिन रहता है । उसकी अवस्था अभी सोलह वर्ष की है । मेरे पति धर्म में तनिक भी विश्वास नहीं करते थे, किन्तु मेरे बार-बार समझाने-बुझाने से धर्म के मर्म को धीरे-धीरे समझने लगे । आठ वर्ष से वे धर्मनिष्ठ व्यक्ति हैं । मेरे स्वसुर पर अब तक भी मेरी धार्मिक बातों का कोई असर नहीं हुआ है । वह धर्म की बात को सुनना भी नहीं चाहता ।

शिशु मुनि ने बड़जलि होकर गुरुदेव से पूछा—क्यों भगवन् ! वहिन की यह बात ठीक ही तो है न ? यदि ऐसा न होता तो क्या ये बातें पूछने के लिए आपके पास यह वृद्ध पुरुष आता ?

अभी तो सबेरा ही है ?]

[२३५]

बिम्बसार और अनाथी

मगध सम्राट् श्रेणिक एक दिन घूमते हुए मण्डौकुश उद्यान में पहुँच गए। बहुत देर तक वन-सुषमा का आनन्द लूटते रहे। पुष्पो की महक, फूलों की मधुरता, लताओं की सुन्दरता व वृक्षों की सघनता में वे प्रीणित हो रहे थे। चप्ये-चप्ये की शालीनता उन्हें अपनी ओर खींच रही थी। उद्यान में एक वृक्ष के नीचे एक ध्यानस्थ मुनि को उन्होंने देखा। मुनि का गौर वर्ण, भव्य ललाट, बड़ी-बड़ी आँखें, विशाल वक्षस्थल और उनके साथ उनके मुखमण्डल पर सयम, ब्रह्मचर्य व तपस्या की अद्भुत कान्ति फलक रही थी। महाराज श्रेणिक का मन वनराजि से हटकर मुनि की ओर आकर्षित हो गया। सब-कुछ छोड़कर वे मुनि के पास आ गए।

ध्यान की अवधि समाप्त होने पर मुनि ने आँखें खोली। महाराज श्रेणिक ने नमस्कार किया और अपनी जिज्ञासा प्रस्तुत की—मुनिवर ! आप अभी साधु कैसे बन गए ? अभी तो आपका यौवन में प्रवेश ही हुआ है ?

मुनिवर—राजन् ! मैं अनाथ था, कोई मेरा रक्षक न था, अतः साधु बन गया।

श्रेणिक—मुनिवर ! यदि इसलिए ही साधु बने हो तो छोड़ो इस वेश को। मैं आपका नाथ बनता हूँ और रक्षा करूँगा।

मुनिवर—राजन् ! तुम गलती पर हो। मेरे नाथ बनना चाहते हो, पर तुम स्वयं भी अनाथ हो। मेरी रक्षा का भार तुम ले रहे हो, पर स्वयं भी अरक्षित हो।

श्रेणिक—मुनिवर ! आपने मुझे पहचाना नहीं है। मैं मगध सम्राट् श्रेणिक हूँ। लाखों-करोड़ों व्यक्तियों का मैं भरण-पोषण करता हूँ, कष्टों से उनकी रक्षा करता हूँ, क्या आप यह नहीं जानते हैं ?

मुनिवर—राजन् ! मैं तुम्हें अच्छी तरह जानता हूँ, इसलिए ही तो कह रहा हूँ कि तुम अनाथ हो। तुम ही क्या, सारा ही संसार अनाथ है। यहाँ कोई भी किसी का स्वामी या रक्षक नहीं है और न बन सकता है।

मुनिवर ने अपने प्रकरण को और आगे बढ़ाते हुए कहा—राजन् ! मैं अमावस्य से साधु नहीं बना हूँ। मेरे घर पर किसी प्रकार की कमी नहीं थी। मेरे पास माता

का असीम प्यार, पिता का निर्वाध वात्सल्य, पत्नी की अद्वैत आत्मीयता, स्वजनों का अमिट अनुराग, नौकर-चाकरों की हादिक भक्ति व वैभव का अपार ढेर था। कौशाम्बी का मैं रहने वाला था। मेरे पिता बहुत बड़े व्यवसायी थे। केवल शहर में ही नहीं, दूर-दूर तक उनकी अच्छी ख्याति थी। प्रकृति भी मेरे पर कभी कुपित नहीं हुई। पच्चीस वर्ष की आयु तक मैं जानता भी नहीं था कि रोग, कष्ट या दुःख क्या होता है। क्योंकि मैं कभी भी इनसे अभिभूत नहीं हुआ था। स्वस्थ शरीर और सुख-साधनों की प्रचुरता में मेरे दिन क्षणों की तरह जाते थे। एक दिन मैं अपने मित्रों के साथ खेल रहा था। सहसा आंखों में पीड़ा हुई। शरीर में बिजली-सी कौंध गई। मैं अपने आपको वहां रोक न सका। बड़ी कठिनाता से घर पहुंचा। विस्तर पर लेट गया। धीरे-धीरे पीड़ा बढ़ती ही गई। वेदना से मैं बहुत व्याकुल हो रहा था। पिताजी ने बहुत उपचार करवाए। माता ने मेरी वेदना में अपनी सारी ममता उण्डेल दी। पत्नी ने अपनी सारी शक्ति लगा दी, पर वेदना शान्त न हुई, अपितु बढ़ती ही गई। मैं व्याकुलता के मारे कराहने लगा। जब सारे ही उपचार व्यर्थ गए तो मेरा धैर्य भी डोल गया। सभी पारिवारिक चिन्ता से अभिभूत होकर तड़फने लगे। मेरी सुरक्षा का कोई भी प्रबन्ध नहीं कर सके। अन्ततः मैंने ही अपना आत्म-चिन्तन किया। कर्मवाद की ओर चिन्तन चला। आत्मा में एक ज्योति स्फुलिंग उद्भूत हुआ। उर्ध्वगामी चिन्तन के परिणामस्वरूप मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा—मैंने अपने पूर्वजन्म में जहां सुकृत किया था, वहां कुछ दुष्कृत भी किया है। सुकृत के परिणामस्वरूप यह अपार वैभव, सुखी परिवार आदि मिले और दुष्कृत के परिणामस्वरूप यह असह्य नेत्र-वेदना। धर्म-ध्यान के साथ कहीं आर्त्तध्यान भी रहा है और उससे ही मुझे इस समय पराभूत होना पड़ा है। इस जीवन में सुखोपयोग बहुत किया, किन्तु धर्माचरण तो किंचित भी नहीं किया। यदि इसी प्रकार जीवन चला तो संगृहीत सुकृत समाप्त हो जाएंगे और केवल अनुताप ही रहेगा। आज एक व्याधि शरीर में हुई है और उससे भी मुक्ति नहीं मिल रही है। यह शरीर तो व्याधियों का पिण्ड है। यदि एक के बाद एक व्याधि आती गई तो जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य—साधना तो कहीं रह जाएगी। आर्त्त-ध्यान में ही आयुष्य पूरा हो जाएगा। कितना अच्छा हो यदि किसी प्रकार मैं इस व्याधि से मुक्त हो जाऊं तो जन्म और मृत्यु से भी मुक्त बनने के लिए अपनी सारी शक्ति लगा दूं।

मेरे इस ऊर्ध्वगामी चिन्तन का प्रभाव जहां मेरे मानस पर पड़ा, वहां नेत्रों पर भी पड़ा। पीड़ा में भी कुछ अल्पता हुई। चिन्तन ने और बल पकड़ा। चिन्तन संकल्प में बदला और हृदय से ध्वनि निकली—यदि इस समय व्याधि से मुक्त हो जाऊं तो समस्त सांसारिक बन्धनों को छोड़कर परिव्राजक बन जाऊं। चिन्तन और संकल्प से उद्भूत उस ध्वनि ने वेदना को अभिभूत किया। बहुमूल्य औषधियां जिस वेदना पर नियंत्रण पाने में असमर्थ रहीं, वहां हृदय की ध्वनि ने उस पर सफलतापूर्वक विजय

प्राप्त कर ली। कुछ ही घण्टों में मैं उठ बैठा। सभी चकित रह गए। मेरी स्वस्थता का श्रेय सबने ही लेना चाहा, किन्तु जब मैंने अपना सकल्प बताया और उसके फलस्वरूप ही रोगोपशमन की बात कही तो सारे ही मौन हो गए। प्रातःकाल होते ही जब मैंने विहित सकल्प को क्रियान्वित करने का प्रस्ताव पारिवारिकों के समक्ष रखा तो सभी ने ही उसका तीव्र विरोध किया। माता-पिता ने अपनी वृद्धावस्था की भावी योजनाओं को व्यक्त करते हुए व धर्मपत्नी ने अपने को निराधार बताते हुए मुझे सकल्प से च्युत करने का पूरा प्रयत्न किया, किन्तु मैं उनके मोह में नहीं फसा। अपने विचारों पर दृढ़ रहा। मैंने उन्हें एक ही उत्तर दिया—यदि इस असह्य वेदना से मैं स्वस्थ न हो सकता तो उसका परिणाम कितना भयंकर होता, यह किसी से भी छुपा हुआ नहीं है। उस समय भी आपको मेरे साथ निर्मोह भाव बरतना पड़ता। मैं यदि विरक्त होकर सत्य पर अग्रसर होने के लिए समुत्सुक हूँ तो आप मुझे अपने मोह-पाश में आबद्ध करने के लिए इतने क्यों आतुर हो रहे हैं? सबकी सहमति से मैं अपने सकल्प को क्रियान्वित करने में पूर्णतः सफल रहा।

राजन् ! जब मैं परिवार व धन आदि के बीच था, मेरा कोई संरक्षक या नाथ न बन सका। मेरे परित्राण में सभी असफल रहे, किन्तु जब मैंने अपने विवेक को जागृत किया तो सभी प्रकार के पाप-कर्मों से निवृत्त होने की लालसा हुई और उसी लालसा ने मुझे अपना ही नाथ बना दिया। अन्य प्राणियों को भी सम्यक्-लालभ देता हूँ, उन्हें योग-क्षेम में कुशल करता हूँ, अतः मैं उनका भी नाथ या रक्षक हो सकता हूँ। राजन् अब तुम ही बताओ, नाथ तुम हो या मैं ?

महाराज श्रेष्ठिक मुनि के चरणों में झुक गए। वे बोले—मुनिवर ! वस्तुतः आप ही नाथ हैं और मैं अनाथ। मैं अपने अहंभाव के कारण ही आपका नाथ बनना चाहता था। किन्तु नाथ वह नहीं हो सकता, जो परिग्रह, परिवार व अधिकारों के मद में होता है। नाथ वह है, जो इनसे पराङ्मुख होकर चलता है। मुनिवर ! मुझे भी थोड़ा अध्यात्म-ज्ञान दीजिए, जिससे कुछ स्वयं को समझ सकूँ।

मुनिवर बोले—राजन् ! दुःख से अभिभूत होने पर बहुधा व्यक्ति कभी ईश्वर को कोसता है, कभी भवितव्यता को और कभी परिस्थिति को, किन्तु जहाँ से सुख उत्पन्न होता है, वही से दुःख उत्पन्न होता है। दोनों का उद्गम स्थल एक ही है और वह है—अपनी आत्मा। इसलिए कहा गया है—

अप्या नई वेयरणी, अप्या मे कूडसामली।

अप्या कामदुहा वेनु, अप्या मे नन्दन बन ॥

अपनी आत्मा ही बैतरणी नदी है और अपनी आत्मा ही शाल्मली वृक्ष है। अपनी आत्मा ही कामवेनु है और अपनी आत्मा ही नन्दन बन है।

अप्या कत्ता विकत्ताय, दुहाणय सुहाणय।

अप्या मित्त मसित्त च, दुपट्ठय सुपट्ठयो ॥

सुख-दुःख की कर्ता अपनी आत्मा ही है। वही मित्र व अमित्र है तथा वही सुप्रस्थित व दुष्प्रस्थित है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि अहं, आसक्ति व अविचार-लिप्सा में उपरत होकर ऊर्ध्वगामी चिन्तन करे।

इमाहु अन्ना वि अणाहया निमा तामेगचिन्तो निहुओ मुसेहिये ।

जो पक्वइत्ताण मन्नव्याइ सम्म च नो फासइ पमाया ॥

राजन् ! अनाथ दो प्रकार के होते हैं। एक तो सत्क्रिया करते ही नहीं और दूसरे उम्र और प्रवृत्त होकर बीच ही में फिसल जाते हैं।

नाथ और अनाथ की इस परिभाषा में वे मुनि ही आगे चलकर 'अनाथी मुनि' के नाम से प्रसिद्ध हुए।



चक्रवर्ती का भोजन

एक बार एक भूखा ब्राह्मण चक्रवर्ती की सभा में पहुँचा। कुशल-प्रश्न के अनन्तर उसने अपनी दीनावस्था से चक्रवर्ती को परिचित किया। चक्रवर्ती को उस पर दया आई। उसने उसे यथेच्छ वर मागने के लिए कहा। कुछ देर उसने स्वयं सोचा। फिर मन में आया, श्रीमतीजी से भी परामर्श तो कर लेना चाहिए। चक्रवर्ती से कुछ समय मागकर घर आया। दोनों में लम्बे समय तक विचार-विनिमय चलता रहा, किन्तु किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँचे। पत्नी की ओर से प्रस्ताव आया, दो सौ-चार-सौ रुपये माग लिए जाएँ, किन्तु बीच ही में तर्क आ गया, वे तो दो-चार महीनों में समाप्त हो जाएँगे। फिर वही गरीबी रहेगी। बहुत सारा धन, सोना-चादी व जायदाद माग ली जाए। फिर तर्क सामने आया, वह तो किसी के द्वारा चुराया भी जा सकता है। वर तो ऐसा मागना चाहिए, जिससे वर्तमान का कष्ट भी दूर हो जाए और भविष्य में भी कमी कष्ट देखना न पड़े। श्रीमतीजी ने प्रस्ताव रखा, यदि हमें प्रतिदिन एक-एक घर पर खीर-खाड़ का भोजन व सोने की एक मुहर मिल जाए तो कोई खट-पट भी नहीं रहेगी और जिन्दगी बड़े सुख में बसर होगी। श्रीमान्जी को भी यह प्रस्ताव अच्छा लगा, आखिर पेट ब्राह्मण जो ठहरा।

दूसरे दिन वह ब्राह्मण राज-सभा में पहुँचा। श्रीमतीजी द्वारा बनाया गया प्रस्ताव का मसविदा बड़े स्वाभिमान के साथ उसने चक्रवर्ती के सम्मुख रखा। सुनकर चक्रवर्ती मन ही मन कुछ हँसा और उसे उसके भाग्य पर तरस भी आई। किन्तु वह आखिर क्या करता? उसने आदेश कर दिया, इस ब्राह्मण-दम्पति को प्रतिदिन एक-एक घर भोजन कराया जाए और दक्षिणा में एक मुहर दी जाए। चक्रवर्ती के आदेश से ब्राह्मण व उसकी पत्नी को पहले दिन चक्रवर्ती के यही भोजन कराया गया। सुसंस्कारित व सुस्वादु भोजन से दोनों ही पति-पत्नी बड़े तृप्त हुए। अपने भाग्य को सराहने लगे। क्रमशः एक-एक कर वे प्रतिदिन नये-नये घरों में भोजन के लिए जाने लगे। किन्तु भोजन इतना स्वादिष्ट नहीं लगता था, जितना कि पहले दिन लगा था। रह-रहकर उन्हें वह भोजन याद आता और मन में पश्चात्ताप होता कि यदि चक्रवर्ती के घर का ही भोजन माग लेते तो कितना सुन्दर होता? किन्तु जब बाण हाथ से निकल चुका, तब क्या हो सकता है? वे रात-दिन झूरने लगे कि चक्रवर्ती के भोजन की बारी कब आए? चक्रवर्ती के राज्य में तो हजारों बड़े-बड़े नगर व लाखों छोटे शहर, कस्बे व देहात थे। ब्राह्मण व उसकी पत्नी के कई जन्म भी पूरे हो जाए तो भी पुनः अवसर मिलना कठिन है।

ब्राह्मण और चिन्तामणि रत्न

एक ब्राह्मण एक दिन नदी के किनारे निठल्ला बैठा ककर बीन रहा था। उसे एक चमकीला पत्थर दिखाई दिया। उसने उसे उठा लिया और अपनी अटी में दबा लिया। सामने नदी बह रही थी। चारों ओर शस्यश्यामल वनराजि थी। आकाश में बादल मडगर रहे थे। बड़ी सुहावनी ऋतु थी। ब्राह्मण को भूख लग आई। उसके मन में आया कितना अच्छा हो खाने के लिए आज गर्म खीर और पुरी मिले। सकल्प मात्र से ही वे सारी वस्तुएँ उसके सम्मुख उपस्थित हो गईं। उसने मनोहृत्य भोजन किया। कई दिनों की भूख दूर हो गई।

नदी के तट पर वृक्ष के नीचे बैठा-बैठा वह ऊचने लगा। उसके मन में फिर विचार आया, वे कितने सौभाग्यशाली व्यक्ति हैं, जिनके पास उन्नत व भव्य अट्टालिकाएँ हैं और उनमें वे सुकोमल शय्या पर लेटे हुए आनन्द की नीद लेते हैं। मेरे पास भी यदि यह सुख-सामग्री होती तो इस समय न मालूम कितना मजा लूटता। ज्यों ही आँखें उठा कर इधर-उधर देखा, उसने अपने आपको उसी प्रकार के भव्य प्रासाद में सुकोमल शय्या पर पाया। उसने सोचा आज तो तकदीर ही तूट गया है। वह आराम से लेट गया। उसे गहरी नीद आ गई। थोड़ी ही देर बार एक कौआ समीपस्थ खिडकी के पास बैठकर बड़े जोरो से काव-काव करने लगा। उसकी नीद टूट गई। उसे गुस्सा आया। हाथ की एक फटकार से उसने उसे उड़ा दिया। किन्तु कौआ भी हराम था। वह उड़ता, पुन आकर बैठ जाता और काव-काव करने लगता। ब्राह्मण भी गुस्से में भर गया। वह उसे उड़ाता-उड़ाता हैरान हो गया। उसने गुस्से में आकर अपनी अटी में पड़ा वह चमकीला पत्थर निकाला और यह कहते हुए कि जिन्दागी में आज ही तकदीर खुला और आज ही तू आनन्द नहीं लेने देता, कौए के पीछे दे मारा। कौए ने पत्थर को अपनी चोंच में पकड़ा और वह अनन्त आकाश में उड़ गया।

ब्राह्मण की वह भव्य अट्टालिका माया की तरह विनष्ट हो गई। वह उसी वृक्ष के नीचे उसी तरह बैठा था, जैसे कि वह पहले था। उसकी आँखों के सामने नदी थी, ऊपर हरा-भरा वृक्ष और अनन्त आकाश। उसे अब भान हुआ कि वह पत्थर नहीं था, कोई चिन्तामणि रत्न ही था और उसी के प्रभाव से यह सब कुछ हो रहा था। वह जोर-जोर से रोने लगा, पर उस सुनसान अरण्य में उसका रोदन सुनने वाला कौन था और अब उसे पुन. वह चमकीला पत्थर प्रदान करने वाला भी कौन ?

खाती और उसका पुत्र

एक खाती अपने चोर-कर्म में बड़ा निष्णात था। कठिन से कठिन स्थान में संध लगाकर घुस जाना और वहां से धन चुरा लेना उसके बाएं हाथ का खेल था। धर्मपत्नी व एक पुत्र का उसका छोटा-सा परिवार था। एक दिन उसकी धर्मपत्नी ने कहा—आप तो अपनी विद्या में कुशल हैं। कभी भी घर में धन का अभाव नहीं खटका और न कभी चोरी करते ही पकड़े गए। किन्तु आपका यह लाडला बेटा तो निरा बुद्ध है। कभी-कभी इसे भी साथ ले जाया करो और कुछ प्रशिक्षण दिया करो। यदि यह इस विद्या को न सीख सका तो कहीं यह न हो जाए कि आपकी विद्या आपके ही साथ चली जाए और इसको हाथ मलते ही रह जाना पड़े। खाती ने कहा—तो आज ही मैं अपने साथ ले जाता हूँ। एक बड़े सेठ के घर चोरी करनी है।

आधी रात को पिता और पुत्र दोनों चल पड़े। भीषण अन्धकार, नीरव वातावरण और सुनसान मार्ग में दोनों व्यक्ति बड़े जा रहे थे। सेठ का घर आ गया। खाती ने दो-चार क्षणों में अपने पुत्र को संध लगाने का तरीका बताया और स्वयं दिवाल तोड़कर पैरों के बल मकान में घुसने लगा। सयोगवश उसी कमरे में सोए कुछ व्यक्ति जग पड़े और उन्होंने चोर को रंगे हाथों पकड़ लिया। पैर मकान के अन्दर और सिर बाहर। घर वाले उसे अपनी ओर खींचने का प्रयत्न करते और वह बाहर की ओर। लड़के ने जब यह अजीब माया देखी तो दौड़ा-दौड़ा मा के पास आया। सारी घटना सुनाई और बोला—मा ! अब क्या करना चाहिए ? मा ने तलवार देते हुए कहा—जल्दी जा और अपने बाप का सिर उतार ला। कहीं वह पकड़ा गया तो हम सब ही मारे जाएंगे। लड़का दौड़ा हुआ गया और माता के निर्देशानुसार पिता का सिर काट लाया।



मकान का अभिलाषी बनिया

एक मुनि भिक्षा के लिए जा रहे थे। मार्ग में उन्हें एक बनिया मिला। बनिये ने सहजरूप से नमस्कार किया तो मुनि ने उसे कुछ सत्संग करने के लिए प्रेरणा दी। बनिये ने कहा—महाराज ! सत्संग के लिए समय ही नहीं मिलता। सुबह में शाम तक कड़ा परिश्रम करता हूँ, तब कहीं खूखी-सूखी दो रोटी नसीब होती हैं। भूखे पेट सत्संग नहीं हो सकता। मुनि ने उत्तर में कहा—तेरी बात सही है, पर साठ घड़ी के दिन-रात में यदि अठावन घड़ी पेट की चिन्ता में बीतती है तो दो घड़ी आत्मा की चिन्ता में भी लगनी चाहिए। अन्यथा शरीर तो हूष्ट-पुष्ट रहेगा, किन्तु आत्मा तो भूखी ही रह जाएगी। उसके लिए अधिक समय न सही। वह तो थोड़े में ही सन्तुष्ट हो जाएगी।

बनिया कुछ शरमाया और बोला—परिस्थितियों ने यदि थोड़ा भी साथ दे दिया तो मैं रात-दिन सत्संग में ही बैठा रहूँगा। मुनि अपने स्थान की ओर चले गए और बनिया अपने घर की ओर। बनिये के भाग्य ने कुछ पलटा खाया। उनके पास कुछ पैसे भी इकट्ठे हो गए। फिर तो उनके रहन-सहन, वेशभूषा आदि में भी कुछ परिवर्तन आ गया। एक दिन फिर उसका उन्ही मुनि से साक्षात्कार हो गया। दोनों ने एक दूसरे को पहचान लिया। मुनि ने उसकी सुधरी हुई स्थिति का भी अनुमान लगा लिया, इसलिए उन्होंने तरक्षणा कहा—क्यों अब तो सत्संग के लिए दो घड़ी का समय तुम्हें मिलेगा न ? भाग्य ने कुछ तेरा साथ दिया है, ऐसा मालूम पड़ता है।

बनिये ने कहा—हा, महाराज ! आपकी कृपा से अब तो कुछ-कुछ स्थिति सुधरी है। किन्तु अभी बाकी भी बहुत है। यद्यपि अब रोटी के लिए लाला नहीं है, पर आप जानते हैं, समाज में रहकर जीना कितना मुश्किल होता है। बराबरी का पूरा ध्यान रखना पड़ता है। गफलत से यदि थोड़ी-सी भी असावधानी हो जाती है तो फिर लेने का देना पड़ जाता है। समाज में रहने वाले के पास एक अच्छा मकान, बाजार में अच्छी दुकान, दस-बीस नौकर-चाकर, चढ़ने के लिए बगधी या बैलगाड़ी न हो तो उसे तो लोग गलू तेली समझते हैं। आपकी कृपा से इतना और हो जाए तो फिर दिन भर बैठा माला ही फेरूँगा। सारे झगड़े-झगड़ खत्म कर दूँगा। फिर तो आप कहेंगे तो साधु ही बन जाऊँगा। किन्तु अभी तो माफ करिएगा।

बनिया फिर बात टाल गया। मुनि का समझाने का फर्ज था, उसे उन्होंने अच्छी तरह निभाया। जब कोई कुछ सुनना ही नहीं चाहता तो मुनि जबरदस्ती

उसके गले थोड़े ही उतार सकते हैं ।

शुभ दिन आते हैं, तब मनुष्य के लिए सुख के सारे द्वार खुल जाते हैं । परिवार बढ़ता है, धन बढ़ता है, व्यवसाय अच्छा चलता है, प्रतिष्ठा बढ़ती है और कल्पनाशील आनन्द मिलता है । बनिये के भी सब कुछ वैसा ही हुआ । घर में अनाज की तरह धन का ढेर लग गया । बनिया उसे देखकर फूला नहीं समाता । अपने पुरुषार्थ व बुद्धि-कौशल की भूरि-भूरि प्रशंसा करता । उसके पैर जमीन पर रहते, आखे आकाश में और दिमाग किसी दूसरे लोक में । धन के साथ उन्माद भी बढ़ा । मनुष्य के साथ मनुष्य का व्यवहार करते हुए उसे लज्जा का अनुभव होता ।

बनिया, उसकी माता और उसकी धर्मपत्नी, केवल तीन व्यक्तियों का ही छोटा-सा परिवार था । धन-वृद्धि के साथ बनिये की आकांक्षाओं ने भी जोर पकड़ा । अपनी मा से कहने लगा—“जिस मकान में रहते हैं, बहुत छोटा है । अच्छा हो एक सात मजिल की ऊंची व भव्य अट्टालिका बनाई जाए । अपनी शान के अनुरूप वहा रहेंगे ।” मा ने कहा—“घर में हम तीन ही तो प्राणी हैं । बड़े मकान की क्या आवश्यकता है । इस मकान में बड़ी आसानी से काम चल जाता है । दूसरा मकान बनवाने की खटपट क्यों अपने सिर लेता है ?”

मा के मना करने पर भी बनिया नहीं माना । नया मकान बनना आरम्भ हो गया । कुशल कारीगर लगाए गए । दिन में दो-तीन बार वह स्वयं वहा जाता और जल्दी करवाता । मकान बनकर लगभग तैयार हो गया । एक दो दिन में ही वहा बसने की उमग ने उसे और उतावला कर दिया था । एक दिन सायंकाल दुकान से कुछ विलम्ब से घर लौटा । मा भोजन के लिए प्रतीक्षा कर रही थी । बनिया आया और मा से बोला—तुम खिचड़ी ठंडी करो, मैं अभी मकान देख कर आया । मा ने कहा—नहीं, पहले खिचड़ी खाले और फिर मकान देखने जाना । मा, मैं अभी आया, कहते हुए बनिया दीड गया और अपने नए मकान में पहुंच गया । मकान लगभग तैयार था । केवल एक-आध दिन का छोटा-मोटा काम बाकी था । मकान बड़ा आलीशान बना था । बनिया उसे देखकर बासो उछलने लगा और अपने भाग्य को सराहने लगा । वह एक दरवाजे में से होकर आगे जा रहा था । उसे एक बार फिर उन्ही मुनि की स्मृति हो आई । उनके प्रति व्यग्न कसते हुए अपने मन में ही उसने कहा—क्या सत्सग में ऐसी भव्य अट्टालिका मिलती ? उसी समय उसके सिर पर ऊपर से एक भारी हथोड़ा गिरा । एक बढई अपने मच पर बैठा रोशनदान में कील लगा रहा था और उसके हाथ से वह हथोड़ा गिर पड़ा था । बनिया घराशायी हो गया । उसके प्राण-पखेरू उड़ गए और वह चिर निद्रा में लीन हो गया । घर पर मा व पत्नी प्रतीक्षा कर रही थी, बसने के लिए नया मकान और सत्सग के लिए मुनि । किन्तु बीच ही में कृतान्त के प्रहरी ने उसे धर-दबोचा और अपने स्वामी के समक्ष प्रेत्यश्रम में उपस्थित कर दिया ।

मरणोत्सुका वृद्धा

एक वृद्ध महिला अपने घर में अकेली ही रह गई। उसके लड़के, पौते, देवते-देखते ही चल बसे। इसमें वह बहुत दुःखित हुई। अड़ोस-पड़ोस में तो क्या, गांव में भी वह सबसे वृद्धा थी। आए दिन कहती रहती, परमेश्वर मेरे नाम की चिट्ठी भेजना भूल गया। मैं तो बार-बार राम से प्रार्थना करती हूँ कि वह मुझे अब जल्दी ही उठा ले। मेरे जीने में क्या सार रह गया है।

लोग कहते—बुढ़िया ! जब तक मौत नहीं आती, यही कहती हो, किन्तु जब वह आगगी, छुपने के लिए सबसे आगे दौडोगी।

बुढ़िया कहती—नहीं, मैं तो उसके स्वागत के लिए तैयार हूँ। वह आए भी तो ?

बुढ़िया को इस प्रकार की बातें बनाते बहुत दिन बीत गए। एक दिन उसके घर में एक बड़ा-सा काला सर्प निकल आया। बुढ़िया ने उसे ज्यों ही देखा, घबराकर बाहर दौट आई। हल्ला मचाने लगी—बचाओ, बचाओ। लोग दौडते हुए आए। बुढ़िया से सर्प की घटना सुनी तो कहने लगे—तुम तो मौत चाहती थी न ? यह यमराज का दूत ही तो है और तुम्हें लेने के लिए आया है, घबराती क्यों हो ?

बुढ़िया बोली—ऐसे तो मैं नहीं मर सकती।



मातृ दिन का पारिश्रमिक चाहते थे और राजा व्यासजी से ज्ञान । दोनों के ही जब अपने-अपने पात्र कोरे रह गए तो क्रोध आना स्वाभाविक ही था । दोनों एक दूसरे पर बरस रहे थे । उसी समय उधर से नारदजी भी आ गए । राजा और व्यासजी से घटना का ज्ञान प्राप्त किया । दोनों ने ही बीच-बचाव करने के लिए नारदजी से प्रार्थना की । नारदजी ने तक का सहारा न लेकर व्यवहार का सहारा लिया । उन्होंने दोनों के ही हाथ-पैर अच्छी तरह से बांध दिए व पैरों के बीच एक डंडा भी फसा दिया । नारदजी ने दोनों से ही कहा—अब आप दोनों ही एक दूसरे को खोलिए । दोनों ही सविषाद बोल पड़े—नारदजी ! आपको हमेशा ऐसा ही मजाक सूझता है । बंधे हुए व्यक्ति क्या एक दूसरे को कभी खोल सकते हैं ?

नारदजी ने राजा को सम्बोधित करते हुए कहा—तभी तो तुम्हें ज्ञान नहीं मिला । व्यासजी माया में फसे हुए हैं और तू राज्य-व्यवस्था में । कैसे तो इनकी वाणी में वह चमत्कार हो सकता है और कैसे तुम्हें ज्ञान मिल सकता है ? यदि तुम्हें ज्ञान ही पाना था तो किसी निर्ग्रन्थ से कथा श्रवण करता ।



सेठ और उसका रत्न

एक सेठ बाजार गया। उसके पास एक बहुमूल्य रत्न था। वह राह चलता हुआ बार-बार उसे देखता और अपने भाग्य को सराहता। जब रत्न पर उसकी नजर पड़ती, उसका मन अनेको कल्पनाओं में खो जाता। उसे लगता, जैसे कि ससार में किसी के पास भी ऐसा रत्न नहीं होगा। उस रत्न पर ही उसकी सारी भावी योजनाएँ अवलम्बित थीं। एक क्षण मन में आया—रत्न बेच देना चाहिए। बहुत सारा धन मिलेगा। दूसरे क्षण सोचता, नहीं। कुछ दिन बाद यदि इसे बेचूंगा तो धन और अधिक मिलेगा। उससे मेरा घर भर जायेगा। धन इतना मिलेगा कि घर में रखने को भी स्थान नहीं मिलेगा। नाना प्रकार की कल्पनाओं में तैरता-डूबता बाजार की ओर बढ़ा जा रहा था। भीड़ बहुत थी। रत्न हाथ में ही था। किसी का धक्का लगा और वह हाथ से फिसलकर कहीं गिर पड़ा। चारों ओर धूल ही धूल थी, अतः खोजने पर भी वह नहीं मिला। सेठ के लिए इससे बढकर और क्या दुःख होता। वह हताश व उदास होकर उल्टे पाव लौट आया। घर पहुँचा। उसके मन में तो वह रत्न ही घर किये हुए था। रत्न खोजने के लिए अकूल रहा था। घर पहुँचते ही उसने अपनी छलनी निकाली और घर के चौक में पड़ी हुई धूल को छानने लगा। इसी काम में सारा दिन बीत गया। न कुछ खाना, न कुछ पीना और न किसी की ओर देखना भी। शरीर धूल से भर गया, किन्तु उसका मन बिना रत्न मिले न भरा। वह अर्ध-विक्षिप्त-सा उसी एक काम में तल्लीन था। किसी परिचित ने आकर पूछा—सेठजी! आज क्या कर रहे हो?

आखे पोछते हुए सेठ ने उत्तर दिया—कुछ कहने की बात नहीं है। मैं तो आज लुट गया।

आगन्तुक—क्या हुआ?

सेठ—एक बहुमूल्य रत्न खो गया।

आगन्तुक—कहा?

सेठ—बाजार में।

आगन्तुक—तो फिर यहाँ क्या करते हो?

सेठ—रत्न दूढ़ता हू ।

आगन्तुक—(हँसकर) सेठजी ! आपने रत्न तो बाजार में खोया है और घर की धूल में उसे खोज रहे हो, यह कौन-सी समझदारी है ? वह रत्न यहाँ कैसे मिलेगा ? यदि खोजना ही है तो चलो, बाजार में चलते हैं और खोजते हैं । सम्भव है, वहाँ मिल सके ।

सेठ ने उसकी एक भी नहीं मानी । उसका एक ही कहना था, जब रत्न धूल में ही गिरा है तो यहाँ क्यों नहीं मिलेगा ? धूल में गिरा हुआ रत्न आखिर धूल में ही तो मिलना चाहिए ।



इलापुत्र

इलावर्धन नगर में धनदत्त नामक एक सेठ रहता था। धन-धान्य व सुख-समृद्धि से वह परिपूर्ण था। बड़ा व्यवसाय और उससे बड़ी आय। नीति-निष्ठा व सत्यप्रियता के लिए वह दूर-दूर तक प्रसिद्ध था। सन्तान का अभाव उसे प्रतिपल खलता और इतना खलता कि व्यवसाय व वैभव उसे भारभूत लगते। सब तरह की समृद्धिया भी उसे ऐसी लगती जैसे उसके पास कुछ भी न हो। उसके रात और दिन चिन्ता में बीतते। इस अभाव की पूर्ति के लिए उसने सारे तीर्थों और देव-मन्दिरों की खाक छान डाली, पर कोई वरदान न मिला। भोपे, पण्डे, पुजारी व साईं बाबा की शरण भी ली व लाखों रुपये खर्च भी किए, किन्तु सारा व्यर्थ। धन से भी अधिक उसको पुत्र की आकांक्षा थी, जो किसी भी प्रकार पूर्ण न हो सकी। सेठ की अवस्था ज्यो-ज्यो ढलती जा रही थी, त्यो-त्यो उसकी व्यग्रता भी बढ़ती जा रही थी और उसे कोई उपाय नहीं सूझ रहा था। अन्ततोगत्वा उमने अपनी कुलदेवी 'इलादेवी' की आराधना की। सयोगवश पुत्र हो गया और सेठ की कामना पूर्ण हो गई। इलादेवी की कृपा के फलस्वरूप पुत्र हुआ था, अतः उसका नाम इलापुत्र रखा गया। पुत्र का दूसरा नाम इलाचीकुमार भी था।

इलापुत्र क्रमशः बाल्य व शैशव अवस्था को पारकर तारुण्य के द्वार पर पहुँचा। वह सुन्दर, सुडौल, सुकोमल व शालीन था। उसकी बुद्धि प्रखर थी। उसकी सहज चपलता, वाणी की मधुरता और विचक्षणता हर एक को अपनी ओर खींच लेती। थोड़े ही दिनों में उसने अच्छा अध्ययन कर कुशाग्र प्रतिभा का परिचय दिया। माता-पिता का वह बड़ा विनीत व आज्ञाकारी था। धीरे-धीरे उसने व्यवसाय में प्रवेश किया और वहाँ भी उसने शीघ्र ही कुशलता का परिचय दिया। सेठ अपने वार्षिक्य में पुत्र की सहज स्वाभाविकता से सन्तुष्ट था और उसे अब किसी प्रकार की चिन्ता नहीं थी।

कुमार एक दिन कहीं जा हा रहा। मार्ग में एक जगह नाटक होते देख वह भी वहाँ ठहर गया। कुशल नर्तक और नर्तकियों ने दर्शकों को अपनी कला पर मुग्ध कर लिया। इलापुत्र ने भी सब कुछ देखा। अन्य नर्तक व नर्तकियों की अपेक्षा एक नट-कन्या पर इलापुत्र अधिक मोहित हुआ। वह अपनी कला और उसके प्रदर्शन में

बहुन निपुण थी। उसका लावण्य कला का आश्रय पाकर निखर रहा था। इलापुत्र आगे बढ़ न सका। नाटक समाप्त हो जाने पर भी वह वहा खड़ा-खड़ा उसे ही देखता रहा। जब वह उसके नेत्रों में ओझल हो चुकी तो वह उसे अपने हृदय में भाकने लगा। उसने अपने मन में प्रतिज्ञा कर ली, मेरा विवाह-संस्कार इस कन्या के साथ ही होगा।

इलापुत्र घर आ गया। किन्तु उसका दिल उचट गया। न वह व्यवसाय में ध्यान देता, न वह अपनी मित्र-मंडली में बैठता और न माता-पिता के पास भी। खाना-पीना, हँसना-खेलना वह सब कुछ भूल गया। सोते-जगते, उठते-बैठते प्रत्येक क्षण में उसे वह नट-कन्या ही दिखाई देती, किन्तु वह किसी से भी इसके बारे में कुछ भी न कहता। वह स्वयं ही किसी मार्ग की खोज में था, पर मिल नहीं पा रहा था। वह अत्यन्त चिन्तित रहने लगा और उसकी चिन्ता ने उसके स्वास्थ्य को दबा डाला। सेठ घनदत्त को यह देखकर अत्यन्त कष्ट हुआ। उसने कारण जानना चाहा, पर पता न चल सका। सेठ ने एक दिन स्वयं कुमार से ही पूछा तो उसने पिता के समक्ष सारी आपबीती कह डाली। सेठ को बहुत दुःख हुआ। वह नहीं चाहता था कि उसका पुत्र किसी एक नर्तकी से प्यार करे। उसके अरमान तो थे सम वैभवसम्पन्न व आचार-सम्पन्न किसी कुलीन कन्या के साथ उसका विवाह-संस्कार हो। जब यह बात सुनी तो वह अपने पुत्र को भी सम्यक्तया समझ नहीं पाया। सेठ ने उसे बहुत कुछ समझाया और अपने विचारों की ओर झुकाने का प्रयत्न किया, किन्तु सफल न हो सका। सेठ ने पुत्र की भाग को स्वीकार नहीं किया तो पुत्र ने पिता की शिक्षा को। दोनों ही चिन्तातुर एक दूसरे से विलग रहने लगे।

इलापुत्र का प्रयत्न चालू रहा। उसने प्रछन्न रूप से नट को अपने पास बुलाया और सारी व्यथा उसे सुनाई। धन का प्रलोभन भी दिया, किन्तु नट ने भी एक न मानी। उसने स्पष्ट इन्कार कर दिया। उसने कहा, मैं अपनी कन्या उसे ही दूँगी जो हमारी तरह ही नट-विद्या में निष्णात हो। मैं किसी भी तरह आपके प्रलोभन को स्वीकार नहीं कर सकता।

कुमार बहुत दुःखित हो गया। पिता ने भी उसका साथ नहीं दिया और नट ने भी। पहली जटिल हो गई। हृदय और व्यवहार के बीच की इतनी लम्बी-चौड़ी व गहरी खाई को वह किस प्रकार पाट सकेगा, रह-रहकर यह एक ही प्रश्न उसके सम्मुख उभर रहा था। बिना किसी सकोच के कुमार ने कातरभाव से नट के सम्मुख अपनी याचना को एक बार और दुहराया और कहा, बिना किसी ननुनच के मैं तुम्हारी किसी भी शर्त को मानने के लिए प्रस्तुत हूँ। मेरे जीवन की रक्षा तुम्हारे हाथ है।

नट ने अपने प्रस्ताव में कुछ संशोधन करते हुए कहा—कुमार, घर छोड़कर हमारे साथ रहना, हमारी विद्या में कुशल होकर धन कमाना, यदि तुम्हें स्वीकार हो तो मैं कन्या प्रदान के बारे में उसके बाद ही कुछ सोच सकता हूँ।

इलापुत्र ने अपने आपको लक्ष्यपूर्ति के कुछ निकट पाते हुए तुरन्त उत्तर दिया, मुझे यह सहर्ष स्वीकार है। मैं अभी आपके साथ चलता हूँ। मुझे आप अपनी विद्या में निष्णात करें और मेरी भाग पूर्ण करें।

माता-पिता को बिना पूछे व बिना किसी सूचना के अपने धन-वैभव, भरे-पूरे परिवार व सुख-सुविधा को ठुकराकर इलापुत्र नट के साथ हो गया। गावों व नगरों में धूमता, नृत्य-विद्या सीखता, उसका प्रदर्शन करता तथा अपने भावी जीवन के सुनहले सपनों को सजोता हुआ दिन, महीने व वर्ष बिताने लगा। प्रखर प्रतिभा सम्पन्न होने के कारण नट-विद्या सीखने में उसे अधिक समय नहीं लगा। इलापुत्र की सहज जातुरी, मिलनसारिता व वाक्पटुता के कारण नट व उसका दल उसे बहुत चाहने लगा। अब तो ऐसा लगने लगा कि इलापुत्र बणिक्-पुत्र न होकर नट-पुत्र ही था।

अपनी कला प्रवीणता के कारण इस नट-दल की लोकप्रियता दूर-दूर तक फैल चुकी थी। बड़े-बड़े राजाओं और धनिकों के आए दिन उसे निमन्त्रण मिलते रहते थे। इलापुत्र के नट-विद्या में पूर्णतः निष्णात हो जाने के कारण प्रदर्शन के लिए नट-प्रमुख स्वयं न जाकर उसे व अपनी कन्या को भेजता रहता था। एक बार एक राजा के निमन्त्रण पर नट-प्रमुख ने इलापुत्र व अपनी सुख्मा कन्या को प्रदर्शन के लिए भेजा। नगर में बड़ी चर्चा हुई और जनता में नृत्य देखने की महती उत्कण्ठा। रंगमंच सजाया गया और यथासमय राजा, रानी, सभासद और अपार जनसमूह एकत्रित हो गया।

नृत्य, संगीत व वाद्य के सरस व मनोहर कार्यक्रम हुए। नटों की कला पर सारी ही जनता मुग्ध थी। रानी व सभासद भी मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा कर रहे थे। किन्तु राजा का ध्यान और ही कहीं था। उसे न तो संगीत व वाद्य ही सुनाई दे रहे थे और न नृत्य ही दिखाई दे रहा था। उसकी आँखों के आगे तो नट-कन्या का लावण्य ही नाच रहा था। वह मन ही मन उसे पाने की योजना बना रहा था। उसे लगा, जब तक यह युवक नट विद्यमान रहेगा, तब तक कन्या पाने में मैं असफल ही रहूँगा।

इलापुत्र भूमि में गड़े बास के ऊपर लगे हुए सुई के समान तीक्ष्ण नुकीले सिरे पर रखी हुई सुपारी पर अपनी नाभि को टिकाकर खूब तेजी से चक्कर लगा रहा था और साथ ही हाथ में नगी तलवार और ढाल लेकर अपनी पैतरेबाजी दिखा रहा था। राजा सब कुछ देखते हुए यह सोच रहा था, क्या ही अच्छा हो कि यह बास टूट जाए और यह युवक गिर पड़े। फिर कन्या तो मेरी ही है। इलापुत्र अपनी कला में पूर्ण निष्णात था। वह चक्कर लगाता हुआ सकुशल नीचे उतर आया। राजा के पास आया और उसने पुरस्कार की याचना की।

राजा का मन कुटिलता से भरा था। वह नहीं चाहता था कि नट को पुरस्कार देकर सम्मानित किया जाए। उसने कहा—मैं तो पूर्णतया तेरा नृत्य देख भी नहीं

पाया। इस समय मेरा मन राज्य-व्यवस्था की चिन्ता में लीन था। यदि एक बार नृत्य और दिखलावे तो मैं तुम्हें मनचाहा पुरस्कार दूँगा।

इलापुत्र फिर बास पर चढ़ा और उसी प्रकार घुण्टे तक अपनी कला का प्रदर्शन करता हुआ सकुशल राजा के सामने आ खड़ा हुआ। राजा की आशाओं पर तुषारापात हो गया। फिर भी उसने एक रास्ता और खोज निकाला। उसने कहा— नटराज, तू अपनी कला में दक्ष है, सारी जनता भी इस पर मुग्ध है, मुझे इतना आनन्द नहीं आया। मेरा मन स्थिर नहीं था और जब मन स्थिर न हो तो किसी भी कला का रसास्वादन कैसे हो सकता है? यदि तुम एक बार अपना प्रदर्शन और कर सको तो सुन्दर हो।

राजा की इस प्रवृत्ति से इलापुत्र थोड़ा खिन्न हुआ, किन्तु उसका साहस नहीं टूटा। वह फिर उसी प्रकार बास पर चढ़ा और अधिक जोश के साथ प्रदर्शन में जुट गया। सारी नट-मण्डली यह सोचकर कि इस बार राजा प्रसन्न होगा और बहुत पुरस्कार देगा। उन्होंने भी सगीत और वाद्य का समा बाध दिया। तीन प्रहर से भी अधिक रात्रि बीत चुकी थी। फिर भी जनता सोत्साह वहा डटी रही। इलापुत्र तीसरी बार भी सकुशल नीचे उतर आया और राजा से अपना पारिश्रमिक मागने लगा। राजा की कल्पनाओं पर पानी फिर गया। राजा नट का जीवन चाहता था और नट राजा से धन। दोनों का यह द्वन्द्व चल रहा था और विजय किसकी और कब होगी, यह सब कुछ भविष्य के गर्त में छुपा था। किन्तु एक दूसरे का, एक दूसरे पर अवश्य लक्ष्य केन्द्रित था। राजा ने घृष्टता के साथ फिर कह डाला, यदि पुरस्कार पाना है, तो एक बार खेल और दिखाओ। राजा के इस आदेश से सारे ही दर्शक घृणा और ग्लानि से भर गए। रानी को भी यह बहुत बुरा लगा। इलापुत्र का धीरज टूट गया। सारी नट-मण्डली श्रम से विखिन्न हो रही थी। इतना कष्टसाध्य खेल और वह भी चौथी बार एक ही रात में दिखाएँ, यह कैसे सम्भव हो सकता था? राजा सोच रहा था, इस बार मेरा बाण खाली नहीं जा सकेगा। इलापुत्र किकर्तव्यविमूढ-सा खड़ा था। वह क्या करे, कुछ समझ नहीं पा रहा था। यदि खेल नहीं दिखाता है तो रातभर का परिश्रम बेकार जाता है और दिखाता है तो जीवन का खतरा। नट-कन्या ने इलापुत्र को धन और जीवन के बीच इस प्रकार झूलते हुए देखा तो उत्साह, उमंग और धैर्य के साथ बोली—हिम्मत मत हारो। सूर्योदय सन्निकट है और दुश्मन स्वयं लज्जित होगा। बुरा चाहने वाले का बुरा होगा। हमारी कला में पवित्रता है, हृदय है और परिश्रम भी। किसी भी प्रकार वह व्यर्थ नहीं हो सकती। उसका फल मधुर है, चाहे कष्ट-साध्य क्यों न हो? आप चौथी बार भी ज़िद्द और दुश्मन का मुह बन्द करिए।

इलापुत्र राजा पर क्रोधित हो रहा था तो नट-कन्या से प्रेरणा और मार्ग-दर्शन भी पा रहा था। वह खिसियाने सिंह की तरह बास की ओर लपका और निमेषमात्र

मे ही ऊपर चढ़ सूई की तरह तीक्ष्ण नुकीली नोक पर रखी सुपारी पर अपनी नाभि टिका कर नगी तलवार हाथ में लिए हुगुने वेग से चक्कर लगाने लगा । उस वेग के साथ उसके मन का भी वेग बढ़ा । नगी तलवार उसके हाथ में थी और उसने राजा को अपना निशाना बनाना चाहा । प्राची के क्षितिज में लाल आभा फूटी और धीरे-धीरे थोड़ा-सा सूर्य ऊपर को आया । एक साधु उसी समय एक गृही के यहाँ पानी की भिक्षा के लिए आया । सुरूपा लावण्यवती गृहस्वामिनी मुनि को पानी की भिक्षा देने लगी । मुनि ने भिक्षा-ग्रहण की और अपनी समयित गति से चल दिए । इलापुत्र का ध्यान अपने खेल से हटकर उस मुनि व महिला की ओर चला गया । यकायक भावना बदली । उसने सोचा, कहा यह मुनि और कहा मैं । मुनि ने महिला की ओर आख उठाकर भी नहीं देखा और मैं एक नदी के प्रेम में पागल होकर इस प्रकार दर-दर की खाक छान रहा हूँ । कहा मेरा वह ऋद्धि-सम्पन्न परिवार, माता-पिता और सुख-सामग्री और कहा आज मैं इस एक नदी को पाने के लिए भिखारी बन रहा हूँ । मैं जिसे चाहता हूँ, राजा भी उसे चाहता है और हड़पने के प्रयत्न में है । यदि वह मेरी है तो कौन हड़पे और किसे हड़पे ? वस्तुतः यह सब बाह्यभाव है और आत्मा की कलुषता के परिणाम है । एक समय था, लोग मेरे से याचना करते थे और एक आज का यह समय है, जब कि मैं याचक हूँ । प्रेम-पाश केवल आत्मा को ही नहीं जकड़ता है, वह शरीर को भी पराधीन बनाता है । मैं स्वतन्त्र हूँ । क्यों किसी के अधीन रहूँ ? आखिर जिसे मैंने अपना सर्वस्व अर्पण किया है, वह भी तो मेरे साथ कितने दिनों की है । मैं जो सम्बन्ध स्थापित करने जा रहा हूँ, वह तो केवल शारीरिक है और कुछ ही वर्षों का है । सीमित समय के लिए असीमित बन्धनों को स्वीकार करना मूर्खता है । मैं उसे प्रेम करता हूँ, पर वह मुझसे अभी तक दूर है । जितनी तपस्या मैंने इस एक नर्तकी को पाने के लिए की और जितने दुःसाध्य कष्ट सहें, यदि इतनी तपस्या मैं अपनी आत्मा के लिए करता तो न जाने आज किस उज्ज्वलता में अपने आपको पाता । भावना की विशुद्धि बढ़ी, विरक्ति हुई, सम्यक्त्व प्राप्त किया, साधुत्व आया, कषाय का उच्छेद किया और उसी बास पर निरावरण केवलज्ञान प्राप्त कर लिया । अब इलापुत्र का न राजा से कोई द्रोह रह गया और न नट-कन्या से अनुराग । नीचे उतरा और उसी रगमच से उसने जन-कल्याण का उपदेश दिया । राजा और नदी दोनों को ही विरक्ति हुई और अनासक्त भावना में रमण करने लगे ।



आषाढमुनि

बाल्य-अवस्था में ही आषाढमुनि गुरु के पास दीक्षित हुए। वे बड़े विनीत, गुरु-भक्त और मेधावी शिष्य थे। रात-दिन शास्त्राभ्यास, स्वाध्याय में तल्लीन रहते। ज्ञानार्जन के साथ-साथ तपश्चर्या भी उनका स्वभाव था। उग्र और घोर तपश्चरणा से उन्हें अनेक लब्धिया (चामत्कारिक शक्तिया) भी प्राप्त हुईं, जिनके बल पर वे अनोखे कार्य कर सकते थे। रूप परिवर्तन तो उनके लिए इतना सहज हो गया था कि एक निमेषमात्र में वे कुछ के कुछ बन जाते।

आषाढमुनि एक दिन भिक्षा के लिए गए। एक श्राविका ने सभक्ति उन्हें एक सुस्वादु मोदक (लड्डू) बहराया। आषाढमुनि अपने स्थान की ओर चल दिए। मार्ग में सोचने लगे, स्थान पर जाते ही मुझे यह मोदक तो गुरुजी को भेंट करना होगा, अतः मैं तो कोरा ही रह जाऊंगा। यदि एक मोदक और मिल जाए तो मेरे भी हिस्से में आ जाए। उग्र तप से प्राप्त शक्ति का स्मरण किया और एक बालक मुनि बन गए। पुनः श्राविका के घर आए। श्राविका ने सोचा, आज मैं सौभाग्यशालिनी हूँ। मेरे घर बाल मुनि भी भिक्षा के लिए आए हैं। उत्कट भावना से उसने पुनः एक मोदक बाल साधु को बहराया। मुनिवर चल दिए। मार्ग में चलते-चलते फिर सोचने लगे, एक छोटा साधु भी है। यदि उसे न देकर मैं ही खाऊँ, अच्छा नहीं होगा। मेरा कर्तव्य है, पहले मैं उसे दूँ और पीछे स्वयं खाऊँ। यदि किसी प्रकार एक मोदक और मिल जाए तो कितना सुन्दर हो? रूप बदला और एक बृद्ध साधु बन गए। उसी श्राविका के घर आए। श्राविका की भावना में कोई कमी नहीं आई। उसने फिर एक मोदक बृद्ध मुनि को बहरा दिया। मुनि फूले नहीं समा रहे थे। उन्हें अपने तपोबल पर अहं था। उन्हें लगा, इतने दिन जो तपश्चरणा किया था, वह निष्फल तो नहीं गया। अवसर पर काम आया। चलते-चलते फिर गणित किया तो पता चला, मोदक तो अब भी हिस्से में नहीं आएगा। क्योंकि पहला मोदक गुरु को भेंट करूँगा, दूसरा बाल मुनि को तो तीसरा शिष्या-गुरु को। तीन व्यक्ति और तीन मोदक। मैं तो कोरा ही रहा। अब यदि किसी प्रकार चौथा मोदक मिल जाए तो मेरा काम बन जाए। युवक तो वे स्वयं थे ही और बाल व बृद्ध अवस्था

मे वे परिवर्तित हो चुके थे । और कोई अवस्था बाकी भी नहीं थी । आखिर कुछ देर सोचकर रण्ण मुनि का रूप बनाया । कमर झुकाली और लाठी के सहारे धीरे-धीरे चलते हुए उसी घर आए । आदिका ने इसे अपना अहोभाग्य समझा । उसने पुन एक लङ्का रण्ण मुनि को भी बहाराया । मुनिवर घर से बाहर आए, अपना मूल रूप बनाया और स्थान की ओर चल दिए ।

आषाढमुनि के रूप-परिवर्तन की इस प्रक्रिया को पार्श्ववर्ती घर में रहनेवाली दो कुशल नट-कन्याओं ने देखा । उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ । उन्होंने परस्पर सोचा, रूप-परिवर्तन के कौशल में तो ये मुनि हमारे से भी अधिक निष्णात हैं । हमें तो अपनी प्रक्रिया में काफी समय लगता है और ये अतिशीघ्र तथा बिना किसी बाह्य सामग्री की अपेक्षा के भी रूप बदल लेते हैं । कितना अच्छा हो, यदि ये मुनि अपने साथ हो जाए और नाना नाटक खेलें । अपने फिर धन-दौलत की क्या कमी रहेगी ? दोनों उसी समय चली और अपने स्थान की ओर जाते हुए आषाढमुनि का मार्ग उन्होंने रोका । सम्बन्धित वन्दन किया और अपने यहाँ भिक्षा लेने के लिए अत्यन्त आग्रह करने लगी । आषाढमुनि ने कहा, मुझे अब भिक्षा की आवश्यकता नहीं है ।

नट-कन्याएँ—हमारी भवितसम्भूत प्रार्थना की अवहेलना कर आप आगे कैसे जा सकेंगे मुनिवर ?

आषाढमुनि—बहुत विलम्ब हो रहा है । गुरु मेरी प्रतीक्षा करते होंगे । रास्ता न रोको ।

नट-कन्याएँ—एक ओर गुरु की प्रतीक्षा है और दूसरी ओर भक्त-भावना । आज हम देखना चाहती हैं, भगवन् ! कौन किससे बड़ा है ? हमें विश्वास है, हमारी भक्ति रिक्त नहीं रहेगी ।

आषाढमुनि—(सरोष) बातें मत बनाओ । तुम तो वाचाल हो । मैंने कह दिया न मुझे अब भिक्षा की आवश्यकता नहीं है । तुम रास्ता छोड़ो । साधुओं से इतना हठ करना उचित नहीं है ।

नट-कन्याएँ—(सस्मित) हमारे यहाँ की भिक्षा की आवश्यकता कैसे हो भगवन् ! जबकि एक ही घर से चार-चार बार आप भिक्षा ग्रहण कर चुके हैं ।

आषाढमुनि कुछ लज्जित से हुए और आखिर अपने आग्रह से विचलित भी । नट-कन्याओं की प्रार्थना उन्हें स्वीकार करनी पड़ी और भिक्षा के लिए उन दोनों के साथ नट के घर आए ।

दोनों ही नट-कन्याएँ वाक्-मट्ट व अपने विचारों को तर्क और नम्रता के साथ रखती थीं । अवसर पर आवश्यकता से अधिक मधुर थी तो अपने निश्चय पर दृढ़ भी । किस व्यक्ति को किस प्रकार रिझाना व अपने वश में करना, यह तो उन्हें विरासत में भी मिला था और अपनी चातुरी से उन्होंने उसमें चार-चाद भी लगाए थे । आषाढमुनि को घर में पाकर अपने इच्छित की ओर झुकाने का उन्हें स्वर्णिम

अवसर मिल गया। इस कार्य में वे अनुत्तीर्ण कैसे हो सकती थी? आषाढमुनि के बुद्धि कौशल, शास्त्राध्ययन व तपोबल की उन्होंने भूरि-भूरि प्रशंसा की। मुनि अपनी प्रशंसा से अभिभूत हो गए। कुछ बोल न सके। नट-कन्याओं ने अवसर पाकर अपना वशीकरण मंत्र छोड़ा। शास्त्र-स्वाध्याय और तपश्चरण में प्रतिक्षण लीन रहने वाले मुनि अपने पथ से विचलित हो उठे। दोनों ही कन्याओं ने मुनि के समक्ष विवाह-प्रस्ताव प्रस्तुत किया। मुनि उसे ठुकरा न सके, किन्तु उसे स्वीकार करने में भी उनकी पूर्वाचिन्ति समय-साधना बाधक बनने लगी। एक क्षण उनके मन में आता, इन कन्याओं का जीवन कितना सुखमय है। हम लोग तो दर-दर की खाक छानते भटकते रहते हैं और उससे प्राप्त कुछ भी नहीं होता। रहने के लिए यह भव्य मकान, खाने के लिए तरह-तरह के सुस्वादु भोजन, पहनने के लिए मनोज्ञ वस्त्र, प्रतिक्षण आमोद-प्रमोद और मनोरंजन के लिए साधनों का ढेर। इससे बढ़कर स्वर्ग और क्या होगा? दूसरे ही क्षण मन में आता, भौतिक साधन-प्रसाधन आत्म-शान्ति के लिए अपर्याप्त हैं। ये तो आत्मा के बहिर्भाव हैं, इसीलिए तो मैंने इन्हें छोड़ा था। मेरे घर में भी तो इस सामग्री की बहुत प्रचुरता थी। मैंने इसे बन्धन समझकर ही छोड़ा है और आज मैं इनमें ही फसने की सोच रहा हूँ। वर्षों की मेरी साधना है और गुरु ने मुझे बहुत कुछ बनाया है। मुझे गहराई से सोचना चाहिए।

विचारों के आरोहण और अवरोहण के बीच आषाढमुनि झूल रहे थे। कभी नट-कन्याओं का आकर्षण उन्हें अपनी ओर खींच लेता तो कभी अपनी की हुई साधना और गुरु के व्यक्तित्व व उपकार का आकर्षण उन्हें अपने पथ से इवस्तत नहीं होने देता। नट-कन्याओं ने आषाढमुनि के इन विचारों को मुष्काकृति से पढ़ा और पैर पकड़ कर बैठ गईं। बोली, हम आपको अब नहीं जाने देंगी। कष्ट सहन करते हुए आपको इतने वर्ष बीत गए, पर अब नहीं सहने देंगी। नगे पैरों चलना, ऊपर से सूर्य की प्रखर उष्मा, नीचे धरती का ताप, काटे, पत्थर, कीचड़, घर-घर भिक्षा के लिए भटकना, रुखा-सूखा जो मिल जाए उससे ही काम चलाना, कितने दुःसह कष्ट हैं, आपके जीवन में मुनिवर! याद करते ही हमारा तो दिल सिहर उठता है। हमारे जब आप अतिथि बन चुके हैं, हम हरगिज आपको इन दुःसह कष्टों की ओर अब नहीं जाने देंगी। हमारा कर्तव्य है, हम आपकी सेवा करें। प्रभो! आपको यह अवसर प्रदान करना होगा और हमें लाभान्वित करना होगा।

आषाढमुनि अग्नि के पास रखे मक्खन की तरह पिघल गए। वे अपने मन पर नियन्त्रण न रख सके। साधना से विचलित होकर उन्होंने नट-कन्याओं द्वारा रखा गया विवाह-प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। वे गुरु के परम भक्त व विनीत थे, अतः उन्होंने एक शर्त रखी। उन्होंने कहा—गुरु का मेरे पर असीम उपकार है, अतः इन्हें मुखदस्त्रिका, रजोहरण, झोली, पात्र आदि सब कुछ सौंपकर व उनसे अनुज्ञा ग्रहण कर ही मैं तुम्हारे पास आ सकूँगा हूँ, अन्यथा नहीं। नट-कन्याएँ तिलमिलाने

लगी। उन्हें लगा, हाथ में आया शिकार जा रहा है। गुरु के पास जाने पर हमारा रंग उतर जाएगा और उनका रंग चढ़ जाएगा। ये बापस लौटकर आने के नहीं। नट-कन्याओं ने एक बार तो यह शर्त स्वीकार नहीं की, पर जब और कोई चारा न रहा तो आषाढमुनि को वचनबद्ध करके जाने दिया।

गुरु आषाढमुनि की प्रतीक्षा ही कर रहे थे। बहुत लम्बा समय लग चुका था। आषाढमुनि के आते ही गुरु ने शान्त-भाव से पूछा—आज इतना समय कहा लगा? क्या भिक्षा नहीं मिली थी?

गुरु के प्रश्न को सुनते ही सदा से विनीत व शान्त आषाढमुनि रोष के साथ बोल उठे—आपको क्या पता गोचरी कैसे लाई जाती है और समय कहा लगता है। ग्रीष्म की इस चिलचिलाती धूप में नगे पाव और नगे सिर घर-घर हमें धूमना पड़ता है। कितना कष्ट उठाना पड़ता है? आप तो पट्टासीन होकर केवल हुक्म चलाते रहते हैं। ये लो, आपके पात्र, रजोहरण और मुखवस्त्रिका। मैं तो जाता हूँ, मुझे नहीं चाहिए ऐसी साधना। बहुत वर्ष बीत गए, इस प्रकार दुःख पाते हुए।

गुरु—तुम्हें आज किसने भ्रमा दिया आषाढ! इस प्रकार कैसे बहक रहा है?

आषाढमुनि—बस, आपको तो अब ऐसा ही लगेगा।

गुरु—आषाढ, आज तक कभी भी तू ने आदेश का उल्लंघन तो बहुत दूर, इंगित का भी अतिक्रमण नहीं किया और अब इस प्रकार बोल रहा है। मैं समझता हूँ, तेरे में कोई दूसरी ही छाया बोल रही। छुपाओ नहीं, स्पष्ट कहो। मैं कोई तुम्हें किसी पाश में थोड़े ही बाध रहा हूँ। तू अपने लिए स्वतन्त्र है। एक दिन तू ने यह साधना सहर्ष स्वीकार की थी और आज छोड़ रहा है। उस दिन भी तू स्वतन्त्र था और आज भी। मुझे अफसोस केवल यही है कि यह निर्णय तेरा अपना नहीं है।

आषाढमुनि—गुरुवर, आप ठीक कह रहे हैं। साधना छोड़ने का यह प्रस्ताव नट-कन्याओं का है, किन्तु जब मैंने इसे स्वीकार कर लिया तो यह मेरा अपना ही निर्णय हो गया।

आषाढमुनि ने गुरु के समक्ष सक्षेप में आपबीती कहानी प्रस्तुत कर दी। गुरु का प्रयत्न रहा, शिष्य किसी भी तरह अपनी साधना में सुस्थिर हो जाए, किन्तु प्रयत्न असफल रहा। आषाढमुनि ने स्पष्ट कह दिया, मैं नट-कन्याओं से वचनबद्ध होकर आया हूँ, इसलिए गुरुवर, आप मुझे रोकने का प्रयत्न न करें। मैं वहाँ निश्चिन्त जाऊंगा। इस समय दिया गया आपका यह उपदेश मुझे अरुचिकर लगता है।

गुरु—क्या तू एक दिन मेरे पास भी इस प्रकार प्रतिज्ञाबद्ध नहीं हुआ था कि मैं यह साधना आजीवन करूँगा?

आषाढमुनि—यह तो बहुत पुरानी बात हो गई।

गुरु—क्या तू एक वचन मुझे भी दे सकता है?

आषाढमुनि—हा गुरुवर ! नट-कन्याओ के पास जाने के लिए आपका निषेध मुझे स्वीकार्य नहीं होगा और आप जो कुछ भी चाहें ।

गुरु—जहां मद्य व मांस का व्यवहार होता हो, वहां न रहना । क्या तुम्हें यह स्वीकार्य है ?

आषाढमुनि—हा गुरुवर ! मैं प्रतिज्ञाबद्ध होता हूँ और अब जाता हूँ ।

नट-कन्याएँ व उनका मारा परिवार प्रतीक्षा कर रहा था । आषाढमुनि को अपने घर में पाकर वे बहुत प्रफुल्लित हुए । किन्तु जब उन्होंने गुरु के पास की गई अपनी प्रतिज्ञा को बताया तो सारे ही सन्न रह गए । नट-परिवार में मद्य और मांस का परिहार सर्वथा ही अशक्य था । एक ओर उनके सामने जन्मजात अपने दुर्व्यसन को छोड़ने की समस्या थी और दूसरी ओर ऐसी परिस्थिति में हाथ आए पहुँचे हुए व्यक्ति को अपने साथ खपाने की । दुर्व्यसन न छोड़कर भी आषाढ को किस प्रकार अपने साथ मिलाया जा सकता है, इसका प्रयत्न नट-कन्याओ व नट ने बहुत किया, किन्तु आषाढ ने स्पष्ट कह दिया, जब तक मुझे मद्य-मांस-परिहार का वचन न दे दिया जाए, मैं किसी भी तरह रहने के लिए तैयार नहीं हूँ । 'इतो व्याघ्र इतस्तटी' वाली किंवदन्ति सामने आ रही थी । अन्ततोगत्वा नट-परिवार को यह निर्णय कर लेना पड़ा, मद्य-मांस का प्रयोग न होगा ।

आषाढ और नट-कन्याएँ आनन्दपूर्वक जीवन बिताने लगे । बड़े-बड़े स्थानों पर जाते, अपने कौशल का प्रदर्शन करते और खूब धन कमाते । इस प्रकार काफी समय बीतता गया । एक बार तीन दिन के लिए आषाढ को ही केवल नाटक करने के लिए जाना था । नट-कन्याएँ घर पर ही रही । मद्य-पान किए बहुत दिन हो चुके थे, अतः मन मचलाने लगा । सोचा, तीन दिन का समय है, यदि एक बार मद्य-पान कर भी लेती हूँ तो उन्हें क्या पता चलेगा ? मद्य-पान कर लिया और वे दोनों बेमान हो गईं । मार्ग में अपशकुन हो जाने से कुछ ही घण्टों बाद आषाढ घर लौट आया । मद्य के नशे में चूर-चूर हो रही नट-कन्याओ को देखते ही गुरु द्वारा कराई गई प्रतिज्ञा का उसे स्मरण हो आया । कन्याओ को ललकारते हुए उसने स्पष्ट कह दिया, तुम दोनों ने अपनी प्रतिज्ञा का भंग किया है, अतः मैं अब यहाँ नहीं रह सकता । कन्याएँ कुछ होश में आईं और उन्हें अपनी त्रुटि का भान हुआ । आषाढ के चरणों में गिर पड़ी और क्षमा-प्रदान के लिए निवेदन करने लगी ।

आषाढ—अब मैं हरगिज नहीं रह सकता ।

कन्याएँ—एक बार आप हमारे अपराध को क्षमा कर दीजिए । अब कभी भी इस अपराध की पुनरावृत्ति नहीं होगी ।

आषाढ—मैं तो अपनी प्रतिज्ञा का किसी भी परिस्थिति में उल्लंघन नहीं कर सकता ।

कन्याएँ—हम भूलो मर जाएंगी । हमारा अब कौन आधार होगा ? इस पर

भी आप ध्यान दीजिए। इतने दिन का अपना यह सम्बन्ध इस प्रकार एक क्षण में तो न तोड़िएगा।

आषाढ—मैं तुम्हारे भावी प्रबन्ध के लिए राज-दरबार में एक नाटक खेल सकता हूँ। तुम्हें वहाँ से प्रचुर धन मिल जाएगा। उससे अपना भावी जीवन सानन्द व्यतीत करना।

× × × ×

राज-दरबार में आषाढ का आज अन्तिम नाटक था। वह अपनी समस्त शक्ति को केन्द्रित कर नाटक दिखाने में तल्लीन हो रहा था। राजा और अन्य दर्शक भी बड़ी तन्मयता से उसे देख रहे थे। आषाढ ने भरत चक्रवर्ती के जीवन का सजीव चित्रण प्रस्तुत किया। उनका जन्म, बाल्य काल, यौवन, बल, सेना, महल, ऋद्धि-सिद्धि, षट् खण्ड-विजय, आरिशा-भवन आदि सुख-सम्पदाओं का वास्तविक दिग्दर्शन प्रस्तुत किया। जब आरिशा-भवन में भरत चक्रवर्ती की अनित्य भावना का दृश्य प्रस्तुत किया, दर्शक भाव विभोर हो उठे और साथ-साथ उन सबसे अधिक वह स्वयं भी। नाटक नाटक न रहकर वास्तविकता में बदल गया। भरतजी की भाति उसने एक अगुली में मुद्रिका पहनी तो वह शोभा देने लगी, दूसरी में पहनी तो दूसरी। इस प्रकार एक-एक कर दशों अगुलियों में उसने मुद्रिकाएँ धारण की और निकाल दी। जब मुद्रिका होती तो अगुली शोभा देती और न होती तो नहीं। इसी प्रकार शरीर के जिस भाग में वस्त्र व आभूषण धारण किए होते, शोभा देता अन्यथा कान्ति-हीनता। शरीर की विलक्षणता को देख, चिन्तन ऊर्ध्वगामी हुआ और भावना की घारा देह के सीमित तट-बन्धन को तोड़ उन्मुक्त बहने लगी। भरत चक्रवर्ती की तरह भावों की श्रेणी बड़ी और उससे प्रतीत होने लगा, यह सुन्दरता तो बाह्य उपकरण सापेक्ष है। इसमें मेरा अपना क्या है? मैं जिस शरीर की परिचर्या करता हूँ, वह तो भावना-हीन है, नश्वर है और स्वतः असुन्दर है। मेरी अपनी पूर्ण उज्ज्वलता में तो यह बाधक है। सत्य, शिव, सुन्दरम् की उपासना देहाधीन न होकर देह-विमुक्त बनकर होगी। इस प्रकार भावना में विरक्ति हुई और विरक्ति से समय-ग्रहण, समय-ग्रहण से कर्ममल-विच्छेद और कर्ममल-विच्छेद से केवलज्ञान प्राप्ति। आषाढ मुनि से आषाढ नट और आषाढ नट से पुनः केवलज्ञानी आषाढ मुनि बने। भावना ही अनुष्य को तारती है और वही मारती है।

नाटक की इस विचित्रता को देख सभी आश्चर्यान्वित और श्रद्धावन्त हुए। नाटक उपदेश में परिणत हो गया और राजा, रानी व उन नट-कन्याओं ने भी विरक्त होकर आषाढ मुनि से शिक्षा-ग्रहण की।

स्थूलिभद्र

पाटलिपुत्र (वर्तमान पटना) में नन्दवंश व कल्पकवंश का राजा और मंत्री के रूप में बहुत पुराना सम्बन्ध चला आ रहा था। जिस समय नवम नन्द राजा था, उस समय कल्पक वंश के मंत्री का नाम श्रीवत्स था। उसका दूसरा नाम शकडाल भी था। प्रायः जनव्यवहार में श्रीवत्स नाम का उपयोग न होकर शकडाल का ही प्रयोग होता था। शकडाल के पुत्र का नाम स्थूलिभद्र व श्रियक था। स्थूलिभद्र त्याग, भोग, दाक्षिण्य व लावण्य सभी गुणों में अग्रणी थे। उनके सात बहिनें थीं, जिनके क्रमशः नाम थे—१ यक्षा, २ यक्षदत्ता, ३ भूता, ४ भूतदत्ता, ५ सेना, ६ रेणा और ७ वेणा। सातों ही बहिनों की स्मृति बड़ी प्रखर थी। पहली एक बार सुनते ही कठिन से कठिन पक्ष याद कर लेती। इसी प्रकार दूसरी दो बार में, तीसरी तीन बार में और सातवीं सात बार में।

स्थूलिभद्र बचपन से ही विरक्त से रहते। वे मन्त्रि-पुत्र थे, पर एक योगी का जीवन जीते थे। वे पूर्णतः अनासक्त व निस्पृह होकर रहते थे। शकडाल इससे बहुत चिन्तित रहता। ज्येष्ठ पुत्र की छोटी अवस्था में ही विरक्ति बहुधा उसे खलती। वह बार-बार उन्हें अपने विचारों की ओर आकर्षित करने का प्रयत्न भी करता, पर उसका फलित कुछ भी नहीं होता। प्रधानमंत्री इसलिए अधिक चिन्तित रहता कि वैराग्य के आवरण में यह कहीं कोरा ही रह जायेगा। कुछ भी चातुर्य प्राप्त नहीं करेगा तो भावी जीवन अन्धकारपूर्ण हो जायेगा। बिना किसी योग्यता के प्रधानमंत्री का पद इसे कौन देगा? शकडाल ने इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर स्थूलिभद्र को शहर की प्रमुख वेश्या कोशा के घर भेज दिया।

कोशा के घर पहुँचते ही स्थूलिभद्र का जीवन बदल गया। वहाँ के वातावरण और वेश्या की कुशलता ने उनमें इतना परिवर्तन किया कि जीवन का लक्ष्य जहाँ वे त्याग मानते थे, ऐश्वर्य, भोग और आसक्ति को मानने लगे। दोनों का पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया। धन की कोई कमी नहीं थी। प्रधानमंत्री आवश्यकता से अधिक भी वहाँ भेज देता। स्थूलिभद्र में प्रतिभा थी, सहज स्नेह था, अतः कोशा और उसका शिक्षक और शिष्य का सम्बन्ध न रहकर पति-पत्नी के रूप में बदल गया। कोशा

का स्थूलिभद्र के निकट सम्पर्क से व स्थूलिभद्र का कोशा की महवर्तिता से हृदय भर जाता । दोनों सहजीवन जीते हुए स्वर्गीय सुख का आनन्द सूट रहे थे । समय बीता और इस प्रकार बाहर वर्ष बीत गए । उनकी व्यवस्थाओं में करीब माढ़े बारह करोड़ की धनराशि खर्च हो गई ।

उसी नगर में वररुचि नामक एक ब्राह्मण रहता था । वह संस्कृत का प्रकाण्ड पण्डित था । वह भी राजा के पास प्रतिदिन आता और एक सौ आठ नये श्लोकों की रचना कर स्तवना करता । राजा उस पर बहुत प्रसन्न होता । वररुचि को दक्षिणा भी देना चाहता । वह अपने प्रधानमंत्री की ओर देखता, पर वह न कुछ बोलता और न कुछ सकेत ही करता । प्रत्युत अपनी आकृति से ऐसी अभिव्यक्ति भी कर देता कि यह व्यक्ति दान देने के योग्य नहीं है । इस आकृति को राजा के अतिरिक्त और कोई समझ नहीं पाता । किन्तु वररुचि इतना तो समझ गया कि बिना शकडाल की इच्छा के राजा कुछ भी दक्षिणा देना नहीं चाहता । राजा मुझे चाहता है, पर मंत्री के न चाहने से मेरा काम बन नहीं सकता । वह शकडाल की पत्नी के पास आया । उसे अपनी विद्वत्ता से प्रभावित किया और अन्त में अपनी व्यथा सुनाई । शकडाल की पत्नी उसके समक्ष वचनबद्ध हो गई और उसे चिन्ता मुक्त कर दिया ।

एक दिन अवसर पाकर शकडाल की पत्नी ने अपने पति से पूछ ही लिया— राजा के समक्ष आप वररुचि की प्रशंसा क्यों नहीं करते ?

शकडाल—उसे बढ़ावा देना किसी भी प्रकार से उचित नहीं है । वह कहने मात्र का ही मनुष्य है, पर मनुष्यता के सामान्य स्तर से भी बहुत नीचा है । वह मिथ्यात्वी है, और ऐसे व्यक्तियों की प्रशंसा करते हुए प्रत्येक समझदार व्यक्ति को बचना चाहिए । इसमें किसी का भी लाभ नहीं होगा ।

पत्नी—प्रशंसा करने में आपकी तो कोई क्षति होने वाली नहीं है । आपको दो शब्दों से ही यदि किसी को पारितोषिक मिल जाता हो तो आपको इसमें आपत्ति भी नहीं होनी चाहिए ।

पत्नी के बार-बार दबाव डालने पर एक दिन शकडाल ने उसकी बात मान ली । अगले दिन वररुचि के कविता पाठ करने पर जब राजा ने प्रधानमंत्री की ओर देखा तो उसने एक शब्द कह दिया— सुभाषित है । राजा ने उसी समय एक सौ आठ मुहरों पारितोषिक के रूप में वररुचि को दे दी । वररुचि प्रतिदिन आने लगा, कविता सुनाने लगा, और अपना निश्चित पुरस्कार पाने लगा । शकडाल को यह उचित नहीं लगा । एक दिन अवसर पाकर उसने राजा से प्रार्थना की— इस तरह आप क्या कर रहे हैं ? उसे प्रतिदिन पुरस्कार क्यों देते हैं ? उसकी कविता में ऐसा क्या चमत्कार है ?

राजा—तुमने ही तो इसकी प्रशंसा की थी ।

शकडाल—यह कोई नई रचना थोड़े ही बोलता है । प्रचलित काव्यों के

पद्य मुनाकर आपका मन बहला देता है। मैंने भी तो यही निवेदन किया था ?

राजा—यह कैसे हो सकता है ? यह तो स्वरचित कविताओं का ही पाठ करता है। मेरे समक्ष इतना छद्म थोड़े ही कर सकता है ? यदि तुम्हारा कथन ही सत्य मान लिया जाये तो उसका प्रमाण क्या है ?

शकडाल—वररुचि जो श्लोक सुनाता है, वे मेरी सातो लड़कियों को अच्छी तरह याद है। जो कविता वह पण्डित पढ़ता है, यदि मेरी लड़कियां सुना दे तब तो आप मेरी बात पर विश्वास करेंगे ?

राजा को मन्त्री की बात माननी पड़ी। दूसरे ही दिन यक्षा, यक्षदत्ता आदि सातो ही बहिनो को एक पर्दे के पीछे बैठा दिया गया। वररुचि आया और उसने श्लोक पढ़े। शकडाल ने राजा से कहा—यदि आपकी अनुमति हो तो सातो ही पुत्रियों से श्लोक सुने जाये। ये श्लोक तो उन्हें याद हैं।

राजा से आदेश पाकर शकडाल ने यक्षा को बुलाया और पूछा—क्यों बेटी ! ये श्लोक तेरे भी कण्ठस्थ हैं, जो अभी वररुचि ने सुनाए हैं ?

हा, पिताजी !

‘तो सुनाओ बेटी !’

यक्षा ने अस्खलित रूप से सारे श्लोक सुना दिये। राजा और अन्य सभासद् चकित हो गए। क्रमशः यक्षदत्ता, भूता आदि सातो ही बहिनो ने भी वे श्लोक सुना दिये। राजा ने रुष्ट होकर पारितोषिक देना बन्द कर दिया।

वररुचि खिसियाना होकर अपने घर लौट आया। मन्त्री पर वह बहुत क्रुद्ध हुआ। प्रतिशोध की भावना से भर गया। राजा और मन्त्री दोनों को ही अपमानित करने के लिए उसने एक योजना बनाई। गंगा के तट पर उसने एक यन्त्र लगाया, जिसमें एकसौ आठ मुहरें रखी जा सकें और केवल पद-चाप से ही वह यन्त्र खुल जाये और वे मोहरे उसके समक्ष आकर गिर जाये। प्रति रात वह उस यन्त्र में मोहरें रख देता और प्रातः काल गंगा की स्तुति में एकसौ आठ श्लोक बोलता। पद-चाप के साथ ही वे मोहरे उसके आगे आकर गिर जाती। इस घटना से दर्शक चमत्कृत हो गये। जनता में उसने यह प्रसारित कर दिया कि मेरे काव्य से गंगा प्रसन्न होती है और मुझे प्रतिदिन यह दक्षिणा देती है। कृपण राजा यदि मेरी कविता का मूल्य नहीं समझता तो क्या हुआ ? गुण-ग्राहक व्यक्तियों से यह सृष्टि अभी तक रिक्त नहीं हुई है।

सारे शहर में वररुचि के कविता-पाठ और गंगा द्वारा प्रतिदिन दिये जाने वाले पुरस्कार की बात विद्युत्वेग की तरह फैल गई। राजा के पास भी यह सवाद पहुँचा। उसे आश्चर्य भी हुआ और अपनी कृपणता के लिए खेद भी। उसने तत्काल शकडाल को आमन्त्रित किया और कठोरता के साथ पूछा कि यदि वररुचि प्रचलित काव्यों को ही सुनाता है तो गंगा प्रसन्न होकर उसे पुरस्कार कैसे देती है ?

शकडाल—महाराज ! धूर्त पुरुष आडम्बर, दम्भ, विद्या व वाचालता, इन चार पैरो पर घूमा करते हैं। स्वयं विधाता भी उनके रहस्य को नहीं जान सकते।

राजा—एक-दो व्यक्ति के लिए यह बात कही जा सकती है, किन्तु जब सारी जनता ही उसकी प्रतिभा से चमत्कृत है, तब धूर्तता कैसे हो सकती है ? सारे ही व्यक्तियों की आँखों में इस प्रकार कभी धूल नहीं भोकी जा सकती, शकडाल !

शकडाल—महाराज ! आप ठीक कहते हैं, किन्तु जब कभी कुएँ में ही भाग पड़ जाती है, तब सब पर ही उसका नशा छा जाना स्वाभाविक ही है। अधिकांश व्यक्ति वृक्ष के मूल को नहीं खोजा करते, पर उस पर लगे फूल व फल को ही देखा करते हैं। यदि आपको मेरे निवेदन में सन्देह हो तो कल दोनों वहाँ चलते हैं और वस्तु-स्थिति से परिचित हो लेते हैं।

शकडाल ने अपने गुप्तचरो से इस षड्यन्त्र की पूरी जानकारी प्राप्त करली। रात को गुप्तचर के द्वारा उस थैली को भी वहाँ से निकलवा लिया। प्रातःकाल वररुचि अपने नियमित कार्यक्रम के अनुसार गंगा की स्तबना में कविता-पाठ करने लगा। जनता की भी खासी अच्छी भीड़ हो गई थी। राजा नन्द भी अपने मन्त्री शकडाल के साथ वररुचि का चमत्कार देखने वहाँ उपस्थित हो गया। कविता-पाठ के अनन्तर वररुचि ने अपने पैर से यन्त्र दबाया, पर मोहरे नहीं निकली। थोड़ा जोर लगाया, फिर भी प्रतिदिन की तरह उसे पुरस्कार नहीं मिला। बहुत हाथ पैर मारे, पर प्रयत्न सफल नहीं हुआ। स्मितभाव से शकडाल बोल पड़ा—‘क्यों पण्डितजी ! यन्त्र में कल थैली रखना भूल गये थे या थैली चोरी चली गई है ? किन्तु राजा नन्द के राज्य में चोर तो कोई हो नहीं सकता।’

वररुचि के लिए शकडाल का यह कथन तमाचे के समान हो गया। उसने देखा—एक ओर राजा खड़ा है और एक ओर जनसमूह। वह तो लज्जा के मारे जमीन में गड़ गया। शकडाल ने फिर कहा—‘पण्डितजी ! चिन्तित क्यों होते हैं ? यदि गंगा ने आज पुरस्कार न दिया तो क्या हो गया। लीजिए मैं आपको यह थैली भेंट करता हूँ।’ शकडाल ने वही थैली निकाली और वररुचि के सामने फेंकते हुए कहा—‘सकोच न करे, आप इसे ले लें। यह थैली वही है, जो आपने कल रात को इस यन्त्र में डाली थी।’

शकडाल द्वारा इस रहस्योद्घाटन से राजा व जनता सभी स्तम्भित से हो गये। सबके मुह से एक ही बात निकलती—‘क्या यह पण्डित होकर भी इतना मायावी है। अपने को उत्कृष्ट प्रमाणित करने के लिए इस प्रकार छद्म का व्यवहार करता है।’ राजा को भी शकडाल की बात पर पूरा भरोसा हो गया।

राजनीति व्यवस्था देती है, पर उसमें हृदय नहीं होता, अतः दमन के मार्ग पर चलती है, जिससे प्रतिशोध भड़कता है। कभी-कभी वह प्रतिशोध इतना उबल पड़ता है कि ख्रिसियाने शेर की तरह झपटता है और अपने विरोधी को, चाहे वह कितना

ही सबल क्यों न हो, धराशायी बना देता है। शकडाल और वररुचि के बीच भी यही हुआ। शकडाल द्वारा दो बार अपमानित होकर वररुचि इस प्रकार के छिद्र खोजने लगा, जिससे उसका जीवन या अस्तित्व ही समाप्त किया जा सके। उसने शकडाल की एक दासी के साथ साठ-गाठ का। मूर्ख दासी उसे प्रधानमन्त्री की प्रत्येक घरेलू घटना से पूर्णतः अवगत करने लगी।

श्रियककुमार पूर्ण यौवन में प्रविष्ट हो गया। पढ-लिखकर भी होशियार हो गया। राजनीति में उसने विशेष योग्यता प्राप्त की। शकडाल ने उसके विवाह की तैयारियाँ आरम्भ की। प्रधानमन्त्री के पुत्र की शादी में कमी किस बात का था। राजा स्वयं अतिथि बनने वाला व वर-वधू को आशीर्वाद देने वाला था। लड़की भी राज-कन्या थी। इसलिए शकडाल ने तैयारियाँ भी उसके अनुरूप ही की। सेना को सुसज्जित किया गया, शस्त्र चमकाये गए, छत्र, चवर आदि भी बनवाये गये। घर को अच्छी तरह सजाया गया। ये सब तैयारियाँ बहुत पहले ही प्रारम्भ हो चुकी थी।

दासी के द्वारा वररुचि को इस घटना की पूरी जानकारी मिल गई। शकडाल के विरुद्ध जनमत को भड़काने का व उसके आधार पर राजा के मन में भी उसके प्रति शोभ उत्पन्न करने का उसे स्वर्णिम अवसर मिल गया। कुछ आवाज़ें बच्चों की मिठाई व पैसों का प्रलोभन देकर गली-गली व कूचे-कूचे में यह बात फैला दी कि—

एहु लोउ नवि जाणइ ज सयडाल करेसइ।

राय नहु मारेविउ सिरियउ रज्जि ठवेसइ॥

‘शकडाल के कुकृत्यों से जनता अपरिचित है, परन्तु यह राजा नन्द को मार कर उसका राज्य हड़प लेगा और अपने कुमार श्रियक को सिंहासन पर बैठा देगा। इस उद्देश्य से ही सेना व अस्त्र-शस्त्रों की तैयारी हो रही है और छत्र, चवर आदि बनाये जा रहे हैं।’

आवाज़ें बच्चों द्वारा कही गई बात बहुत शीघ्र ही फैल गई। प्रत्येक मुह पर एक ही चर्चा थी। दुकानों में व मित्रों के बीच, घर में व मन्दिरों में, जहाँ पर भी दो-चार, दस-बीस आदमी इकट्ठे होते, शकडाल पर घृणा के साथ कृतघ्नता का आरोप लगाते। कर्ण-परम्परा से यह सारा उदन्त राजा नन्द तक भी पहुँच गया। शासनसूत्र पलटने के रूप में इस षड्यन्त्र को सुन वह बहुत क्रुपित हुआ। उसने अपने गुप्तचरों द्वारा जाच-पड़ताल करवाई तो घटना भी सत्य मालूम दी, क्योंकि वहाँ तैयारियाँ तो चल ही रही थी। प्रधानमन्त्री की इस कूटनीति से राजा उद्वेलित हो गया और उसके साथ अपने वैयक्तिक व राजकीय सभी सम्बन्धों को तत्काल समाप्त कर देने की मन में ठान ली।

दैनिक नियमानुसार शकडाल नमस्कार के निमित्त आया, पर राजा ने उसे किसी प्रकार का न तो आदर ही दिया और न उसकी ओर भ्रूण ही। शकडाल

तत्क्षण सारी स्थिति को भाप गया। वह राजा के चरणों में गिर पड़ा और अपने को निरपराध प्रमाणित करने के लिए उसने अथक प्रयत्न किया। राजा ने कुछ भी नहीं सुना और न उसके कथन को किसी तरह का आश्रय ही दिया। शकडाल के सामने अधिचारी छा गई। उसने अपने जीवन में प्रभात ही प्रभात देखा था, कभी इस तरह की अधिचारी नहीं। आज भाग्य ने पलटा खायो तो कुछ का कुछ ही बन गया। अपने जीवन का यह अकल्पनीय परिवर्तन देख उसका धीरज टूट गया। मन में मायूसी छा गई और आत्मा तड़फने लगी। उसने अपने जीवन में कड़े सघष और अनेक दुर्दान्त विरोधियों से लोहा लिया था। उसमें उसका कभी धीरज नहीं टूटा और अपनी शासन-कुशलता से प्रत्येक कार्य में पूर्णतः सफल भी हुआ। किन्तु आज का यह दिन उसके जीवन में पहला ही था। अपनी चातुरी के आधार पर उसका समाधान नहीं कर सका और पूर्णतः विफल होकर घर लौट आया।

शकडाल के घर पुत्र-विवाह के मांगलिक अवसर पर घर के सभी सदस्य बासो उछल रहे थे। अपूर्व हर्ष था। शकडाल ने घर पहुँच कर श्रियक को जब यह सारी घटना सुनाई तो उसकी आँखें पथरा गईं। वह बोल न सका। खुशिया हवा हो गई। पिता और पुत्र दोनों अत्यन्त चिन्तित हो गए। कोई किसी का भार बटा न सका, अपितु वह द्विगुणित हो गया। दोनों की आँखें एक दूसरे पर गड़ी हुई थी और पूर्णतः मौन थे। कुछ देर बाद पिता ने ही मौन भंग करते हुए श्रियक से कहा—अब हमारा कोई रक्षक नहीं है। निरपराध होते हुए भी सारा परिवार मौत के घाट उतारा जायेगा और वर्षों से संचित व क्रमशः वर्धित प्रतिष्ठा खाक हो जायेगी। एक उपाय अवश्य है, यदि तू कर सके ?

श्रियक ने दृढ़ता व उत्सुकता के स्वर में कहा—पिताजी ! आज्ञा करे, मैं बड़े से बड़ा बलिदान भी करने को तैयार हूँ। अपना सर्वस्व न्यौछावर करके भी आपके आदेश का अक्षरशः पालन करूँगा।

शकडाल—बेटे ! कल जब मैं राजा को नमस्कार करने के लिए जाऊँ, तू भी मेरे साथ चलना और वहाँ यह कहते हुए कि वह पिता किस काम का जिस पर स्वामी की दृष्टि झूट हो, अपनी तलवार मेरी गर्दन पर चला देना।

श्रियक सुनकर अवाक् रह गया। बोला—पिताजी ! यह आदेश ! मुझे कभी भी मान्य नहीं होगा।

शकडाल ने श्रियक की बात को बीच ही में काटते हुए कहा—बेटे ! इस सकट से बचने का और कोई मार्ग नहीं है। मैं एक मरूँगा, पर सारा परिवार तो बच जायेगा प्रतिष्ठा सुरक्षित रह जायेगी और भविष्य भी सुनहला रहेगा। मैं तो बूढ़ा हो गया हूँ। अब केवल दो-चार वर्ष का ही तो मेहमान हूँ ?

श्रियक ने कहा—पिताजी ! मेरे से तो यह काम नहीं होने का है। आपका यह आदेश सुनते ही सिहरन-सी होती है, करने को तो साहस भी कैसे हो सकता है ?

परिवार चाहे बचे या न बचे, प्रतिष्ठा की सुरक्षा हो या न हो, पितृ-हत्या का यह कलक मैं तो अपने मिर पर नहीं लगा सकता। वर्तमान ही जिसका पकिल है, उसका भविष्य सुनहला कैसे हो सकता है ?

शकडाल—तो इसका दूसरा मार्ग भी है। जब मैं राजा को नमस्कार करने के लिए झुकूंगा, अपने मुंह में तालपुट जहर डाल लूंगा। मेरी हत्या तो उससे ही हो जायेगी। तू केवल मेरी गर्दन पर तलवार चला देना। इससे पितृ-हत्या के पाप से भी तू बच जाएगा और राजा की कृपादृष्टि भी तेरे पर बनी रहेगी।

श्रियक को यह बात भी स्वीकार न हुई। अपनी असहमति प्रकट करते हुए बोला—हमारे रहते आप इस तरह अपनी जीवन-लीला समाप्त करे, हमारे लिए यह कैसे सह्य हो सकता है ? आप चाहे बूढ़ हैं, पर हमारे श्रेष्ठ हैं, पूज्य हैं। हमें जो कुछ मिला है, वह आप ही का तो पुण्य-प्रसाद है। हमारा इसमें क्या अवदान रहा है ? एक टहनी को पाने के लिए मीठे फलों से लदे वृक्ष की जड़ को ही खोद डालना क्या समझदारी की बात है ?

शकडाल—(उष्ण निश्वास छोड़ते हुए) तब तो सारे ही परिवार को राजा के कोप का भाजन बनना पड़ेगा। मैं मर जाता तो क्या बात थी ? सारा परिवार तो सुखी रहता ? नीति-वाक्य भी तो है—‘त्यजेदेक कुलस्यार्थं, परिवार की सुरक्षा में एक का वध भी वैध है।

बहुत विवाद के बाद श्रियक को अपने पिता की बात माननी पड़ी। दूसरे दिन शकडाल जब दरबार में पहुंचा तो पिता व पुत्र द्वारा आलोचित घटना घट गई। श्रियक ने अपना पत्थर का हृदय बनाकर पिता की गर्दन पर तलवार चला दी। राजा नन्द ने एक बार तो उन दोनों की ओर नहीं देखा, किन्तु राज-दरबार में जब अपने प्रधानमंत्री की उसके ही पुत्र द्वारा हत्या की गई तो उसका शकडाल के प्रति विपर्यस्त ममत्व उभर आया। उसने श्रियक को ललकारते हुए कहा—अरे नृपस ! तू ने यह क्या किया ?

श्रियक ने स्वाभिमान के साथ अपनी स्वामी-भक्ति का परिचय देते हुए कहा—उस पिता से भी मुझे क्या अनुराग है, जो राज्य-द्रोही हो ? मैं ऐसे पिता को कभी नहीं चाहता।

राजा नन्द की अब कुछ बुद्धि बदली। उसने श्रियक से प्रश्न किया—तो तेरे घर सैनिक तैयारियां किमलिए हो रही थी ?

श्रियक—महाराज ! कुछ दिनों पश्चात् ही मेरी शादी होने वाली थी। उसमें आपको हमारा आतिथ्य स्वीकार करना पड़ता। आप जब हमारे घर पधारें तो आपके स्वागत की तैयारी भी तो आपके अनुकूल ही होनी चाहिए। बरात भी राजा के घर चढ़ने वाली थी। आपके प्रधानमंत्री के पुत्र का विवाह यदि साधारण व्यक्ति की तरह हो जाये तो उसमें क्या तो आपकी शान रहती और क्या आपके

प्रधानमन्त्री की ।

राजा—मैंने तो यह नहीं सुना ।

श्रियक—तभी तो हमारे पर आपकी क़ूर दृष्टि हुई और उसका यह परिणाम आया ।

राजा की आँखों से आसुओं की धारा बहने लगी । सिंहासन से उतर कर खून से मनी लाश को उसने अपनी छाती से भीड़ लिया । श्रियक का पितृ-मोह भी उमड़ा । वह भी राजा के साथ विलपने लगा । किन्तु जब बाएँ हाथ से निकल गया तो अब उसका उपचार भी क्या हो सकता था । ससम्मान शकडाल की ग्रन्थेष्टि कर दी गई ।

प्रधानमन्त्री का पद रिक्त हो गया । राजा को इसके लिए चिन्ता हुई । उसने श्रियक को ही पद-भार ग्रहण करने के लिए आमन्त्रित किया । श्रियक ने निवेदन किया मेरे बड़े भाई स्थूलिभद्र है । बारह वर्षों से कोशा के पास रहते हैं । आप उन्हें ही यह पद प्रदान करें ।

राजा के सन्देशवाहक स्थूलिभद्र के पास पहुँचे । पिता की मृत्यु व पद-ग्रहण के समाचार सुने तो चौक पड़े । राजा का आदेश था, अत आना पडा, पर उनका मन उद्वेलित हो गया । बारह वर्षों में कभी भी उन्होंने ऐसी घटना नहीं सुनी थी । हृदय बैराग्य से भर गया । राजा के समक्ष उपस्थित हुए तो प्रधानमन्त्री बनने का प्रस्ताव सामने आया । स्थूलिभद्र यह कह कर कि कुछ सोचने का अवकाश दीजिए, अशोक बाटिका में आ गए । निर्जन स्थान, सरोवर के किनारे, वृक्ष की छाया में जैसे कि प्रकृति नदी की गोद में आनन्द-मग्न बैठे हो, कुछ सोचने लगे । पिता की मृत्यु का बीभत्स रूप और उसके कारण, स्थूलिभद्र की आँखों के सामने नाचने लगे । उनका हृदय ग्लानि से भर गया । प्रधानमन्त्री पद के हानि-लाभ का लेखा-जोखा स्पष्ट रूप से सामने आ गया । उन्हें लगा—इस पद पर आसीन होने वाले व्यक्ति को अपनी सुख-समृद्धि को बेच देना होता है । प्रतिक्रमण और प्रतिपद शत्रुओं से लोहा लेना पड़ता है, जिन्दगी को हथेली में रखकर चलना होता है । अपने तन, धन व परिवार के स्वार्थ को गौण कर राजा के स्वार्थ को ही महत्त्व देना होता है । आजीवन सम्भल-सम्भल कर पैर रखे जाये । यदि कहीं पर भी छोटी-सी गलती हो जाए तो किया हुआ सारा गुड-गोबर । जीवन पर भी आ बनती है । ऐसी स्थिति में इतना पुरुषार्थ यदि आत्मा के लिए किया जाये तो कितना सुन्दर हो ? हानि बिलकुल भी नहीं है और लाभ प्रतिदिन बढ़ता हुआ । समझदार तो ऐसी भूल नहीं करेगा कि आत्मा के सुखद व विस्तीर्ण पथ को छोड़कर प्रधानमन्त्री-पद के सकटपूर्ण व सक्तीर्ण पथ पर अपने कदम बढ़ाये । बचपन में रही विरक्ति उभर आई । ऊर्ध्वमुखी चिन्तन के परिणामस्वरूप स्थूलिभद्र ने वहीं केश-लुचन कर लिया और साधु-वेष धारण कर दरबार में उपस्थित हो गए ।

दर्शक सभी चकित हो गए। राजा को यह विचित्र-सा लगा। उसने पूछ ही लिया—क्यों स्थूलिभद्र ! यह क्या किया ?

स्थूलिभद्र—महाराज ! ससार से मन उचट गया। अब इस चक्कर में रहना नहीं चाहता। साधना व तपस्या कर श्रेय का मार्ग लूंगा।

राजा ने कहा—“यह तो केवल छद्म है। साधना का बहाना बनाकर पुन वैश्या के घर जायेगा। यह उमका अनुराग छोड़ नहीं सकता। प्रधानमन्त्री-पद इसके सामने तुच्छ है और उसका सहवास प्रमुख।” किन्तु स्थूलिभद्र अब उस कीचड़ से निकल ही गये तो उसकी ओर दृष्टिपात करना भी अपने अनुरूप नहीं समझते थे। जिस भावना ने उन्हें भोग-प्रधान बनाया था, उसी भावना ने उन्हें वहां से मोड़ भी लिया और त्याग-प्रधान बना दिया। वे वहां से सीधे चले और सभूतविजय गणी के चरणों में साधु बन गये।

स्थूलिभद्र को प्रधानमन्त्री बनाने के लिए राजा नन्द के प्रयत्न विफल रहे। पुन वही ताज श्रियक के मस्तक पर रखा गया। उसे यह स्वीकार करना पड़ा।

पिता के असामयिक वियोग और भाई के वैराग्य से श्रियक अपने आप में एकाकीपन का अनुभव करने लगा। कई बार वह बहुत खिन्न हो जाता। दिल बहलाने के लिए कभी-कभी वह भाभी समझकर कोशा के पास भी चला जाता। स्थूलिभद्र का विरह जैसे श्रियक को कचोटता था, वैसे ही कोशा को भी वह असह्य था। वह भी रात-दिन उत्पन्न रहती। श्रियक के आने से उसका भी थोड़ा मन हलका होता।

कोशा की छोटी बहिन का नाम उपकोशा था। वह भी अपनी बहिन की तरह चातुरी में प्रसिद्ध थी। वररश्चि का उसके पास आना-जाना रहता था। श्रियक इस बात से परिचित था। अपने पिता की मृत्यु का प्रतिशोध लेने के निमित्त एक दिन उसने कोशा से कहा—“तुम्हारे और मेरे दुःख का निमित्त यह ब्राह्मण है। यदि पिताजी की मृत्यु न होती तो न भाई वहां बुलाये जाते और न वे विरक्त होकर मुनि बनते। हम दोनों ही उन के वियोग से दग्ध हैं। मैं चाहता हू कि अन्याय का उचित प्रतिकार किया जाये। इसमें थोड़ा तुम्हारा भी सहयोग अपेक्षित है।

स्थूलिभद्र के विरह से उत्पन्न बनी हुई व श्रियक के प्रति स्नेहिल होने के कारण कोशा वचनबद्ध हो गई और यथासकेत करने को प्रस्तुत भी हो गई। श्रियक ने कहा—एक दिन वररश्चि को मद्य-पान करा दो। कोशा ने उसे स्वीकार कर लिया।

कोशा की बात उपकोशा ने भी मान ली। एक दिन जब वररश्चि आया तो उसने मद्य-भरा कटोरा उसके हाथ में रख दिया। वररश्चि उसे बिना किसी ननुनच के पी गया।

शकटाल की मृत्यु के बाद वररश्चि का राज-सभा में आना जाना फिर आरम्भ हो गया।

एक दिन राजा नन्द अपनी सभा में बैठा था। उसे प्रधानमंत्री शकडाल की स्मृति हो आई। श्रियक को सम्बोधित कर कहने लगा—“शकडाल के स्थान की पूर्ति कभी नहीं होने की है। उसकी दूरदर्शिता तो उसके साथ ही चली गई।” श्रियक ने भ्रमर पर राजा के समक्ष अपनी बात भी रख दी। वह बोला—“महाराज ! यह दारुखोर ब्राह्मण वररुचि का षड्यन्त्र था, जिसने हम सबके बीच से पिताजी को छीन लिया।”

राजा—क्या वररुचि ब्राह्मण होते हुए भी मद्य-पान करता है ? वह ब्राह्मण है, इतना नीचा तो नहीं है ?

श्रियक—नहीं महाराज ! वह तो कहने मात्र का ब्राह्मण है। किसी भी दुर्व्यसन से दूर नहीं है। आज्ञा हो तो कल ही आपके समक्ष इसका परीक्षण कर लिया जाये।

राजा—भवश्य।

मध्याह्न का समय था। राजा अपने सामन्तो व पार्षदों से घिरा हुआ सिंहासन पर बैठा था। वररुचि भी वहाँ बैठा था। उपस्थित सभी सदस्यों को सुगन्धित कमल दिये गये। राजा का प्रसाद समझकर सभी ने मस्तक पर चढ़ाया और सूँघने लगे। वररुचि को एक प्रकार के रस से भावित कर कमल दिया गया। उसने भी सूँघा तो उसे तत्काल ही वमन हो गई। मद्य-पान के चौबीस घण्टों के बीच यदि ऐसा किया जाता है तो वमन अवश्यम्भावी है। प्रत्यक्ष प्रमाण देखकर राजा को बहुत चूणा हुई। उसने कोप के साथ-साथ सदा के लिए वररुचि को अपनी सभा से निष्कासित कर दिया। अन्य लोगों के मन भी उसके प्रति ग्लानि से भर गये।

स्थूलिभद्र मुनि बनने के बाद अपनी साधना व शास्त्राभ्यास में पूर्णतः लीन हो गये। उन्होंने साधु-क्रिया की एक-एक प्रवृत्ति का भली-भाँति अध्ययन किया। अपनी सूक्ष्म मनीषा के बल पर शास्त्रों का भी गहन अनुशीलन किया और थोड़े ही समय में शास्त्रों का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया। एक बार की बात है। चतुर्मास प्रारम्भ होने का समय निकट आ गया। चार मुनि गुरु के पास आये। एक मुनि ने निवेदन किया—“मैं आहार और पानी का सर्वथा परित्याग कर सिंह-गुफा में चार महीने समाविश्य होना चाहता हूँ।” दूसरे मुनि ने निवेदन किया—“मैं दृष्टि-विष सर्प की बाबी पर चार ही महीने तक आहार और पानी का परित्याग कर कायोत्सर्ग करना चाहता हूँ।” तीसरे मुनि ने निवेदन किया—“कुएँ के पनघट पर, जहाँ पनहारिया पानी भरती है, मैं चार ही महीने वहाँ अखण्डित ध्यान करना चाहता हूँ। चौथे मुनि स्थूलिभद्र थे। उन्होंने गुरु से निवेदन किया—“प्रभो ! मैं यह वर्षा-वास कोशा वेश्या की चित्रशाला में, जहाँ मैं पहले बारह वर्ष तक रहा था, व्यतीत करना चाहता हूँ। मैं कोई विशेष तप का अनुष्ठान भी नहीं करूँगा।” गुरु ने सबकी योग्यता देखकर आज्ञा प्रदान कर दी। तीनों ही मुनि अपने-अपने स्थान पर पहुँच गये और तप,

स्वाध्याय, ध्यान आदि कार्यों में लीन हो गये ।

मुनि स्थूलिभद्र भी पाटलिपुत्र में कोशा के घर पहुँचे । कोशा ने जब उन्हें अपने घर आते हुए देखा तो वह अपना पिछला सारा दुःख भूल गई । मुनि स्थूलिभद्र ने कहा —“मैं तेरी इस चित्रशाला में चतुर्मास-वास करना चाहता हूँ ।” कोशा ने कहा—“मुने ! मेरा अहोभाग्य है । यह चित्रशाला आप की ही तो है । मैं भी तो आपकी हूँ , आप किससे अनुमति लेते हैं ? मैं तो आपके ही मार्ग में पलकें बिछाये बैठी थी ।”

वर्षावास का आरम्भ हो गया । मुनि स्थूलिभद्र अपने चिन्तन, स्वाध्याय व शास्त्राध्ययन में लीन रहते । कोशा मौका पाकर अपनी भावना अभिव्यक्त करती और अपने पूर्व स्नेह की उन्हें स्मृति दिलाती । स्थूलिभद्र मुन लेते, किन्तु कुछ भी नहीं बोलते । कोशा के जब सब प्रयत्न विफल हो गए और वह उनकी ओर से पूर्णतः निराश हो गई तो उन्होंने अपना मौन तोड़ा । मुनि स्थूलिभद्र ने कहा—कोशा ! एक समय था, जब हम अनुराग के एक पाश में बन्धे हुए थे । उस समय हमें सारी सृष्टि ही नगण्य प्रतीत होती थी और हम ही केवल दो प्राणी सारभूत हैं, ऐसा लगता था । हम उसमें सुख की अनुभूति करते थे । पर सुख की यह अनुभूति तो मृगमरीचिका थी । सुख तो वह होता है, जिसके बाद कभी दुःख नहीं होता । परस्पर मिल-जुल कर रहने से यदि सुख की अनुभूति होती है और बिछुड़ जाने से दुःख की, तो वह अनुभूति सही नहीं है । वह तो केवल धोखा है । सुख कभी व्यक्ति, पदार्थ या परिस्थिति सापेक्ष नहीं होता । वह तो निरपेक्ष होता है और आत्मा का सहज स्वभाव होता है । जब वह पूर्णरूपेण प्रकट हो जाता है, तब उसे कोई भी तिरोहित नहीं कर सकता । तू अकुला रही थी, पर मैं ऐसा नहीं कर रहा था । अपने बिछुड़ जाने से तुम्हें ही दुःख हुआ तो मुझे भी होना चाहिए था, किन्तु ऐसा हुआ नहीं । तू ने मुझे आसक्ति के नेत्रों से देखा था, अतः तेरी दृष्टि मेरे इस भौतिक ढाँचे में तथा धन, ऐश्वर्य व यौवन में ही उलझकर रह गई । मैंने भी पहले तुम्हें इसी दृष्टि से देखा था, अतः मैं भी उलझ गया था, किन्तु पिताजी की मृत्यु ने मुझे पैंनी दृष्टि प्रदान की । अब मैं बहुत गहराई तक देखने लगा हूँ । मेरी तेरे प्रति बहिन की विद्युद्ध भावना है और तेरी मेरे प्रति एक भाई की भावना होनी चाहिए । फिर तू कभी अकुलायेगी नहीं, शोक-मताप से ऊपर उठेगी और सुख के द्वार सदा के लिए तुम्हें खुले हुए मिलेंगे ।

साधना की वाणी ने वेश्या के हृदय को झकझोर दिया । विषय-वासना के स्थान पर वहा विरक्ति के अकुर फूटने लगे । चार महीने का लम्बा सत्सग और मुनि स्थूलिभद्र जैसे योगीराज का उपदेश, आसक्ति को दुम दबाकर भागना पड़ा । वेश्या की मादकता सात्विकता में बदल गई । बचपन में मुनि स्थूलिभद्र इसी घर में कला का अभ्यास करने आये थे और उसमें पूरे बारह वर्ष बिता दिये थे । आज वे जीवन की कला का अभ्यास करवाने के लिए आये थे और चतुर्मास के केवल दो-तीन

महीनो में ही क्रोधा जैसी महिला को उसमें पूर्णतः प्रवीण कर दिया था। कोशा बारह व्रत वारिगी श्राविका बन गई। चतुर्मास समाप्त कर सिंह-गुफा-प्रवासी, सर्प-बाबी-प्रवासी व कूप-प्रवासी तीनों ही मुनि गुरु के चरणों में उपस्थित हुए। गुरु ने उनका बहुत सम्मान किया। क्योंकि वे घोर तपश्चरणा कर लौटे थे। गुरु ने वर्धापन के शब्दों में कहा—“आओ, दुष्कर तप का अनुष्ठान करने वाले मुनियों आओ।” गुरु के वात्सल्य ने तीनों ही मुनियों के उत्साह को द्विगुणित कर दिया। मुनि स्थूलिभद्र सबसे अन्त में आये। सबकी दृष्टि उनकी ओर ही लग रही थी। सभी अपनी-अपनी कल्पना कर रहे थे, देखे इन्हें गुरु क्या सम्मान देते हैं। क्योंकि इन्होंने चतुर्मास में कोई विशेष तप का अनुष्ठान तो किया नहीं था। मुनि स्थूलिभद्र ने गुरु-चरणों में अपना मरतक झुकाया और कुण्डल प्रश्न पूछा। गुरु ने कहा—“आओ, महादुष्कर कार्य करने वाले मुनि आओ।” सभी श्रोता मुनि विस्मित व हर्षित हुए। सबके ही मन में अच्छी प्रतिक्रिया हुई। सिंह-गुफा-प्रवासी मुनि मन-ही-मन जलने लगे। कुछ भी बोल तो नहीं सके, किन्तु उनके मन में आया—हम तीनों साधु प्राणों को हथेली में रखकर चार महीने तक महाघोर तपश्चरणा करते रहे, उन्हें तो गुरु ने ‘दुष्कर’ विशेषण के साथ आशीर्वाद दिया और जो बेव्या के घर चार महीनों तक गुनछर उड़ाता रहा, उसे ‘महादुष्कर’ विशेषण से। यहाँ तो स्पष्ट ही पक्षपात है। स्थूलिभद्र महामात्य का पुत्र है, अतः उसके लिए साधना में भी विशेष व्यवहार किया जाता है। देखता हूँ, अगला चतुर्मास जब मैं वहाँ करूँगा, तब मुझे गुरु क्या आशीर्वाद देते हैं। यदि बेव्या के घर प्रवास करने से ही ऐसा होता है तो मुझे भी इस अवसर का लाभ उठाना चाहिए।

अगले चतुर्मास का समय भी निकट आ गया। पिछले वर्ष की तरह इस बार सिंह-गुफा-प्रवासी मुनि ने अपने पूर्व निश्चय के अनुसार कोशा के घर चतुर्मास करने की अनुमति मागी। गुरु ने अपने ज्ञान-बल से उसकी ईर्ष्यालुवृत्ति का अनुमान लगा लिया। कोमल शब्दों में उन्होंने कहा—शिष्य! यह अभिग्रह अतिदुष्कर है। तू इसे पहुँचा नहीं सकेगा। मत्सरभाव से कोई अनुष्ठान नहीं होना चाहिए। हम एक साधक का जीवन जी रहे हैं।

सिंह-गुफा-प्रवासी मुनि की भौंहे तन गईं। आक्रोश में उबलने लगे। गुरु के प्रखर व्यक्तित्व के समक्ष वे इतना ही बोल सके—मेरे लिए कुछ भी दुष्कर नहीं है। मैंने अपना निर्णय कर लिया है। मैं निश्चित ही जाऊँगा।

गुरु ने वात्सल्य भरे शब्दों में फिर कहा—तेरे लिए यह उचित नहीं है। यदि तू जायेगा तो अपने पूर्व आचरित तप से भी भ्रष्ट हो जायेगा, साधना से स्थूलित हो जायेगा और अपयश के अतिरिक्त कुछ हाथ भी नहीं लगेगा। अपने सामर्थ्य की अवहेलना कर अधिक भार उठाने वाला व्यक्ति किस तरह अपने शरीर की क्षति उठा लेता है, तू जानता ही होगा।

मुनि गुरु के कथन की अवहेलना कर चलते बने। पाटलिपुत्र पहुँचे और कोशा के घर भी पहुँच गये। चित्रशाला में ठहर गये। चतुर्मास प्रारम्भ हो गया। कोशा को समझते समय नहीं लगा कि मुनि किस उद्देश्य से यहाँ आये हैं। किन्तु वह अब वैश्या तो नहीं थी। वह तो श्राविका बन गई थी। मुनि को गिरने न देना उसने अपना कर्तव्य समझा।

मुनि आनन्दपूर्वक बहा रहने लगे। वे सरस आहार करते और कोशा का लावण्य प्रतिदिन उनकी आँखों के सामने रहता। विरक्ति धीरे-धीरे विकार में बदल गई। तप, स्वाध्याय, ध्यान आदि सभी अपने आप ताक पर रख दिये गये। मुनि ने अपनी ओर से कोशा के समक्ष प्रस्ताव रख दिया।

कोशा ने तत्काल ही उत्तर दिया—मुने ! हम तो धन की सेविकाएँ हैं। कुछ आपके पास हो तो कहो ?

मुनि ने असमर्थता के स्वर में कहा—वह तो हमारे पास कैसे हो सकता है ? अकिंचन जो ठहरे।

कोशा ने कहा—हमारा भी तो यही नियम है। यदि ऐसा न हो तो हमारा जीवन कैसे चले ?

मुनि ने दीनता भरे शब्दों में पूछा—कोई मार्ग है या नहीं ?

कोशा ने कुछ सोचने का ब्याज कर कहा—हां, एक मार्ग है, यदि आप उसमें सफल हो सकें ? वह कार्य बहुत कठिन है।

मुनि ने उत्सुकता के साथ पूछा—वह क्या है ? मैं तुम्हारे लिए किसी कार्य को कठिन नहीं समझता।

कोशा ने कहा—नेपाल का राजा साधुओं को सवालाख रुपये का रत्न-कम्बल दान में देता है। यदि आप वह ला सकें तो आपकी अभिलाषा पूरी हो सकती है।

कामासक्त मुनि ने चतुर्मास में विहार-निषेध की अपनी मर्यादा को भूलकर नेपाल के लिए साधु वेष में ही प्रस्थान कर दिया। दुर्गम पथ, भयानक जंगल, नदी, नाले व पर्वतों को लाघ कर महान् कष्टों का सामना करते हुए बहुत प्रयत्न के बाद मुनि राजा के पास पहुँचे। राजा ने उन्हें एक रत्न-कम्बल दे दिया। जब वह वापस लौटने लगे, वहाँ के निवासियों ने उन्हें सूचित किया कि यदि यह रत्न-कम्बल छुपा कर न ले जाया गया तो बीच ही में चोर छीन लेंगे। मुनि सावधान हो गये और उन्होंने उसे एक बास की लकड़ी में छुपाकर अपने कन्धे पर रख लिया। जिस मार्ग से गये थे, उसी भाग से पटना के निकट पहुँचने लगे। मार्गवर्ती वृक्ष पर बैठा हुआ एक तोता अचानक ही चिल्ला उठा—“लक्ष्मागच्छति” लक्ष रुपये आ रहे हैं। पार्श्ववर्ती चोर-पत्नी से कुछ चोर दौड़ और उन्होंने साधु को पकड़ लिया। तलाशी ली, कुछ नहीं मिला। पूछा तो मुनि ने भी कह दिया—मेरे पास कीमती वस्तु कुछ भी नहीं है। चोरो ने उन्हें

छोड़ दिया। ज्यो ही मुनि ने अपने कदम पाटलिपुत्र की ओर बढ़ाये व चोरो ने अपनी पत्नी की ओर, वह तोता फिर चिल्ला उठा—“मुधा लक्ष्मपगच्छति”—हाथ आई लाख रुपये की धन-राशि व्यर्थ ही जा रही है। मुनते ही चोरो का स्वामी आया। उसने तलाशी ली और मुनि से पूछा। मुनि ने फिर वही उत्तर दिया—मेरे पास कुछ नहीं है। चोरो के सरदार ने कहा—हमारा तोता कभी झूठ नहीं बोल सकता। तुम्हारे पाम कुछ-न कुछ अवश्य है। सत्य बता दिया जाये, वरना यहा तो डण्डो से व शस्त्रो से पूरी पूजा होगी। बचाव का जब कोई सहारा न रहा तो मुनि ने अपनी वस्तु-स्थिति बतला दी और दीनता के साथ उस रत्न-कम्बल की याचना की। चोरो के सरदार को उनकी दीनता पर करुणा आ गई। उसने वह कम्बल मुनि से नहीं छीना।

सिंह-गुफा-प्रवासी मुनि उछलते हुए व अपने मन में ऐहिक सुखोपभोग की नाना प्रकार की कल्पनाएँ करते हुए कोशा के घर पहुँच गये। आते ही उत्सुकता भरे शब्दों में बोल पड़े—रत्न-कम्बल ले आया हूँ। अब तो मेरा प्रस्ताव स्वीकार होगा न ?

कोशा ने बीच में ही कहा—क्यों नहीं। अब मैं आपके लिए तैयार हूँ।

मुनि ने वह रत्न-कम्बल कोशा को दे दिया। कोशा ने कहा—मैं स्नान कर अभी आ रही हूँ।

मुनि उमकी वाट निहारने लगे। कोशा स्नान कर बाहर आई। उस रत्न-कम्बल से उसने अपने पैर पोछे और उसे समीपवर्ती गन्दे नाले में डाल दिया।

मुनि ने नाक-भौह सिकोड़ी और उलाहने की भाषा में बोल पड़े—तू तो निरी मूख है। कितने श्रम और कष्टों के बाद तो यह अमूल्य कम्बल मिला था और तू ने इसे यो कीचड़ में गिरा दिया ?

कोशा ने विस्मय के साथ पूछा—क्यों मुने ! फिर क्या हो गया ?

मुनि ने सरोष कहा—तू इस कम्बल के महत्त्व को और इसको प्राप्त करने में भेले गये कष्टों से अनभिज्ञ है। ऐसा कम्बल बार-बार थोड़े ही मिल सकता है। इसे तो बहुत ही सावधानीपूर्वक रखना चाहिए था।

कोशा ने व्यग्न कसते हुए कहा—मुने ! इस पहलू पर आप भी थोड़ा चिन्तन तो करे। आप क्या कर रहे हैं, इस पर भी कुछ सोचा ? कम्बल की आपको इतनी चिन्ता हो गई, पर अपनी आत्मा की नहीं हुई ? जाते हुए श्वेत को आप देख सकते हैं, किन्तु आपके पैरों के नीचे क्या हो रहा है, आपको दिखाई नहीं दिया ?

मुनि सर्वथा विस्मृत हो रहे थे। कोशा के इस कथन का वे कुछ भी अभिप्राय नहीं समझ सके। उनकी दृष्टि तो एकमात्र उसके लावण्य पर गड़ी हुई थी। मुनि ने कहा—अप्रासंगिक बातें क्यों कर रही हो ? क्या मेरे प्रस्ताव को तू भूल गई ?

कोशा ने मुनि को ललकारते हुए फिर कहा—मैं आपके प्रस्ताव को भूली नहीं हूँ। उसका ही प्रत्युत्तर दे रही हूँ। आप मेरे पर से नजर हटाकर थोड़ा अपने अन्तःकरण को टटोलिये। आप एक उच्च कुल में पैदा हुए व्यक्ति हैं। बड़े वैराग्य

के साथ आपने अपने परिवार, धन-सम्पत्ति व ऐश्वर्य को छोड़ा है। आपकी बड़ा ऊँची साधना व तपस्या है। आज उसे धूलिमात् कर मेरे पर क्यों आसक्त हो रहे हैं ? जिस दिन साधना स्वीकार की थी, क्या आपने मेरे लिए कोई अपवाद रख लिया था ? कम्बल की गन्दगी व उसकी बरबादी की ओर आपका इतना ध्यान चला गया, पर अपनी आत्मा की ओर आपका तनिक भी ध्यान नहीं गया। आप मुझे चाहते हैं, किन्तु इस बाह में क्या आप अपने को कीचड़ में नहीं डाल रहे हैं ? यह कम्बल तो थोड़े प्रयत्न से फिर भी स्वच्छ हो सकता है, किन्तु यदि आपकी आत्मा इस विषय-वामना से मलिन हो गई तो फिर उसके पवित्र होने का क्या साधन रहेगा ? हाड-मांस के पुतले की चमड़ी के नखर सोन्दर्य पर आप अपनी वर्षों तक की हुई साधना और तपस्या का सर्वस्व न्यौछावर कर रहे हैं, क्या यह आपकी निरी मूर्खता नहीं है ? आप मुनि स्थूलिभद्र से डाह कर रहा आए थे, पर कहा वे और कहा आप ? उनका और मेरा बारह वर्ष का अनुराग था, हम साथ रहे थे। मैं उनके लिए व्यकुल हो रही थी, फिर भी वे अपनी साधना से विचलित नहीं हुए। वे मेरी ओर नहीं मुझे प्रत्युत उन्होंने मुझे अपनी ओर झुका लिया और श्राविका बना दिया। जब आप रहा आए, अपनी साधना में सुदृढ़ थे, मे भी अपने व्रतों में दृढ़ थी, फिर भी आप अपनी साधना से फिसल गए और ऐहिक वासना में लुभा गए। क्या यह आपके लिए श्रेयस्कर हुआ ? मानव जीवन कितना अमूल्य है और आपकी साधना का अनुष्ठान भी कितना अप्राप्य है। आपने दोनों को पा लिया है। क्या मेरी ओर भाककर आपने उन पर पानी फिराने का असफल प्रयत्न नहीं किया है ?

मुनि का विवेक जाग्रत हुआ। कोशा का कथन थोड़े पर चाबुक का काम कर गया। मुनि लज्जा से अभिभूत होकर स्तम्भित से रह गए। अपने द्वाग आचरित व आलोचित कार्य की ग्लानि से उनका हृदय भर गया।

कोशा ने मुनि की भाव-भंगिमा को परखते हुए आगे और कहा — मुने ! अभी तक इतना बुरा नहीं हुआ है। आप साधना की भूमिका पर ही हैं। विचलित हुए नहीं हैं, होने जा रहे थे। अब भी सम्भल जाए। गुरु के पास जाए और भूलो का प्रायश्चित्त कर शुद्ध हो और पुन साधना में सुदृढ़ हो। आपके गुरु पहुँचे हुए योगी-राज हैं। वे आपका कल्याण करेंगे। आप उनका शरण ग्रहण करें। यद्यपि मैंने आपको नेपाल तक जाने और पुन आने का भीषण कष्ट दिया है। आप उस अपराध की क्षमा करेंगे। मेरा अभिप्राय आपको कष्ट देने का नहीं, अपितु साधना में स्थिर करने का था।

अकुश की मार से मदनोन्मत्त हाँथी शान्त होकर अपने मार्ग में प्रवृत्त हो, जप्ता है, उसी तरह सिंह-गुफा-प्रवासी मुनि भी कोशा से प्रेरणा प्राप्त कर अपनी साधना में अवस्थित हो गए। उन्होंने कोशा का उतना ही आभार माना, जितना कि साधना का प्रारम्भ करवाने वाले अपने गुरु का। चतुर्मास पूर्ण कर वे अपने गुरु सभूतविजय

गरी के चरणों में उपस्थित हुए और अपने दोष की आलोचना की।

वीर-निर्वाण के १५६ वर्ष पश्चात् श्री सम्भूतविजय गरी के उत्तराधिकारी श्रीभद्रबाहु स्वामी हुए। मुनि स्थूलिभद्र फिर भद्रबाहु स्वामी के पास ज्ञानाभ्यास करने लगे। वीर-निर्वाण के १६० वर्ष पश्चात् बारह वर्ष का लम्बा भयकर दुर्भिक्ष पड़ा। उस समय श्रमण सघ छिन्न-भिन्न-सा हो गया। प्रासुक आहार-पानी मिलना कठिन हो गया। बहुत सारे बहुश्रुत मुनि अनशन कर स्वर्गवासी हो गए। धर्म की बहुत हानि हुई। भद्रबाहु स्वामी अपने बहुत सारे शिष्यों के साथ नेपाल पधार गए। कुछ साधु दक्षिण में चले गए। भूख-प्यास की व्याकुलता में आगम (शास्त्र) ज्ञान विस्मृत होता गया। जब दुर्भिक्ष मिटा, पटना में सघ एकत्रित हुआ। भद्रबाहु स्वामी नहीं पधारे। साधुओं ने इग्यारह अंग सकलित किए। बारहवें अंग का भद्रबाहु स्वामी के अतिरिक्त कोई ज्ञाना नहीं था। वे नेपाल में महाप्राण ध्यान की साधना कर रहे थे। सघ के अनुनय पर उन्होंने बारहवें अंग की वाचना देना स्वीकार कर लिया। पन्द्रह सौ साधुओं ने विहार किया। पाच सौ साधु विद्यार्थी थे और एक हजार उनकी परिचर्या के लिए। मुनि स्थूलिभद्र भी उन पाच सौ में एक थे। विद्यार्थी साधुओं का अध्ययन आरम्भ हुआ। लगभग सभी साधु अध्ययन करते हुए थक गए। एकमात्र स्थूलिभद्र ही डटे रहे। उन्होंने आठ पूर्व का ज्ञान ग्रहण कर लिया। एक दिन उन्होंने भद्रबाहु स्वामी से पूछा—“महाराज ! अब अध्ययन कितना और अवशिष्ट है।” भद्रबाहु स्वामी ने उत्तर दिया—“बिन्दु आया है और सिन्धु अवशिष्ट है।” मुनि स्थूलिभद्र फिर दुगुने उत्साह से अध्ययन में लगे और उन्होंने दस पूर्व पूरे कर लिए।

भद्रबाहु स्वामी पुनः नेपाल से पाटलिपुत्र पधार गए। शहर के समीपवर्ती उद्यान में ठहरे। मुनि स्थूलिभद्र एक दिन देवालय में ध्यान कर रहे थे। यक्षा, यक्षदत्ता आदि सातो ही बहिनो ने, जो साव्वी वन गई थी, गुरु की अनुमति ग्रहण कर बन्धव मुनि के दर्शन करने देवालय में आईं। मुनि स्थूलिभद्र को जब यह ज्ञात हुआ तो थोड़े अह में आ गए। उन्होंने सोचा—बहिनो को क्या पता चलेगा, मैंने कितनी साधना की है। कुछ चमत्कार दिखाना चाहिए। उन्होंने अपना रूप बदल लिया और एक शेर बनकर बैठ गए। सातो ही बहिनो जब वहां आईं और उन्होंने शेर को देखा तो भयभीत भी हुईं और भाई को न देखकर दुःखित भी हुईं कि कहीं शेर उनके भाई को न खा गया हो। वे उन्हीं पैरों लौट कर भद्रबाहु स्वामी के पास पहुँची और सारी घटना से उन्हें परिचित किया। गुरु ने अपने उपयोग के आधार पर कहा—शेर नहीं है। तुम्हारा भाई ही है। तुम जाओ और उसके दर्शन करो। सातो ही बहिनो वहां फिर आईं तो मुनि स्थूलिभद्र ही वहां ध्यानस्थ मिले। उन्होंने वन्दना की और अपनी तथा भाई श्रियककुमार की दीक्षा सम्बन्धी घटना से उन्हें अवगत किया।

स्थूलिभद्र मुनि अपना ध्यान-काल समाप्त कर भद्रबाहु स्वामी के चरणों में

उपस्थित हुए। उन्होंने अपने शास्त्राभ्यास को आगे बढ़ाने के लिए वाचना मागी। भद्रबाहु स्वामी ने वाचना देने से स्पष्ट इन्कार कर दिया। स्थूलिभद्र मुनि को इससे बहुत आश्चर्य हुआ। उन्होंने विनय के साथ पूछा—भगवन् ! यह अकृपा क्यों ? आप तो मुझे बड़ी वत्सलता के साथ वाचना दे रहे थे और आज यह अश्रुतपूर्व वाक्य आपसे कैसे सुन रहा हूँ ?

भद्रबाहु स्वामी ने कहा—तू अब पात्र नहीं रहा है। अपात्र को दिया गया ज्ञान कभी फलप्रद नहीं होता।

स्थूलिभद्र मुनि ने अपनी अनभिज्ञता प्रकट करते हुए कहा—भगवन् ! ऐसा तो मेने कोई आचरण नहीं किया ?

भद्रबाहु स्वामी ने कहा—किया है, तू याद कर।

स्थूलिभद्र मुनि ने सोचा तो उन्हें अपना सिंह का रूप याद आया और वे उसी समय उनके पैरों में गिर पड़े। निवेदन किया—प्रभो ! क्षमाप्रार्थी हूँ। मेरे से यह अविनय हुआ है।

भद्रबाहु स्वामी—ज्ञान और साधना का यह अह किसी तरह भी क्षम्य नहीं हो सकता। जो ज्ञान तुझे मिलना था, मिल गया, अब नहीं दिया जाएगा।

स्थूलिभद्र मुनि ने बहुत विनय किया। भविष्य में इस प्रकार की त्रुटि की पुनरावृत्ति नहीं होगी, ऐसा विश्वास भी दिलाया, किन्तु भद्रबाहु स्वामी नहीं पिघले। सारा सघ इकट्ठा हुआ। सामूहिक रूप से प्रार्थना की गई। सघ का निवेदन था—“प्रभो आपको यह कृपा करनी चाहिए। एक स्थूलिभद्र मुनि ही तो इस ज्ञान को ग्रहण करने में समर्थ है और आप यदि इन्हें भी प्रदान नहीं करेंगे तो आगम-ज्ञान विच्छिन्न हो जाएगा। केवल ज्ञान तो पहले से ही नहीं है और यदि पूर्वों का ज्ञान भी न रहा तो धर्म सघ चलेगा कैसे ? एक बार के अविनय को आप माफ करिए और जैन सघ के भविष्य को सोचिए। सघ के पुनः-पुनः प्रार्थना करने पर भद्रबाहु स्वामी ने अगले चार पूर्वों का सूत्र रूप ज्ञान और दिया, किन्तु अर्थ रूप ज्ञान नहीं दिया। साथ ही साथ उन्होंने यह भी आदेश दिया कि अल्प भोजन को कभी गहरा ज्ञान भूत देना।

चौदह वर्ष तक आचार्य पद पर रहने के बाद भद्रबाहु स्वामी का स्वर्गवास हो गया और उनके उत्तराधिकारी स्थूलिभद्र मुनि बने। ४६ वर्ष तक स्थूलिभद्र आचार्य रहे और फिर महागिरि आचार्य बने।



विजय विजया

प्राचीन समय में एक दिन आचार्य प्रवचन कर रहे थे। परिषद् में श्रोताओं की अपार भीड़ थी। बृद्ध, युवक, बालक व महिलाएँ सभी सुनने में दत्तचित्त थे। ब्रह्मचर्य का प्रकरण चल रहा था। आचार्य ने ब्रह्मचर्य की आवश्यकता, आत्मा व शरीर की दृष्टि से उपयोगिता आदि पर सविस्तार यौक्तिक प्रकाश डाला। श्रोताओं के मन में अब्रह्मचर्य के प्रति ग्लानि उत्पन्न हुई और ब्रह्मचर्य के प्रति श्रद्धा। अधिकांश श्रोताओं ने यथाशक्ति ब्रह्मचर्य-व्रत स्वीकार किया। एक अधखिली अवस्था का विजय नामक युवक भी खड़ा हुआ और उसने जीवन भर के लिए व्रत-ग्रहण किया कि मैं कृष्णपक्ष में ब्रह्मचारी रहूँगा। महिलाओं ने भी व्रत-ग्रहण किए। एक कुमारी ने, जिसका नाम विजया था, आजीवन शुक्ल पक्ष में ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण करने की प्रतिज्ञा ग्रहण की। परिषद् अपने अपने घर लौट गई।

विजय और विजया जब बड़े हुए तो सयोगवश उन दोनों का ही विवाह हो गया। दोनों को ही एक-दूसरे के व्रत की स्मृति नहीं थी। दाम्पत्य जीवन में किसी तरह का द्वेष खड़ा न हो जाए, यह सोचकर विजया ने मिलन के प्रथम अवसर में ही विजय को अपने व्रत से अवगत कर दिया। विजय गहरी चिन्ता में पड़ गया। विजया ने उसकी भावना को आप लिया। सान्त्वना के स्वर में वह बोली—शुक्लपक्ष के अब केवल तीन दिन ही तो बाकी हैं। आप चिन्तित क्यों होते हैं ?

विजय ने अपने सहज स्वर में कहा—मेरे लिए यह चिन्ता की बात नहीं है, अपितु यह है कि तुम्हारी तरह मैं भी कृष्णपक्ष के लिए नियमबद्ध हूँ। हम दोनों इस जीवन में गृहस्थी नहीं बसा सकेंगे।

विजय की चिन्ता का भार विजया पर आ गया। किन्तु दो-एक क्षण के बाद साहसिक भाषा में वह बोल पड़ी—पतिदेव ! आप चिन्तित न होइएगा। आप से नव्रतापूर्वक निवेदन करती हूँ कि आप दूसरी शादी कर लीजिए और अपनी गृहस्थी बसा लीजिए। मुझे उसमें अपार प्रसन्नता होगी। मैं आपके चरणों में रहती हुई सहर्ष ब्रह्मचर्य का पालन करूँगी।

विजया के कथन का विजय पर अच्छा असर हुआ। उसका भी साहस

द्विगुणित हुआ और वह बोला—देवि ! मैं इतना कायर नहीं हूँ कि तुम तो ब्रह्मचारिणी रहो और मैं दूसरी शादी कर विषय-वासना के चंगुल में फसा रहूँ। तुम यदि आजीवन ब्रह्मचारिणी रह सकती हो तो क्या मैं नहीं रह सकता ? अच्छा हुआ जो हम दोनों का ऐसा सुन्दर साथ मिला। विषय-वासना में तो सारा ससार ही आसक्त है। यदि तुम्हारी वजह से मैं और मेरी वजह से तू, इस दुष्कर पथ पर चल सके तो हम दोनों के लिए ही इससे बढ़कर और क्या स्वर्णिम अवसर होगा। हमें निरतिचार अपने व्रत का पालन करना चाहिए। जब तक हमारे ब्रह्मचर्य-पालन की यह बात प्रसिद्ध नहीं होती है, हम गृहस्थाश्रम में हैं और जिस दिन प्रसिद्ध हो जाएगी, साधु-व्रत अगीकार कर लेंगे।

बहुत वर्षों तक विजय और विजया साथ-साथ रहते और पूर्णतः विशुद्ध रूप में अपने व्रत का पालन करते। एक बार एक केवलज्ञानी आचार्य उसी नगर में पधारे। उनके प्रवचन में भी ब्रह्मचर्य का प्रकरण चल पड़ा। आचार्य ने अपने विवेचन में यह कहा कि साधु बनकर एकान्तवास में ब्रह्मचर्य का पालन करना सहज है, किन्तु गृहस्थाश्रम में पत्नी के सहवास में रहकर पूर्ण रूप से ब्रह्मचर्य का पालन करना कठिन ही नहीं, महाकठिन है।

परिषद् में से किसी ने पूछ लिया—क्या यह अनुष्ठान सम्भव है ? यदि हो, तो इस समय ऐसा दृढ प्रतिज्ञा कोई पुरुष व महिला है ? कृपया नामोल्लेख भी करें।

आचार्य ने कहा—यह अनुष्ठान सम्भव है, इसीलिए तो इसका विवेचन किया गया। वर्तमान में इस दुष्कर अनुष्ठान का अवलम्बन करने वाले युवक विजय और युवती विजया हैं। इन्होंने विवाह से पूर्व ही एक ने कृष्णपक्ष व एक ने शुक्लपक्ष में ब्रह्मचारी रहने की प्रतिज्ञा कर ली थी। विवाह के बाद भी इन्होंने इस व्रत का कभी भी उल्लंघन नहीं किया है। घोर अनुष्ठान करते हुए वे अपने जीवन को विशुद्ध बना रहे हैं।

विजय और विजया को जब यह ज्ञात हुआ कि उनकी घटना प्रसिद्ध हो चुका है, वे केवलज्ञानी के समक्ष उपस्थित हुए और उन्होंने दीक्षा-ग्रहण कर ली।



सेठ की लड़की

लाड-प्यार में पत्नी-पुसी सेठ की लड़की जब पहली बार अपने ससुराल गई तो उसे वहाँ के सारे ही लोग बड़े बुरे लगे। उसका कारण था कि वह स्वयं क्रोध, अभिमान, ईर्ष्या, प्रतिशोध की भावना व आलस्य से भरी थी। काम से हमेशा ही जी चुराती, क्योंकि उसने अपने पिता के घर में कभी किया ही नहीं था। वह किसी का कहना तो मानती ही नहीं, क्योंकि उसे आदेश देने का ही चिर अभ्यास था। गाली-गलौज के बिना वह किसी को कुछ सम्बोधन ही नहीं करती थी, क्योंकि वह अपने माता-पिता की इकलौती पुत्री थी। इसलिए उसे लाड-प्यार अनहद मात्रा में मिलता था, चाहे वह अच्छा करती या बुरा। पर यहाँ तो वह मैके में नहीं रह रही थी। ममुराल में तो उसका नया जीवन आरम्भ हुआ था, पर उसे अपने चिरन्तन अभ्यास को छोड़ने का अनुभव भी नहीं हो रहा था। इसी कारण उसे नित्य नये सबेरे सास, जेठानी, ननद व अन्य किसी न किसी से झगडा मोल लेना ही होता था। सारा परिवार उससे ऊब गया और वह सारे परिवार से। दोनों ही पक्षों की शान्ति बिक चुकी थी और दोनों ही ऐसे अवसर की खोज में थे कि कब एक दूसरे से छुटकारा मिले।

चार छह महीने के बाद सेठ अपनी लड़की को लेने आया। सारा घर खुशी से झूम उठा। सारे ही पारिवारिक कहने लगे, आप तो अपनी लड़की को भूल ही गए, कभी लेने ही नहीं आए। आखिर ऐसा तो नहीं होना चाहिए था ?

सेठ ने उनके भावों को भापते हुए कहा—हा, होना तो नहीं चाहिए था, पर घर-गृहस्थी के कामों में फसा रहा। समय नहीं मिला, अब आया हूँ।

‘हा, शीघ्रता कीजिए। अपनी लड़की को अभी ले जा सकते हैं। विलम्ब उचित न होगा।’ सारे ही पारिवारिक एक साथ बोल उठे।

घर आकर सेठ ने लड़की से पूछा—क्यों बेटी ! ससुराल कैसा लगा ? इस प्रश्न पर सहसा उसका हृदय-बाध टूट पड़ा और आँखों के द्वार से बहने लगा। वह सिसकिया भरने लगी। बहुत देर तक बोल न सकी। पिता के आश्चर्य वचन सुनकर वह बोली—पिताजी ! ससुराल क्या है, नरक-धाम है।

तुम्हारे सास-श्वसुर कैसे हैं ? पिता ने अगला प्रश्न किया ।
 वे तो डाकिन और डाकी हैं । लडकी ने रोष-भरे शब्दों में कहा ।
 तुम्हारा पति ?

वह तो बना बनाया यमराज है । जब भी घर आता है, खाने को दौड़ता है ।
 एक क्षण भी सुख से नहीं बैठने देता ।

पिताजी ! अब मैं ससुराल कभी नहीं जाऊंगी । मुझे उस घर से कोई मत-
 लब नहीं है । मैं तो यही रहूंगी । लडकी ने एक ही सास में दूसरी बात भी कह
 डाली ।

पिता बड़ा चतुर था । उसे समझने में अधिक समय नहीं लगा कि बुरा कौन
 है ? सारा समझियाना कभी बुरा नहीं हो सकता, यह उसका अपना निर्णय था ।
 किन्तु अपनी लडकी को वह इसे कैसे सुना दे । समस्या गहरी बन गई, क्योंकि लडकी
 आखिर मँके में कितने दिन रह सकती है । उसका तो सुख-दुःख, हानि-लाभ, जिस
 दिन पाणि-ग्रहण होता है, पिता के घर से स्थानान्तरित हो जाता है । जिस घर
 में उसने जन्म लिया है, वह पराया हो जाता है और स्वयं नए घर का निर्माण करने
 चलती है । इस अव्यवस्था में सेठ के वैज्ञानिक मस्तिष्क ने एक नई पद्धति खोज निकाली ।
 उसने कहा—बेटी ! तेरी ये बातें सुनकर मुझे हार्दिक दुःख होता है । मुझे पता नहीं
 था कि सारे समझी इतने बुरे हैं । यदि पता होता तो तेरा विवाह कभी वहाँ नहीं करता,
 पर अब क्या किया जाए ? ससुराल तो कभी बदला नहीं जाता । हा, एक रास्ता अवश्य
 है । मैं एक मन्त्र जानता हूँ । यदि तू उसकी छह महीने भी साधना कर लेगी तो सारा
 ससुराल तेरे वश में हो जायेगा । जैसे तुम कहोगी वैसे ही सबको करना पड़ेगा ।

लडकी के चेहरे पर प्रसन्नता की लहर दौड़ गई । वह उसी क्षण बोल पड़ी—
 पिताजी ! ऐसा मन्त्र तो मुझे अवश्य सीखा दीजिए । मैं पिछला सारा बैर निकाल
 लूंगी ।

उस मन्त्र की साधना बड़ी कठोर है । एक दिन भी साधना से स्खलित हो
 जाने से सिद्धि नहीं मिल सकती, पिता ने कहा ।

पिताजी ! आप चिन्ता न करें । छह महीने तो जैसे-तैसे भी निकाल दूंगी ।
 आप मुझे मन्त्र और उसकी साधना का रास्ता बताइये, लडकी ने कहा ।

पिता ने मन्त्र बता दिया और कहा—इसकी साधना करते हुए तू किसी का
 गाली नहीं दे सकती, काम से जी नहीं चुरा सकती । सबसे अधिक ध्यान रखने की
 बात तो यह है कि यदि तुझे कोई गाली भी दे, बुरा-भला भी कहे तो भी नहीं बोल
 सकोगी । मौन रखना होगा और मन ही मन मन्त्र का जाप करना होगा ।

यह तो मैं बड़ी सुगमता से कर सकूंगी, पिताजी ! लडकी ने अपना दृढ़
 निश्चय व्यक्त करते हुए कहा ।

बहुत दिन हुए ससुराल से उसे लेने के लिए कोई नहीं आया । सेठ जानता था

कि कोई आयेगा भी नहीं। इसलिए एक दिन उसने लडकी को साथ लिया और ससुराल पहुँचा आया। बिना बुलाए बहू घर आ गई। सब लोग उसे टेढ़ी नजरो से देखने लगे। पिछली बातों को याद कर कुछ उपहास करते थे तो कुछ ताना मारते थे। पर वह अपनी मन्त्र-साधना में तल्लीन रहती और अपना कर्तव्य निभाती जाती। तीसरे ही दिन की बात होगी, उसकी ननद व जेठानी उसके साथ अपमानजनक व्यवहार कर रही थी तो सास ने उन सबको डाटा और कहा—जब बहू तीन दिन से किसी को कुछ भी बुरा-भला नहीं कह रही है और तुम सब इसके पीछे पड़ रही हो, यह बुरी बात है। मैं ऐसा सहन नहीं करूँगी। यह सुनकर बहू को बड़ा आश्चर्य हुआ कि सास मेरा ही पक्ष लेती है। क्योंकि उसके जीवन में ऐसा देखने का यह पहला ही अवसर था। उसे स्पष्ट लगने लगा कि मेरे मन्त्र का प्रभाव अब शुरू होने लगा है।

दिन बीते। महीने बीते। बहू सबको प्यारी लगने लगी। घर का भगडा शान्त हो गया और प्रेम की अविरल धारा बहने लगी। छह महीने बाद पिता पुन लडकी को लेने आया। उसे तो देखना था कि आखिर लडकी ने मन्त्र की साधना कैसी की और उमका परिणाम क्या आया?

सेठ को देखते ही सब ने उलाहनों की वर्षा करना आरम्भ कर दिया। सब ही बोल पड़े—सेठजी! अभी थोड़े दिन पहले ही तो आप बहू को पहुँचा गये थे और आज आप लेने के लिए आ गए। इतनी शीघ्रता न किया करे। बहू के बिना हमारा एक दिन भी काम नहीं चलता। हम नहीं भेजेगे।

सेठ ने विनम्र भाव से कहा—बहुत दूर से आया हूँ, आज तो आप भेज दीजिए। आगे के लिए ध्यान रखूँगा।

पुत्री को लेकर सेठ घर आया और पूछने लगा—बेटी! मन्त्र कैसा रहा?
पिताजी! मन्त्र क्या था जादू ही था। छह महीनों में सब घर वालों पर मेरा प्रभाव छा गया, लडकी ने कहा।

पिता—तेरे सास-स्वसुर कैसे हैं, बेटी!

पुत्री—पिताजी! वे तो लक्ष्मी और विष्णु के अवतार हैं।

पिता—तेरे पति?

पुत्री—वे तो साक्षात् परमेश्वर हैं। मुझे बहुत चाहते हैं।



चन्दनबाला

चम्पानगरी का राजा दधिवाहन अपनी सन्तोषवृत्ति और शान्त प्रकृति के लिए प्रसिद्ध था। उसकी रानी का नाम धारिणी और पुत्री का नाम चन्दनबाला था। राजा के और कोई सन्तान न होने से मात्र चन्दनबाला ही सबकी स्नेहपात्र थी। हर एक व्यक्ति उसे गोद में लेता, खिलाता और उसकी तुतली वाणी सुनना चाहता। चन्दनबाला भी सबके हाथों जाती और अपने बाल्यभाव से सबको मन्त्र-मुग्ध कर देती।

राजा और रानी को चन्दनबाला जितनी प्रिय थी, उससे भी अधिक वे उसके भविष्य की चिन्ता रखते थे। क्योंकि किशोरावस्था से ही सबके जीवन का पहला और अन्तिम समय सम्बन्ध रखता है। बाल्यकाल से ही यदि बच्चे में अच्छे संस्कार, उच्च विचार और सत्प्रवृत्ति घर कर लेती है तो आगे वह स्वयं एक आदर्श बन जाता है। अतः साथ और प्रातः कभी राजा और कभी रानी चन्दनबाला को अपने पास बिठाते और मधुर शब्दों में उसे नाना प्रकार की शिक्षाएँ देते।

माता-पिता की शिक्षाओं के अतिरिक्त चन्दनबाला के लिए अन्य अध्ययन का भी समुचित प्रबन्ध था। जिसमें उसने अन्यान्य विषयों के साथ-साथ पाक, शिल्प आदि का भी थोड़े समय में ही पर्याप्त ज्ञानार्जन कर लिया।

एक दिन की बात है कि राजा दधिवाहन अपने मंत्रियों और सभासदों से परिवृत्त राज्य की उन्नति के सम्बन्ध में विचार-विनियम कर रहा था। अचानक ही एक दूत वहाँ आया और राजा शतानिक का संदेश राजा दधिवाहन को सुनाया। उसमें कहा गया था, “दधिवाहन ! शीघ्र ही तुम्हें आत्म-समर्पण कर मेरे अधीन हो जाना चाहिए। चम्पापुरी का सारा साम्राज्य मैं लूँगा और मेरा शासनसूत्र ही यहाँ प्रवर्तित होगा। यदि तुम्हें यह मान्य नहीं है तो मैं तेरी राजधानी के चारों ओर अपनी सशस्त्र सेना का पड़ाव डाले बैठा हूँ। जल्दी ही युद्ध के लिए सन्नद्ध हो जा।” दधिवाहन के सामने यह एक अजीब-सी समस्या खड़ी हो गई। वह शान्ति से अपना शासन चलाना चाहता था। उसे न तो किसी दूसरे राज्य की आकांक्षा थी और न वह किसी पर बलात् अपना अनुशासन थोपना ही चाहता था। वह अपने छोटे से राज्य से सन्तुष्ट था, पर प्रकृति को यह कब सह्य था ? राजा दधिवाहन के सामने

यह दुहरी समस्या थी । बिना युद्ध किये ग्रात्म-समर्पण कर देने से क्षत्रियोचित वृत्ति पर कलक लगता था और लड़ने में तो उसे अपनी पराजय सामने दिखती ही थी , क्योंकि उसकी सेना अल्प थी और मुसज्जित भी नहीं थी । युद्ध के लिए जिम सामग्री की अनिवार्य अपेक्षा होती है, वह उसके पास अपूर्ण थी । फिर भी राजा ने अपना साहस बटोरा । मुख्य प्रमात्य, प्रधान सेनापति से मंत्रणा की और जैसे-तैसे ही वह युद्ध-भूमि में आ गया । दोनों सेनाओं में युद्ध शुरू हुआ । कुछ समय बीता और महाराज दविवाहन की सेना खेत छोड़ भागी । महाराज शतानिक का स्वप्न साकार हो गया । वह खुशी में फूला नहीं समाया । अपने विजेता योद्धाओं को पुरस्कार देने के स्वरूप शतानिक ने आदेश दिया—“हर एक सैनिक दो प्रहर तक चम्पानगरी को लूट सकता है , किन्तु जन और चरित्र पर कोई कुठार घात नहीं कर सकेगा ।” बम फिर क्या था ? हजारों सैनिक उम मुसज्जित और मन्दर नगरी में दानवों और दैव्यों की तरह घुम पड़े । बड़ी-बड़ी हाटों और हवेलियों में घुसे । मालिक के हाथों तिजोरियों के ताले खुलवाये और मनचाहा धन, स्वर्ण मुक्ता, मणि, माणिक आभूषण आदि उठा कर चलने लगे । यदि अधिक धन साथ ले चलने में असमर्थ भी हुए तो इधर-उधर फेंक दिया, तोड़ दिया और चम्पानगरी की जनता को उसमें वंचित कर दिया । वह दृश्य किसी रमणीय उद्यान में चंचल बन्दरों की मनमानी को याद दिला देने वाला था ।

चन्दनबाला माता के पास महलों में बैठी थी । रानी ने शहर की लूट-खसोट को देखने ही अपने पराभव का अनुमान लगा लिया । आज उसका भविष्य अन्धकारमय बन सामने आ खड़ा हुआ । उसे पता नहीं था कि अब उसका क्या होगा ? उसे अपने जीवन की इतनी चिन्ता नहीं हो रही थी , क्योंकि उसने तो अपने जीवन में अनेकों सरस-विरस परिस्थितियाँ देखी थी, पर चन्दनबाला तो अभी दुधमुही बच्ची थी । उसने हमेशा प्रभान ही देखा था, अन्धेरा नहीं । अतः माता का चिन्तापूर होना स्वाभाविक था । रानी चाहती थी कि इस समय चन्दनबाला को कुछ कहूँ । उसके भावी जीवन के लिए कुछ सकेत करूँ । किन्तु उसकी बाणी श्लथ होती जा रही थी और सामने भयंकर अन्धकार दिखाई दे रहा था । वह सोच रही थी—कहूँ तो आखिर क्या कहूँ ? भविष्य का कुछ आभास हो तो उसके आधार पर योजना बनाई जा सकती है, लेकिन बिना आभास के कुछ किया जाना सम्भव नहीं । रानी इसी प्रकार सोच-विचार कर ही रही थी कि अचानक एक नरपिशाच रथारोही सैनिक राजमहलों में घुम आया, जहाँ माता और पुत्री बैठी थी । उसने अपने मन में सोचा, ‘धन-ग्रहण निस्सार है, भारभूत है और चंचल है, पर यह स्त्री-धन अक्षय, स्थायी और जीवन-संगी है । क्या ही इनका रूप-लावण्य है और क्या ही इनकी युवावस्था । सबको छोड़कर मुझे तो इन दोनों को ही ले चलना चाहिए ।’ उस नराधम ने रानी और चन्दनबाला को तीक्ष्णधार कृपाण दिखाते हुए कहा—“चुपचाप यहाँ से चलो और नीचे रथ तैयार है, उसमें बैठ जाओ । यदि ऐसा न हुआ तो इस तलवार से

तुम्हारी यह सुकोमल षड् गरदन से अलग होते देर नहीं लगेगी।” चन्दनबाला माता की ओर देखती थी और माता अन्तरिक्ष में। सोचने के लिए कुछ समय की आवश्यकता थी और वह विलम्ब रथारोही को असह्य था, क्योंकि पीछे से उसे राजा का भय भी तो था। उसने अपनी बात दो-चार मिनट में ही तीन बार दुहरा दी और रानी व चन्दनबाला को शीघ्र चलने के लिए बाध्य किया। रानी ने सोचा, ‘मृत्यु से मुझे भय नहीं है, पर यदि मेरे आचार पर कुठाराघात नहीं करता तो मुझे इसके साथ जाने में क्या आपत्ति है?’ रानी तो अब मैं रहूँगी नहीं, मुझे तो किसी-न-किसी प्रकार से अपना जीवन व्यतीत करना है। यदि इसने मेरे साथ कुछ अनुचित सम्बन्ध स्थापित करने की कुचेष्टा की तो अगला कदम उठाना मेरे हाथ की बात है।’ रानी चन्दनबाला के साथ रथ में आकर बैठ गई और रथ तूफान की तरह वहाँ से चल पड़ा।

कुछ ही समय बाद रथ एक भयानक जंगल में आकर ठहरा। मनुष्य के जहाँ दर्शन दुर्लभ थे और केवल हिंस्र पशुओं की हृदय-विदारक आवाज ही सुनाई देती थी। वहाँ तो दिन में भी अमावस का आभास होता था। रानी और चन्दनबाला को जब रथ से उतरने का कहा गया तो दोनों अविलम्ब उतर गईं। रथारोही सैनिक ने अपनी मनोभावना व्यक्त करने का अब उचित अवसर समझा, पर पात्र उसके अकूनुल था या नहीं, यह उसने नहीं सोचा। धारिणी का राज्य-सम्मान लूटा गया था, पर उसका कुलाचार और विशुद्ध भावना नहीं, जिसकी वह अब भी स्वामिनी थी। ज्यों ही सैनिक ने अपनी दुर्भावनाएँ रानी के सम्मुख व्यक्त की, वह एक सिंहनी की भाँति गरज पड़ी। उसने कहा, “यद्यपि मैं अबला हूँ, पर अपने सत्य और शील की रक्षा का मुझ में अटूट बल है। तू देखता होगा मेरा यहाँ कोई सहायक नहीं, पर आत्म-रक्षा का मैं स्वयं साहस रखती हूँ। तेरे जैसा नरककाल मुझे अपने सत्य और शील से विचलित नहीं कर सकता।” रानी की यह गर्वोक्ति सैनिक को कटु और अपनी आशाओं पर पानी फिरानेवाली लगी। किन्तु उसे अपने पराक्रम पर गर्व था। वह जानता था कि जब यह प्रेमपूर्वक मेरी मांग स्वीकार नहीं करेगी तो मैं इस पर अपने बल का प्रयोग करूँगा। जिससे यह कातराक्षी मेरी परिचारिका होगी और मुझे अपने इच्छित कार्यों की पूर्ति करने का स्वर्णिम अवसर प्राप्त होगा।

ज्यों ही सैनिक ने रानी की ओर दो कदम भरे, रानी पूर्णतया सम्मल गई। उसने सरोष वाणी से सैनिक को ललकारा, “देख, सावधान रहना, मैं तेरे लिए अयोग्य हूँ और यदि तू ने अब एक कदम भी मेरी ओर बढ़ाया तो मैं अपनी जीवन-लीला को समाप्त करने में तनिक भी देर नहीं करूँगी।” इतना कहने पर भी सैनिक विवेकशून्य था, अतः उसने दो कदम रानी की ओर बढ़ा ही दिये। रानी में आत्म-बल की तीव्र स्रोतस्विनी बह रही थी। उसने अपनी जिह्वा को पकड़ा, उखाड़ा और सैनिक की विष-भरी दृष्टि से दूर किसी क्षितिज पार जा बसी। चन्दनबाला अवाक् रह गई। उसके मुख से सहसा निकल पड़ा, ओ मा ! मा !! क्या कर रही हो ?

सैनिक का भी थोड़ा विवेक जाग्रत हुआ। वह बहिन ! बहिन ! कहता हुआ आगे बढ़ा, पर अब हो ही क्या सकता था ? तीर हाथ से निकल चुका था।

माता को मृतावस्था में देख चन्दनबाला विरह से व्याकुल हो गई। पिता और धन का वियोग तो पहले ही हो चुका था और माता की इस प्रकार जंगल में असमय मृत्यु, उनके लिए असह्य पीड़ा थी। लेकिन वह कहे तो किससे कहे और क्या कहे ? उसकी वहा सुनने वाला कौन था ?

चन्दनबाला भयातुर इधर-उधर देख ही रही थी कि सैनिक उसकी ओर बढ़ा। चन्दनबाला सजग थी। उमी क्षण उसने कहा, क्या तू मेरे बलिदान का भी प्यासा है ? तो ले ये मेरे प्राण, यह कहते हुए उसने भी अपना हाथ जिह्वा पर लगाया। सैनिक पास में ही था, अतः उसने चन्दनबाला का हाथ पकड़ लिया और कहा—“बेटी ! अब मुझे इस महापाप से और अधिक बोझिल मत कर। मैं अन्यायी हूँ, पापात्मा हूँ। तू सती है, साध्वी है। मा पाहि मा पाहि।”

चन्दनबाला ने अपना धैर्य बटोरा और स्वस्थ हुई। सैनिक ने उसे अपने घर चलने को कहा। चन्दनबाला बोली, “मैं वहा क्या करूँगी ?”

सैनिक ने कहा—“काम करना, शान्त और सयमपूर्ण जीवन से हमें भी शिक्षा देती रहना।”

चन्दनबाला रथ में बैठ गई और रथ सैनिक के घर की ओर चल पड़ा।

×

×

×

सैनिक की पत्नी, अपने पति की प्रतीक्षा में व्यग्र हो उठी थी। जब से चम्पानगरी के पतन और कौशाम्बी नगरी के विजय का समाचार उसने सुना, तब से वह फूली नहीं समा रही थी। क्योंकि उसका पति एक रथरोही सैनिक था और वह चम्पानगरी से लूटकर उसके लिए बहुत-सा धन लाएगा। प्रतीक्षा ही प्रतीक्षा में अपराह्न का समय बीत चुका और संध्या हो चली थी। गोधूलि बेला थी कि रथ की झनझनाहट सुनाई दी। पत्नी ने बड़ी तत्परता से दरवाजा खोला और रथ घर में प्रविष्ट हो गया। सैनिक रथ से उतरा। सैनिक की पत्नी ने सैनिक से, युद्ध में कितने घाव लगे, कहा चोट आई, कुछ नहीं पूछा। उसने पहला प्रश्न यही किया—“चम्पानगरी को लूटकर मेरे लिए आप क्या लाए हैं ?” सैनिक इस पर मन ही मन उद्विग्न हो रहा था और सोच रहा था क्या उत्तर दूँ ? किन्तु पत्नी ने उत्प्रेरकतावश रथ का पर्दा हटा दिया और चन्दनबाला को उसमें बैठे देखा। उसका तो टेम्प्रेचर नारमल से १०५ डिग्री चढ़ गया, क्योंकि उसके विचार से उसका पति चन्दनबाला को पत्नी बनाकर लाया था और वह उसे तलाक देने वाला था।

दोनों का परस्पर वाग्मुद्ध शुरू हुआ और पत्नी ने पति को बहुत बुरा-भला कहा। सैनिक ने कहा—“घबराओ मत, यह तुम्हारी दासी है और यह घर का सारा कामकाज करती रहेगी। तुम इस पर अपनी हकूमत करना। मैं इसे और किसी दूसरे उद्देश्य से नहीं लाया हूँ।”

पत्नी को यह बात जची नहीं। उसने तो बार-बार यही कहा — ‘इसको जल्दी बाजार में बेचो और जो कुछ भी प्राप्त हो, वह मुझे लाकर दो।’

सैनिक ने कहा—रात का समय है, अतः कहा जाऊगा। सबेरा होते ही जैसी तेरी आज्ञा होगी, वैसा ही करूंगा। चन्दनबाला के लिए माता-पिता और राज्य के नियोग की वह पहली रात थी।

×

×

×

सूर्योदय होते ही सैनिक चन्दनबाला के विक्रयार्थ कौशाम्बी नगरी के बाजार में आया। चन्दनबाला के चारों ओर अपार जनसमूह एकत्रित हो गया। सबको यह आश्चर्य हो रहा था, कि यह अप्सरा गुलाम कैसे? पर इसका उत्तर भी कोई नहीं देता था। चन्दनबाला की बिक्री होने लगी। एक सेठ ने सौ मुहरे देने का कहा तो दूसरे सेठ ने दो सौ मुहरे। चन्दनबाला की इस बिक्री का पता कुछ वेश्याओं को भी चला। वे भी दौड़ी दौड़ी आईं। चन्दनबाला के रूप-लावण्य को देखते ही एक वेश्या ने चट से पाच सौ मुहरें सैनिक के हाथ में दे दी। सैनिक घर आया और उसने पत्नी को पाच सौ मुहरे दे दी।

चन्दनबाला वेश्या के साथ जा रही थी। वह यह नहीं जानती थी कि मैं वेश्या के द्वारा खरीदी जा चुकी हूँ। पर वेश्या की वृत्तियों से उसे सन्देह अवश्य हुआ। बड़े नम्र भाव से उसने पूछा—माताजी! आप मुझे लिए चलती हैं, पर जरा बताइये तो मुझे वहाँ काम क्या करना होगा?

वेश्या—तुम्हें वहाँ कुछ भी नहीं करना है। अराम से रहना और।

चन्दनबाला—माताजी! मुझे माफ कीजिए। मैं आपके इस काम के लिए उपयुक्त नहीं हूँ। आप मेरे से दासोचित हर एक कार्य करा सकती हैं, पर यह काम तो?

वेश्या—गुलाम को यह कहने का हक नहीं है। तुम्हें ध्यान होना चाहिए, अब तू खरीदी जा चुकी है।

चन्दनबाला—माताजी! मैं खरीदी गई हूँ, लेकिन मेरा सत्य, शील तथा ईमान नहीं। उन पर मेरा ही अधिकार है और आपको बलात्कार करना भी उचित नहीं।

चन्दनबाला की दैवी-शक्ति के सामने आसुरी शक्तियों की भी पराजय हुई। चन्दनबाला का फिर दूसरा विक्रय-दौर प्रारम्भ हुआ। कौशाम्बी के एक भद्र प्रकृति के जैन-आवक घनावा सेठ ने पाच सौ मुहरो से उसे खरीद लिया। वह सेठ के घर आई। अब वह यह अनुभव नहीं कर रही थी कि मैं राज-कन्या हूँ। बिना किसी ग्लानि के वह घर का छोटे से छोटा काम और अधिक से अधिक श्रम का काम भी बड़ी सावधानी और निष्ठा के साथ करती। सेठ के, ‘तू कौन है, तेरा क्या परिचय है’, आदि अत्यधिक पूछे जाने पर भी वह शान्त रहती। कुछ भी नहीं बोलती। अपना दुःख कभी भी सेठ के सामने नहीं उगलती। वह इतना ही कहती, ‘मैं आपकी

दासी हूँ, मेरा क्या परिचय हो सकता है ?” और बात टाल देती ।

सेठ चन्दनबाला को अपनी बेटी से भी अधिक लाड-प्यार की दृष्टि से देखता था । उसे अधिक श्रम का काम करते देख, बहुधा वह कहता रहता, “एक साथ इतना काम क्यों करती हो ? कल कर लेना, एक जाओगी” । चन्दनबाला “नही पिताजी”, कहकर फिर उस काम में जुट जाती । इतना होने पर भी वह मूला सेठानी की कृपापात्र नहीं बन सकी । वह हमेशा ही उसे कोसती रहती और आए दिन दो-चार बार भला-बुरा कह ही देती । पर चन्दनबाला शान्त रहती । वापस एक शब्द भी न कहती ।

एक दिन सेठ बहुत यका-मादा घर लौटा था । चन्दनबाला गर्म पानी लाई और पितृभाव से उसके पैर धोने लगी । उस समय जमीन पर गिरते हुए चन्दनबाला के केशों को सेठ ने सुता भाव से सम्भाल कर उसकी पीठ पर रख दिया । सेठानी को यह घटना देखते हुए पक्का विश्वास हो गया कि चन्दनबाला मेरी सौत है और शीघ्र ही इस घर पर अपना अधिकार जमा लेगी । मेरे लिए यह श्रेयस्कर है कि इस व्याधि का मूल ही काट दूँ । न रहेगा बास न बजेगी वासुरी ।

सेठ को आए दिन देहातो का काम रहा करता था । वह सबेरे ही घर से जाता और सध्या होते-होते वापस लौटकर आता । किन्तु एक बार उसे कार्याधिक्य के कारण तीन दिन देहातो में ही रहना पड़ा । इधर सेठानी ने अवसर पाकर, चन्दनबाला के सिर के केश कतरे, सिर में घाव किए, हाथ में हथकड़ी और पैरों में बेड़ी डाल दी और मकान के तहखाने (भँवरे) में बन्द कर अपने पीहर चली गई ? सेठ जब घर लौटा, उसे सारा मकान बन्द मिला । उसने सोचा, यह क्या ? चन्दनबाला कहा चली गई ? मकान के कमरे बन्द थे, अतः चन्दनबाला का पता लगाना सेठ के लिए कष्टकर हुआ । वह समझ गया यह सेठानी की असीम कृपा का ही प्रतिफल है । सेठ प्रत्येक कमरे के आस-पास घूमा । जब वह तहखाने के पास पहुँचा तो उसे वहाँ रोने की आवाज सुनाई दी । सेठ ने कहा—“चन्दना” ! चन्दना ! !”

चन्दनबाला ने अवरुद्ध कण्ठ से कहा—“हा पिताजी !”

सेठ—“तू यहाँ कैसे ?”

चन्दनबाला—“पिताजी ! मुझे बाहर निकालो !”

सेठ ने मकान का ताला तोड़ा और चन्दनबाला को देखा । सेठ दुःख से व्याकुल हो उठा । उसने कहा—“बेटी ! यह किसने किया ?”

चन्दनबाला—“पिताजी ! मेरे ही कृतकर्मों ने !”

सेठ—“तू जरा ठहर, मैं जाता हूँ, हथकड़ी और बेड़ी तोड़ने का सामान लाता हूँ !”

चन्दनबाला—पिताजी ! उससे पहले मुझे कुछ खाने को दो । भूख लग रही है ।

सेठ घर के कोने-कोने में घूमा पर कुछ भी नहीं मिला, क्योंकि कमरे, रसोई-

घर आदि सारे ही बन्द थे। आखिर एक सूप में कुछ उबली हुई उडद बची हुई पड़ी थी। घर में और कुछ नहीं मिला। अतः तीन दिन की भूखी चन्दनबाला को उडद देते हुए सेठ बोला—‘बेटी’ घर में कुछ नहीं मिला, अतः इन्हे खा। मैं जल्दी ही सब कुछ सामान लेकर आता हूँ। अभीर न होना। मैं गया कि आया।”

चन्दनबाला के हाथ और पैर हथकड़ी और बेड़ियों से जकड़े हुए थे। सिर के बाल कतरे हुए थे, सिर में घाव थे, तीन दिनों की भूखी थी। ज्यों-ज्यों सूप को जिसमें उडद थे, पकड़े हुए वह खाना ही चाहती थी कि सहसा उसको अपने पूर्व जीवन का स्मरण हो आया। जिस समय वह राजकुमारी थी, अपार धन-राशि की वह स्वामिनी थी और अनेको दास-दासिया उसकी सेवा के लिए नियुक्त थी। माता-पिता का वह वात्सल्य और प्यार आज कहाँ? आसमान और पानाल का-सा अन्तर उसके जीवन में हो गया था। फिर भी चन्दनबाला शान्त थी। वह अपने सुदिन और दुर्दिन का श्रेय और दोष किसी दूसरे को नहीं देना चाहती थी। उसने अपने माता-पिता के पास यह पाठ—सुख और दुःख में समवृत्ति रखो, भली भाँति सीखा था। वह शान्त हृदय से कुछ सोच ही रही थी कि इतने में पतित-पावन भगवान् महावीर बड़ा पधार गए। उसके हर्ष का आरंभ रहा न पार। वह अपना सारा दुःख भूल चुकी। तीन दिनों की भूखी वह भगवान् महावीर को अपना रूखा सूखा भोजन देना चाहती थी। भगवान् महावीर के सम्निग्रह छहमासी तप चालू था। जिसके पाच महीने और पच्चीस दिन बीत चुके थे। भगवान् महावीर के अभिग्रह था—(१) राजकन्या, (२) बेची गई, (३) मुडित, (४) सिर में गद (घाव) हो, (५) हाथों में हथकड़ी, (६) पैरों में बेड़ी, (७) तीन दिन की भूखी, (८) आँखों में आसू, (९) आधा दिन बीतने के बाद, (१०) एक पैर देहली में और एक पैर उसके बाहर, (११) सूप के कोने में, (१२) उडद के बाकले (घूँघरी) और (१३) भबरे में खड़ी हो तो उसके हाथ से भिक्षा लेना, वरना नहीं। जब भगवान् महावीर ने अपने ज्ञान से देखा तो पता चला कि बारह बातें तो एकदम मिलती हैं। केवल आँखों में आसू नहीं है। वे वापस लौट आए। चन्दनबाला के अब दुःख का पारावार न रहा। वह अपनी दुःखभरी वाणी में बोल उठी—‘भगवन्! दुःखी व्यक्ति को आज कौन पूछता है? उसका दुःखड़ा कौन सुनता है? मेरा राज्य गया, पिता का वियोग हुआ, माता वन में मर गई और मैं बेची गई। मुझे इसका इतना दुःख नहीं हुआ, जितना कि आपके इस व्यवहार का। आपका वापस जाना, मेरे जले हृदय पर नमक का काम कर रहा है। मैंने तो सोचा था, अब भगवान् महावीर पधार गए हैं, मेरे दुःख का अवसान हो गया। पर, भगवन्! आपकी यह प्रवृत्ति मेरी आशाओं और कल्पनाओं पर पानी फेरने वाली है। भगवन्! आप खाली हाथ मत जाइए। इस पतित को पावन करिए। आइए, आप जल्दी आइए।” यह कहते हुए चन्दनबाला रो पड़ी, उसका सारा दुःख आँखों के रास्ते बाहर लुढ़क पड़ा।

भगवान् महावीर वापस पधारे और चन्दनबाला के हाथ से उन्होंने भिक्षा ली । बस फिर क्या था ? सारी स्थिति पलट गई । आकाश में 'अहो दान अहोदान' की दुन्दुभि बज उठी । चन्दनबाला की हथकड़ी और बेडियो के स्थान पर मणि-माणिक जटित आभूषण हो गए । केश वापस आ गए और साढे बारह करोड सोनैयो की वर्षा हुई, जो उसके दीक्षोत्सव में काम आए ।

चन्दनबाला के उस दिन से दुर्दिन का अन्त हो गया और वह सुख-समृद्धि की ओर बढ़ती गई । जब भगवान् महावीर को केवलज्ञान प्राप्त हुआ, वह उन की पहली शिष्या बनी और ३६००० साध्वियो का नेतृत्व करने वाली प्रवर्तिनी हुई ।



आम्र-भोजी राजा

एक राजा आम्रबात रोग से पीडित था, पर वह आम खाने का बड़ा शौकीन था। अनेक वैद्यों से चिकित्सा करवाई गई, पर रोग शान्त न हुआ। एक अनुभवी वृद्ध चिकित्सक ने जब आगे-पीछे की सारी परिस्थिति को सुना तो वह रोग के मूल पर पहुँच गया। उसने उपचार आरम्भ किया और राजा को प्रणवद भी कर लिया कि अब वह अपने जीवन में कभी आम नहीं खायेंगा। कुछ दिन उपचार के बाद क्रमशः स्वास्थ्य सुधरने लगा और एक दिन राजा स्वस्थ भी हो गया। चिकित्सक ने प्रस्थान से पूर्व राजा को फिर वचनबद्ध किया और कहा कि यदि अब आम खाए गये तो फिर बचाव का कोई भी मार्ग नहीं है। राजा ने चिकित्सक को विश्वास दिलाया कि जीवन में ऐसी गलती कभी नहीं होगी।

मन्त्री ने राजा की सुरक्षा के लिए राज्य की सीमा में जितने भी आम के पेड़ थे, उखड़वा दिये और अन्य राज्यों से आमों के आयात पर भी कड़ा प्रतिबन्ध लगा दिया। महीने व वर्ष बीतते गए। राजा पूर्णतः स्वस्थ हो गया था, अतः राज्य-व्यवस्थाओं में मनोयोगपूर्वक भाग लेने लगा।

श्रीष्म की ऋतु थी। ब्रह्ममुहूर्त में ही राजा और मन्त्री घोड़ों पर चढ़कर घूमने के लिए चल दिए। बहुत दूर निकल गए। अपने राज्य की सीमा को भी लाघ गए। दोपहर की कड़ी धूप और गर्म हवा से राजा क्लान्त हो गया। विश्राम के लिए अकुलाने लगा। अपनी भावना व्यक्त करते हुए उसने मन्त्री से कहा—किसी सघन वृक्ष की छाया में चलो। मन्त्री ने चारों ओर नजर दौड़ाई। राजा ने भी इधर-उधर देखा। कुछ दूर एक ओर वृक्ष दिखाई दिए। राजा ने संकेत करते हुए मन्त्री से उस ओर चलने को कहा। मन्त्री ने दूर से ही वृक्षों को पहचान लिया और उधर चलने का निषेध करते हुए बोला—महाराज ! इधर नहीं, हम उस ओर दूसरी छाया में ही चलेंगे।

राजा—इधर क्यों नहीं ?

मन्त्री—महाराज ! वृक्ष आम के हैं। आपके स्वास्थ्य के लिए ठीक नहीं है। चिकित्सक ने आपके लिए निषेध किया है न !

राजा—आम खाने का निषेध किया है, छाया में बैठने का तो नहीं ? जब इधर-उधर छाया नजर ही नहीं आ रही है, तब तो वही चलना होगा । घूप के मारे प्राण निकले जा रहे हैं । मैं वहाँ जाकर आम थोड़े ही खालूँगा ?

मन्त्री ने राजा को बार-बार रोका, पर उसने एक भी न सुनी । घोड़ों का मुँह उधर घुमा दिया गया । पलक मारते ही दोनों वहाँ पहुँच गए । वृक्षों की सघन छाया ने राजा के श्रम को थोड़ी देर में ही दूर कर दिया । राजा वृक्षों की ओर देखने लगा । पके हुए मीठे आमों को देखने से राजा के मुँह में पानी भर आया । राजा मन्त्री से कहने लगा—फल बड़े अच्छे लगते हैं । ऐसा लगता है, अपने देश में तो ऐसे आम कभी नहीं खाए । मन्त्री अतिशीघ्र ही राजा को वहाँ से चलने के लिए बाधित करता और राजा मन्त्री के समक्ष उन फलों के गुण बखानता । मन्त्री का कलेजा धड़कने लगा । हवा के झोंके से एक पका हुआ मीठा आम अचानक वृक्ष से टूटा और राजा की गोद में आ गिरा । मन्त्री ने लपक कर आम उठाना चाहा, पर राजा ने पहले ही उसे अपने हाथ में ले लिया । मन्त्री ने रोग का स्मरण कराया तो राजा ने उसकी बात को काटते हुए कहा—तू तो पागल है । मैं कोई बच्चा थोड़ा ही हूँ, जो आम के बदले जीवन को सकट में डाल दूँ । मन्त्री कुछ क्षण तो मौन होकर खड़ा-खड़ा देखता रहा । राजा कभी उसे सूझता, कभी सहलाता और कभी मन्त्री की ओर देखकर बोल भी पड़ता, जीवन में कभी ऐसा आम नहीं चखा । थोड़ी देर रुककर फिर बोला, यदि एक घूट इसके रस की खींच लूँ तो क्या हानि है ? रोग तो पूरा आम खाने से भड़केगा, केवल घूट से तो नहीं ? मन्त्री ने राजा का फिर हाथ पकड़ा और आम छीनना चाहा । राजा फिर हँस पड़ा । मन्त्री ने कहा, महाराज ! अब रहने दीजिए और राजधानी की ओर चलिए । राजा का मन आम खाने को करता और मन्त्री बार-बार उसे रोकता और वहाँ से शीघ्र ही प्रस्थान कर देने के लिए आग्रह करता । राजा उसके आग्रह को टालता गया और धीरे-धीरे आम खाने की लालसा को संवृत न रख सका । आखिर उसने मन्त्री से यह कह कर कि शहर में पहुँचते ही दवा ले लूँगा, सारा का सारा आम खा गया । मन्त्री बेचारा रोता-चिल्लाता ही रह गया ।

दोनों ही व्यक्ति फिर घोड़ों पर सवार हुए और राजधानी की ओर चल पड़े । थोड़ी ही दूर गए होंगे, राजा ने मन्त्री से कहा—जी घबरा रहा है । मन्त्री ने कहा—मैंने तो आपसे पहले ही प्रार्थना की थी । आपने एक भी न सुनी । मैं अब क्या कर सकता हूँ । राजा ने हँसते हुए फिर मन्त्री से कहा—तू तो बहुत ही डरपोक है । इस तरह कोई वही पुराना रोग थोड़े ही भड़क रहा है । यह तो गर्मी में इतने धूमने के परिश्रम से हुआ है । देख, अभी हम अपने शहर के निकट पहुँच जाते हैं और उपचार करवा लेते हैं । यद्यपि मुझे तो तनिक भी सन्देह नहीं है और यदि ऐसा कुछ हुआ भी तो चिकित्सक बहुत अनुभवी हैं । वह मुझे रोग-मुक्त कर देगा । दोनों एक दूसरे की बातें काटते हुए शहर के समीप पहुँच गए ।

ज्यो-ज्यो रास्ता कटता गया, व्याधि बढ़ती गई । राजा किसी भी तरह राज-महल में पहुँचा । चिकित्सक बुलाया गया । आते ही उसने एक वाक्य में उत्तर दे दिया—अब मेरे हाथ की बात नहीं है । राजा तडफडाने लगा । हाय-तोबा मचाने लगा । औषधि भी दी गई, पर कुछ भी न बना । बहुत उपचार किए गए, किन्तु एक भी लाभप्रद नहीं हुआ । अकुलाता हुआ ही राजा चिर निद्रा में लीन हो गया और पीड़ा भी सदा के लिए शान्त हो गई ।



सुभद्रा

वसन्तपुर नगर में जितिशत्रु राजा राज्य करता था। उसके प्रधानमन्त्री का नाम जिनदास था। वह जैनी श्रावक था। उसकी पत्नी का नाम तत्वमालिनी था। उनके एक कन्या हुई, जिसका नाम सुभद्रा रखा गया।

जिनदास धर्मनिष्ठ व्यक्ति था। उसका व्यवहार, रहन-सहन व विचार वस्तुतः ही धर्म के परिचायक थे। उसकी इस धार्मिक वृत्ति का सुभद्रा के सस्कारों पर गहरा प्रभाव पड़ा। वह भी अपने पिता की तरह सरल, मृदु व पापभीरु थी। क्रमशः उसने अपने शिक्षण के साथ-साथ धार्मिक अध्ययन भी किया। वह प्रतिदिन सामायक करती, प्रतिपक्ष प्रतिक्रमण करती और तत्त्व-ज्ञान प्राप्त करती।

सुभद्रा किशोरावस्था को पार कर तारुण्य में प्रविष्ट हुई। जिनदास उसके विवाह के लिए चिन्तित-सा रहने लगा। उसकी अभिलाषा थी कि सुभद्रा की प्रकृति के अनुरूप ही कोई जैनी व दृढ धार्मिक वर मिले। उसने बहुत खोज की, पर उपयुक्त व्यक्ति नहीं मिल सका।

वसन्तपुर व्यापारिक केन्द्र था। आस-पास के नगरों से व्यापारी वहाँ आते, अपना माल बेचते व दूसरा माल खरीदते। चम्पानगरी-निवासी बुद्धदास नामक एक युवक व्यापारी भी एक बार वहाँ आया। वह बौद्ध था। सुभद्रा अपनी सहेलियों के साथ एक दिन घूमने जा रही थी। बुद्धदास ने उसे देखा। वह तो उस पर मुग्ध हो गया। उसको सुभद्रा के बारे में छानबीन करने से पता चला कि यह अभी तक कुमारी है, पर जिनदास किसी जैनी के साथ ही इसे व्याहृत चाहता है। इससे उसके सङ्कल्प पर कुछ आघात लगा, पर उसने अपना प्रयत्न सतत चालू रखने का दृढ निश्चय कर लिया।

ज्यो-ज्यो दिन बीतते गये, बुद्धदास अधिक व्यग्र बनता गया। उसके सामने एक ही खाई थी और वह थी धर्म की। बुद्धदास ने सुभद्रा को पाने के निमित्त बौद्ध से जैन बनने की भी सोच ली। उसकी आत्मा को यह स्वीकार नहीं हुआ। कई दिनों के पशोपेश के बाद वह इस निर्णय पर पहुँचा कि स्थायीरूप से धर्म परिवर्तन न कर यदि अस्थायी रूप से ऐसा कर लेता हूँ तो इसमें आत्मा के साथ धोखा भी नहीं होगा

और काम भी बन जायेगा। विवाह के बाद मैं पूर्णतः स्वतन्त्र हूँ, चाहे जिस धर्म की उपासना करूँ। यह बात उसके दिल और दिमाग दोनों में जच गई। वह जैन मुनियों के पास आने-जाने लगा। कृत्रिम रूप से वह विनय भी करता, भक्ति भी प्रदर्शित करता और अपना ऐसा स्वरूप अभिव्यक्त करता कि दर्शक एक क्षण में ही यह समझ जाये कि यह पक्का जैनी है। व्याख्यान में प्रतिदिन सबसे आगे बैठता और मुनने में बड़ा रस लेता। कभी उपवास करता, कभी पौषध तो कभी और अन्य प्रकार के धार्मिक अनुष्ठान।

बुद्धदास अच्छी तरह से धार्मिक समझा जाने लगा। आगन्तुक सभी उसकी यह कहते हुए प्रशंसा करते कि युवावस्था में भी धर्म की कितनी निष्ठा है। अपना एक क्षण भी व्यर्थ नहीं गवाता। साधुओं के समीप बैठ कर तत्त्व-ज्ञान प्राप्त करने में तो सबसे आगे रहता है। कभी-कभी बुद्धदास साधुओं से तार्किक व दार्शनिक बातें करता तो श्रोता परस्पर बातें करते, कितना क्षयोपशम है इसके ? सुनते-सुनते जीवन बीतने लगा, फिर भी हमें तो इतना ज्ञान नहीं मिला। कोई कहते यह कितना हलुकर्मी है। ज्ञान-ध्यान, तप, स्वाध्याय आदि बातों के अतिरिक्त कोई भी बात ही नहीं करता। यह तो बहुत ही सस्कारी युवक है। श्रावक जिनदास भी बुद्धदास को वहाँ प्रतिदिन देखता। अन्य लोगों की तरह उसके मन में भी ये विचार आते। साथ ही साथ वह यह भी सोचता कि सुभद्रा के लिए जैसे युवक की मैं खोज में हूँ, उसके लिए यह सर्वथा उपयुक्त है। कितना अच्छा हो यदि मैं इसे अपनी ओर खींच लूँ।

जिनदास एक दिन बुद्धदास से धर्मस्थान में ही मिला। उसका परिचय, वेश व व्यापार के बारे में पूछता चाहा। बुद्धदास उसी समय बोल पड़ा—आप तो बड़े श्रावक लगते हैं। धर्मस्थान में आकर ये सांसारिक और व्यापारिक बातें तो अपने को नहीं करनी चाहिए। मैं तो कल का बच्चा हूँ, आपको क्या शिक्षा दे सकता हूँ, किन्तु आपको तो हमें सावधान करते रहना चाहिए। बुद्धदास ने जिनदास की बातें टाल दी और अपने पक्के धार्मिक होने की छाप उस पर छोड़कर, साधुओं के पास जा बैठा।

बुद्धदास को जिनदास ने एक दिन अपने घर भोजन के लिए भी आमन्त्रित किया। एक-दो बार तो वह उन्हें टालता गया, किन्तु एक दिन उसने निमन्त्रण स्वीकार कर लिया। घर पहुँचा तो खाने-पीने के बारे में अपने नाना प्रकार के त्याग बतलाने लगा। उसने कहा—‘मुझे तो दो विगय से अधिक व इत्थारह द्रव्यों से अधिक खाना ही नहीं है। कहीं ऐसा न हो जाए कि आपके आतिथ्य में मेरा नियम-भंग हो जाए।’ जिनदास मन ही मन सोचता कितना विवेक है। इस अवस्थिति अवस्था में भी इतना सावधान व पापभीरु रहता है, जितना कि कोई पहुँचा हुआ योगी हो। बुद्धदास ने अपने तथाकथित धार्मिक आवरण में जिनदास को इस प्रकार मोहित कर लिया कि उसके अतिरिक्त उसे और कोई दृष्टिगत भी नहीं होता था। जिनदास कृतसंकल्प

हो गया कि सुभद्रा के लिए इसके अतिरिक्त और सुन्दर व योग्य वर क्या होगा ।

भोजन से निवृत्त होकर दोनों ही व्यक्ति आराम व वार्तालाप के लिए बैठे । जिनदास अपने विचार उसके समक्ष रखते हुए इसलिए शक्ति-सा हो रहा था कि ऐसे धार्मिक पुरुष को ममता के अचल में किस प्रकार समेटे । किन्तु उसे यह भी दिखाई दे रहा था कि यदि यह व्यक्ति हाथों से निकल गया तो सुभद्रा के लिए इतना योग्य वर और कौन मिलेगा ? उमने साहसपूर्वक अपनी बात कह ही दी । सुनते ही बुद्धदास तमक कर बोल पड़ा—श्रावकजी ! आपने तो बहुत शास्त्र सुने हैं और अनुभव भी किया है कि 'नारी नरक नी माई' । फिर आप मुझे उसमें बाधने का प्रयत्न करते हैं ? क्या यह आपको शोभा देता है ? हा, मैं समझ गया, जब व्यक्ति के अपने घर में ही काम आ पड़ता है, तब वह धर्म-कर्म की बातें भूल जाता है और दूसरे को अपने स्वार्थ के पाश में जकड़ने लगता है । श्रावकजी ! आप भी अपवाद नहीं ठहरे ? आप मुझे लाये तो थे, धर्म-सम्बन्ध स्थापित करने के लिए और उसकी ओट में करने लगे विवाह की बातें ? मैंने तो सोचा था, बड़े श्रावक है । आपके घर जाऊंगा तो दो ज्ञान की बातें सुनने व सीखने को मिलेगी, किन्तु यहाँ आकर तो मुझे बड़ी ही निराशा हुई । अब कभी आप मुझे आमन्त्रित न करना । इस तरह तो आपका और मेरा दोनों का ही समय व्यर्थ जाएगा । एक-एक क्षण बड़ा कीमती होता है । हाथ से जो क्षण निकल जाता है, वह पुन लौटकर नहीं आया करता, सेठजी !

बुद्धदास ने अपनी बातें बघारते हुए बीच में कही विराम न लगाया । वह तो धारा-प्रवाह बोलता ही गया । किन्तु जिनदास ने भी तो अपने जीवन में ऐसे श्रावक बहुत देखे थे । वह कुशल प्रधान मन्त्री था तो एक सद्गृहस्थ भी और दृढ़ धार्मिक भी । बुद्धदास के तथ्यों को काटते हुए वह बोल पड़ा—हा, छोटे श्रावकजी ! यौवन में भावुकता का जब तूफान आता है, तब ऐसे ही आया करता है । वह आगे पीछे कुछ भी नहीं देखा करता । किन्तु जो इस भावुकता में बहकर ही अपने भावी जीवन के बारे में कुछ निर्णय कर लेते हैं, वे हाथ मलते ही रह जाते हैं । किसी भी कार्य को करते समय उसके पारिपाक्षिक सभी कोणों को भलीभाँति देखना जरूरी होता है । यदि आपकी ऐसी धारणा है तो मैं एक ही प्रश्न पूछना चाहता हूँ, क्या आप मुनि बनने की सोच रहे हैं ?

बुद्धदास—हा, कभी-कभी सोचा तो करता हूँ ?

जिनदास—कभी आपने साधु-जीवन की कठोरता का भी अध्ययन किया ? यदि सोच ही रहे हैं तो विलम्ब किस बात का है ? विचारों को क्रियान्वित कर तो दिखाइये ?

बुद्धदास—साधु-जीवन बहुत कठोर होता है, इसलिए ही तो कुछ सकुचाता हूँ । अपने सामर्थ्य को तोल रहा हूँ ।

जिनदास—पहले गृहस्थाश्रम का अनुभव करो । सम्यक्त्व पूर्वक श्रावक-धर्म

का विशुद्ध रूप से पालन करो और फिर साधु बनो। इस क्रम से जीवन भी परि-
 माजित होगा, बैराग्य भी दृढ होगा और एक दिन बन्धन का परित्याग कर मुमुक्षु बन
 सकोगे ? क्रमपूर्वक किया गया कार्य ही फलवान् बनता है। बीज से फल तभी पाये
 जा सकते हैं, जबकि वह अकुर रूप में फूटकर वृक्ष बनता है। बीज से सीधे ही फल
 की आशा रखना बुद्धिमान् को शोभा नहीं देता।

बुद्धदास—(थोड़ी देर सोचने का व्याज कर) आप की बात भी कुछ-कुछ
 तो गले उतरती है।

जिनदास—तो आप फिर ?

बुद्धदास—आप ही मार्ग-दर्शन करिए। आज से मैं आपका शिष्य बनता हूँ
 और आप मेरे गुरु। मुझे गृहस्थाश्रम में निपुण करिए।

जिनदास—पहले आप जामाता बनो तो पीछे मैं सब कुछ सोचू।

बुद्धदास—यदि आपका यही आदेश है तो मुझे स्वीकार है।

×

×

×

शुभ मुहूर्त्त में सुभद्रा का बुद्धदास के साथ पाणि-ग्रहण सस्कार हो गया। वधू
 के रूप में सुभद्रा चम्पानगरी में पहुँच गई। दोनों ओर ही बहुत उल्लास था। सुभद्रा
 और उसका पिता जिनदास तो इसलिए हर्षित थे कि उन्हें समवय, समवैभव व सम-
 धर्मी युवक मिल गया और बुद्धदास इसलिए हर्षित हो रहा था कि बहुत थोड़े ही
 प्रयत्न व छल से उसे सुभद्रा मिल गई। बुद्धदास ने तो घर पहुँचते ही माला, मुख-
 वस्त्रिका, आसन और जैनधर्म सम्बन्धी पुस्तकें किसी भवरे में डाल दी और अपने
 बौद्ध धर्म की उपासना करने लगा। यह सब कुछ देखकर सुभद्रा असमजस में पड़ गई।
 वह नहीं समझ पाई कि ये जैनी हैं या बौद्ध। उसने अपने पति से आखिर इस बारे
 में पूछा तो उसने कहा—मैं तो बौद्ध ही हूँ। केवल तेरे साथ शादी करने के लिए
 ही जैनी बना था। जब मेरा उद्देश्य फलित हो गया तो अब मुझे जैन धर्म से क्या
 लेना-देना ?

सुभद्रा के दिल को इस कथन से गहरी ठेस पहुँची। उसके साथ धोखा हुआ
 और एक तरह से उसके जीवन के साथ खिलवाड़ भी। उसे क्या पता था कि एक
 युवक अपनी मन तृप्ति के लिए उसके जीवन की आशाओं को इस प्रकार धूमिल कर
 देगा। सुभद्रा के मन में तो बड़ी उमंगें थीं। वह अपने दाम्पत्य जीवन को केवल घर
 की चहरदीवारी और एक दूसरे को भौतिक आवरण में समेटने तक ही सीमित रखना
 नहीं चाहती थी। उसके धार्मिक विचार भी बहुत ऊँचे थे और उनके आधार पर वह
 अपने परिवार को एक आदर्श परिवार बनाना चाहती थी। किन्तु जब पति-पत्नी के
 बीच में ही और वे भी सुहाग रात से, धार्मिक मतभेद आरम्भ हो गये तो उसकी सभी
 कल्पनाएँ समाप्त हो गईं और आशा निराशा के रूप में बदल गई। वह अपने धार्मिक
 मन्तव्य छोड़ना नहीं चाहती थी और न उसका पति बुद्धदास और न उसके पारि-

वाग्विक ही। सुभद्रा अब इसमें ही प्रसन्न रहती कि कहीं उसके धार्मिक अनुष्ठानों पर ही प्रतिबन्ध न लग जाये।

दिन व महीने बीतने लगे। सुभद्रा अपने धर्म की उपासना करती और बुद्ध-दास अपने धर्म की। सुभद्रा की उपासना में स्पष्टतः तो कोई आपत्ति नहीं करता, पर किसीको भी वह उपासना अच्छी नहीं लगती। कभी-कभी कोई व्यग भी कस देता, किन्तु सुभद्रा पर उसका तनिक भी असर नहीं होता। घर के अन्य सदस्यों में बुद्धदास की बहिन अपनी भाभी को अधिक ताने मारती। आये मौके पर वह कभी नहीं झुकती। सुभद्रा को यह सब बुरा लगता, पर वह सहिष्णु रहती, कुछ भी नहीं बोलती।

एक दिन एक जिनकल्पिक जैन मुनि गोचरी के लिए सुभद्रा के घर आये। सुभद्रा ने उन्हें आहार बहाराया। उसने मुनि के चेहरे की ओर देखा तो मालूम हुआ कि मुनि की आँख में एक काटा लग गया है और उससे उनकी आँख से पानी बह रहा है। जिनकल्पिक मुनि किसी भी परिस्थिति में अपने शरीर की सार-सम्भाल नहीं करते। अतः उन्होंने अपनी आँख से काटा भी नहीं निकाला। सुभद्रा को करुणा आ गई। उसने अपनी जीभ से मुनि की आँख से काटा निकाल दिया। सयोगवश सुभद्रा के ललाट पर लगी बिन्दी मुनि के ललाट पर लग गई। मुनि व सुभद्रा, दोनों को ही इसका ध्यान नहीं रहा। मुनि वापस अपने स्थान की ओर चल दिये। घर से बाहर जब वे जा रहे थे, सुभद्रा की ननद ने मुनि के ललाट पर लगी हुई वह बिन्दी देखी। उन्हीं समय वह भाभी के पास आई और उसे बुरा-भला सुनाने लगी। भाभी को ताना मारने का उसे आज यह अच्छा मौका मिल गया। उसने सुभद्रा के आचरण पर दोषारोपण किया। वह बोली—भाभी! क्यों इसलिए ही तो तू इन मुनियों के पास जाती है और इन्हें भिक्षा के निमित्त अपने घर बुलाती है न?

सुभद्रा की उसने एक भी न सुनी। अपना ही अपना कहती गई। वहाँ से वह भाई के पास गई और इसी प्रकार अपने मा-बाप को भी यह घटना सुना आई। सारे इस घटना से आग-बबूला हो गये, घर में एकत्रित हुए और लगे सुभद्रा को कोमने। मारने-पीटने तक की नौबत भी आ गई। सुभद्रा सिसकिया भरने लगी। उसने वस्तुस्थिति बतलाने का प्रयत्न भी किया, किन्तु किसीने भी कुछ नहीं सुना। अन्ततः सुभद्रा वहाँ से उठकर अपने कमरे में चली गई और दरवाजे बन्द कर बैठ गई। उसकी कोई सुनने वाला नहीं था और न उसका समर्थन करने वाला भी। सबको ही इसमें प्रसन्नता हो रही थी कि सुभद्रा दुःखीला ही प्रमाणित हो जाये तो उसके धर्म को अच्छी तरह बदनाम किया जा सके। धार्मिक असहिष्णुता ने कुल व परिवार का कुछ भी विचार नहीं होने दिया। उस समय तो उन सबको ऐसा लग रहा था, जैसे सुभद्रा किसी दूसरे के घर रहने वाली औरत है।

धीरे-धीरे वह बात शहर में फैल गई। लोग सुभद्रा की धार्मिक प्रवृत्ति से-

‘परिचित थे, पर जब इस प्रकार की घटना सुनी तो वे भी ‘गतानुगतिको लोक’ के अनुसार उसी स्वर को उदात्त करने लगे।

सुभद्रा को इस घटना से असह्य दुःख हुआ। उस समय वह पूर्णतः अशहाय थी। कोई भी उसको सत्य प्रमाणित करने वाला नहीं था और न कोई धीरज बन्धाने वाला भी। बहुत देर तक तो वह अपना दुःख आसुओं के द्वारा निकालती रही। अन्ततः उसने अपने आत्म-बल को जागृत किया और बोल उठी—जब तक मैं सत्य प्रमाणित न हो जाऊँगी, अन्न, जल-ग्रहण नहीं करूँगी। दुःशील बनकर जीना भी भार है। सत्य व शील की सुरक्षा में यदि प्राणों का उत्सर्ग भी हो जाये तो इससे बटकर मेरे लिए और क्या स्वर्णिम अवसर होगा? प्रणबद्ध होकर अपने इष्ट के स्मरण में समाधिस्थ होकर बैठ गई।

एक दिन बीता, दूसरा दिन बीता और तीसरा दिन भी बीत गया। न अन्न-ग्रहण और न जल-ग्रहण। चौथे दिन जब रात को सो कर सारी जनता उठी तो नगर के चारों द्वार बन्द मिले। द्वार-रक्षकों ने उन्हें खोलने का बहुत प्रयत्न किया, पर एक भी सफल न हुआ। राजा के पास समाचार पहुँचाया गया। राजा ने कहा—येन केन प्रकारेण दरवाजे तोड़ दिये जायें। यदि फिर भी न खुले तो मदोन्मत्त हाथियों का प्रयोग किया जायें, ताकि द्वार शीघ्रातिशीघ्र खुल जायें। द्वारपालों ने सब कुछ किया, पर सफल नहीं हुए। राजा और नागरिक चिन्ता से व्यथित हो गये। शहर वाले शहर में रह गये और बाहर वाले बाहर। गमनागमन पूर्णतः अवरुद्ध हो गया। एक शहर के लिए इससे बढ़कर और क्या चिन्तनीय स्थिति हो सकती है।

सब प्रयत्न विफल हो चुके थे। एक आकाशवाणी हुई। उसमें कहा गया कि कोई सती कच्चे घागे से छलनी बांध कर यदि कुएँ से पानी निकाले और उससे दरवाजों पर छीटे लगाए तो द्वार खुल सकते हैं। राजा ने उद्घोषणा करवा दी—कोई भी सती आए और नागरिकों को इस कष्ट से बचाए। जो बहन इस कार्य में सफल होगी, उसका राजकीय सम्मान किया जाएगा।

पूर्व दिशा के द्वार के समीपवर्ती कुएँ पर शहर की स्त्रियों की एक खासी भीड़ जमा हो गई। सभी महिलाएँ अपने आपको सती प्रमाणित करना चाहती थीं और सम्मानित होना भी। एक और दर्शक पुरुषों की भी खासी भीड़ जमा हो गई। एक-एक महिला आती गई और अपने कार्य में असफल होती गई। कइयों की छलनी के घागे कुएँ में लटकते ही टूट जाते तो कुछ एक की छलनी पानी तक पहुँच भी जाती तो पानी उसमें आ नहीं पाता। या तो घागा टूट जाता या छलनी से पानी टपक पड़ता। कोई भी महिला उस कार्य में सफल नहीं हुई। रानियों ने भी पानी निकालने का प्रयत्न किया, पर न पानी निकला और न द्वार खुले। राजा और नागरिक बड़े चिन्तित हुए।

उद्घोषणा सुनकर सुभद्रा को भी प्रसन्नता हुई। वह अपनी सास के पास

आई और द्वार खोलने के निमित्त जाने के लिए अनुमति मागने लगी। क्रुद्ध होकर सास बोल पड़ी—यही रहने दे तेरा सतीत्व। वहा जाकर क्यों अपना परिचय देती ह। शहर मे बहुत सतिया बैठी है। तू किस बाग की मूली है। अभी तीन दिन पहले तो अपने सतीत्व का परिचय दिया था। सुभद्रा बोली—“आपका यदि आशीर्वाद हो तो मैं यह काम कर सकती हूँ।” सास मौन रही। वह न तो सुभद्रा से बोलना ही चाहती थी और न उमकी ओर देखना भी। फिर भी सुभद्रा ‘मौन सम्मत्ति लक्षणम्’ का विचार कर वहा से चल दी। उसके साथ कोई नहीं गया। किन्तु उसे अपने सतीत्व पर पूरा भरोसा था। ज्यों ही वह कुए पर चढ़ी, लोगो ने भी ताने मारने आरम्भ किए—हा, अब यह सती आई है। अभी तीन दिन पहले क्या हुआ था। सम्भवत उसे भूल गई है। सुभद्रा ने किसी भी बात की ओर ध्यान नहीं दिया। उसने छलनी को कच्चे धागे से बांधा और पलक मारते ही कुए से पानी निकाल लिया। जनता देखते ही रह गई। सुभद्रा ने पूर्व दिशा के द्वार पर छीटे मारे तो वह इस प्रकार खुल गया जैसे किसी ने धक्का देकर खोला हो। चारो दिशाओ के दरवाजो मे से सुभद्रा ने तीन खोल दिए और चौथा छोड़ दिया। यदि और कोई सती भी नगर से बाहर रही होगी तो वह जब आएगी, इसे खोल देगी। उसकी भी परीक्षा हो जाएगी।

द्वार खुलते ही नागरिको मे अभूतपूर्व उल्लास भर गया। सभी सुभद्रा की स्तुति करने लगे और शील की महिमा बखानने लगे। इस घटना का जब बुद्धदास, उमके पिता व माता को सवाद मिला तो वे हर्षित भी हुए और शरमाए भी। तीन दिन पूर्व जिसे लाञ्छित किया गया था, आज वह सब तरह से सहस्रो व्यक्तियों के बीच निष्कलक प्रमाणित हो गई।

राजा ने सुभद्रा का बहूत सम्मान किया। बुद्धदास और उसके पिता ने भी अपने अपराध के लिए क्षमा मागी। धीरे-धीरे सुभद्रा के जीवन-व्यवहार का सभी पारिवारिको पर प्रभाव पडा और वे भी जैनी बन गए। सुभद्रा विरक्त हो गई और उसने साध्वी बन कर कर्ममल का उच्छेद किया व सत्य, शिव, सुन्दरम् का स्थान प्राप्त किया।



सेठ और दो भील

एक बार वर्षा न होने से दुष्काल पड़ गया। हजारों किसान व आदिवासी भील आदि असहाय हो गए। उनकी आजीविका का कोई भी साधन न रहा। दो भील तो दुष्काल से बहुत ही बुरी तरह प्रभावित हुए। वे शहर में किसी नौकरी की तलाश में आए। दुष्काल से बहुत सारे लोग प्रभावित थे, अतः बेकारी भी बहुत बढ़ गई और नौकरी भी आसानी से नहीं मिलती थी। भील बेचारे शहर में आकर भी इधर-उधर मारे-मारे भटकते रहे। कोई भी उन्हें नौकरी देने वाला न मिला। हारकर एक सेठ की शरण में पहुँचे। सेठ को भी नौकरी की आवश्यकता न थी। भील कुछ भी पारिश्रमिक लिए बिना भी केवल भोजन-पानी में ही सन्तुष्ट थे। सेठ को उनकी इस करुणापूर्ण अवस्था पर दया आ गई। बिना आवश्यकता ही उसने उन दोनों भीलों को अपने यहाँ रख लिया।

कुछ महीने बीतने के बाद स्वयं भीलो ने चाहा कि अब घर की ओर चला जाए। वर्षा निकट थी, अतः अपने भावी जीवन का सम्बल जुटाने की उनके मन में प्रेरणा जागी। सेठ ने उन्हें जाने की अनुमति भी प्रदान कर दी। घर पहुँचे। खेतों को तैयार किया। हल जोते, पर वर्षा की कमी के कारण इस बार भी फसल अच्छी न हो पाई और उनका जीवन फिर सकट में फँस गया। हताश होकर कुछ दिन तो जहाँ-तहाँ भटकते रहे। जब कोई उपाय न सूझा तो चोर पत्नी में पहुँच गए और उनकी अधीनता स्वीकार कर ली। चोरो की सख्ती साठ हो गई।

सेठ एक दिन किसी गाँव से आ रहा था। मार्ग में उन साठ चोरो से साक्षात्कार हो गया। चोरो ने सेठ से, जो कुछ अपने पास था, छोड़ देने का कहा। सेठ पहले तो कुछ अचकाया, पर अन्ततः बाधित होकर मालमत्ता छोड़नी पड़ी। सेठ की नजर उन दो भीलों पर भी पड़ी। उसने उनको पहचाना और पुकारा भी। आवाज सुनकर उन्होंने भी सेठ को पहचान लिया। अपने साथियों से वे बोल पड़े—‘ये सेठ हमारे लिए उपकारी हैं। बहुत दिनों तक हमने इनका नमक-पानी खाया है। इनका धन हम नहीं हड़प सकते।’ अठावन चोरो ने उन दोनों की बात सुनी-अनसुनी कर दी और कहा—‘कौन किसका उपकारी? आते हुए धन को छोड़ना निरी मूर्खता

है । ' वे दोनों भी अड गए और स्वामी-भक्ति का परिचय देने लगे । बात यहा तक बढ़ी कि अठावन और उन दोनों के बीच सघर्ष की नौबत आ गई । एक क्षण मे पलडा उलटा, सद्बुद्धि आई और सभी ने कहा —“साथियो के उपकारी को यदि हम नहीं लूटते है तो हमारे इतनी बडी क्या हानि होती है ? और किसी को लूटेगे ? कम से कम दो साथी तो नहीं दूटेगे और सभी का प्रेम भी अक्षुण्ण बना रहेगा । साथियो को छोडकर यदि हम धन पा भी गए तो उसमे कौन-सा आनन्द मिलेगा ।” सभी को यह बात भा गई । उन्होने धन उठाया और सेठ को सम्भला दिया और उसे वहा से सकुशल बिदा कर दिया ।



घी और तम्बाकू

एक वरिष्क के घी और तम्बाकू इन दो ही चीजों का व्यवसाय था। वह अपने आस-पास के क्षेत्र में बहुत जनप्रिय था। उसके एक भोला-भाला लड़का था। एक दिन उसे कार्यवश कहीं बाहर जाना था। इधर उसे यह चिन्ता थी, दुकान पर किसे बैठाया जाए। पुत्र ने कहा—पिताजी, चिन्ता की कोई आवश्यकता नहीं। मैं अच्छी तरह दुकान सम्भाल लूंगा, आपका पुत्र जो हूँ। आप मुझे वस्तुओं के भाव बता दें।

पिता ने कहा—अपनी दुकान पर घी और तम्बाकू दो ही चीजें हैं और दोनों के एक ही भाव है। याद रखने में कठिनाई नहीं होगी। पर एक बात याद रखना, जब तक खुले हुए टीन खत्म न हो जाए, दूसरे टीन मत खोलना।

पिता गांव चला गया और पुत्र दुकान पर आ बैठा। आते ही उसने चारों ओर नजर दौड़ाई। एक ओर सिल लगे घी के टीन पड़े थे और एक ओर तम्बाकू के। दोनों ओर एक-एक टीन आधे खाली थे। उसने सोचा—पिताजी कितने मूर्ख हैं। एक भाव की दो वस्तुओं के लिए दो टीन रोक रखे हैं। उसने घी का टीन उठाया और तम्बाकू वाले टीन में उड़ेल दिया। स्वयं गद्दी पर आकर बैठ गया। एक ग्राहक ने तम्बाकू मागी तो उसने उसी टीन में से लाकर दिखा दी। ग्राहक ने कहा—मूर्ख ! यह क्या तम्बाकू है ? उसने उत्तर दिया—बस यही तम्बाकू है। लेना हो तो लो, वरना जाओ।

थोड़ी देर बाद घी का ग्राहक आया। उसे भी उसी टीन से घी दिखाया। ग्राहक ने कहा—घी में तम्बाकू कैसे ? कहीं भूल तो नहीं कर बैठे हो ?

गुस्से में आकर उत्तर दिया—भूल मेरी नहीं तुम्हारी है। यह तो असली घी है। तुम्हें लेना हो तो लो, वरना आगे चलो।

सन्ध्या तक घी और तम्बाकू के बीसों ग्राहक आए। सभी ने उन दोनों वस्तुओं को देखकर नाक-मुंह सिकोड़ा और उसे बुरा-भला कहा। ग्राहक उससे नाराज हो गए और वह ग्राहकों से। रात गए पिता आया। लड़के से उसने दुकान का हाल पूछा तो वह बरस पड़ा। बोला—पिताजी ! आपने सब ग्राहकों को बिगाड़ रखा है।

जो कोई आता, मुझे मूर्ख, बेवक्फ व गधा कहता । मेरे से यह सहन नहीं हो सकता, मैं आपका पुत्र जो हूँ ।

पिता—यह सब कुछ क्यों हुआ ? क्या तू ने ग्राहको को माल अच्छी तरह नहीं दिखाया या भाव ठीक नहीं बताए ।

लडका—नहीं पिताजी ! मैंने सब कुछ वही बताया था, जो आपने मुझे बताया ।

पिता अममजस में पड़ गया, आखिर यह हुआ कैसे ? वह जानता था, इसमें गलती ग्राहको की नहीं, अन्ततोगत्वा इसी की मिलेगी । उसने पूछा—दुकान पर तू ने और क्या किया ?

पुत्र—मैं तो दिन भर गद्दी पर बैठा रहा । ग्राहक जो वस्तु मागता उसे दिखा देता और भाव बता देता ।

किन्तु पिताजी ! एक समझदारी तो आपकी भी मुझे अच्छी नहीं लगी । धी और तम्बाकू दोनों एक भाव के होते हुए भी आपने उनके लिए अलग-अलग टीन रोक रखे थे ।

पिता ने रोग पकड़ लिया । उसने पूछा—बेटे ! तूने उनका क्या किया ?

पुत्र—बस, यही कि दोनों को मिलाकर एक टीन खाली करके रख दिया ।

पिता ने हँसते हुए अपने लाडले बेटे से कहा—तो बेटे ! जाओ उस एक टीन को भी कूड़ाखाना में डालकर खाली कर आओ ।

लोह वणिक्

चार वणिक्-पुत्रों ने धन कमाने के लिए अपने गाव से एक साथ प्रस्थान किया। चारों ही में प्रगाढ़ मैत्री थी। सभी एक-दूसरे के विचारों का समादर करते, किन्तु एक वणिक्-पुत्र कुछ जिद्दी था। कभी-कभी वह अपनी बात पर अड़ जाता था। चारों ही साथी मजिल पर मजिल तय करते हुए पदयात्री के रूप में बढ़े जा रहे थे। रास्ते में अच्छे लोहे की खान आ गई। मिट्टी कम और लोहा अधिक। चारों ने ही सर्वसम्मति निर्णय किया—मुफ्त में मिलता है, जितना चल सके, गट्ठर बांध लेने चाहिए। थोड़ी दूर निकले कि चादी की खान आ गई। लोहे से चादी का मूल्य अधिक होता, अतः लोहा छोड़ देना चाहिए और चादी ले लेनी चाहिए। तीनों को यह निर्णय स्वीकार हो गया। लेकिन चौथा बोला—मैंने तो जो कुछ ले लिया, वह ले लिया। अपने निर्णय पर दृढ़ रहो। बार-बार बदलना मुझे तो अच्छा नहीं लगता।

चादी की खान पीछे रह गई और चारों अपने-अपने गट्ठर उठाए आगे निकल गए। सौभाग्य से आगे चलने पर स्वर्ण की खान आ गई। तीनों ने अपने गट्ठर खाली किए और सोने से भर लिए। उससे भी कहा, किन्तु उसने एक भी न सुनी। उसी लोहे को उठाए तीनों के साथ चल रहा था। आगे बढ़े तो हीरे की भी खान आ गई। तीनों ने सोचा, जब धन आता है, छप्पर फाड़कर आता है। उन्होंने सोना वही गिरा दिया और हीरो के गट्ठर बांध लिए। स्नेहिल नजर से उन्होंने अपने हठीले साथी की ओर देखा। सोचा, अब तो यह अपना निर्णय अवश्य बदल देगा। किन्तु 'सकल पदारथ है जग माही, भाग्यहीन नर पावत नाही।' वह तो अपने उसी दुराग्रह पर डटा रहा। उल्टे उसने तीनों साथियों से कहा—तुम भी कोई मनुष्य हो जो अपने निर्णय पर थोड़े समय भी हठ नहीं रह सकते? अपने जीवन में क्या खाक करोगे? हर एक चीज पर ललचा जाते हो।

तीनों बोले—निर्णय में विवेकपूर्ण परिवर्तन भी किया जा सकता है। केवल लकीर के फकीर ही नहीं रहना चाहिए। वस्तु की भी तो परीक्षा होनी चाहिए। व्यवसाय के लिए निकले हैं, उत्तम से उत्तम वस्तु का संग्रह होना चाहिए। इसीसे हम व्यवसाय में सफलता प्राप्त कर सकते हैं। हठवादिता चातक होती है और वह

व्यक्ति को किसी भी क्षेत्र में सफल नहीं होने देती ।

वह बोला—नहीं चाहिए, मुझे यह नीति की शिक्षा । मैं तो एक ही बात जानता हूँ, व्यक्ति को अपने निर्णय पर दृढ़ रहना चाहिए ।

तीनों में से एक—इस प्रकार यदि अड़े रहे तो पछताओगे । समय है, अब भी सम्भल जाओ । यदि हमारे इस प्रस्ताव को मान लिया तो पीछे की भी गलती सुधर जाएगी । घर में धन का ढेर लग जाएगा । जीवन भर मौज उड़ाना ।

वह बोला—यदि मुझे सुख मिलेगा तो अपने निर्णय की दृढ़ता से ही । तुम उसका श्रेय लेने वाले कौन हो ? अपनी चिन्ता करो ।

तीनों ने सोचा यह जिद्दी है । अभी नहीं मानेगा । उन्होंने मुट्ठी भरकर रत्न उठाए और उसके गट्ठर में डालने लगे । आखे लाल कर वह बोला—खबरदार ! यदि ऐसा हुआ तो फिर मैं एक को भी बाकी नहीं छोड़ूँगा ।

चारों ही घर आ गए । लोहे वाले ने अपना माल बेचा और जो दस-बीस रुपये मिले उनसे चने बेचकर अपनी घर-गृहस्थी चलाने लगा । उन तीनों ने थोड़ा-थोड़ा माल बेचा और उससे बहुत सारा धन कमाया । बड़े-बड़े मकान बना लिए । सुख-सुविधा के सारे साधन उनके पास हो गए । एक दिन चने बेचता हुआ वही लोह वणिक् एक मित्र के मकान के नीचे से गुजरा । मित्र ने उसे पहचान लिया । नौकर भेजकर उसे अपने पास बुला लिया । मित्र ने पूछा—क्यों भई ! तुम मुझे पहचानते हो ?

लोह वणिक्—(दीनता के शब्दों में) हे दीनानाथ ! मैं आपको कैसे जान सकता हूँ ? कहा राजा भोज और कहा गयू तेली ? कहा आप और कहा मैं ?

मित्र—अरे ! अच्छी तरह याद कर ।

लोह वणिक्—गरीबनिवाज ! मैं सच कहता हूँ, मैंने आपको किसी जन्म में भी नहीं देखा होगा ।

मित्र—तुम्हें यह तो याद है न, चार जने मिल-जुलकर व्यवसाय के लिए निकले थे । रास्ते में लोहे, चादी, सोने व हीरो की खाने आई थी । क्रमशः चारों चीजों के तीन व्यक्तियों ने तो गट्ठर बांधे थे और तुमने केवल लोहे का । बहुत कुछ समझाने-बुझाने पर भी तू ने अपनी जिद नहीं छोड़ी । मैं उन्हीं तीन व्यक्तियों में से एक हूँ । हमने वे हीरे बेचे और लाखों रुपये कमाए । यह सारी माया उसी एक चीजे गट्ठर की है ।

लोह वणिक् सुनते ही अवाक् रह गया । अपने जिद का अब उसे भान हुआ । सहसा वह भूखित होकर गिर पड़ा । मित्र को दया आई । उसने उसे सौ-पचास रुपये भी दिए और बिदा किया । वह रोता-पीटता घर पहुँचा । श्रीमतीजी को सारा हाल सुनाया तो उसे भी उस पर गुस्सा आया । पर 'अब पछताए होत क्या जब चिड़िया चुग गई खेत ।'

: २६ :

मूर्ख लकड़हारा

चार लकड़हारे लकड़िया बीनने के लिए जंगल में निकले। बहुत दूर चले गए। दुपहरी ढलने लगी। पेट में भूख लग रही थी और लकड़िया इकट्ठी करने की चिन्ता भी थी। चारों ने मिलकर एक को खाना बनाने का काम सौंप दिया और तीन लकड़ियों के चार गट्ठर बाधने के लिए निकल पड़े। तीनों ने जाते समय अपने साथी को सूचित कर दिया कि भोजन बनाने के लिए आग की आवश्यकता होगी, अतः अरणी की लकड़ी पड़ी है, उसमें से निकाल लेना।

तीनों और घने जंगल में चले गए। पीछे रहा लकड़हारा खाना बनाने के लिए बैठा। आग जलाने का उसने प्रयत्न किया। अरणी को ऊपर से नीचे तक अच्छी तरह देख लिया, पर आग नजर नहीं आई। उसने उसके दो टुकड़े कर डाले, फिर भी आग नहीं जली। क्रमशः उसने लकड़ी के टुकड़े-टुकड़े कर डाले, पर न आग निकली और न खाना बना। वह बहुत परेशान हुआ। उसे अपने साथियों पर गुस्सा भी इसलिए आया कि उसे झूठ-झूठ ही बहका दिया गया और बात टाल दी गई। बहुत देर तक साथियों की प्रतीक्षा करता रहा। जब वे न आए, वही लेट गया। नींद आ गई।

तीनों लकड़हारे चार गट्ठर लेकर ढलते दिन आ गए। भोजन बना हुआ न पाया और साथी को ऊघते हुए देखा तो वे सारे आग-बबूला हो उठे। साथी को जगाया तो वह उन पर बरस पड़ा। बोला क्या लकड़ी दे गए। आग तो उससे निकलती ही नहीं। मैंने तो उसके टुकड़े-टुकड़े कर डाले। भोजन कैसे बना पाता ?

तीनों ने कहा—लकड़ी काट डालने से आग नहीं निकलती वह तो रगड़ने से निकलती है, तुम्हें यह भी तो थोड़ा भान होना चाहिए ?



भाग्यवान् अन्धा पुरुष

दो देवों में एक विवाद छिड़ गया। एक ने कहा—देव-शक्ति चाहे जिस व्यक्ति को, चाहे जो बना सकती है। दूसरे ने कहा—यह सब कुछ भाग्याधीन ही है। शक्ति तब तक कुछ भी नहीं कर सकती, जब तक कि भाग्य व्यक्ति को साथ न दे। भाग्यहीन व्यक्ति के मुह तक आया हुआ कवल भी उसकी भूख नहीं मिटा सकता। हर एक ने दूसरे के कथन को असत्य बताया। दोनों ने ही प्रस्ताव रखा, अपने कथन को सत्य प्रमाणित करने के लिए प्रत्यक्ष उदाहरण उपस्थित करे।

दोनों ही देव चले जा रहे थे। मार्ग में एक भाग्यहीन किसान, उसकी पत्नी व पुत्र को देखा। भाग्यवादी देव ने शक्तिवादी देव से कहा—जरा इसे धनवान् तो बना दो ? अपने कथन की यहा परीक्षा लो।

शीघ्र गति से देव कुछ आगे बढ़े। जिस रास्ते से किसान और उसकी पत्नी व पुत्र जा रहे थे, धन के ढेर लगा दिए। ज्यों ही वह हतभागा किसान उस ढेर के निकट पहुंचने लगा, तीनों के ही मन में आया, बुढ़ापे में जब नैत्र-विहीन हो जाएंगे या कम दीखने लगेगा, उस समय अपना काम चला सकेंगे या नहीं, इसका जरा अभी से ही अभ्यास कर लेना चाहिए। देखना चाहिए, आखे मूढ़कर हम चल सकते हैं या नहीं ? तीनों को ही यह प्रस्ताव अच्छा लगा और उसके अनुसार चलने लगे। दोनों ही देव दूर खड़े देखते रहे। उनके द्वारा लगाया गया धन का ढेर पीछे रह गया और वे तीनों ही व्यक्ति आखे मूढ़े आगे निकल गए। भाग्यवादी देव ने शक्तिवादी देव के प्रति व्यंग्य करते हुए कहा—अपनी शक्ति का चमत्कार देख लिया ? और भी अपनी शक्ति को अजमा लो ?

किसान अपनी पत्नी व पुत्र के साथ खेत चला गया और दोनों देव योगी का वेश बनाकर उसके खेत के निकटवर्ती तालाब पर जा बैठे। थोड़ी देर में किसान-पत्नी पानी भरने के लिए वहां आईं। योगियों को नमस्कार किया और अपने सुख-दुख की बातें करने लगीं। योगी प्रसन्न हुए और उन्होंने इच्छित वर मागने को कहा। किसान-पत्नी फूली न समाईं। वह मन ही मन सोचने लगीं—क्या मागू ? धन मागू ? गहने मागू ? भूमि मागू ? खेत मागू ? नहीं। यदि ये सब कुछ चीजें

मेरे घर हो जाएगी, फिर तो किसान मुझे तनिक भी नहीं पूछेगा। दूसरा विवाह कर लेगा और मुझे घर से निकाल देगा। मैं दुःखित हो जाऊंगी। यदि मैं सुरूपा बन जाती हूँ तो किसान का प्रेम भी दुःगना-चौगुना हो जाएगा और मैं अच्छी भी लगूंगी। उसने योगी से अपने मन की बात कह दी। योगी ने तथास्तु कहा और वह अक्सरा जैसी बन गई। उछलती-कूदती अपने खेत में आई और अपनी भोपड़ी में काम करने लगी।

खेत में काम करता हुआ थका-मादा किसान भी विश्राम के निमित्त भोपड़ी पर पहुँचा। दूर से ही उसने अक्सरा को बैठे देखा। विस्मित-सा सोचने लगा—यह कौन है? कहा से आई है और क्यों आई है? मेरी इस घास-फूस की भोपड़ी में यह अक्सरा? कुछ रहस्य है। समीप आते ही उसने विनम्र शब्दों में पूछा—देवि! आप कौन हैं? इस भोपड़ी को पवित्र करने का कष्ट कैसे उठाया?

किसान-पत्नी हँस पड़ी। वह बोली—अजी! मैं तो लल्ला की माँ ही हूँ। यहाँ और कोई दूसरी नहीं है।

किसान—(अत्यधिक आश्चर्य के साथ) तो लल्ला की माँ यह सब कुछ कैसे बना?

पत्नी—यह सब कुछ तो योगी की कृपा का परिणाम है। पानी भरने के लिए तालाब पर गई थी। वहाँ दो योगी मिले थे। प्रसन्न होकर उन्होंने वर मागने का कहा तो मैंने यह वर माग लिया और यह सब कुछ हो गया।

किसान को यह बहुत ही बुरा लगा। उसने उसे फटकारते हुए कहा—पेट भरने को पूरा अन्न और तन ढाकने को कपड़ा भी सुलभ नहीं है और तुम्हें यह रूप सुझा। चण्डाल कही की? अभी जाता हूँ और तेरा यह रूप-मद उतारता हूँ। वह दौड़ा और योगी के पास पहुँचा। अनुनय किया—मुझे भी एक वर मिलना चाहिए।

योगी—जो चाहो, सहर्ष मागो।

किसान—मेरी पत्नी को गधी बना दो।

योगी—तथास्तु।

वह सुरूपा किसान-पत्नी गधी बन गई और खेत में चारों ओर भोकती हुई चक्कर मारने लगी। थोड़ी देर में उसका लल्ला भोपड़ी पर आया। अपनी माँ को वहाँ न पाया तो पिता से पूछा। पिता ने गधी की ओर संकेत करते हुए कहा—देख, वह रही तेरी माँ। लल्ला को बड़ा दुःख हुआ। पिता से सुरूपा और गधी बनने की सारी घटना सुनी तो मातृ-दुःख से विह्वल होकर वह भी दौड़ा-दौड़ा योगी के पास पहुँचा। योगी से प्रार्थना की—कृपया आप हमें तो जैसे थे वैसे ही बना दीजिए। न सुरूपा की आवश्यकता है और न इस विरूप की। योगी ने हँसते हुए उसकी ओर देखा और कहा—तथास्तु। तीन इच्छित वर मिल जाने के उपरान्त भी किसान-परिवार

ज्यो का त्यो रहा । कुछ भी परिवर्तन न हो सका ।

भाग्यवादी देव ने अपने साथी देव से कहा—यह तो हुआ तुम्हारी शक्ति का परीक्षण । अब चलो, कहीं मैं अपना चमत्कार दिखाता हूँ । बातों ही बातों में दोनों देव बहुत दूर एक छोटे से देहात में पहुँच गए । उन्हें वहाँ एक अन्धा, दरिद्र व परिवार-विहीन अश्वेड अवस्था का व्यक्ति मिला । भाग्यवादी देव ने अपने साथी देव से कहा—देखना, 'भाग्य फलति सर्वत्र' का प्रमाण मैं देता हूँ । दोनों पुनः योगी के वेश में उस अन्धपुरुष के रास्ते को रोकते हुए आगे आ खड़े हुए । वार्तालाप हुआ । योगियों का परिचय पाकर अन्धा उनके चरणों में गिर पड़ा और अपना दुःख दूर होने का उपाय पूछने लगा । योगी के रूप में उस भाग्यवादी देव ने कहा—बेटे ! जो चाहो माग लो । हम तुम्हारी भक्ति से प्रसन्न हैं । अन्धा पुरुष एक क्षण सोचकर तुरन्त बोला—ऐसा वरदान दीजिए योगीराज कि अपने पौत्र को, अपने ही सात मजिले आवास में, स्वर्ण-थाल में भोजन करते हुए मैं देखूँ ।

योगी ने कहा—तथास्तु ।

अन्धपुरुष के सब कष्ट वसा ही हो गया ।



पत्थर, हीरा और जौहरी

एक गडरिया अपनी भेड़, बकरियों के साथ नदी के किनारे घूम रहा था। उसे एक चमकता हुआ पत्थर मिला। उसे लेकर वह घर आ रहा था। रास्ते में एक वरिष्क मिला। उसे भी वह अच्छा लगा, अतः उसने पूछ लिया—क्यों, बेचते हो? और बेचते हो तो कितने में?

गडरिया बोला—एक सेर गुड में।

वरिष्क ने सेर गुड दे दिया और वह पत्थर ले लिया। उसने उसे अपनी दुकान में सजा दिया। कुछ दिन बाद एक बिसाती ने उसे देखा और एक रुपये में खरीद लिया। बहुत दिनों तक वह उसके पास भी यो ही पड़ा रहा। आखिर एक दिन वह उसे अपने बिसातखाने के बीच सजाकर हाट के लिए निकल पड़ा। एक जौहरी की नजर उस पत्थर पर पड़ी। उसने खरीदना चाहा। बिसाती ने कहा—पाच रुपये।

जौहरी—नहीं, एक रुपया।

बिसाती—एक पैसा भी कम नहीं होगा।

जौहरी—दो रुपये लेले।

दोनों की रस्साकसी में जौहरी अपने कथन से खिसकता हुआ चार रुपये और पौने सोलह आने तक आ गया। केवल एक पैसे का अन्तर रहा। बात यहाँ तक ठन गई कि वह सौदा वहीं रह गया। जौहरी ने सोचा थोड़ी देर इधर-उधर घूमकर आता हूँ। कौन इसे ले जाएगा। हारकर अपने आप दे देगा। वह चला गया।

दो-चार क्षण बाद एक दूसरा जौहरी भी उधर से निकला। उस पत्थर पर नजर पड़ते ही उसने उसे उठा लिया। बोला—क्या मूल्य है?

बिसाती—बीस रुपये।

दूसरे जौहरी ने तत्काल रुपये गिन दिए। पत्थर ले लिया और चल दिया। थोड़ी देर बाद धूमता हुआ वही पहला जौहरी फिर आ गया। जब वह पत्थर उसकी नजर न पड़ा तो खबराया—सा बोला—कहा गया वह पत्थर?

बिसाती—मैंने तो बेच दिया।

जौहरी—कितने मे ?

बिसाती—बीस रुपयो मे ।

जौहरी—अनर्थ कर दिया । वह तो तुझे ठग गया । वह पत्थर तो सवा लाख का रत्न था ।

बिसाती—जनाब ! मैं नहीं ठगा गया । ठगे तो आप गए । मैं तो उसे पहचानता नहीं था, फिर भी मैंने पाच के बीस कमा लिए । आपकी बुद्धिमानी को शतश धन्यवाद है कि एक पैसे मे सवा लाख का रत्न हार गए ।



जटायु

राम, लक्ष्मण और सीता वन-विहार करते हुए दण्डकारण्य में पहुच गये । एक गुफा में वे ठहरे । त्रिगुप्त व सुगुप्त नामक दो साधु दो महीने की तपस्या का पारणा करने के लिए उसी गुफा में आये । सीता ने उन्हें आहार का दान दिया । पाच दिव्य प्रकट हुए । देववारी, पुष्प, रत्न, वस्त्र व गन्धोदक की वृष्टि हुई । वही पास में वृक्ष पर एक गीघ पक्षी भी बैठा था । वह बहुत भौडा व बीमार था । गन्धोदक की सुगन्धि से प्रेरित होकर वह भी नीचे उतर आया । उसने साधुओं के दर्शन किये । उसे वह परिधान बहुत परिचित लगा । ईहापोह हुआ और उसके बल पर उसे जाति-स्मरण ज्ञान मिला । अपने पिछले जन्म की स्मृति से शोकातुर होकर वह मूर्छित हो गया । सीता के मन में करुणा उमड़ी । उसने उसे उठा लिया और उपचार के द्वारा उसे स्वस्थ किया । सज्ञा पाते ही वह मुनि के चरणों में जा गिरा ।

उग्र तपस्या के कारण मुनि को नाना प्रकार की लब्धिया (शक्तिया) प्राप्त थी । उन लब्धियों में एक ऐसी भी लब्धि थी, जिसे 'स्पर्श औषधि' कहा जाता है । उस लब्धि के आघार पर प्राणी के स्पर्श मात्र से ही भयकरतम रोग दूर हो जाते हैं और उसका शरीर स्वर्ण के समान निखर आता है । जटायु के भी यही हुआ । मुनि के चरणस्पर्श से उसका असाध्य रोग दूर हो गया । पाख, चोच व उसका सारा शरीर स्वर्ण के समान चमकने लगा । उसके शर पर रही हुई जटा रत्नश्रेणी की तरह शोभित होने लगी । इस प्रकार की शोभनीय जटा के कारण उसका नाम जटायु पड गया ।

राम, लक्ष्मण और सीता ने यह सारी घटना अपनी आँखों से देखी । उन्हें बहुत आश्चर्य हुआ । उस दिन से राम ने उसे अपना भाई बना लिया और उन तीनों के साथ वह चौथा और रहने लगा । राम जहा जाते, वह भी उनके आगे-आगे चलता और जहा वे ठहरते, वह भी ठहरता ।

रावण जब सीता का अपहरण कर लका की ओर जाने लगा, तब जटायु ने ही पहले पहल उसका प्रतिवाद किया था, किन्तु रावण के सामने वह कहा ठहर सकता था । उसने तलवार के एक ही बार से उसके पख काट गिराये और जटायु ने सिसकते हुए स्वामी-भक्ति में अपने प्राण न्यौछावर कर दिये ।

राजा प्रदेशी और केशी श्रमण

भारतक्षेत्र के साठे पच्चीस आर्य देशों में केकय देश का आधा प्रदेश आर्य-क्षेत्र में था। इस देश की राजधानी सेयविया (श्वेताम्बिका) नगरी थी। नगर के उत्तर-पूर्व दिशा में मृगवन नामक एक बहुत सुन्दर उद्यान था। राजा का नाम प्रदेशी था। वह बड़ा पापी व क्रूर था। जनता पर कर-भार बहुत डालता था। पुनर्जन्म, स्वर्ग, नरक, परमात्मा आदि में उसका तनिक भी विश्वास नहीं था। छोटे से अपराध पर बहुत बड़ा दण्ड देता था। वह महान् हिंसक था। लोहू से उसके हाथ सने रहते थे। उसके प्रधानमन्त्री का नाम चित्त था। वह घोड़ों का बड़ा शौकीन था। इसलिए उसे सारथी भी कहा जाता था। वह बड़ा विलक्षण, सहृदय और राज्य का हित-चिन्तक था। थोड़े शब्दों में प्रजा के लिए राजा जितना क्रूर था, प्रधानमन्त्री उतना ही सोम। राजा के व्यवहार से बहुधा जनता उन्नत जाती थी, पर प्रधानमन्त्री के मद्ब्यवहार व आश्वासन से उसका दिल जमा रहता। राज्य की धूरी वह प्रधानमन्त्री ही था। चित्त को जनता और राजा, दोनों का पूर्ण विश्वास प्राप्त था। रानी का नाम सूरिकान्ता और राजकुमार का नाम सूर्यकान्त था।

कुणाल देश की राजधानी श्रावस्ती थी और वहाँ का राजा जितशत्रु था। राजा प्रदेशी और जितशत्रु दोनों मित्र थे। एक दिन राजा प्रदेशी ने अपने प्रधानमन्त्री चित्त के साथ, एक बहुमूल्य उपहार राजा जितशत्रु के लिए भेजा। चित्त सारथी वहाँ पहुँचा, राजा को उपहार भेंट किया और कुछ दिन वहाँ ठहरा। एक दिन चित्त प्रधान ने अपने उच्चतम आवास से बहुत सारी जनता को एक ही दिशा में जाते देखा। उसके मन में जिज्ञासा हुई। अपने अनुचरों से चित्त प्रधानमन्त्री ने जाना—भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा के वाहक श्री केशी श्रमण अपने ५०० शिष्य-साधुओं के साथ उद्यान में पधारे हैं। चित्त प्रधानमन्त्री ने उनके दर्शन किए, व्याख्यान सुना, श्रमणोपासक बना और श्रावक के बारह व्रत अंगीकार किये। प्रतिदिन धर्म-वर्चा और सत्संग का सुन्दर कार्यक्रम चलता।

बहुत दिनों के बाद चित्त सारथी ने राजा जितशत्रु से प्रस्थान के लिए अनुमति मांगी। राजा ने अपने मित्र राजा के लिए उसी प्रकार एक बहुमूल्य उपहार

राजा प्रदेशी और केशी श्रमण]

[३१५]

प्रधानमन्त्री को अपनी ओर से भेंट करने के लिए दिया। चित्त सारथी वहा से बिदा हुआ और केशी श्रमण के सान्निध्य में पहुँचा। उसने उनसे श्वेताम्बिका पधारने के लिए अनुरोध किया।

केशी श्रमण ने स्मित भाव से उत्तर देते हुए कहा—“प्रधानमन्त्री, एक हरा-भरा उद्यान है, फल-फूलों से वृक्ष लदे हैं। सरोवर की वहा अद्वितीय शोभा है। प्रत्येक प्राणी एक बार उस उद्यान को देखते ही उसमें प्रवेश करने को लालायित होता है। विहंगमण फलों का रस चखने के लिए आकाश में मड़राते हैं, पर उसी सरस और सघन उद्यान में एक शिकारी घनुष पर बाण चढ़ाए बैठा है। क्या कोई भी पक्षी उस बगीचे के उन फलों को चखने का असफल प्रयत्न करेगा ?

चित्त प्रधानमन्त्री विनीत स्वर में बोला—स्थिति तो ऐसी ही है, पर आप पतितपावन है। आपके सामने अधर्मी और पापात्मा भी धर्मनिष्ठ हो जाते हैं। आपके तप प्रभाव से घूल भी फूल बन सकते हैं, भगवन् !

केशी श्रमण ने कहा—जैसा द्रव्य, क्षेत्र, काल होगा।

✱

✱

✱

केशी श्रमण अपने शिष्य-समुदाय के साथ एक दिन श्वेताम्बिका नगरी के मृगवन उद्यान में पधार गए। प्रधानमन्त्री चित्त को जब यह सवाद मिला, वह अत्यन्त आनन्दित हुआ। अतिशीघ्र वह उद्यान में पहुँचा, सत्सग किया और निवेदन किया—भगवन् ! देश की जनता बहुत ही उपकृत होगी, यदि आप परम-अधार्मिक राजा को प्रबुद्ध कर दें।

केशी श्रमण—चित्त, यह तब तक कैसे सम्भव है, जब तक कि वह इस द्वार पर भी न पहुँचे।

चित्त—आपके अनुग्रह से यह सब कुछ होगा। यह तो मेरा काम है प्रभो !

केशी श्रमण—हम अपने काम में पूर्णतः सजग हैं।

चित्त—प्रभो ! आपके अनुग्रह से मैं कृतकृत्य हूँ।

✱

✱

✱

राजा को घोड़े की सवारी का बड़ा शौक था। नये घोड़े आये हुए थे। प्रधानमन्त्री ने राजा से अनुनय किया—महाराज, घोड़े बहुत अच्छे हैं, पर जब तक आप उनकी परीक्षा न ले लें, तब तक घुड़साल में उनको स्थान कैसे दिया जा सकता है ? राजा ने कहा—मैं तो आज ही सावकाश हूँ। खलें, अभी परीक्षा कर लेते हैं। प्रधानमन्त्री चित्त सारथी बन गया, राजा रथ में बैठ गया और घोड़े पवन वेग से दौड़ने लगे। कानन की सुषमा को द्विगुणित करता हुआ रथ बहुत दूर निकल गया। राजा क्लान्त हो गया। शरीर से पसीना बहने लगा। विश्राम की आकांक्षा से उसने अपने प्रधानमन्त्री से कहा—किसी विश्राम-स्थल की ओर ले चलो। चित्त ने कहा—निकट में ऐसा स्थान और तो नहीं है, पर कुछ दूर ही अपना मृगवन उद्यान

है। राजा ने कहा—चलो, उसी ओर। चित्त सारथी बाती ही बातों में राजा को उद्यान में ले आया। राजा रथ से उतरा। कुछ आदवस्त हुआ। अचानक उसकी दृष्टि शिष्य-समुदाय सहित बैठे केशी श्रमण पर पड़ी। राजा के मुह से सहसा निकल पड़ा—चित्त। ये जड़-मूढ़ यहाँ कौन बैठे हैं? ये कुछ श्रम करते हैं या यो ही निठले बैठे हैं?

प्रधानमन्त्री चित्त इस प्रश्न का क्या उत्तर देता, पर अगले ही क्षण उसने कहा—महाराज, ये लोग कहते हैं, आत्मा और शरीर भिन्न-भिन्न है। स्वर्ग, नरक, पुनर्जन्म आदि को युक्ति-पुरस्सर मिट्ट कर रहे हैं। यह देखे, सैकड़ों-हजारों आदमी इसी तथ्य को सुनने और समझने के लिए यहाँ एकत्रित हुए हैं।

राजा—तब तो हमें भी इनके पास चलना चाहिए।

प्रधानमन्त्री—अवश्य, आपको ऐसा करना ही चाहिए।

दोनों चले और केशी श्रमण के पास आये। दूर से ही राजा ने उनका भव्य ललाट, सौम्य आकृति, बड़े-बड़े नेत्र, ब्रह्मचर्य का अद्भुत तेज और परिपाक्व में बैठे उनके शिष्य-समुदाय का शान्त और विनम्र वातावरण देखा तो वह चकित रह गया। उनके अध्यात्म की छाप स्वतः उस पर पड़ी। राजा आया और केशी श्रमण के नातिसन्निकट और नातिदूर बैठ गया। केशी श्रमण ने राजा को लक्षित कर कहा—राजन्! उद्यान में प्रवेश करते ही तुम्हें ऐसा लगा न—ये जड़-मूढ़ लोग यहाँ कौन बैठे हैं?

राजा थोड़ा सकुचाया। वह सहसा अनुमान नहीं कर सका, हम दोनों की बात इन तक कैसे पहुँच गई। दूसरे ही क्षण वह जान गया, यह उनके अध्यात्म का प्रखर तेज है। वह मन ही मन नतमस्तक हो गया। उसने कहा—क्या महाराज, आपकी यह मान्यता है, शरीर और आत्मा पृथक्-पृथक् है?

केशी श्रमण—हाँ, यह ठीक है।

राजा—महाराज, मुझे यह सिद्धान्त सत्य नहीं लगा। इस सिद्धान्त के विरोध में मेरे पास पुष्ट प्रमाण भी है। मेरे पितामह इस देश के राजा थे। वे बड़े पापी थे। प्रति क्षण वे पाप-कर्मों में लिप्त रहते थे। आपके शास्त्रानुसार काल-वर्म को प्राप्त होकर, वे अवश्य नरक में गये होंगे। मुझे वे बहुत प्यार करते थे। मेरे हित-अहित, सुख-दुःख का वे पूरा ध्यान रखते थे। वास्तव में ही यदि उनकी आत्मा शरीर छोड़ कर नरक में गई है, तो मुझे सावधान करने के लिए वे अवश्य आते। मुझे बताते—पौत्र, पाप करने से नरक में भयंकर दुःख भोगने पड़ते हैं। तू ऐसा कभी न करना। किन्तु वे कभी नहीं आए। इससे यह प्रमाणित होता है कि उनकी आत्मा नरक में नहीं गई है। शरीर के साथ उसका यही विनाश हो गया है। शरीर व्यतिरिक्त आत्म का कोई पृथक् अस्तित्व नहीं है।

केशी श्रमण—राजन्! अगर तेरी महारानी सूरिकान्ता के साथ कोई बिलासी

पुरुष दुराचार का सेवन करते पकड़ा जाए तो तू उसे क्या दण्ड देगा ?

राजा—महाराज, मैं उस पुरुष के तत्क्षण हाथ-पैर काट डालूँ। शूली पर चढ़ा दूँ या अन्य किसी प्रकार से अतिशीघ्र उसके प्राण ले लूँ।

केशी श्रमण—राजन्, यदि वह पुरुष तेरे से कुछ समय की याचना करे और कहे—मुझे अपने पारिवारिक जनो से मिल लेने दो। मैं उन्हें शिक्षा दूँगा कि दुराचार का फल ऐसा मिलता है, अतः तुम सब इससे दूर रहना। क्या तू उसे उस समय थोड़ा अवकाश देगा ?

राजा—भगवन् ! यह कैसे सम्भव हो सकता है ? मैं उस अपराधी को दण्ड देने में तनिक भी विलम्ब नहीं करूँगा।

केशी श्रमण—राजन्, जिस तरह तू उस अपराधी को दण्ड देने में विलम्ब नहीं करता, उसकी आर्त्त प्रार्थना भी नहीं सुनता, उसी प्रकार परमाधामिक देव नरक के जीवों को निरन्तर कष्ट देते रहते हैं। क्षण-भर के लिए भी उन्हें नहीं छोड़ते। ऐसी स्थिति में बता, तेरा पितामह तुझे सूचित करने के लिए कैसे आ सकता है ?

राजा—भगवन्, मेरी पितामही (दादी) श्रमणोपासिका थी। वह धर्म का तत्त्व अच्छी तरह समझती थी। जीव, अजीव आदि नौ पदार्थों को वह सम्यक् प्रकार से जानती थी। दिन-रात धार्मिक कृत्यों में लगी रहती थी। आपके शास्त्रानुसार वह अवश्य स्वर्ग में गई होगी। वह भी मुझे बहुत प्यार करती थी। यदि उसका जीव शरीर से पृथक् होकर स्वर्ग में गया होता तो वह तो यहाँ अवश्य आती और मुझे पाप से होने वाले दुःख और धर्म से होने वाले सुख का उपदेश देती। किन्तु उसने स्वर्ग से आकर कभी मुझे ऐसा नहीं समझाया। अतः मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि उसका जीव उस शरीर के साथ ही नष्ट हो गया।

केशी श्रमण—राजन्, तू स्नान कर, अच्छे वस्त्र पहन, किसी पवित्र स्थान की ओर जा रहा है, उस समय यदि कोई शौचालय में बैठा हुआ व्यक्ति तुझे वहाँ बुलाये और थोड़ी देर वहाँ परामर्श करने के लिए कहे, क्या तू उसकी बात स्वीकार कर लेगा ?

राजा—नहीं भगवन्, ऐसा नहीं हो सकता।

केशी श्रमण—राजन्, इसी तरह स्वर्गीय आनन्द में विभोर तेरी दादी दुर्गन्धमय और अपवित्र इस मर्त्यलोक में क्यों आना चाहेगी ?

राजा—भगवन्, एक दिन मैं अपनी राज्य-सभा में बैठा था। मेरा नगर-रक्षक एक चोर पकड़ कर लाया। मैंने उसे जीवित ही लोहे की कुम्भी में डाल दिया। ऊपर लोहे का मजबूत ढक्कन लगा दिया। सीसा पिघलाकर उसे चारों ओर से ऐसे निविद्ध बना दिया, जिससे उसमें वायु-संचार भी न हो सके। मेरे सिपाही उसके चारों ओर पहरा देने लगे। कुछ दिनों बाद मैंने उस कुम्भी को खुलवाया तो चोर मरा हुआ था। जीव और शरीर यदि अलग-अलग होते तो जीव बाहर कैसे निकल

जाता ? कुम्भी में राई जितना भी छिद्र नहीं था, इसलिए जीव के बाहर निकलने की कल्पना भी नहीं की जा सकती। शरीर के विकृत हो जाने से, उसका भी वह स्वरूप नहीं रहा। इन विभिन्न प्रमाणों और उदाहरणों से यह तो स्वतः स्पष्ट है कि शरीर और जीव एक ही हैं।

केशी श्रमण—प्रदेशी, यदि पर्वत-चट्टान सहस्र मजबूत एक कोठरी हो, चारों ओर से लिपी हुई हो, दरवाजे अच्छी तरह बन्द हो, कहीं से हवा घुसने के लिए भी छिद्र न हो, उस कोठरी में बैठा हुआ एक पुरुष जोर-जोर से भेरी बजाए तो शब्द बाहर निकलेगा या नहीं ?

राजा—हा भगवन्, निकलेगा।

केशी श्रमण—राजन्, कोठरी के निश्छिद्र होने से जिस तरह शब्द बाहर निकल जाता है, उसी तरह जीव भी कुम्भी से बाहर निकल सकता है। वायु मूर्त है और जीव अमूर्त।

राजा—भगवन्, जीव और शरीर को अभिन्न सिद्ध करने के लिए मैं एक और उदाहरण प्रस्तुत करता हूँ। उससे मेरा अभिमत और भी पुष्ट होगा। एक चोर को मार कर मैंने लोहे की कुम्भी में डाल दिया। मजबूत ढक्कन व सीसे से बन्द कर दिया। चारों ओर पहरा बैठा दिया। कुछ दिनों के बाद उसे खोलकर देखा तो कुम्भी कीड़ों से भरी हुई थी, पर उसमें कहीं छिद्र नहीं था। जिज्ञासा हुई, इतने कीड़े कहाँ से आये ? मैं तो यह समझता हूँ कि ये सभी कीड़े एक ही शरीर के अंश थे। चोर के शरीर से ही वे बन गए। उनके जीव कहीं बाहर से नहीं आए।

केशी श्रमण—राजन्, तू ने अग्नि में तपे हुए लोहे का गोला देखा होगा। अग्नि उसके प्रत्येक अंश में प्रविष्ट हो जाती है, पर गोले में कहीं छिद्र नहीं होता। इसी प्रकार जीव भी बिना छिद्र के स्थान में घुस सकता है। वह तो अग्नि से भी सूक्ष्म है।

राजा—भगवन्, धनुर्विद्या जानने वाला तरुण एक ही साथ पाच बाण फेंक सकता है। वही पुरुष बालक अवस्था में इतना कुशल नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि जीव और शरीर एक हैं। शरीर-वृद्धि के साथ जीव की कुशलता, जो कि उसका धर्म है, बढ़ती जाती है।

केशी श्रमण—राजन्, नया धनुष और नई डोरी लेकर वह पुरुष एक साथ पाच-पाच बाण फेंक सकता है, पर उसे पुराना धनुष और गली हुई डोरी दे दी जाए, तो वह उक्त कार्य में सफल नहीं होगा। उपकरणों की कमी जिस प्रकार तरुण पुरुष के कार्य में बाधक है, उसी प्रकार बालक में तत्सम्बन्धी शिक्षण का अभाव बाधक है। यदि वही बालक शिक्षण रूप उपकरण अर्जित कर लेता है तो सरलता से उस तरुण पुरुष की तरह एक साथ पाच बाण फेंकने में सफल हो सकता है। बालक और तरुण में होने वाला यह अन्तर जीव के ह्रस्वत्व व दीर्घत्व के कारण

नहीं, अपितु तत्सम्बन्धी उपकरणों के होने और न होने से होता है ।

राजा—भगवन्, एक तरुण पुरुष लोहे, सीसे या जस्ते के बड़े भार को उठा सकता है, वहीं पुरुष जब बूढ़ा हो जाता है, अगोपाग शिथिल पड़ जाते हैं, चलने के लिए लकड़ी का सहारा लेने लगता है और उस बड़े भार को नहीं उठा सकता । यदि जीव भिन्न होता तो वृद्ध भी भार उठाने में उसी प्रकार अवश्य समर्थ होता, जैसे कि वह अपनी युवावस्था में होता है ।

केशी श्रमण—राजन्, ठीक है । इतना बड़ा भार वह युवक ही उठा सकता है, पर युवक के पास भी यदि साधनों की अल्पता होती है, जैसे गट्ठर की चीजे बिखरी हुई हो, कपड़ा गला या फटा हो, डोरी या बास निर्बल हो तो वह भी उसमें असमर्थ होगा । इसी प्रकार वृद्ध पुरुष भी बाह्य शारीरिक साधनों की अल्पता से भार उठाने में असमर्थ है ।

राजा—भगवन्, मैंने एक चोर को जीवित तोला । मरने के बाद फिर तोला । दोनों बार वजन समान था । यदि जीव अलग होता तो उसके निकलने के बाद वजन अवश्य कम होता । दोनों स्थितियों में वजन का कुछ भी अन्तर न होना, मेरी मान्यता को पुष्ट करता है ।

केशी श्रमण—राजन्, चमड़े की मशक को वायु भस्कर व वायु-क्षून्य करके तोला जाए, क्या वजन में अन्तर आयेगा ?

राजा—नहीं भगवन्, दोनों स्थितियों में समान वजन रहेगा ।^१

केशी श्रमण—राजन्, जीव तो वायु से भी सूक्ष्म है । वायु गुरु-लघु है और जीव अगुरु-लघु । अतः उसके कारण वजन में न्यूनाधिकता कैसे होगी ?

राजा—भगवन्, जीव है या नहीं, यह देखने के लिए मैंने एक चोर की चारों ओर से जाच-पड़ताल की, पर जीव कहीं दिखाई नहीं दिया । मैंने उसके दो टुकड़े कर डाले और क्रमशः खण्ड-खण्ड भी कर दिए । फिर भी जीव तो कहीं दिखाई नहीं पड़ा । इससे मेरा विश्वास पुष्ट हुआ कि आखिर शरीर से भिन्न जीव नहीं है ।

केशी श्रमण—राजन्, तू तो उस लकड़हारे से भी अधिक मूर्ख जान पड़ता है, जिसने लकड़ी से आग निकालने के लिए टुकड़े-टुकड़े कर डाले, फिर भी उसे आग उपलब्ध नहीं हुई और वह निराश हो गया । जीव शरीर के किसी अवयव विशेष में नहीं है, वह तो सारे शरीर में व्याप्त है । शरीर की प्रत्येक क्रिया उसी के कारण होती है ।

राजा—भगवन्, भरी सभा में मुझे मूर्ख कहते हैं, क्या यह आपके लिए

१. यह उदाहरण स्थूल दृष्टि से ग्राह्य हुआ है । वास्तविकता यह है कि शास्त्रीय दृष्टि से और आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से वायु भी भारवान् है ।

उचित है ?

केशी श्रमण—राजन्, क्या तू जानता है, परिषद् (सभा) कितने तरह की होती है ?

राजा—क्षत्रिय परिषद्, गृहपति परिषद्, ब्राह्मण परिषद् और ऋषि परिषद्, इस प्रकार परिषद् चार तरह की होती है ।

केशी श्रमण—राजन्, क्या तुझे यह भी पता है, किस परिषद् में कैसी दण्ड-नीति होती है ?

राजा—हा भगवन्, क्षत्रिय परिषद् में अपराध करने वाला हाथ-पैर या जीवन से भी हाथ धो बैठता है । गृहपति परिषद् का अपराधी बाधकर आग में डाल दिया जाता है । ब्राह्मण परिषद् के अपराधी को उपालम्भपूर्वक कुण्डी या श्वान के निशान से चिन्हित कर देश से निकाल दिया जाता है । ऋषि परिषद् के अपराधी को केवल प्रेमपूर्वक उपालम्भ दिया जाता है ।

केशी श्रमण—इस तरह की दण्ड-नीति से परिचित होकर भी तू मुझसे यह प्रश्न पूछता है ?

केशी श्रमण से प्रतिबोध प्राप्त कर राजा प्रदेशी श्रमणोपासक बना और उसने श्रावक के बारह व्रत अंगीकार किये । न्यायपूर्वक प्रजा का पालन किया और अपने अन्तिम समय में समाधिपूर्वक अनशन कर शुभ भावों व अघ्यवसाओं के साथ काल-धर्म को प्राप्त होकर सूर्याभि नामक विमान में उत्पन्न हुआ । वहां से अपना आयु शेष कर महाविदेह क्षेत्र में सिद्ध होगा ।

सेठ का पुत्र-प्यार

एक सेठ व्यापार हेतु विदेश चला। घर में उसके अपार धन, विनीत नौकर व उसकी धर्मपत्नी तथा पुत्र रहे। सेठ को विदेश गये दो वर्ष बीते, चार वर्ष बीते और इस प्रकार बारह वर्ष बीत गए। न तो कोई कुशल सवाद आया और न वह स्वयं ही। मेठानी व उसका इकलौता बेटा, दोनों ही बड़े चिन्तित रहते। एक दिन लडके ने मा से कहा—मैं जाता हूँ और पिताजी को ले आता हूँ। माता ने कहा—बेटे ! तेरी यह अचखिली अवस्था और इतनी दूर का मामला। कैसे जाएगा ? तेरे पिता ही जब इतने निर्मोही हो गए तो हम कहा तक उनके पीछे जा सकेंगे ? आखिर हमारा भी दिल है तो उनके भी दिल होना चाहिए। धन कमाने में क्या वे हमें भूल ही जाए ? मा की आँखों से आसुओं की धार बहने लगी और सिसकिया भरने लगी। सारी सुख-सुविधा के होते हुए भी मेठ की लम्बे समय से अनुपस्थिति ऐसे खलने लगी, जैसे कि जीवन में कुछ भी न हो।

लडका अपने दो-चार अनुचरो को साथ लेकर विदेश के लिए चल पड़ा। बहुत सारे गाव, नगर, पहाड़, नदी व नाले लावता हुआ सायकाल एक कस्बे में पहुँचा। धर्मशाला में विश्राम लिया। उसी दिन एक सेठ भी अपने बहुत बड़े अनुचरो के परिवार के साथ उसी धर्मशाला में आकर ठहरा। वह बड़े ठाट-बाट और ऐश-आराम में मस्त था। धन के मद में उसकी आँखें आकाश में ही गड़ी थीं। आमोद-प्रमोद के अनेकानेक साधन जुट गए थे। नृत्य व संगीत के मनोरंजक कार्यक्रम चल रहे थे। लडके के पैरों में अचानक पीड़ा शुरू हुई। धीरे-धीरे वह बढ़ती ही गई। वह चीखने व तड़फड़ाने लगा। उसकी वह चीख सेठ के कानों तक भी पहुँच गई। सेठ चौंक पड़ा। नाक-भौं चढ़ाकर बोल पड़ा—कौन है यह हराम, जो रंग में भग करता है। उसे सावधान कर दिया जाए। यदि वह चुप न होगा तो ठीक नहीं होगा। सेठ के आदमी उस लडके के पास पहुँचे। उसके आदमियों को सावधान किया और आकर बैठ गए। लडका थोड़ी देर तक तो अपना पैर पकड़े व मुँह दबाए सोता रहा। नृत्य व संगीत का कार्यक्रम समाप्त हो गया और सेठ सो गया। आखिर लडके से रहा न गया। पीड़ा बढ़ती ही जा रही थी और उसके साथ-साथ चीख भी फूट रही थी। सेठ की नींद टूटने लगी। उसे और गुस्सा आ गया। बड़े कड़े उलाहना के साथ

अपने आदमी भेजे । कहलवाया—चुप हो जाए, वरना धर्मशाला से निकाल दिया जाएगा ।

लडके के अनुचर आकर सेठ के पैरो पड गए । गिडगिडाते हुए बोले—महाभाग ! आप समर्थ हैं, बड़े हैं, आपके लिए सब कुछ हो सकता है और आप सब कुछ कर सकते हैं । हम विपन्नावस्था में हैं । हमारे कुमार की आप रक्षा की व्यवस्था का थोड़ा प्रबन्ध तो किमी से करवादे । हम यहाँ के लिए अपरिचित हैं और ब्याधि बढ़ती जा रही है । कृपया किसी बँध की व्यवस्था कर इतना अनुग्रह तो करे ?

सेठ पहले ही भटलाया हुआ तो या ही और इस निवेदन को सुनकर और विगड उठा । बोला—मेरी ही तो नींद हराम कर रखी है और मुझसे ही सहयोग चाहते हो ? आखिर छोटे आदमी तो छोटे ही होते हैं और वे हमेशा विघ्नरूप बने रहते हैं । उन्हें जितना दमित रखा जाए उतना ही ठीक रहता है । पहली चीख को सुनकर यहाँ से नहीं निकाला, उसका यह परिणाम हुआ कि अब छाती पर आ धमके ।

लडके के अनुचरो का धीरज टूट गया । सहयोग के बदले इस प्रकार की फटकार सुनकर असहाय अवस्था में उठने लगे । फिर भी उन्होंने साहस किया और एक बात सेठ के कानो में और डाल दी । बोले—सेठ ! आप भी मनुष्य हैं, हम भी मनुष्य हैं । जीन के अधिकार में कोई न्यूनाधिकता तो नहीं है । आपसे पृथ्वी को भार अनुभव न होता हो और हमारे भार से वह कहीं दबी जा रहा हो, ऐसा तो नहीं है । मनुष्य ही मनुष्य के काम आता है और ऐसी विपत्ति की अवस्था में काम आने वाला मनुष्य ही नहीं, देव होता है । आपकी नींद हराम करने वाले हम कौन ? पर, आपको भी एक मनुष्य के स्तर पर सोचना अवश्य चाहिए, यह हमारा निवेदन है ?

छोटे मुह बड़ी बातें बनाने वाले तुम कौन ? धनहीन धन-कुबेर को शिक्षा दे ? मैं तुम्हारी ये लल्लो-चप्पो की बातें सुनना नहीं चाहता । जो किसी व्यक्ति के आनन्द में विषाद उडेलता हो, वह हमेशा ही तिरस्करणीय होता है । अपने अनुचरो को आदेश देते हुए सेठ ने कहा—यदि यह चिल्लाता हुआ चुप न हो तो इसे उसी क्षण धर्मशाला से बाहर निकाल दिया जाए । मैं इसके अतिरिक्त कुछ भी सुनना या करना नहीं चाहता ।

लडके के अनुचरो का बचा-खुचा धैर्य भी टूट गया । अपना मन मसोसे बसेठ के धन पर अह को सौ-सौ लानत देते हुए वे वहाँ से चल दिए । उनकी आह भरी आवाज से स्वतः ये शब्द निकल रहे थे—किसी के दुख की नींद पर अपने सुख का महल खड़ा नहीं किया जा सकता । अपने लिए सुख चाहने वाला कम से कम दूसरों का सुख तो न झूटे ।

पेट की वेदना बढ़ी जा रही थी। लडके को एक मिनट का भी चैन नहीं था। उसके अनुचरो ने बहुत प्रयत्न किया, पर वेदना में कमी नहीं हुई। उनका यह भी प्रयत्न रहा कि कम से कम मुह से चीख तो न निकले और सेठ की निद्रा में बाधक न हो। एक भी प्रयत्न सफल न हुआ। ज्यों-ज्यों रात्रि का नीरवता बढ़ती जा रही थी, चीख भी दूर-दूर तक टकराने लगी। यमदूत की तरह सेठ के अनुचर आए और उन्होंने लडके को, उसके अनुचरो को, सामान के साथ बाहर दूर किसी एक तग गली में ढकेल दिया।

शीत की भयंकर ठिठुरन व वेदना की बढ़ती हुई आकुलता उस लडके की कौमल काया पर, अधखिली कमल-कलिका पर हिमपात का-सा काम कर गई। थोड़ी देर तक तो उसकी चीख रात्रि की नीरवता को दूर-दूर तक भग करती रही, किन्तु फिर वह सदा के लिए शान्त हो गई। रात्रि की उस मायूषी में वे अनुचर भी सब कुछ देखकर अपनी चेतना खो बैठे। भवितव्यता की इस लोह-लीक को वे टाल न सके। वे अब क्या करे और कैसे करे, इसका चिन्तन उनकी प्रतिभा से दूर का पहलू बन गया। रोने-बोने व सुबह तक प्रतीक्षा करने के अनन्तर और उनके बस बात ही क्या रह गई थी ?

पौ फटी और उसके बाद ही सूर्य थगड़ाई लेता हुआ क्षितिज के एक कोने पर उभर आया। सेठ की भी आंखें खुली। उसके मन में कुछ मायूषी थी और वह किसी अप्रत्याशित दुःखद घटना की-सी सूचना कर रही थी। सेठ यथाशीघ्र अपने दैनिक कार्यों से निवृत्त होने के लिए प्रयत्नशील था, किन्तु रह-रहकर उसकी गति श्लथ ही होती जा रही थी। अचानक ही उसकी स्मृति में लडके की वह कराह उभर आई। वह उस और अपना ध्यान बटाना नहीं चाहता था, किन्तु हृदय ने स्मृति को इतना जकड़ा कि वह घटना उससे ओझल न हो सकी। सेठ ने अपने अनुचरो से पूछा—रात को जो लडका यहां कराह रहा था, वह कहा है ?

अनुचर—वह तो आपकी आज्ञा से उसी समय धर्मशाला से निकाल दिया गया था। उसे बहुत समझाया गया, पर टिका ही नहीं। आपकी नीद में विघ्न डाल रहा था, अतः हमने उस पर तुरन्त कार्यवाही की।

सेठ—अब उसके पेट का दर्द कैसे है ? क्या कुछ खबर भी ली ?

अनुचर—हमने तो उसके बाद उसकी ओर कुछ ध्यान भी नहीं दिया। जो स्वामी के सुख में बाधक बनता है, हम उसे कभी अच्छी निगाह से नहीं देखते। यदि आपका सकेत है तो अभी जाते हैं और खबर ले आते हैं।

एक दो मिनट तक जब अनुचर वापस न आए तो वह अकुला उठा। मानवत्ता का एक छोटा-सा अंकुर फूट पड़ा। सेठ स्वयं चल दिया। धर्मशाला से बाहर आया तो अनुचर भी वहां मिल गए। सेठ ने पूछा—वह कहा है ?

अनुचरो ने केवल उस तग गली की ओर सकेत ही किया। उनका हृदय

भरा हुआ था और वाणी अवरुद्ध थी। सेठ ने आगे कुछ भी नहीं पूछा। स्वयं उस ओर, यह कहते हुए कि वहाँ तो उसे कष्ट हुआ होगा, चल दिया। कुछ दूर से देखा तो वह शान्त लेटा था। सेठ ने सोचा पीडा शान्त हो गई होगी। किन्तु जब समीप पहुँचा तो सहसा उसे धक्का-सा लगा। सेठ के मुँह से इतना ही निकला—यह कैसे हो गया ? यह तो अभी बहुत छोटा था ? लड़के के अनुचरो ने अपने मन ही मन कहा—आपकी कृपा दृष्टि से ! सेठ के हृदय में अब कुछ सहानुभूति जगी। उसने उनके दुःख में कुछ हिस्सा बताते हुए पूछा—यह किम गाव का था ?

अनुचर—अमुक गाव का ?

सेठ—यह तो मेरे ही गाव का है। अब कुछ ममत्व उभरा। सेठ ने कहा—मुझे इसकी चिकित्सा का प्रबन्ध करना चाहिए था।

सेठ—यह कहा जा रहा था ?

अनुचर—अपने पिता को बुलाने के लिए दूर प्रदेश जा रहा था।

सेठ को कुछ सन्देह हुआ। उसे लगा कहीं यह मेरा ही तो पुत्र नहीं है ? सेठ ने उसका व उसके पिता का नाम पूछा तो अनुचरो ने बता दिया। पिता का नाम सुनते ही वह चौंक पड़ा। बोला—अरे ! यह तो मेरा ही पुत्र था। हाँ ! मैंने कितना अकार्य किया। अपने ही हाथों अपने पुत्र के जीवन को समाप्त कर दिया। अपने सुख में मुझे दूसरे की चीत्कार भी सह्य नहीं हुई, उसीका परिणाम आज यह मुझे भोगना पड़ रहा है। मानवता जगी और उसमें जब ममता ने अपना रस उडेलना तो दूर का वह व्यक्ति भी उसे अपना दृष्टिगत होने लगा और उसके साथ किया गया व्यवहार उसे खलने लगा। सच है कि व्यक्ति दूसरे के प्रति जितना बेपरवाह होकर अपने कर्तव्य से न्युत होता है, उतना ही ममता में आबद्ध होकर विषाद को पाता है।



रावण और इन्द्र

वैताद्व्य पर्वत पर रथनुपुर नामक एक नगर था। वहा के राजा का नाम सहस्रार और उसके उत्तराधिकारी का नाम इन्द्र था। इन्द्र बड़ा बलशाली, अभिमानी व तेजस्वी था। वह महत्वाकांक्षी का पुतला था। अपने पिता की वर्तमानता में ही उसने शासन-सूत्र अपने हाथ में ले लिया। बड़े-बड़े युद्ध लड़े और विजय प्राप्त की। युद्ध में मिली सफलता ने उसके घमण्ड को शतगुण कर दिया। एक बार इन्द्र ने लका पर आक्रमण किया। उस समय लका का राजा माली था, जो रावण के पितामह का बड़ा भाई था। उस युद्ध में भी इन्द्र की जीत हुई। इन्द्र ने राजा माली को अपने हाथों से मारा। माली के छोटे भाई सुमाली और माल्यवान् वहा से भाग गये। उन्होंने पाताल लका में आश्रय ग्रहण किया। इन्द्र ने लका का राज्य वैश्रवण को दे दिया।

सुमाली के पुत्र का नाम रत्नश्रवा था। कौतुक मगलपुर के राजा व्योमबिन्दु की पुत्री कैकशी का विवाह रत्नश्रवा के साथ हुआ। कैकशी के रावण, कुम्भकर्ण व विभीषण तीन पुत्र व शूर्पणखा एक पुत्री हुई। एक दिन रानी कैकशी अपने तीनों पुत्रों के साथ अपने आवास की ऊपरी मजिल में बैठी थी। अचानक एक विमान ऊपर से निकला। रावण ने जिज्ञासावश पूछ लिया—मा ! यह किस राजा का विमान है ? कोई बहुत ही तेजस्वी माखूम देता है।

माता कैकशी ने उष्ण निश्वास छोड़ते हुए कहा—‘बेटा ! तेरी मौसी का लठका वैश्रवण है। आजकल अपने शत्रु राजा इन्द्र के पास इसकी बहुत चलती है। राजा इन्द्र ने तेरे पितामह को मारकर हमसे लका छीन ली और इसे दे दी। मेरे से यह दुःख सहा नहीं जाता। लका, पाताल लका और राक्षसी विद्या, ये तीनों चीजे अपनी बपोती थी। राजा घनवाहन से लेकर ये तीनों चीजें अपने पास थी, किन्तु अब हाथ से चली गईं। अब हम लोग बिल्कुल दीन हो गये हैं। जिस व्यक्ति की घरती हाथ से निकल जाती है, उसका मान-महातम मिट्टी में मिल जाता है। वह घनवान् से निर्धन हो जाता है और जीवित ही मृत कहलाता है। पर बेटा ! जब कोई राज्य का रक्षक ही नहीं होता है, तब ऐसा हुआ ही करता है।’

रावण को उकसाने की दृष्टि से कैकशी ने अपनी बात में और बल भरते हुए कहा—'बेटा ! क्या मैं वह दिन भी अपनी आँखों से देख सकूंगी, जबकि अपने पिता-मह के सिंहासन पर तू बैठेगा और लका को लूटने वाला राजा इन्द्र बन्दी के रूप में अपने कारागार में निस्तेज होकर मिसकिया भरेगा ?'

कैकशी की बात को बीच में रोककर विभीषण ने अपनी वाचालता से कहा—'मा ! थोड़ा धीरज रखो । तुम्हारी सब कामनाएँ पूरी होंगी । जरा बड़े भाई रावण की ओर देखो , जब ये युद्ध-भूमि में आकर खड़े होंगे, इन्द्र जैसे राजाओं के छक्के छूट जायेंगे । बड़े भाई साहब भी मौज से बैठे रहें । ये छोटे भाई कुम्भकर्ण भी बड़े बलशाली हैं । इनके सामने भी बड़े-बड़े योद्धा रण-भूमि में ठहर नहीं सकते । मा ! इन दोनों भाइयों को भी एक ओर बैठे रहने दें, मैं भी इन्द्र जैसे राजा को कुछ भी नहीं समझता । जब तक हम बड़े होकर मैदान में नहीं आते हैं, तब तक ही इन्द्र वर्चस्वी है । फिर उसे कोई नहीं पड़ेगा ।'

कैकशी को विभीषण की बातों से कोई सन्तोष नहीं हुआ । क्योंकि उनमें वाचालता अधिक थी और वास्तविकता अल्प । उसका तो निश्चाना रावण ही था । जब तक उसके मन में इन्द्र के प्रति प्रतिशोध लेने की भावना जागृत नहीं हो जाती है, तब तक कोई सफलता मिल जाये, उसे विश्वास नहीं होता था । कैकशी रावण की ओर देखती रही । रावण ने थोड़ी देर बाद केवल इतना ही कहा—'माताजी ! आप आशीर्वाद दीजिये । पहले हम विद्याओं की साधना कर लें ।' कैकशी को इस कथन से बहुत सन्तोष हुआ । वह जो चाहती थी, रावण की ओर से उत्तर मिल गया ।

तीनों भाई विद्याओं की आराधना के लिए निकले । कबे परिश्रम के अनन्तर रावण ने एक हजार, कुम्भकर्ण ने पाँच और विभीषण ने चार-चार प्रकार की विद्याओं की साधना की । युवावस्था में रावण की मन्दोदरी के साथ, कुम्भकर्ण की तटित्भाला और विभीषण की पकजश्री के साथ शादी हुई । रावण के दो पुत्र हुए । एक का नाम इन्द्रजीत और दूसरे का नाम मेघवाहन रखा गया ।

कुम्भकर्ण और विभीषण कभी-कभी अपनी थोड़ी-बहुत सेना लेकर जाते और लका के छोटे-मोटे गाँवों पर धावा बोलते । लूट-खसोट करते, वहाँ के वासियों को त्रास देते, मार-पीट भी करते और वैश्रवण को युद्ध के लिए उकसाते । वैश्रवण ने सुमाली के पास अपना दूत भेजा और कड़ा उलाहना कहलवाया । मौका देखकर रावण ने अपने भाइयों के साथ लका पर चढ़ाई कर दी । वैश्रवण बलशाली था, पर रावण के सामने टिक न सका । रावण ने विजय प्राप्त की और उसने अपने पितामह के समय से गई हुई लका पुनः ले ली ।

राजा इन्द्र ने जब लका-विजय की बात सुनी तो दिल को गहरा धक्का लगा । किन्तु वह मन मसोस कर रह गया । रावण ने धीरे-धीरे अपने प्रभुत्व का विस्तार करना आरम्भ किया । अन्य राज्यों पर आक्रमण किया और सफलता पाता हुआ

आघकारा बन गया। वह बढ़ता हुआ वताक्षपवत पर भा पहुँच गया। राजा इन्द्र का राजधानी रथनुपुर के चारो ओर उसने घेरा डाल दिया। राजा सहस्रार को जब इसकी सूचना मिली तो उसने अपने पुत्र को यह परामर्श दिया कि अब अपने को रावण से नहीं झड़ना चाहिए। रावण का चढ़ता हुआ तेज है और वह स्वयं बलिष्ठ है। एक हजार राजा उसके अनुगामी हैं। सहस्राशु, धरेणोन्द्र, धनद, सुग्रीव, मरुत, नलकुबेर जैसे दुर्जय राजाओं को उसने अपने पराक्रम से परास्त कर दिया है। समुद्र के ज्वार की तरह बढ़ता ही जा रहा है। ऐसी स्थिति में अपने को भी झड़ना नहीं चाहिए, अपितु रूपवती कन्या का उसके साथ विवाह कर समय के इस वेग को टाल देना चाहिए। इसमें ही अपना भला है।

अहमानी इन्द्र को अपने पिता का यह कथन बहुत ही कटु, अव्यवहारिक व असंगत लगा। उसने राजा सहस्रार का अपमान करते हुए कहा—‘वाह पिताजी! आपने भली शिक्षा दी। क्या क्षत्रिय का यही धर्म है कि वह अपने शत्रु के सामने इस तरह घुटने टेक दे। मुझे अपनी भुजाओं पर अभी तक विश्वास है। मैं नरम नीति का कभी अनुसरण नहीं कर सकता। रण-भूमि में अपना कौशल दिखलाता हुआ यदि क्षत्रिय हार भी जाता है तो वह अपना यश अक्षुण्ण रख लेता है और कायरतापूर्वक यदि राज्य रख भी लेता है तो वह उसकी प्रतिष्ठा व स्वाभिमान के सर्वथा प्रतिकूल है। रावण क्या इतनी बड़ी हस्ती है? पहले भी इसके दादा को मैंने ही मारा था और लका को हस्तगत किया था। पिछले दिनों जबकि इसने लका को पुनः हथिया लिया, नरम नीति से काम लिया गया, उसीका ही तो यह प्रतिफल है कि अब यह रथनुपुर पर चढ़ आया है। उस समय इसका उचित प्रतिकार किया जाता तो आज यह इस प्रकार दुस्साहस नहीं कर सकता।’ राजा इन्द्र बोलता हुआ खौलने लगा। उसके होठ फड़कने लगे, आवाज गरजने लगी और आँखें खून बरसने लगी। उसने उसी समय रस्सतूर बजवा दिये। आकाश और पाताल एक हो गये और राजा इन्द्र की सेना बातो ही बातो में राजा रावण की सेना के साथ घमासान युद्ध करने लगी।

युद्ध का आरम्भ होते ही राजा इन्द्र की सेना रावण की सेना पर टूट पड़ी। यद्यपि रावण की सेना के आगे सुग्रीव व उसके समान कई बलिष्ठ योद्धा थे, पर इन्द्र के सैनिकों के समक्ष वे ठहर नहीं सके। विभीषण ने अपने बड़े भाई कुम्भकर्ण को आवाज लगाई और कहा—‘जल्दी आयेगे तो लाज रह पायेगी।’ कुम्भकर्ण सन्नद्ध होकर निमेषमात्र में ही अपनी सेना के आगे आकर डट गये। उन्होंने अपना दैत्य की तरह विशाल रूप बनाया। रौर पाताल में और सिर आकाश में। इन्द्र की सेना उन्हें देखते ही कतरा गई और पीछे खिसकने लगी। रावण का दल गरज उठा। अपने सैनिकों को आगे बढ़ाकर इन्द्र की सेना पर चढ़ा दिया। उसने आते ही

अपना वज्र कुम्भकर्ण के मिर की ओर निशाना लगाकर चलाया। कुम्भकर्ण ने तत्काल ही अपने दैत्य-स्वरूप का सवरण कर लिया। उन्होंने अपना एक बाण छोड़ा, जिससे इन्द्र का छत्र भग हो गया। क्रोधातुर होकर इन्द्र ने जब अपना दूसरी बार वज्र और छोड़ा तो कुम्भकर्ण का टोप शतखण्ड होकर गिर पड़ा।

युद्ध होते हुए कई महीने बीत चुके। राजा इन्द्र और राजा रावण भी परस्पर खूब भिडे। हार और जीत का कोई निर्णय नहीं हुआ। दोनों ही दल पीछे हटने को भी तैयार नहीं, समझौता करने को भी प्रस्तुत नहीं, पर परेशानियों से ऊब रहे थे। रावण एक दिन इम निर्णय पर पहुँचा कि यह युद्ध बल से नहीं जीता जा सकता। एक मात्र छल ही इसका मार्ग हो सकता है।

रोष के साथ राजा रावण और इन्द्र दोनों फिर एक दिन युद्ध-भूमि में उतर आये। दोनों के ही मन में इतना आक्रोश था कि अपने प्रतिद्वन्द्वी को आज ही परमधाम पहुँचाना है। अनेक शस्त्रों से लड़े, पर न कोई हारा और न कोई घायल ही हुआ। एक विचित्र सी परिस्थिति उत्पन्न हो गई। रावण की ओर से प्रस्ताव आया—गज-युद्ध होना चाहिए। इन्द्र ने इसे स्वीकार कर लिया। दोनों ओर से थोड़ा-थोड़ी तरह हाथी लड़ने लगे। बहुत देर तक ऐसा होता रहा। अक्सर पाकर रावण अपने हाथी से आकाश में उछला और पुनः इन्द्र के हाथी पर उतरा। इन्द्र गफलत में बैठा रावण की ओर देख रहा था। रावण ने उसको दबोचा। बाहों में जोरो से भीड़कर पुनः आकाश में उछला और इन्द्र सहित अपने शिविर में जा बैठा। रावण की विजय के तूर बजने लगे। रावण जीता और इन्द्र हारा, यह प्रत्यक्ष उद्घोषणा हो गई।

राजा इन्द्र को बन्दी बनाकर उल्लास के साथ रावण लका लौट आया। उसके व उसकी माता कैकसी के इच्छित पूरे हुए। इन्द्र के पिता सहस्रार को बहुत चोट लगी। राज्य हाथों से गया, प्रतिष्ठा पर घब्बा लगा और लडका भी बन्दी के रूप में शत्रु के हाथ चला गया। इन्द्र ने चाहे पिता का कितना ही अपमान किया होगा, पर उसके मन में इन्द्र के प्रति वही वत्सलता थी। बुढ़ापे में इस तरह की वेदना को वह सह नहीं सका। वह एक भिक्षुक के रूप में रावण के दरबार में पहुँचा और झोली फैलाते हुए उसने अपने पुत्र की याचना की। स्वाभिमान के साथ रावण बोला—सहस्रार ! यदि इन्द्र को प्रतिदिन लंका नगरी की एक हरिजन की तरह सफाई करना स्वीकार हो तो मैं उसे अभी छोड़ सकता हूँ।’

पुत्र-वत्सलता से प्रेरित होकर सहस्रार ने सब स्वीकार कर लिया। रावण ने इन्द्र को छोड़ दिया। किन्तु जब उसे इस शर्त का पता चला तो मन में बहुत ग्लानि हुई। उसके मुँह से इतना ही निकल पाया—‘जब पुण्य समाप्त हो जाते हैं, तब मनुष्य का अस्तित्व ही समाप्त हो जाया करता है।’

मुनि मेलार्थ

मेलार्थ का जन्म एक घनाढ्य व सुप्रसिद्ध परिवार में हुआ, किन्तु किसी शत्रुदेव ने उसका अपहरण कर जंगल में गिरा दिया। एक चण्डाल ने उसे वहाँ बिलखते हुए देखा। उसके दिल में करुणा उमड़ी और वह उसे अपने घर ले आया। मेलार्थ का लालन-पालन वही चण्डाल के घर हुआ।

मेलार्थ धीरे-धीरे बड़ा हुआ। उसका जीवन चण्डाल के सदृश ही बनने लगे बीतने लगा। किन्तु मेलार्थ के भाग्य ने सहसा एक दिन करवट ली। देवकृत कष्ट पुनः एक अन्य मित्रदेव द्वारा सुख में बदल गए। यद्यपि मित्रदेव ने मेलार्थ को समय-ग्रहण करने के लिए प्रेरित किया, पर मेलार्थ को यह स्वीकार न हुआ। उसने कहा— जब तक मैं ससार को पूर्णतः न जान लूँ, विरक्त कैसे हो सकता हूँ ?

मित्रदेव—मनुष्य जब तक इस चक्कर में नहीं फँसता है, तब तक ही निवृत्त हो सकता है। फँसने के बाद तो वहाँ से दूर होना उसके हाथ की बात नहीं रहती।

मेलार्थ—जिसे मैं जानता ही नहीं, उसे छोड़ने का अनुष्ठान कैसे कर सकता हूँ ? बुरा या अच्छा, जब तक व्यवहार में नहीं आता, छोड़ने या ग्रहण करने का कार्य मुझे तो आकाश-कुसुम लगता है। अज्ञान दशा से तो जान-बूझकर होने वाली प्रवृत्ति बहुत श्रेयस्कर होती है, यह प्रत्येक विचारक का कहना है। त्याग भी तो उसे ही कहा जाता है, जबकि प्राप्त भोग-सामग्री को ठुकराया जाता है। अभावग्रस्त यदि भोग्य-सामग्री को छोड़ता है तो वह उसकी त्यागवृत्ति नहीं, अपितु परवशता है। मैं स्ववशता से श्रेय की ओर अप्रसर होना चाहता हूँ। रही बात उसमें फँस जाने की, उसके लिए तुम मुझे अभी से एक निश्चित अवधि के बाद से वचनबद्ध कर सकते हो। मैं उस अवधि का अतिक्रमण नहीं करूँगा।

मित्रदेव ने अन्ततः मेलार्थ की बात स्वीकार कर ली। उसने मेलार्थ को सब प्रकार के सुख-साधन प्रदान किये। बारह वर्ष का समय उनके उपभोग के लिए दिया। मेलार्थ ने अपने मित्रदेव का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। संयोग से भाग्य ने और करवट ली तो मेलार्थ और आगे आया। वह भगवत् सम्राट् श्रेणिक का जामाता बन गया। उसके लिए किसी भी तरह का सुख-भोग अवशिष्ट नहीं रहा। जो वह चाहता,

होता। उसे लगने लगा, जीवन का वास्तविक मार यही है। क्रमशः विहित प्रतिज्ञा के अनुसार उसे जहाँ अनासक्ति व श्रामण्य की ओर बढ़ना था, वह आसक्ति और गार्हस्थ्य की ओर उन्मुख हुआ। वह अपनी प्रतिज्ञा को भूल ही गया, किन्तु देवता नहीं भूला। अवधि समाप्त होती ही वह तो मेलार्थ को प्रतिबोध देने के निमित्त उसके समक्ष आकर खड़ा हो गया। मेलार्थ स्तम्भित-सा रह गया। वह किसी भी परिस्थिति में साधु बनना नहीं चाहता था। लौकिक ऐश्वर्य ने उसे इतना लुभा लिया कि श्रेय उसकी आँखों से ही ओझस हो गया। देवता द्वारा बार-बार कहे जाने पर भी जब वह समय के लिए तैयार न हुआ तो उसे चुनौती भी दे दी गई कि यदि ऐसा न हुआ तो महान् कष्टों का सामना करना पड़ेगा। उसे ये शब्द बहुत ही बुरे लगे और वह तिलमिलाने लगा। आखिर उसे लाचार होकर साधु बन ही जाना पड़ा।

मेलार्थ का वेष साधु का था, पर मन एक आसक्त का सा। वह कभी अपने मित्रदेव को कोसता तो कभी अपने भाग्य को। विषय-वासना का आकर्षण उसे साधना की ओर उन्मुख होने नहीं देता। वह साधुओं के साथ ग्रामानुग्राम विहरण करता व साधुओं के धार्मिक अनुष्ठान तथा तपश्चरण को भी देखता। वहाँ का सारा वातावरण ही आध्यात्मिक था। ऐहिक लालसा तो बहुत दूर, उसकी चर्चा तक नहीं चलती। सभी साधु स्वाध्याय, ध्यान, शास्त्राभ्यास, तत्त्व-चर्चा, कायोत्सर्ग आदि में अपने प्रत्येक क्षण को बिताते। इस प्रकार के वातावरण में मेलार्थ की हिम्मत भी नहीं हुई कि वह किसी के समक्ष अपनी भावनाएँ दुहराए। प्रसूत साधुओं के शान्त, समाधियुक्त व तप-पूत जीवन ने धीरे-धीरे उसकी लालसाओं को नया मोड़ दे दिया। कभी-कभी वह यह भी सोचने लगा—मैं ऐहिक आनन्द के लिए इतना आतुर हूँ, किन्तु ये साधु तो सर्वथा निस्पृह भाव से अपनी साधना किये जा रहे हैं। इनके दृष्टिकोण में ऐहिक सुख-सुविधा गौण है। बड़ी-बड़ी तपस्याएँ करते हैं। इनका आत्म-तोष भी बहुत ही विस्तीर्ण है। क्या मैं ही कहीं गलत मार्ग पर तो नहीं हूँ ?

मेलार्थ की आकांक्षाओं ने क्रमशः एक दिन पूर्णतः करवट ले ली। वह मुनि-भाव में स्थित हो गया। बलात् आरम्भ की गई साधना जीवन का मुख्य अंग बन गई। 'सत्संगतिं कथय किं न करोति पुंसाम्' सत्संगति क्या नहीं कर देती ? वह साधुचर्या में रमण करने लगा, शास्त्रों का अभ्यास करने लगा और अपनी छोटी से छोटी प्रवृत्ति में निवृत्ति का पूर्णतः ध्यान रखने लगा। आसक्ति ने पूर्ण अहिंसा का रूप धारण कर लिया। अन्य साधुओं की तरह वह श्रामण्य में आत्मसात् हो गया।

साधना करते हुए अनेक वर्ष बीत गए। लम्बी-लम्बी तपस्याओं द्वारा मेलार्थ ने अपने बलिष्ठ शरीर को कृश बना दिया। उसका शारीरिक तेज क्षीण हो गया, किन्तु आध्यात्मिक तेज भौतिक आवरण को चीर कर प्रत्येक कार्य में प्रतिबिम्बित होने

लगा। दुष्कर और घोर साधना में उसने अपने आपको होम दिया। ग्राम व नगरी में विहरण करता हुआ एक बार वह राजगृही में आया। एक मास की लम्बी तपस्या थी। पारणों के निमित्त गोचरी को उठा। चलते-चलते एक स्वर्णकार के घर पहुँच गया। स्वर्णकार अपनी कला में बहुत ही निष्णात, प्रसिद्ध व राजमान्य था। महाराज श्रेणिक के लिए वही आभूषण बनाता था। उस दिन वह राजा के लिए सोने का हार बना रहा था। हार की मुख्य विशेषता थी कि उसमें यव धान्य की अनुकृति के रूप में सोने के यव बनाए जा रहे थे। देखने में वे साक्षात् यव ही मालूम देते थे। मेतार्य को देखकर स्वर्णकार उठा, नमस्कार किया और भिक्षा देने की अभिलाषा से घर में गया। एक क्लोच पक्षी उन स्वर्ण यवों को वास्तविक यव समझ कर खाने की ताक में बैठा था। ज्यों ही स्वर्णकार घर में गया, वह नीचे उतरा, उन्हें निगल गया और वृक्ष पर जा बैठा। मुनि मेतार्य ने यह सब कुछ भली भाँति देखा।

स्वर्णकार मेतार्य को भिक्षा देकर अपने आसन पर लौटा। तैयार किये हुए सारे ही यव उसने वहाँ नहीं पाए। वह घबराया। क्योंकि उसे उसी दिन वह हार राजा को उपहृत करना था। उसने इधर-उधर देखा। उसे वहाँ आने-जाने वाला कोई व्यक्ति दिखाई नहीं दिया। सहज रूप में ही उसकी धारणा बन गई कि मुनि ने ही लोभवश मेरे यव चुराए हैं। उसने मेतार्य से पूछा तो कुछ भी उत्तर नहीं मिला। मुनि मौन रहा। क्योंकि वह अपने किसी शब्द या शारीरिक संकेत से भी उसे यह सूचित करना नहीं चाहता था कि यव पक्षी ने निगले हैं। इसमें हिंसा स्पष्ट दृश्यमान थी। मुनि हिंसा से कृत, कारित व अनुमोदन तीनों ही प्रकार से उपरत थे। स्वर्णकार आग-बबूला हो गया। उसने मुनि को बहुत ही बुरा-भला कहा। जब इस तरह से भी काम न बना तो मार-पीट की भी नीबट आ गई। मेतार्य फिर भी मौन रहा। उसने न एक शब्द भी कहा और न पक्षी की ओर संकेत हाँ किया। किसी भी तरह से जब स्वर्णकार को यवों का पता न चला तो गुस्से में आकर उसने भीगा हुआ चमड़ा मेतार्य के सिर पर बांध दिया। धीरे-धीरे वह चमड़ा सूखता हुआ सिकुड़ता जाता और उससे मुनि के अपार वेदना होती। मुनि के सकल्प-विकल्पो में स्वर्णकार के प्रति किंचित् मात्र भी द्वेष नहीं था। उसका चिन्तन ऊर्ध्वगामी था और उससे उसने अपने को क्षप श्रेणी में आरूढ़ कर लिया। जब वह चमड़ा बिलकुल सूख गया तो मुनि बेहोश होकर गिर पड़ा, किन्तु अपने चिन्तन की ऊर्ध्वगामिता से केवलज्ञान प्राप्त कर मुक्त बन गया।

क्लोच पक्षी वृक्ष पर बैठा था। कुछ देर तो वह बैठा रहा, किन्तु थोड़ी देर बाद ही वह छटपटाने लगा। सोने के यव कैसे पचा सकता था। उसका पेट फटा और यव नीचे गिर पड़े। स्वर्णकार ने उन्हें गिरते हुए देखा। उसके आश्चर्य और अस्म-म्लानि का कोई ठिकाना ही न रहा। एक ओर खोये हुए यव मिल जाने से हर्ष हुआ तो दूसरी ओर मुनि की हत्या के पश्चस्ताप से उसका हृदय भर गया। अकल

ठिकाने आ गई। अपने बचाव का रास्ता खोजने लगा। मुनि को उसने गौर से देखा तो ज्ञान हुआ कि यह तो श्रेणिक का जामाता था। स्वर्णकार और अधिक घबराया। मौत का भूत सिर पर बोलने लगा। उसे कोई उपाय नहीं सूझा। उसके मन में आया कि जब मुनि ने पक्षी को बचा लिया तो मेरा बचाव भी इनके शरण से ही होगा, यह सोचकर स्वर्णकार ने मुनि को नमस्कार किया और उसके मृत शरीर के कपड़े स्वयं पहन लिये।

मेतार्य की मृत्यु का समाद शहर में विद्युत् की तरह फैल गया। सभी ने इस घटना को बहुत पाप पूर्ण बताया और ऐसे जघन्य अपराध के लिए कठोराति-कठोर दण्ड दिया जाना चाहिए, ऐसा चाहा। महाराज श्रेणिक ने जब यह सुना तो उसे भी बहुत दुःख हुआ। उसने अपने सिपाहियों को उसे तुरन्त गिरफ्तार कर लाने के लिए आदेश दिया।

साधु के वेष में स्वर्णकार श्रेणिक के समक्ष उपस्थित कर दिया गया। राजा असमजस में पड़ गया। वह साधु-भक्त था, अतः इस वेष में भी किसी को दण्ड देना नहीं चाहता था। जटिल पहेली हो गई। एक ओर जामाता की मृत्यु का महान् शोक था और दूसरी ओर अपराधी द्वारा इस प्रकार साधु का चोगा पहन लिया जाना हृदय में चुभन पैदा कर रहा था। श्रेणिक ने आदेश दिया—जब तक यह साधु क्रिया सहित इस वेष में है, अदण्ड्य है, पर जिस क्षण उसका उल्लंघन करे, जमी का पूत बना दिया जाये।

स्वर्णकार दुविधा में फँस गया। मन आसक्त था। उसने तो केवल अपने बचाव के लिए ही कपड़े पहने थे। अब यदि कपड़े छोड़ता है या क्रिया से थोड़ा भी दूर होता है तो मौत मुह बाये सामने खड़ी थी। आसक्ति और अनासक्ति के बीच भूलते हुए बाधित होकर आखिर अनासक्ति का उसे मार्ग चुनना पड़ा। स्वर्णकार मुनियों के पास गया और वहाँ उसने साधुत्व व्रत स्वीकार किया। धीरे-धीरे मेतार्य की तरह वह भी साधुत्व में रम गया। साधना की दुरूह मजिलें पार करता हुआ और महाधोर तपश्चरण करता हुआ, वह भी सिद्ध, बुद्ध व मुक्त बना।

हाथी के भव में मेघकुमार

मेघकुमार राजा श्रेणिक का पुत्र था। बाल्यकाल से ही वह साधु प्रेमी था। जब-जब भगवान् महावीर राजगृह में आते, तब-तब वह वन्दन के लिए जाता। व्याख्यान भी श्रवण करता। मेघकुमार राजकुमार तो था ही, उसके साथ-साथ उसमें वह सहज व्यक्तित्व भी था कि सभी साधु उससे वार्तालाप करने को समुत्सुक रहते। इस धर्मानुराग से प्रेरित होकर वह वैरागी बना और भगवान् महावीर के पास दीक्षित हो गया। दीक्षित होने की प्रथम रात्रि में जब साधुओं के सोने की व्यवस्था हुई तो उस व्यवस्था में मेघकुमार का क्रम सबसे अन्तिम था। पहले दिन तक वह राजमहल की सुकोमल शय्या पर लेटा करता था और आज वह सामान्य तृण विस्तर पर सोया था। वह गहरी नीद न ले सका। उसके पास से होकर साधुओं के आवागमन का क्रम भी सारी रात चलता ही रहा। रात्रि-जागरण की उस बेला में मेघकुमार के मन में नाना दुश्चिन्ताएँ उत्पन्न हुईं। वह सोचने लगा, कल तक सभी साधुओं का मेरे प्रति इतना आदर भाव था और आज उनके सघ में दीक्षित हो जाने के साथ ही मेरी यह उपेक्षा ? न कोई हँस कर मुझ से बोल रहे हैं और न उन्हें मेरे सुख-दुःख की कोई चिन्ता ही दीख पड़ रही है। सभी अपने-अपने कार्य में तल्लीन हो रहे हैं। मैं व्यर्थ ही इस जजाल में आ फसा। खैर, अब भी क्या हुआ है ? प्रातःकाल होते ही ये पात्र, रजोहरण आदि भगवान् श्री महावीर को पुनः सौंप कर मैं अपने घर चला जाऊँगा।

प्रातःकाल मुनि मेघकुमार भगवान् महावीर के पास पहुँचे तो त्रिकालदर्शी भगवान् ने स्वयं ही कहा—मेघकुमार ! आज रात को तू परिषद् से पराभूत हुआ। तेरे मन में यह विचार आया कि पात्र, रजोहरण आदि सौंप कर अपने घर चला जाऊँगा। हे मेघकुमार ! समय-ग्रहण करके इस प्रकार दुर्बलता दिखलाना उचित नहीं है। देख, अब तो तू मनुष्य है। तेरे में हिताहित का विवेक है। तू ने अपने पिछले भव में, जबकि तू एक पशु मात्र था, मानसिक दृढता का बहुत बड़ा उदाहरण उपस्थित किया था। मेघकुमार सुनने में लीन हुआ और भगवान् महावीर उसे बताने लगे—तेरा यह जीव पिछले भव में हाथी था। उससे भी पिछले भव में हाथी था। एक बार जंगल में आग लगी। हाथी प्राण बचाकर भागा। चलते-चलते भयकर

प्यास लगी। एक तालाब में पानी पीने के लिए वह ज्यों ही गया, कीचड़ में ऐसा फसा कि वह फिर निकल नहीं पाया। एक दूसरा हाथी आया और दन्त प्रहार से उस पर आक्रमण करने लगा। वहा से आयु पूर्ण कर तेरा वह जीव पुन हाथी के रूप में पैदा हुआ। एक बार उसने जंगल में आग लगी देखी तो उसे जाति स्मरण हो आया। उसने सोचा यह न हो कि फिर जंगल में आग लग जाए और मुझे मर जाना पड़े। उसने एक योजन मण्डलाकार भूमि को साफ कर दिया। वहा तृण, वृक्ष, लता आदि कुछ भी नहीं रहने दिया और वहा वह सुख से रहने लगा। जंगल में फिर से आग लगी। जंगल के अन्य जीव-जन्तु भी प्राण-रक्षा के लिए उस मण्डल में आकर एकत्रित होने लगे। हाथी के चारों ओर भर गए। हाथी के लिए केवल खड़े रहने भर की जगह रह गई। अकस्मात् हाथी ने शरीर खुजलाने के लिए एक पैर उठाया। सयोगवश एक शशक तत्क्षण उस रिक्त स्थान में आ बैठा। हाथी ने पैर नीचे रखना चाहा तो उस शशक का उमे पता चला। उस समय तूने प्राण, भूत, जीव, सत्व की अनुकम्पा के लिए अपना पैर उठाये रखा। एक दिन बीता, दूसरा दिन भी बीता और तीसरा दिन भी बीतने लगा। उस उत्कट अहिंसा प्रतिष्ठान से हे मेघकुमार ! तुझे उस भव में अप्रुव सम्यक्त्व रत्न का लाभ हुआ। उस भव में भी तू ने इतना दुःसह कष्ट सहा तो अब तो तू मनुष्य है। हेयोपादेय को अधिक ममभक्ता है, तब तेरे मन में साधारण परिषहो के प्रति भी इतना अधैर्य क्यों ?

मेघकुमार, भगवान् श्री महावीर की इस अमृतोपम देशना से प्रभावित हुआ। अपने अधैर्य के प्रति उसके मन में ग्लानि हुई। आत्म-आलोचना कर पुन सयमाहूड हुआ।



भगवान् अरिष्टनेमि, सती राजिमती और रथनेमि

रघुवश तथा यदुवश भारतवर्ष की प्राचीन सस्कृति और सभ्यता के उत्पत्ति-केन्द्र रहे हैं। इन दो वंशों के चरित्र नायकों की जीवन-गाथा से सस्कृत कवियों ने अपनी लेखनी को अमर बनाया है। जिस प्रकार रघुवश के साथ अयोध्या का अविच्छिन्न सम्बन्ध रहा है, उसी प्रकार यदुवश के साथ द्वारिका का भी। रघुवश का इतिहास जहाँ अपने मे नीतिनिपुण राजा राम और महासती सीता की स्मृति सजोए हुए है, वहाँ यदुवश का इतिहास बाइसवें तीर्थंकर भगवान् श्री अरिष्टनेमि और महासती राजिमती जैसी पवित्र आत्माओं के अवतार से अपने को गौरवान्वित समझता है।

यदुवश में अन्धक वृष्णि और भोजवृष्णि नामक दो यशस्वी राजा हुए हैं। अन्धकवृष्णि सोरियपुर में राज्य करते थे। इनके समुद्रविजय, वसुदेव आदि दस पुत्र थे, जो दशार्ह कहलाते थे। समुद्रविजय की पत्नी का नाम शिवा था और उनके अरिष्टनेमि और रथनेमि दो पुत्र हुए। वसुदेव की पत्नी का नाम देवकी था और पुत्र का नाम श्रीकृष्ण। अरिष्टनेमि और श्रीकृष्ण चचेरे भाई थे, अतः उनका बाल्यकाल साथ ही साथ बीता। साथ खेलते, साथ ही पढ़ते व साथ ही अपने भावी जीवन की कल्पनाएँ करते। खेल-कूद में बहुधा अरिष्टनेमि से श्रीकृष्ण हार भी जाते। यह हार उन्हें बहुत खलती और प्रतिशोध के लिए प्रेरित करती। किन्तु वय व बल से अधिक सम्पन्न होने से श्रीकृष्ण की अरिष्टनेमि के समक्ष एक भी न चलती। फिर भी दोनों का परस्पर अगाध प्रेम था। आगे चलकर अरिष्टनेमि धर्मचक्र प्रवर्तक और श्रीकृष्ण नीतिचक्र प्रवर्तक के रूप में हुए।

भोजवृष्णि मथुरा में राज्य करते थे। उनके पुत्र का नाम उग्रसेन, पुत्र-वधू का नाम वारिणी और पौत्री का नाम राजिमती था। भोजवृष्णि के एक भाई मृत्तिकावती में राज्य करते थे, जिनके पुत्र का नाम देवक और पुत्री का देवकी था। यही देवकी श्रीकृष्ण की माता थी।

राजिमती रूप, गुण व शील में अद्वितीय थी। जब वह अपने शैशव से तारुण्य में आई, माता-पिता ने पाणि-ग्रहण के लिए उचित वर को खोजना आरम्भ

किया। अरिष्टनेमि उनकी दृष्टि में सभी तरह से उपयुक्त थे। किन्तु अरिष्टनेमि बाल्यकाल से ही विरक्त रहते थे। सासारिक जीवन उन्हें कभी नहीं भाता था। उनके वैराग्य की चर्चा भी सर्वत्र फैल चुकी थी। उग्रसेन और उनकी पत्नी धारिणी अरिष्टनेमि के रूप, गुण व शालीनता पर मुग्ध थे, पर उनकी विरक्ति के कारण वे उन्हें राजिमती के लिए चुनने में सकुचाते थे।

महाराजा समुद्रविजय और रानी शिवा भी अरिष्टनेमि का पाणि-ग्रहण अति शीघ्र ही करना चाहते थे, किन्तु उनकी वैराग्य-वृत्ति इस कार्य को सफल होने नहीं देती थी। जब कभी भी वे दोनों विवाह-प्रस्ताव उपस्थित करते, अरिष्टनेमि अपनी सहज मुस्कान से उसे टाल देते। एक दिन महाराज समुद्रविजय ने अपनी यह कठिन पहेली श्रीकृष्ण के समक्ष उपस्थित की। श्रीकृष्ण ने इसे सहर्ष अपने पर ले लिया और वचनबद्ध भी हो गए कि मैं अपने भाई की शादी करके रहूंगा।

श्रीकृष्ण ने सत्यभामा से विचार विनिमय किया और अपना सारा भार उस पर डाल दिया। सत्यभामा बहुत ही वाक्पटु थी। वह सहज ही में किसी को अपने विचारों से प्रभावित कर देती थी।

वसन्त ऋतु का मनोहारी समय था। सर्वत्र वनराजि फूट रही थी। नये-नये फूलों व पत्तों से वृक्ष अद्वितीय शोभा पा रहे थे। वृक्षों और लताओं के बीच से प्रवहमान सुगन्धित समीर अनायास ही युवकों के हृदय में मादकता उडेल रहा था। सत्यभामा ने वसन्तोत्सव मनाने के लिए श्रीकृष्ण से अनुमति ले ली।

रैवतगिरि अपने प्राकृतिक सौन्दर्य से दूर-दूर तक विश्रुत था। सत्यभामा ने इसी पर्वत पर वसन्तोत्सव मनाने का निर्णय किया। निश्चित समय पर श्रीकृष्ण बलदेव आदि यादवों व उनकी धर्मपत्नियों के साथ व सत्यभामा अपनी सखियों के परिकर के साथ वहाँ पहुँच गई। श्रीकृष्ण ने अरिष्टनेमि को भी आग्रहपूर्वक अपने साथ चलने के लिए तैयार कर लिया। सभी आमोद-प्रमोद के साथ वहाँ घूमते और पार्वतीय सुषमा का आनन्द लूटते। सत्यभामा आदि रानियों ने अरिष्टनेमि को चारों ओर से घेर लिया और उनके साथ विविध प्रकार के व्यंग कसने लगी। वे उनके कौमार्य का अधिक उपहास करती। अरिष्टनेमि को यह बहुत ही विचित्र लगा। जब उनका हाम-परिहास सीमा का भी अतिक्रमण कर गया तो अरिष्टनेमि को उनकी इस प्रवृत्ति पर हँसी आ गई। सत्यभामा ने अपनी चातुरी से उसी समय यह प्रसिद्ध कर दिया— अरिष्टनेमि अब विवाह करने को प्रस्तुत हो गए हैं। श्रीकृष्ण ने वहाँ से लौटकर राजा समुद्रविजय से सब कुछ कह सुनाया। समुद्रविजय ने उपयुक्त कन्या का चयन करने का व विवाह सम्बन्धी सारी तैयारियाँ करने का भार श्रीकृष्ण पर डाल दिया।

सत्यभामा ने श्रीकृष्ण के समक्ष अरिष्टनेमि के लिए अपनी बहिन राजिमती का प्रस्ताव रखा। उन्हें यह बहुत समुचित लगा। वे स्वयं राजिमती को मागने के लिए मथुरा पहुँचे। उग्रसेन तो यह पहले से ही चाहता था। अतः उसे भी इस प्रस्ताव से

बहुत प्रसन्नता हुई। दोनों ओर से विवाह की धूमधाम से तैयारियां होने लगी। निर्णीत तिथि आबरु शुक्ला सप्तमी के दिन बारात चढ़ी और महाराज उग्रसेन की राजधानी मथुरा में पहुँची।

उन दिनों यादवों में मद्य व मांस का प्रयोग बहुत होता था। इनके बिना भोजन भी अधूरा समझा जाता था और आतिथ्य में तो इनका प्रयोग अवश्यम्भावी था ही। महाराज उग्रसेन ने बाराती यादवों का स्वागत करने के लिए इसी उद्देश्य से बहुत सारे हृष्ट-पुष्ट पशु और पक्षियों को विशाल बाड़े व पिंजरो में आबद्ध कर रखा था। बारात जिस मार्ग से शहर में प्रविष्ट हो रही थी, उसी मार्ग पर वे पशु-पक्षी बन्धे हुए करुण-क्रन्दन कर रहे थे। एक ओर हर्ष के नगाड़े बज रहे थे और दूसरी ओर सहस्रो मूक प्राणी कराह रहे थे। जुलूस के साथ सहस्रो बाराती उस मार्ग से गुजरे, पर किसी के भी कानों में वह दीन प्राणियों की आवाज नहीं पड़ी। अरिष्ट-नेमि का हाथी ज्यों ही वहाँ पहुँचा, पशुओं का विलाप सुनकर उनका हृदय करुणा से भर गया। अरिष्टनेमि ने सारथी से पूछा—इन दीन पशुओं को बन्धन में क्यों डाल रखा है?

सारथी ने उत्तर दिया—भ्रमो! इन सब प्राणियों को महाराज उग्रसेन ने बारातियों के आतिथ्य के निमित्त यहाँ एकत्रित किया है।

अरिष्टनेमि का हृदय विद्रोह कर उठा। उनके मुँह से सहसा ये शब्द निकल पड़े, मेरे लिए इतने निरीह प्राणियों का बध? यह मेरे श्रेय के लिए नहीं है। मैं एक स्नेह-सूत्र में बधता हूँ पर मेरे लिए इतने व्यक्तियों का उत्सर्ग? कभी क्षम्य नहीं हो सकता। मेरे उल्लास की नींव यदि इतने प्राणियों के विषाद पर खड़ी होती है तो क्या मैं उसे उल्लास ही कहूँ? तत्क्षण उन्होंने सारथी को आदेश दिया—रथ धुमाया जाए।

सारथी कुछ भी समझ न सका कि यह क्या आदेश था। वह ज्यों का त्यों अरिष्टनेमि की ओर हो देखता रहा। अरिष्टनेमि ने फिर उससे कहा—विलम्ब किस बात का हो रहा है। अतिशीघ्र रथ मोड़ा जाए।

महाराज! आपकी तो हजारों व्यक्ति प्रतीक्षा कर रहे हैं। रथ पीछे कैसे मोड़ा जाए? बारात ही तो बिना वर की हो जाएगी, सारथी ने विनीत स्वर से निवेदन किया।

किसकी बारात और किसका विवाह? मुझे इस तरह का कार्य नहीं करना है। तुम यथाशीघ्र मुझे सौरियपुर ले चलो, अरिष्टनेमि ने सारथी से कहा।

सारथी ने रथ का मुँह घुमा दिया और सौरियपुर की ओर चल दिया। बारातियों से और मथुरावासियों में खलबली मच गई। कोई भी इसका प्रयोजन नहीं जान सका। सभी ने अपने-अपने अनुमान लगाए, पर अरिष्टनेमि के इतने गहरे और अहिंसक मनोभावों की तह में कोई भी नहीं पहुँच सका। एक ओर से श्रीकृष्ण दौड़े,

दूसरी ओर से समुद्रविजय । कन्या पक्ष की ओर से स्वयं उग्रसेन और उसके निकटतम पारिवारिक । अरिष्टनेमि के सम्मुख पहुँचे और इसका प्रयोजन जानना चाहा । कुमार ने अपने आपको स्पष्ट करते हुए कहा—इस प्रकरण में न कन्या पक्ष की कोई त्रुटि है और न मेरे पिताश्री की ही । न कन्या की ही ओर न स्वागत-सत्कार की । किन्तु मैं यह नहीं चाहता कि मेरे निमित्त इतने निरीह प्राणियों का बध किया जाए । सुख जैसा मुझे अभीष्ट है, वैसा ही ससार के प्रत्येक प्राणी को भी । जीम की क्षणिक तृप्ति के लिए इतना बड़ा प्राणि-वध किसी भी तरह श्रेयस्कर नहीं है । मैं तो पहले भी नहीं चाहता था, पर सत्यभामा व श्रीकृष्ण ने जब ऐसा कर ही दिया तो मैं इसे टाल न सका । अब मेरी आत्मा इसे स्वीकार करने को समुद्यत नहीं है । मैं तो चाहता हूँ, स्वयंबुद्ध होकर सयम-ग्रहण करूँ, तप के द्वारा कर्म-मल का विच्छेद कर निर्मल बनूँ और राग-द्वेष रहित होकर सिद्ध, बुद्ध व मुक्त बनूँ । आत्मा की मुझे यह विडम्बना समुचित प्रतीत नहीं होती ।

अरिष्टनेमि को लाख समझाया गया, पर पुन चलकर प्राणि-ग्रहण करने के लिए वे उद्यत न हुए । अरिष्टनेमि का एक ही उत्तर था, मैंने श्रेय का अपना लक्ष्य बना लिया है और अब उसे प्रेय में परिवर्तित नहीं किया जा सकता । आप सभी पारिवारिकों और मेरे प्रति अनुराग रखने वालों का भी यही कर्तव्य है कि सभी तरह से आप मेरे इस कार्य में सहयोगी बने ।

* * *

राजिमती अरिष्टनेमि को पति के रूप में पाकर अपने को धन्य मान रही थी । आज का दिन उसके लिए जितना उल्लास का था, गत जीवन में सम्भवत दूसरा नहीं रहा होगा । वह अपने भविष्य के सुनहले स्वप्न कल्पना के कोमल घागो से बाध रही थी । किन्तु उसे क्या पता था कि उसकी आशाओं पर इस तरह हिमपात होगा कि वह उसमें तिरोहित ही नहीं हो जाएगी, अपितु अस्तित्व-शून्य भी हो जाएगी । सहसा उसको सवाद मिला कि अरिष्टनेमि विवाह मण्डप की ओर आगे बढ़ते हुए वापस मुड़ गए हैं और सौरियपुर की ओर चल दिये हैं । लाख प्रयत्न करने पर भी उन्होंने एक भी नहीं मानी । राजिमती भूच्छित होकर घडाम से गिर पड़ी । सखियों ने तुरन्त उसे सम्भाला, सहलाया और जागरूक किया । सभी उसको सान्त्वना देती हुई बोल पड़ी—इस तरह भी क्या किसी के पीछे पागल बना जाता है ? क्या हुआ यदि अरिष्टनेमि चले गए । तुम्हारे लिए उनसे अच्छे वर और मिल जाएंगे । चिन्ता छोड़ो और इस तरह अपने को किसी के साथ बान्ध कर मिटा न दो । अभी तो हुआ ही क्या था ? बरात ही तो आ रही थी ? प्राणि-ग्रहण सत्कार तो नहीं हुआ था । जब तक वह हो नहीं जाता, पुरुष की भाति महिला भी स्वतन्त्र होती है । वह दूसरे वर के साथ शादी कर सकती है । घबराओ नहीं बहिन ! तुम तो विदुषी हो, सहिष्णु हो और हम सबको पथ-दर्शन देने वाली हो । तुम्हारे जैसी महिलाएँ भी यदि इस तरह

भगवान् अरिष्टनेमि, सती राजिमती और रथनेमि]

[३३६]

इतनी दीन बनेगी तो फिर अन्य बहिनो की क्या स्थिति होगी ?

राजिमती विषाद से दबी हुई थी, किन्तु सखियों की जब इस तरह लल्लो-चप्पो की बातें सुनी, उसका पौरुष फटक उठा। वह बोली—पारिण-ग्रहण क्या अग्नि की परिक्रमा के लेने मात्र से ही होता है ? मेरा विवाह तो उस दिन ही हो चुका था, जबकि मैंने अपने हृदय में अरिष्टनेमि को पति-बुद्धि से देखना आरम्भ किया था। जिस दिन बात निश्चित हुई थी, उसी दिन से मैं उनकी बन चुकी और वे मेरे। मेरे लिए उनके अतिरिक्त सारे ही पुरुष पिता और भाई के तुल्य हैं। अरिष्टनेमि भी मुझे व्याहृते के उद्देश्य से यहाँ आए थे, अतः इससे बढ़कर और क्या विवाह होगा ? केवल रस्म के रूप में बन्ध जाना ही अन्तिम रूप नहीं है। वह तो स्थूल है, जिसका मूल्य साधारण व्यक्तियों की दृष्टि में होता है। मैं स्थूल से भी अधिक मूल—हृदय को महत्त्व देती हूँ और इसीलिए मैं यह कहती हूँ कि अरिष्टनेमि ही मेरे पति हैं। उनके वापस चले जाने से मुझे कितनी वेदना हुई है, यह मैं शब्दों में अभिव्यक्त नहीं कर सकती।

राजिमती का हृदय शब्दों का आधार पाकर बाहर आ रहा था। वह अपनी भावना को अनवरुद्ध प्रवाह की तरह व्यक्त करती ही जा रही थी। आगे वह कह रही थी—वे मुझे छोड़कर ससार के समस्त प्राणियों को अभय प्रदान करने के लिए कृत सकल्प हुए हैं, इससे बढ़कर और क्या अच्छी बात हो सकती है। वे स्वयं कल्याण तो हैं ही और अनगिन व्यक्तियों के कल्याण के लिए उद्यत हुए हैं, यह बहुत ही श्रेयस्कर है। किन्तु मुझे दुःख इस बात का ही है कि उन्होंने मुझे साथ नहीं लिया।

हृदय की कोमलता, जीवन की पवित्रता और विचारों की दृढ़ता का राजिमती में अपूर्व सम्मिश्रण था। वह अपने निर्णय से कभी विचलित नहीं होती थी और न किसी को अपनी कठोरता में ही समेटती थी। वह अपने सहज स्वभाव में पूर्णतः रमी हुई थी। अरिष्टनेमि के विवाह से पराङ्मुख हो जाने से वह सविषाद तो हुई, किन्तु वह भी उनकी तरह ही सविग्न बनकर उस दिन की प्रतीक्षा भी करने लगी, जबकि वह स्वयं भी अभिनिष्ठक्रमण की ओर प्रयत्न हो सके।

रथनेमि अरिष्टनेमि का छोटा भाई था, पर दोनों के स्वभाव और जीवन में बहुत बड़ा अन्तर था। अरिष्टनेमि जिन वस्तुओं को तुच्छ समझते, रथनेमि उनके लिए तरसता। अरिष्टनेमि का जीवन श्रेय का जीवन था और रथनेमि का प्रेय का। रथनेमि राजिमती के लावण्य पर अतिशय मुग्ध था। उसका प्रयत्न भी था कि राजिमती मुझे ही मिले, किन्तु अरिष्टनेमि के साथ विवाह निश्चित हो जाने से उसकी आशाओं पर पानी फिर गया। जब उसने यह देखा कि बड़े भाई तो उसके साथ शादी नहीं कर रहे हैं; उसे बहुत प्रसन्नता हुई। उसके लिए फिर आशा बन्धी और उसे लगा कि अब मेरे अभीप्सित की पूर्ति हो जाएगी। उसने अपनी एक परिचारिका को पुरस्कार का प्रलोभन देकर राजिमती के पास गुप्त रूप से भेजा। उसने वहाँ जाकर रथनेमि के सौन्दर्य, वीरता, चातुरी व शासन-कुशलता आदि की भूरि-भूरि प्रशंसा की

और अन्त में रथनेमि की अभिलाषा भी प्रकट कर दी ।

राजिमती को इस प्रस्ताव से बहुत आश्चर्य हुआ । उसका हृदय एक बार श्लानि में भरा, किन्तु देवर को शिक्षा देने के निमित्त उसने परिचारिका से कहा— इस प्रस्ताव का उत्तर मैं उन्हें ही दूंगी । तुम शीघ्र ही वापस जाओ और उन्हें यहाँ भेज दो । मेरी ओर से उन्हें इतना और कह देना कि आते समय वे अपने साथ कोई बहुत प्रिय पेय पदार्थ भी लेते आए ।

रथनेमि को राजिमती के कथन से बहुत प्रमत्नता हुई । वह बड़ी सज्जधज के साथ अपने भविष्य की मधुर आशाओं को सजोता हुआ राजिमती के पास पहुँच गया । राजिमती ने उसका स्वागत किया और उसकी प्रशंसा भी । रथनेमि और राजिमती के बीच काफी देर वार्तालाप होता रहा । राजिमती की बातें सुनकर रथनेमि के हृदय में उत्तरोत्तर उल्लास बढ़ता ही गया । रथनेमि ने राजिमती को कटोरे में भर कर वह पेय पदार्थ भेंट किया और कहा—तू ने तो बहुत ही तुच्छ वस्तु मगवाई । मैं तो तेरे लिए बहुत कुछ ला सकता था ।

राजिमती उस कटोरे को एक अन्य औषधि के साथ एक सास में ही पी गई । रथनेमि इससे बहुत खुश हुआ । उसे पक्का विश्वास हो गया कि अब मेरा प्रस्ताव स्वीकृत हो जाएगा । राजिमती ने दूसरे ही क्षण उसी कटोरे में वमन कर दी । रथनेमि काप गया । वह सोचने लगा—कहीं पेय पदार्थ में ही कोई ऐसी वस्तु तो नहीं मिल गई होगी जिसमें ऐसा हो गया । किन्तु राजिमती ने वमन से भरा कटोरा रथनेमि के सामने रखते हुए कहा—राजकुमार ! लो, इसे अभी पी जाओ ।

रथनेमि चौंका । राजिमती का यह व्यवहार उसे बहुत बुरा लगा । वह गुस्से में भर गया और दो कदम पीछे विमक गया । आवेश और उलाहना के स्वर में वह बोल पड़ा—राजिमती ! तुम्हें अपने लावण्य पर इतना घमण्ड ? किसी भद्र पुरुष को अपने पास बुलाकर क्या इस तरह उसका अपमान करती हो ? मुझे क्या तू ने कुत्ता या कौवा समझ रखा है, जो वमन पिलाना चाहती हो ? यह रथनेमि कभी भी ऐसा घृणित काम नहीं करेगा ?

राजिमती—राजकुमार ! मैं तो आपके प्रेम की परीक्षा ले रही थी ।

रथनेमि — क्या तुम्हें परीक्षा का यही उपाय सूझा ? और भी तो बहुत सारे कार्य थे ?

राजिमती—यदि आप इसे मेरे कहते ही पी जाते तो मैं समझती कि आपका मेरे प्रति कितना सच्चा प्रेम है और आप मुझे स्वीकार कर सकेंगे या नहीं ।

रथनेमि—तो क्या मैं वमन पी जाऊँ ?

राजिमती—महाभाग ! इसमें ऐसी क्या बात हो गई ? वमन है तो क्या हुआ ? है तो वही वस्तु जो आप लाए थे और आपको अत्यधिक प्रिय थी । इसके रूप, रंग या रस में इतना क्या अन्तर आया है ? केवल एक बार मेरे पेट तक जाकर

भगवान् अरिष्टनेमि, सती राजिमती और रथनेमि]

[३४१]

निकल आया है ।

रथनेमि—इससे क्या हुआ ? है तो वमन ही ?

राजिमती—मेरे साथ विवाह करने की इच्छा रखने वाले के लिए इसे पी जाना इतना क्या कठिन है ?

रथनेमि—क्यों ?

राजिमती—जिस प्रकार यह पेय पदार्थ मेरे द्वारा परित्यक्त है, उसी प्रकार मैं भी तो आपके बड़े भाई द्वारा त्यागी हुई हूँ । जैसे मैं आपको प्रिय हूँ, उसी प्रकार यह पदार्थ भी तो आपको बहुत प्रिय है । दोनों के सम बल होने पर ही इसे पीने वाले को आप कुत्ता या कौवा समझते हैं और मुझे अपनाते समय यह विचार भी नहीं करते ? यादवकुमार ! मेरे साथ विवाह का प्रस्ताव भेजते समय आपको थोड़ा सोचना तो चाहिए था कि मैं अपनी भाभी के समक्ष कौनसे विचार रख रहा हूँ ? आपके भाई ने यदि मुझे छोड़ दिया तो इसे आपने अपना सौभाग्य माना ? आप भी उसी पिता के पुत्र हैं, अतः सोचिए कि इस प्रस्ताव ने आपको कितना नीचे खिसका दिया है । केवल चमड़ी के पीछे पड़कर अपना विवेक और ज्ञान खो देना मनस्विता नहीं है । आपके लिए अन्य स्त्रियों की क्या कमी थी ? अच्छा तो यह होता, आप भी अपने भाई की तरह इस भौतिक आवरण को छोड़ते और अन्तर्जगत् में रमण करते ।

रथनेमि लज्जा से भूमि में गड़ गया । राजिमती को उत्तर देने के लिए उसके मुँह से एक शब्द भी नहीं निकला । बहुत देर तक वह ग्लानि और पश्चाताप के बीच झूलता रहा । वहाँ आ गया, किन्तु पुनः जाना मुश्किल हो गया । राजिमती के शब्दों ने सुषुप्त विवेक को जागृत कर दिया । बहुत साहस बटोर कर वह इतना ही बोल सका—राजकुमारी ! अपराध के लिए क्षमा करो । भविष्य में ऐसी गलती नहीं करूँगा । अब मैं तुम्हारे समक्ष प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं भी अपने भाई की तरह इस ससार में नहीं फँसूँगा । उनके साथ ही प्रव्रजित होऊँगा और जड़ व चेतन के अस्तित्व को सर्वथा विभक्त करके रहूँगा । मुझे आज्ञा दो, मैं जाना चाहता हूँ ।

*

*

*

राजिमती का हृदय सकल्य हो चुका था कि वह आजन्म कुमारी रहेगी और जब भगवान् अरिष्टनेमि केवलज्ञान प्राप्त कर तीर्थ-प्रवर्तन करेंगे, तब उनके पास वह भी साध्वी बन जाएगी । महाराज उग्रसेन और रानी चारिणी ने यद्यपि राजिमती को विवाह करने के लिए बहुत बाधित किया, किन्तु उसने एक भी बात न मानी ।

अरिष्टनेमि ने एक वर्ष के बाद दीक्षा-ग्रहण की । उनके साथ रथनेमि व सहस्रो यदुवशी राजकुमारों ने भी दीक्षा ग्रहण की । घोर व उग्र तपश्चरणा करते हुए व साधना में लीन अरिष्टनेमि ने केवलज्ञान प्राप्त किया । राजिमती ने भी अपनी सात मौ सखियों के साथ भागवती दीक्षा ग्रहण की । दीक्षित होने के बाद भगवान्

अरिष्टनेमि के दशन करने की राजिमती के हृदय में प्रबल उत्कण्ठा जागृत हुई। उन दिनों भगवान् अरिष्टनेमि गिरनार पर्वत पर विराजमान थे। महामती राजिमती अपनी गिष्याओं के साथ गिरनार पर्वत पर उल्लामपूर्वक चढ़ने लगी। मार्ग में अचानक जोर से आधी चलने लगी और मूमलाधार पानी भी बरसने लगा। काली घटाए चारों ओर आकाश में घुमड रही थी। पास खड़ा व्यक्ति भी दिखाई नहीं देता था। महासती राजिमती उस भयंकर समय में मार्ग भूल गईं और अकेली ही रह गईं। उन्हें अन्य साध्वियों का पता नहीं रहा और अन्य साध्वियों को उनका। कपड़े तर-बतर हो गए थे। ठण्डी हवा से शरीर धुजने लगा।

धीरे-धीरे आन्धी का वेग कम हुआ। काले-काले बादल फटे और उजाला होने लगा। महामती को एक गुफा दिखाई दी। वह कपड़े सुखाने के लिए उस गुफा में चली आईं। निजन् स्थान समझ कर उन्होंने कपड़े निचोड़े और सुखा दिए। उसी गुफा में रथनेमि धर्म-चिन्तन कर रहे थे। भीतर अंधेरा होने के कारण वे राजिमती को दिखाई नहीं देते थे, किन्तु वे राजिमती को प्रकाश में होने के कारण देख सकते थे। एकान्त स्थान, वर्षा का समय, वस्त्र रहित सुन्दरी, ऐसे समय में वे अपने आपको सम्भाल न सके। धर्म-चिन्तन के स्थान पर वासना ने जोर पकड़ लिया। वे अपने व्रत से च्युत हो गए। अपने अभिप्राय को प्रकट करने के लिए नाना दुश्चेष्टाएँ भी करने लगे।

राजिमती को ज्ञात हुआ, इस गुफा में तो कोई पुरुष है और वह भी कामुक प्रतीत होता है। कही ऐसा न हो कि वह दैत्य का रूप धारण कर मेरे पर आ जाए और मैं गाफिल ही रह जाऊँ। उन्होंने अपने साहस को बटोरा, वस्त्रों से शरीर को ढाका और उस पुरुष को ललकारा। रथनेमि अपने स्थान से थोड़ा आगे आया तो राजिमती को स्पष्ट दिखाई दे गया। उन्होंने उसे पहचान लिया।

महासती राजिमती के कुछ कहने के पूर्व ही रथनेमि बोल पड़ा—सुभगे! यह स्वर्णिम और एकान्त अवसर है। इसे यो ही नहीं गमा देना चाहिए। प्राप्त सुख को ठुकराना तो निरी मूर्खता है।

महासती राजिमती को ये शब्द बहुत ही बुरे लगे। उन्होंने रथनेमि को फिर आड़े हाथों लिया। वह बोली—हे अनगार! आप मुनि-चर्या की भूमिका में है। आपका आदर्श बहुत ऊँचा है। आपकी तपश्चर्या वस्तुतः ही प्रेरणादायक है। फिर आप एक पतित व कामुक व्यक्ति की तरह कैसे बोल रहे हैं? थोड़ा होश होना चाहिए कि आप कौन हैं, मैं कौन हूँ और आप किसके समक्ष ये बातें कह रहे हैं?

रथनेमि—साधु होते हुए भी मुझे इस समय तुम्हारे अतिरिक्त और कुछ भी दिखाई नहीं दे रहा है। तुम्हारे लावण्य के समक्ष तप व साधना का भी मैं कोई मूल्य नहीं समझता।

राजिमती—आपको अपनी प्रतिज्ञाओं पर दृढ़ रहना चाहिए और उन्हें

कभी भी, किसी भी कीमत पर ताक पर नहीं रख देना चाहिए। आपको अपनी प्रतिज्ञाएँ तो याद होंगी ?

रथनेमि—हा, मुझे वे सारी याद हैं, पर यहाँ देख कौन रहा है ?

राजिमती—जिसे दूसरा न देखे, क्या वह पाप नहीं होता ? अपनी आत्मा से पूछिये, गुप्त पाप करने वाला कितना अधम गिना जाता है। मायावी तो प्रकट पाप करने वाले से भी अधिक पातकी होता है, मुने !

रथनेमि—यदि छिपकर ऐसा करना तुम्हें स्वीकार नहीं है तो अपने विवाह कर लेते हैं और फिर वृद्धावस्था में साधु बन जाएंगे।

राजिमती—उस समय आपने अपने द्वारा लाए हुए पेय पदार्थ को क्यों नहीं पीया था ?

रथनेमि—वह तो तुम्हारे द्वारा वमित था।

राजिमती—क्या आप अपने द्वारा की गई वमन को पुनः पी जाएंगे ?

रथनेमि—यह कैसे हो सकता है ? क्या वमन को भी कोई कभी पीता है ? तुम्हारे पास इस बात के अतिरिक्त भी तो कोई बात है या नहीं ?

राजिमती—तो मुने ! जिन काम-भोगों को आपने वमन समझ कर छोड़ दिया था, उन्हें पुनः स्वीकार करने के लिए इतने आतुर कैसे हो रहे हैं ? क्या आपने उस समय व्रत-ग्रहण करते हुए कोई अपवाद रखा था ?

रथनेमि ! आप अन्धकवृष्णि के पौत्र, महाराज समुद्रविजय के पुत्र व धर्मचक्र प्रवर्तक भगवान् अरिष्टनेमि के कनिष्ठ भाई हैं। त्यक्त को पुनः स्वीकार करने की बात आपके लिए लज्जास्पद है। अगन्धन कुल में जन्मा हुआ सर्प अग्नि में कूद कर अपने प्राणों की आहुति दे देगा, पर वह वमित जहर कभी भी पीना स्वीकार नहीं करेगा। आप एक बड़े व प्रतिष्ठित कुल में जन्मे हैं। आप में यह दुर्भावना कहा से आ गई ? व्रत-ग्रहण कर विहरण करने वाला साधु यदि इस तरह अपनी साधना से च्युत होता है तो उसकी उस साधना में क्या खाक रखा है ? साधना का जिस विचार से आरम्भ किया जाता है, क्रमशः वह विशुद्ध, विशुद्धतर और विशुद्धतम होनी चाहिए। यदि आप जैसे कुलीन मुनि भी इस तरह साधना को खण्डित करेंगे तो साधना रह भी क्या जाएगी ?

रथनेमि का मस्तक फिर एक बार महासती के चरणों में झुक गया। जितने शीघ्र उनके मन में कामुकता के विचार आए थे, महासती की प्रेरणा से उतने शीघ्र वे चले भी गए और रथनेमि अपनी साधना में स्थिर हो गया। महासती राजिमती भगवान् अरिष्टनेमि के समवसरण में पहुँची, उनके दर्शन किये, उपदेश सुना और अपने को कृतार्थ किया। उत्कट साधना व तपश्चरण करते हुए भगवान् अरिष्टनेमि से चौपन दिन पहले ही वह भी निर्वाण पद को प्राप्त हुई।

वसु राजा

राजा वसु मनसा, वाचा, कर्मणा मत्यवादी था। उसकी सत्यवादिता आबाल-वृद्ध प्रसिद्ध थी। यहां तक कहा जाता है कि सत्यवादिता के प्रभाव से ही उसका सिंहासन आकाश में अधर रहता था। एक बार ब्राह्मणों में और नारदजी में एक विवाद छिड़ गया। ब्राह्मणों का कहना था कि वेदों के इस कथन 'अजैर्यंष्टव्य' के आधार से यज्ञों में बकरो की बलि दी जानी चाहिए। नारदजी का कहना था कि इस उक्ति का यह अर्थ नितान्त गलत है। वे इसका अर्थ करते थे कि 'न जायन्ते इति अजा ग्रीहा' अर्थात् स्वतः निष्पन्न धान्य की ही यज्ञ में आहुति दी जानी चाहिए। दोनों अर्थ एक दूसरे से सर्वथा भिन्न थे और कोई भी किसी के अभिमत को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं था। विवाद बहुत बढ़ गया और पारस्परिक तनाव का रूप लेने लगा। अन्ततः दोनों ही पक्षों द्वारा यह सर्वसम्मत निश्चय हुआ कि सत्यवादी राजा वसु जो निर्णय दे दे, वही मान्य और वही सत्य।

राजा वसु अपनी राज्य-सभा में बैठा था। नारदजी और ब्राह्मण पहुंचे। दोनों ही पक्षों ने तर्क-बल से अपने-अपने अभिमत की पुष्टि की। वसु पशोपेश में पड़ गया। क्योंकि नारदजी का पक्ष सत्य था और ब्राह्मणों का असत्य। किन्तु वह यह निर्णय इसलिए देना नहीं चाहता कि ब्राह्मण उसके कौटुम्बिक थे। जीवन में वह कभी भी अपने सत्य से विचलित नहीं हुआ, किन्तु इस अवसर पर कौटुम्बिकों के मोह और आग्रह ने उसे सत्य से विचलित कर दिया। उसने अपना निर्णय सुना दिया कि ब्राह्मणों का कथन सत्य है और नारदजी का असत्य। ब्राह्मण बासों उछलने लगे। नारदजी को यह बुरा लगा, किन्तु करते क्या ?

सत्य कभी तिरोहित नहीं किया जा सकता। वह शुभ व स्पष्ट ही रहेगा। वसु के उस निर्णय की प्रतिक्रिया यह हुई कि उसका आकाश में अधर रहने वाला सिंहासन ढोल उठा और घड़ाम से नीचे आ गिरा।



बाल्मीकि

आदिकवि महर्षि बाल्मीकि का जन्म ब्राह्मण कुल में हुआ था, पर उन्होंने अपना विवाह एक शुद्र की कन्या से किया था। शुद्रों के ससर्ग में अधिक रहने के कारण उनमें शुद्रों के सस्कार अधिक घर कर गए और उनका ब्राह्मणत्व एक बार नष्ट-सा हो गया। वे डाका डालते, जंगल में राहगीरों को लूटते और अपने मा बाप, भाई भतीजे व बेटे-पोते का भरण-पोषण करते। उनका जन्म नाम रत्नाकर था।

रत्नाकर एक दिन अपना धनुष हाथ में लिए और बाणों का माथा अपनी पीठ पर बांधे हुए जंगल में किसी की टोह में घूम रहे थे। बहुत दूर तक निकल जाने पर भी उन्हें कोई दिखाई न दिया। अन्ततः किसी एक ओर, क्षितिज के बिल्कुल समीप से सात ऋषि दिखाई दिए। रत्नाकर उन्हें लूटने के लिए दौड़े और उन्हें ललकारते हुए बोले—खड़े रहो ! जो कुछ मालमत्ता पास में हो, बिना कुछ ननुनच किए यहाँ रख दो। वरना कुछ खँर नहीं है।

सातों ही ऋषियों ने उनकी ओर देखा और तीखे स्वर में बोले—अरे नरा-धम ! क्या तू इतना चण्डाल है कि ऋषियों से भी नहीं चूकता।

रत्नाकर सरोष बोला—जरा सम्मेलन कर बोलो। मैं चण्डाल नहीं हूँ। मैं ब्राह्मण-पुत्र हूँ।

ऋषियों ने कहा—ब्राह्मण होकर भी ऋषियों के साथ इस तरह व्यवहार करते हुए क्या तुम्हें शर्म नहीं आती ?

रत्नाकर बिना कुछ सहमे ही बोल पड़ा—यदि डाका न डालू तो और क्या करूँ ? पेट कैसे भरा जाए। मेरी पत्नी व बच्चे भूखे न मर जाए ?

ऋषियों ने अपनी सहज मुस्कान के साथ कहा—यह तो बहुत बड़ा पाप है। पर खँर, तू अपने पारिवारिकों के भरण-पोषण के लिए ही तो ऐसा करता है। यह अपहृत धन सारे ही परिवार वालों के काम आता है। सभी इसमें हिस्सा बटाते हैं। किन्तु जो तू इतना पाप कमा रहा है, उसमें भी तेरे पारिवारिक हिस्सा बटाएंगे या नहीं, यह भी क्या तू ने कभी सोचा ?

रत्नाकर हँसते हुए बोला—ऋषियों ! इसमें क्या सोचना है ! जब धन में

सबका हिस्सा है तो पाप में भी सभी का होगा ही। सारे ही व्यक्ति इस तथ्य को मानेंगे, मुझे इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।

ऋषियो ने अपनी स्वाभाविक वाणी में कहा—तो अच्छा, हम यही खड़े हैं। तू अपने घर जाकर कुटुम्बियों से पूछ तो ले कि इस छूट-मार के पाप में उनका साझा है या नहीं ?

रत्नाकर डाकू थे, पर उनमें कुछ सत्सस्कार अवशिष्ट थे। ऋषियो से प्रेरणा पाकर वे घर गए और प्रत्येक पारिवारिक से पूछने लगे—मैं जो प्रतिदिन छूट-खसोट करता हूँ, उसके धन में तो सभी भागीदार हूँ, पर पाप में भी हिस्सा बटाने को तैयार है या नहीं ?

सभी कुटुम्बियों ने एक ही स्वर से कहा—हम इस प्रकार के पाप में साझी-दारी रखने वाले नहीं हैं। तुम्हारे द्वारा उपार्जित धन में अवश्य हम अपने को हिस्से-दार समझते हैं।

रत्नाकर का हृदय एकदम बदल गया। उनकी भावना ही उनके अन्तरतम को कचोटने लगी। वे वहाँ से ऋषियो की ओर दौड़ पड़े और चलते हुए सोचने लगे—‘मैं ही अकेला इतने जघन्य कर्म क्यों करूँ और क्यों पाप का भार अपने सर पर उठाएँ फिर ? जीवन जितना दूसरों को प्यारा है, उतना ही मुझे है, फिर मैं अकेला ही परिवार के भरण-पोषण की चिन्ता से दबता रहूँ और इस प्रकार पाप-मैल से आत्मा को रगता रहूँ, इसमें मेरा कौन-सा भला होगा ? धन का हिस्सा सभी बटाएँ और पाप केवल मेरे अकेले पर थोपते रहे, यह तो मेरे साथ उनका घोखा है और मेरा अपनी आत्मा के साथ। मैं अब क्यों किसी के लिए बुरा काम करूँ।’ इस प्रकार अपने ही विचारों में उलझते हुए वे अपने गत जीवन के प्रति मन में घृणा के भाव सजोते हुए जंगल में पहुँच गए। धनुष और बाण दूर फेंक दिए वे ऋषियो के चरणों में गिर पड़े। बोल पड़े—मेरे जैसा अधम प्राणी जो कल्मष में बहा जा रहा था, आपने हाथ पकड़ कर उबार लिया। भगवन् ! आप सबका कहना ठीक निकला। मेरे पाप में हिस्सा बटाने के लिए कोई भी तैयार नहीं है। मेरी अन्तर आखें खुल गई हैं। अब आप लोग मुझे आगे का रास्ता भी बताइए। मुझे अपने भावी जीवन को सुधारने के लिए अब क्या करना चाहिए ?

रत्नाकर की प्रार्थना पर ऋषियो का हृदय भी पिघल गया। उन्होंने उसके उद्धार के निमित्त कहा—‘तू यहीं बैठ जा और ‘मरा मरा’ का जाप करता चल। जब तक हम इस रास्ते से पुन न आएँ, तुझे उठना नहीं है और न अपना ध्यान ही पूरा करना है।’ रत्नाकर ने बैसा ही किया। दत्तचित्त होकर बैठ गए और फिर उस आसन से नहीं हिले। कई युगों के बाद सातो ही ऋषि पुन उसी राह लोटे तो रत्नाकर की तपस्या पर बड़ी प्रसन्नता अभिव्यक्त की। रत्नाकर के एक आसन ध्यानस्थ होने से उनके शरीर पर बूल की बाबी-सी जम गई। ऋषियो ने कहा—

बाल्मीकि]

[३४७.

‘रत्नाकर ! अब साधना छोड़ बाहर चले आओ । आज से तुम्हारा नाम बाल्मीकि अर्थात् वाबी वाले (ऋषि) रख दिया है ।’ उन्होंने आशीर्वाद देते हुए कहा— ‘आज से तुम्हारा दूसरा जन्म हुआ है । तुम अब ससार में बड़े-बड़े काम करोगे और बहुत यश अर्जित करोगे ।’

बाल्मीकि ने इसके बाद अपनी साधना और निष्ठा के बल पर ज्ञान प्राप्त किया और आदिकवि बने । उन्होंने ही संस्कृत भाषा में ‘रामायण’ की रचना की, जो आज तक भी बहुत प्रसिद्ध है और भारतीय संस्कृति का उच्चकीर्ति का ग्रन्थ माना जाता है ।



जितशत्रु और सुकुमाला

राजा का नाम जितशत्रु था और रानी का नाम सुकुमाला । जितशत्रु का सुकुमाला पर अगाध प्रेम था । प्रेम इतना बढ़ा कि वह आसक्ति के रूप में बदल गया । राजा रात और दिन महलों में ही रहने लगा । राज्य-व्यवस्था में थोड़ा भी समय नहीं लगाता । मन्त्री को इससे बहुत चिन्ता हुई । वह बहुत बार राजा के पास आता, समझाता, पर उसका कुछ भी असर नहीं होता । जनता में भी इससे बेचैनी बढ़ती गई । मन्त्री यदि अधिक दबाव डालता तो राजा कह देता—मैं राज्य-सभा में आकर क्या करूँगा ? तुम सारी व्यवस्थाएँ सम्भाल ही रहे हो । मुझे तुम्हारे पर पूरा विश्वास है ।

मन्त्रि-परिषद् की एक बैठक में राजा की इस उदासीनता के लिए सोचा गया । सर्वसम्मति यह निर्णय लिया गया कि रात में सोते हुए राजा को रानी के साथ किसी भयावह जगल में छोड़ दिया जाए और युवराज को पदासीन कर दिया जाए । यदि राज्य-व्यवस्था की ओर कुछ ध्यान ही नहीं दिया जाता तो वह राजा भी कहा रहा ?

अर्धरात्रि के नीरव और निस्तब्ध समय पल्यङ्क पर सोते हुए राजा और रानी को अनुचरो ने उठाया और मन्त्री द्वारा निर्दिष्ट जगल में दोनों को छोड़ आए । कुछ समय बाद राजा जगा । उसे चारों ओर भयानक अंधेरा व घना जंगल दिखाई दिया । उसे अपनी आँखों पर विश्वास नहीं हुआ । उसने सोचा—कहीं स्वप्न तो नहीं देख रहा हूँ । आँखें मली तो उसे अपने पर भरोसा हुआ कि स्वप्न तो नहीं है । उसने रानी को जगाया । रानी अर्धनिद्रा में ही बोल पड़ी—अभी नहीं । अभी तो दिन नहीं निकला है । राजा बोला—दिन क्या निकलना है ? हमारा तो भाग्य ही रुक गया । आँखें खोलकर तो देखो ।

सुकुमाला ने आँखें खोली, तो अवाक रह गई । उसने कहा—क्या हम आज निर्वासित कर दिए गए हैं ? क्या हमारे अनुचर और मन्त्री इतने क्रुतघ्न हैं । हमारे घर का ही तो खाते हैं और हमारे साथ ही इस तरह का व्यवहार ? यह सब आपकी उदारता का ही परिणाम है । आप पुनः अपनी राजधानी में चलिए और उन

मबको दण्ड दीजिए ।

जितशत्रु बोले—दूसरो को दोष देना उचित नहीं । यह सब कुछ तो अपनी ही बुरी आदतो का परिणाम है । यदि हम वासना के चक्कर में इतना नहीं फसते तो कभी भी इस प्रकार अपमानित न होते । अब हमारा पुन बहा जाना किसी भी तरह उपयुक्त नहीं है । सन्ध्या समय जब सोये थे, मैं राजा था और तू रानी थी, पर अब सामान्य मनुष्य के अतिरिक्त कुछ नहीं है । इतने दिन आनन्द से निश्चिन्त रहते थे, पर अब बिना परिश्रम के काम नहीं चलेगा । किसी शहर में चलते हैं और अपना भाग्य अजमाते हैं ।

दोनों प्राणी उठे और एक दिशा में चल पड़े । भयानक जंगल व बीहड़ मार्ग में काण्टो और पत्थरो को लाघते हुए जा रहे थे । सूर्य की प्रचण्ड उष्मा के कारण स्वेद से शरीर तर-बतर हो रहा था । रानी को प्यास लग गई । उसने राजा से कहा । राजा पानी कहा से लाता ? रानी अकुलाने लगी । उसने राजा से कहा । राजा से उसकी प्यास-वेदना देखी न गई । उसने अपना शरीर चीर डाला और लहू से रानी की प्यास शान्त की । रानी को इसमें तनिक भी घिन न हुई और न कुछ फिक्क भी हुई । थोड़ा रास्ता और काटा तो रानी को भूख लग आई । रानी ने फिर अपनी मांग राजा के समक्ष प्रस्तुत की । राजा ने इधर-उधर दौड़-भाग भी की, पर कुछ भी न मिला । रानी से चला नहीं गया । वह एक वृक्ष के नीचे बैठ गई । राजा से उसकी वह कष्ट दशा भी देखी नहीं गई । उसने अपनी जघा को चीरा और मांस रानी के हाथ में धर दिया । रानी बिना किसी हिचकिचाहट के उसे खा गई ।

बहुत लम्बा जंगल पार करके एक नगर में पहुँचे । राजा ने रानी के गहने बेच दिए और उस थोड़ी-सी पूँजी से आवश्यक सामान भी जुटाया तथा एक छोटा-सा मकान भी किराए पर ले लिया । दोनों वहाँ रहने लगे । एक दिन राजा नौकरी की तलाश में निकला । एक सेठ से उसका साक्षात्कार हुआ । सेठ ने राजा के गत जीवन का परिचय चाहा तो उसने यह कह कर कि मैं एक मनुष्य हूँ और नौकरी की तलाश में हूँ, बात टाल दी । मेरे काम में कहीं त्रुटि रहे तो आप मुझे चाहे जिस क्षण हटा सकते हैं । सेठ को जितशत्रु शालीन-सा लगा, अतः अपने यहाँ रख लिया ।

दिन बीते, महीने बीते और इस तरह जितशत्रु और सुकुमाला एक सामान्य नागरिक के रूप में अपना जीवन बिताने लगे । एक दिन अबसर पाकर सुकुमाला ने जितशत्रु से कहा—राजप्रसाद में दिन बहुत ही आनन्द से कटते थे । वहाँ तो आप भी दिन भर मेरे पास रहते थे । दास-दासियों से मैं घिरी रहती थी । जी बहलाने के लिए और भी अनेक साधन थे, किन्तु यहाँ तो कुछ भी नहीं है । दिन भर अकेली बैठी रहती हूँ । आप तो सुबह जाते हैं और रात को दस बजे के बाद

लौटते हैं। बैठी-बैठी उकता जाती है। किसी प्रकार के मनोरजन का यदि आप प्रबन्ध कर सकें तो बहुत सुन्दर हो।

जितशत्रु एक दिन दुकान से घर लौट रहा था। रास्ते में एक गवैये की तान सुनी। बड़ी मधुर थी। हजारों व्यक्ति सुनने के लिए एकत्रित हो रहे थे। वह पगु था। गायन विद्या में ही अपना भरण-पोषण करता था। सबको पर वह अपनी मधुर स्वर लहरी छोड़ता और श्रोता प्रसन्न होकर जो कुछ उसे दे देते, वह ले लेता और उसी से अपना जीवन-निर्वाह करता। जितशत्रु ने उसे अपने घर चलने व वही रहकर सुकुमाला का प्रतिदिन मनोरजन करने के लिए कहा तो उसने सहर्ष स्वीकार कर लिया। सुकुमाला ने भी उस गवैये से अपने मन की साध पूरी की। जितशत्रु सबेरा होते ही अपने काम पर चला जाता और सुकुमाला अपने घर के कामों से निवृत्त होकर दिनभर उस पगु गवैये से गाने सुनती।

जितशत्रु की क्रमशः स्थिति सुधरने लगी। उसकी आय में से कुछ बचने लगा, जिसे वह अपने भावी जीवन के लिए मगृहीत करने लगा। सुकुमाला और गवैये के दिन भर के एकान्तवास से विकृति भी आरम्भ होने लगी। गवैये के मधुर स्वर पर सुकुमाला मुग्ध बनी और क्रमशः वह मुग्धता दोनों के अनुचित सम्बन्ध में भी परिणत हो गई। सुकुमाला का हृदय जितशत्रु से हटकर उस पगु के चरणों में समर्पित हो गया। वह उसे ही अपना सर्वस्व मानने लगी। एक दिन पगु ने सुकुमाला से कहा—‘हमारा हृदय पूर्णतः एक बन चुका है। जितशत्रु को यदि इसका कहीं सन्देह भी हो गया तो दोनों ही मारे जाएंगे। अच्छा हो पहले ही इसका कोई समुचित प्रतिवाद कर दिया जाए।’ सुकुमाला को यह बात अच्छी लगी। उसने कहा—‘मुझे भी यह चुभन-सी प्रतीत हो रही थी। मैं इस बारे में सावधान हूँ और मौका पाते ही इस काटे को उखाड़ फेंकूंगी।’

महीने बदले और ऋतु भी बदली। शीत से शिशिर आ गया। फाल्गुन का महीना था। जितशत्रु और सुकुमाला दोनों ही प्रसन्नमुद्रा में बैठे थे। सुकुमाला ने प्रस्ताव रखा—‘राजन् ! जल-क्रीडा के लिए मन अकुला रहा है। राजमहल छोड़ने के बाद एक बार भी यह आनन्द नहीं लिया। क्या ही अच्छा हो हम समीपवर्ती नदी में आज ही चले और यह आनन्द लूटें।’

सुकुमाला का प्रस्ताव जितशत्रु टाल न सका। दोनों ही नदी के तट पर पहुँचे। पगु गवैया घर पर रहा। कटिपर्यन्त जल में दोनों चले गए। थोड़ी देर वहाँ क्रीडा करते रहे। सुकुमाला ने कहा—‘जी भरा नहीं। यहाँ पानी थोड़ा है। कुछ आगे चलें। तैरने का अभ्यास भी करेंगे और आनन्द भी लूटेंगे। प्रतिदिन इस प्रकार आमोद-प्रमोद के लिए समय निकाला नहीं जा सकता। जितशत्रु को यह बात भा गई। उसने निष्कपट भाव से आगे चलना स्वीकार कर लिया। दोनों आगे चले। पानी का बहाव काफी तेज था। गले तक के पानी में दोनों चले गए। सुकुमाला

वही रुक गई और राजा के साथ क्रीडा करने लगी। जितशत्रु की रानी पर अब भी वही आसक्ति थी, जो महलो में थी। वह उसे अपनी समझ रहा था, अतः उसके आमोद-प्रमोद को बढ़ाने में वह अपना ही आनन्द समझता था। उसने भी बड़े अनु-राग से कहा—‘मुझे हार्दिक वेदना है कि मैं तेरे मनोभावों को पूर्णतया सफल नहीं कर सकता। प्रतिदिन सोलह-सतरह घण्टे मालिक के पास रहना पड़ता है और कड़ा श्रम करना पड़ता है। तेरे पास तो केवल सात-आठ घण्टे ही रह पाता हूँ। आज का यह छुट्टी का दिन तेरे लिए ही है। जो तू चाहे मैं करने को प्रस्तुत हूँ।’ राजा ने सुकुमाला को अपनी बाहों में भीड़ लिया और जल-क्रीडा में मग्न हो गया।

सुकुमाला कुछ और ही सोच रही थी। वह राजा के प्रति अपनी भावनाएँ तो व्यक्त कर रही थी, पर उनमें उसका हृदय नहीं था। उसकी आँखों के सामने तो राजा का शरीर था, किन्तु मन में उसी पगु का चित्र-पट था, जिसे वह अपने भावी जीवन का सुनहरा स्वप्न समझ रही थी। कुछ देर जितशत्रु के साथ उसी तरह क्रीडा करती रही। जब उसने सावधानी पूर्वक देखा कि राजा मेरे पर सब कुछ न्योछावर किए हुए अपने को भी भूल रहा है, उसने अवसर पाकर जोर से धक्का दिया और वह बहती के पूर चला गया। सुकुमाला हर्ष से फूली नहीं समा रही थी। वह तट पर आई। कपड़े बदले और अपने वास-स्थान की ओर चल दी। उसके पैर धरती पर टिक नहीं रहे थे। अतिशीघ्र ही अपने प्रिय के पास पहुँची और अपना सारा कौशल उसके समक्ष बधारा। दोनों ने ही अनुभव किया—कण्टक दूर हो गया। अब चुभन न रहेगी। यथेच्छित करने का मौका मिल जाएगा।

जितशत्रु ज्यों ही नदी में गिरा और सम्भला। उसके सामने सुकुमाला का सारा चित्र व चरित्र आ गया। उसे सन्देह ही नहीं, पूर्णतः विश्वास हो गया, वह जल-क्रीडा आमोद-प्रमोद के लिए नहीं, अपितु मेरा जीवन लेने के लिए सकल्प-पूर्वक षड्यंत्र था। उसके मन में सुकुमाला के प्रति ग्लानि भी हुई, किन्तु उससे भी अधिक उसे अपने विवेक के प्रति घृणा हुई। उसके आन्तरिक नेत्रों के समक्ष गत जीवन का सारा लेखा-जोखा आ गया, जिसमें उसे सुकुमाला के प्रति आसक्ति होने से ही राजा से भिखारी बनना पड़ा, अपना वैभव, साम्राज्य, सारी सुख-सुविधाएँ और यश को लुटा देना पड़ा। इस एक क्षण की घटना ने उसके जीवन को नया मोड़ दे दिया। सुकुमाला के प्रति एक बार की उत्पन्न प्रतिशोध-भावना ने करवट ली और उसने माना कि मेरे जीवन का यह सबसे महत्वपूर्ण और उच्चतम क्षण है, जब कि ऐसे बुरे व्यक्ति का ससर्ग, जिससे भवन्ति ही भवन्ति थी, सदा के लिए स्वतः ही छूट गया। राजा तैरना जानता था और साथ ही उसे नदी में बहता हुआ एक काष्ठ-खण्ड हाथ लग गया। बहुत दूर जाकर क्रमशः वह तट के समीप पहुँचा और एक वृक्ष के नीचे बैठकर विश्राम करने लगा। सामने ही थोड़ी दूर पर एक बड़ा नगर भी दिखाई दे रहा था। नदी और नगर के बीच में व वृक्ष के नीचे बैठा हुआ

जितशत्रु अपने भावी जीवन की कल्पनाएँ कर रहा था। उसका अब कोई सहयोगी भी नहीं था तो कोई विघ्नकर्त्ता भी नहीं था। उसे किसी प्रकार के सुख की भी अनुभूति नहीं थी तो दुःख की अनुभूति भी नहीं थी। वह न मुक्त था और न अमुक्त। वह पृथ्वी की गोद में बैठा था और अनन्त आकाश उसके सामने था। आखें खुली थी, विचार अवरोध थे। न स्तब्धता थी और न व्यग्रता। भविष्य का कोई भी आकार स्पष्ट नहीं हो रहा था, किन्तु वह उसके लिए तिलमिला भी नहीं रहा था। सुकुमाला का सग झूट जाने का उसे अत्यन्त हर्ष था, पर साथ ही भविष्य की अनिश्चितता का उसे शोक भी नहीं था। वह शरीर से मनुष्य लगता था, किन्तु अपने चिन्तन के आधार पर वह उस समय उस सतह से ऊपर उठा हुआ-सा प्रतीत हो रहा था। वह अपना गन्तव्य पथ निश्चित करना चाहता था, लेकिन उस समय उसकी प्रज्ञा कुण्ठित-सी हो रही थी।

एक झुलूस के रूप में मानव-समुदाय जितशत्रु की ओर आ रहा था। आगे-आगे एक सुसज्जित हथिनी चल रही थी, जिसकी सूँड में फूलमाला रखी हुई थी। राजा ने सोचा, नदी-विहार के लिए जन-समुदाय आ रहा होगा। उसने अपने सुख में व्याघात समझ वह स्थान छोड़ दिया और बहुत दूर एक वृक्ष के नीचे जाकर बैठ गया। सारा मानव-समुदाय भी उसी ओर मुड़ गया और अति सन्निकट पहुँच गया। हथिनी की गति तेज हुई। वह जितशत्रु के पास पहुँची और फूलमाला उसके गले में पहना दी। जनता ने जयघोष किया, मन्त्रियों ने हमारे 'राजाधिराज' कहकर वर्धापन किया। हथिनी ने अपनी सूँड से उसे उठाया और अपनी पीठ पर सजे हुए सिंहासन पर बिठा लिया। जितशत्रु समझ नहीं पाया यह क्या हो रहा है? उसे स्वप्न भी नहीं लगा और यथार्थ भी समझ नहीं पाया। मन्त्री आगे बढ़े और उन्होंने अपने देश की वर्तमान परिस्थिति का परिचय देते हुए राजा का नाम बताया और कहा—हमारे राजा काल-वर्म को प्राप्त हो गए हैं। उनके पीछे कोई युवराज नहीं है। राज्य-परम्परा के अनुसार हमने हथिनी को सुसज्जित कर सारा भार सौंपा और उमने हमें आप जैसे महाराजा प्रदान किए।

जितशत्रु से जब अपना परिचय पूछा गया तो उसने कहा—मैं राजा था और अब भी बन गया।

मन्त्री ने पूछा—बीच के समय में?

जितशत्रु—एक मनुष्य।

राजा के पीछे राजा को पाकर सभी को अपार प्रसन्नता हुई। जितशत्रु राज्य-प्रासाद में आया, उसका अभिषेक किया गया और वह विधिवत् राज्य का सञ्चालन करने लगा। उसकी किसी व्यक्ति में आसक्ति नहीं रही, मन्त्रियों ने विवाह-प्रस्ताव रखा तो जितशत्रु ने उसे सर्वथा ठुकरा दिया। वह अपनी पूर्व परिणीता रानी के पास को भूल नहीं पाया था।

सुकुमाला पगु गवैये के साथ अपना जीवन बिताने लगी। कुछ धन जितसत्रु द्वारा सङ्गृहीत था, अतः किसी बात की चिन्ता न हुई। किन्तु जब धनाभाव सताने लगा तो दोनों ही के चार-चार आखे हो गई। पहले एक जितसत्रु कमाता था और तीन प्राणी खाने वाले थे। अब दो खाने वाले हैं और कमाने वाला कोई भी नहीं। दोनों को ही चिन्ता सताने लगी। पगु सुकुमाला को कहता, तू धन कमा कर ला। मैं तो चलने-फिरने में असमर्थ हूँ। सुकुमाला कहती, तुम जाओ। मैं तो अबला हूँ। भला नारी भी कभी क्या कमाने के लिए जाती है? यह तो पुरुषों का ही काम है और तुम्हें ही करना होगा। कुछ दिन फिर इसी तरह बीत गए। दरिद्रता बुरी तरह सताने लगी। दोनों ने सोचकर मध्यम मार्ग निकाला। गवैये ने कहा—‘मैं गाऊंगा और धन बरसेगा। तुम मुझे अपनी पीठ पर बैठाये ले चलो।’ आखिर हारकर सुकुमाला को वह प्रस्ताव स्वीकार करना पड़ा।

एक स्थान से दूसरे स्थान, एक नगर, से दूसरे नगर दोनों घूमते और जो कुछ जनता दे देती, उसीसे अपना जीवन बिताते। गवैये की मीठी तान से काफी जनता आकृष्ट होती थी। बीच-बीच में रानी अपनी कल्पित आप बीती सुनाकर श्रोताओं को करुणाशील बना देती। वह कहती—‘मैं पतिभक्ता महिला हूँ। मेरे मा-बाप ने मेरे भविष्य को कुछ भी नहीं विचारा। इस पगु पुरुष के साथ मेरा विवाह-संस्कार कर दिया। अब मैं अपना यह परम कर्तव्य समझती हूँ और इसीलिए इनकी सेवा में रात-दिन तत्पर रहती हूँ। मेरा जीवन आप सबके हाथ में है। चाहे इस नौका को मरुभार में डुबाएँ और चाहे तो पार लगाएँ।’ इस करुण पुकार पर पत्थर हृदय भी पिघल जाते और कुछ न कुछ अपनी जेब से निकालते और उन दोनों की भोली में डालते।

सुकुमाला और पगु गवैया एक दिन इसी तरह भटकते हुए राजा जितसत्रु की नगरी में भी पहुँच गए। गवैये की स्वर-लहरी की प्रशंसा विद्युत्वेग से सारे नगर में फैल गई। राजा के पास भी यह सबाद पहुँचा। राजा ने अपने अनुचर भेजे और उन दोनों को अपने महलो में बुला लिया। दोनों को ही बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने सोचा—‘राजा की कृपा हो गई है। अब जीवन भर का दारिद्र्य दूर हो जाएगा। राजा हमें भरपूर धन देगा, आशीर्वाद देगा और फिर किसी प्रकार का कष्ट नहीं रहेगा।’ बड़ी खुशी के साथ दोनों राज्य-सभा में पहुँचे। गवैये ने अपने पूरे मनोयोग से तान आरम्भ की। उसके जीवन का आज यह पहला दिन था, जिसमें उसने अपनी समस्त शक्ति को गायन कला में उडेल दिया था। श्रोता झूम उठे। वाह-वाह के कहकहे से सभा-मण्डप गुंजित हो उठा। जब उसने अपना एक गाना समाप्त किया तो चारों ओर से ‘और और’ की आवाजें आने लगीं। गवैये ने भी समा बान्ध दिया। एक पर एक मधुर और शास्त्रीय रागे छेड़ी। उसे अपना भविष्य बहुत ही सुनहरा प्रतीत होने लगा। गायन समाप्त हुआ और सुकुमाला का भाषण आरम्भ हुआ। उसने

अपनी वह कल्पित आप बीती बखानी । श्रोताओं के नेत्र डबडबा आए । हृदय करुणा से भर गया और सहानुभूति से मारे ही कुछ न कुछ सहयोग करने के लिए प्रेरित हो उठे । जब सारे ही व्यक्ति अपनी-अपनी जेबें टटोलने लगे तो राजा ने सुकुमाला से एक प्रश्न पूछ लिया—‘तेरा एक पति वह भी तो था, जिसने अपने रक्त और मांस से तेरी प्यास और भूख शान्त की थी और तूने उसे जल-झीड़ा के व्याज से नदी के तेज प्रवाह में लेजाकर धक्का दे दिया था ।’ सुकुमाला को काटो तो खून नहीं । वह तो निस्तब्ध-सी राजा की ओर ही देखती रही । उसने तो सोच रखा था, जितशत्रु तो नदी में ही समा गए होंगे । पर जब राजा को गौर से निहारता तो उसे लगा, उसके पति जितशत्रु तो ये ही हैं । उसको अपने पैरो तले की भूमि खिसकती-सी नजर आई । वह अब रोने-चिल्लाने लगी और अपने इस जघन्यतम अपराध की क्षमा राजा से मागने लगी । श्रोताओं के मन में गायन सुनकर जहां हर्ष हुआ था, सुकुमाला के आत्म-निवेदन से करुणा जगी थी, वहां राजा के मुख से यह अनहोना बात सुनकर गर्वये और सुकुमाला के प्रति हृदय घृणा से भर गया । राजा ने कहा—‘बहुत कड़ा दण्ड देता, पर तू स्त्री ठहरी, अतः यही मैं पर्याप्त मानता हूँ, तुम दोनों को मेरे देश से निकाल दिया जाए और भविष्य में फिर कभी मेरे किसी भी ग्राम या नगर में न आओ । यदि आ गए तो मृत्यु-दण्ड ।’



परिग्रहोनर्थमूलकारणम्

दो भाई कमाने के लिए अपने गाव से चले। बहुत दूर प्रान्त में निकल गये। कड़ी मेहनत की, जिसके परिणाम स्वरूप अच्छी कमाई हुई। दोनों ही भाइयों में अगाध प्रेम था। बहुत दिन वहां रहे। एक दिन घर की याद आ गई, अतः दोनों घर की ओर चल दिये। रुपये थैली में भर कर कमर पर बान्ध लिये।

रास्ते में उन्होंने नौका में बैठकर एक नदी को पार किया। छोटा भाई नींद में सो रहा था। बड़ा भाई जग रहा था। उसके मन में आया—घर जाते ही धन का बटवारा हो जायेगा। मेरे हिस्से में आधा धन ही आयेगा। क्या ही अच्छा हो यदि मैं छोटे भाई को परमधाम पहुँचा दूँ। सारा धन मेरे ही हाथ लग जायेगा। वह भाई की हत्या करने को तत्पर भी हो गया, किन्तु अचानक उसका हृदय बदल गया। धन से भाई का प्रेम उसे महत्त्वपूर्ण प्रतीत हुआ। ग्लानि से दिल भर गया। उसने थैली उठाई और यह कहते हुए कि वह धन मेरे किस काम का जो भाई की हत्या के लिए प्रेरित करता हो, नदी में डाल दी। थैली के गिरते ही आवाज हुई तो भाई चौक कर खड़ा हुआ और पूछ बैठा—‘क्या हुआ?’ बड़े भाई ने झट उत्तर दिया—‘भ्रातृ-प्रेम की धन पर विजय। मैंने थैली नदी में बहा दी।’

छोटा भाई—बड़े परिश्रम से कमाया था ?

बड़ा भाई—यदि ऐसा न होता तो जीवन पर भ्रातृ-हत्या का कलक जो लगता।

छोटा भाई—मेरे मन में भी ऐसा ही विचार आया था। आपने अच्छा किया, जो अनर्थ होते हुए बच गया।

धन खोकर भी दोनों भाई प्रसन्नता के साथ घर लौटे। बुढ़ी माँ व सारे ही पारिवारिकों से मिले। सबको ही बड़ी खुशी हुई। बहिन भी भाइयों से मिलने आई। वह भोजन बनाने के लिए बैठी। मन में बड़ी उमंग थी। उसने एक मछली को चीरा तो उसके पेट से रुपये से भरी एक थैली थाली में गिरी। आवाज भी हुई। पास में सोई हुई बुढ़ी माँ ने वह आवाज सुनी तो चौक पड़ी। पूछ बैठी—‘बेटी ! यह आवाज कौसी हुई ?’

थाली में चाकू गिर गया था मा—बेटी ने कहा ।

नहीं, यह तो रुपये की आवाज थी—मा ने कहा । वह धीरे-धीरे खिसकती हुई बेटी के पास आने लगी । बेटी ने 'आव देखा न ताव' रुपये हज़म करने की अभिलाषा से मा के सिर में मूसलकी दे मारी । वह वहाँ से बाहर दौड़ी । मा के मुँह से एक चीख निकली और उसके साथ ही वह शान्त हो गई । बाहर बैठे हुए दोनों भाइयों ने मा की चीख सुनी और बहन को बाहर भागते हुए देखा तो दौड़कर आए । एक ने मा को सम्भाला और दूसरे ने बहन को पकड़ा । बहन से सारी बात पूछी गई तो उसने कहा—मा मेरे पर झूठा आरोप लगा रही थी कि मैं रुपये चुरा रही हूँ । मेरे से यह सहन नहीं हो सका, अतः गुस्से में दे मारा ।

भाइयों ने बहन की तलाशी ली । उसके पास वह थैली निकली, जिस पर दोनों भाइयों के हस्ताक्षर थे । दोनों ही भाई बोल पड़े—परिग्रहो नर्थमूलकारणम् । वहाँ यदि अनर्थ से बच गए तो घर आने पर हो गया ।



सन्त और धोबी

एक उग्र तपस्वी सन्त अपनी शान्त गति से जा रहे थे। शरीर बहुत दुर्बल था। एक-एक पसली और हड्डी अलग-अलग दीख रही थी। कड़ी धूप के कारण शरीर से पसीना चू रहा था। उनके तप प्रभाव से एक यक्ष भी प्रतिक्षण उनकी सेवा में रहता था। मुनि अपने मौन भाव व सयत गति से चले जा रहे थे। सामने से एक धोबी आ रहा था। सिर पर कपडों की गठरी थी। सयोगवश मुनि और धोबी की टक्कर हो गई। मुनि गिर पड़े। गिरते ही वे गुस्से में भर गये और अपना विवेक खो बैठे। धोबी को डाटने-फटकारने लगे। धोबी को भी गुस्सा आ गया। उसने दो-चार गालिया भी दे मारी। मुनि से यह सब सहन नहीं हो सका। शुद्ध व्यक्ति का तपस्वी के साथ इस तरह का व्यवहार शास्त्रानुकूल कैसे हो सकता है, अत उचित दण्ड भी मिलना चाहिए। इस अभिप्राय से प्रेरित होकर मुनि ने मार-पीट भी शुरू कर दी। मुनि दुर्बल थे और वह हृष्ट-पुष्ट, अत मुनि उसे क्या शिक्षा दे सकते थे। धोबी ने अपनी तयारिया चढाते हुए कहा—इतनी देर तो मैं यह सोच रहा था कि तपस्वी के साथ कुछ मर्यादा से ही काम लेना चाहिए, पर तेरे जैसे व्यक्ति तो तप की ओट में चण्डाल है। मैं यह कभी सहन नहीं कर सकता। उसने कसकर दो-चार चाटे व मुक्के जमा दिये। दुर्बल मुनि घराशायी हो गये। उठ न सके और न कुछ बोलने की भी उनमें शक्ति रही। धूसे और मुक्के चलाना तो जैसे कि वे झूल ही गये। अच्छी तरह मरम्मत कर धोबी ने अपनी राह ली।

परिणाम की अवहेलना कर बढ़ाया गया कदम दुःखद ही होता है, फिर भी अज्ञानवश कई बार मनुष्य ऐसा कर ही बैठता है। मुनि अपने आज्ञा में थे, किन्तु जब उन्होंने उसे छोड़ दिया, तप भी भग हुआ और पछताना भी पडा। धोबी देर वहीं सिसकते रहे। फिर उठे और अपनी शक्ति बटोर कर चल दिये। एक बार प्रतिशोध की भावना भी जाग्रत हुई, किन्तु जब चिन्तन में अन्तर्मुखता आई, धोबी के प्रति रोष शान्त हुआ और अपनी त्रुटि का उन्हें भान हुआ। मन ग्लानि से भर गया। कुछ देर बाद ही यक्ष आया। उसने मुनि को नमस्कार किया। मुनि ने कातरभाव से उसे पूछा—देवानुग्रिय ! इतनी देर कहा चला गया था ?

यक्ष ने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया—भगवन् ! एक धोबी और चण्डाल की लड़ाई देख रहा था।

मुनि शरमा गये और नीची दृष्टि डालते हुए अपने गन्तव्य की ओर चल पड़े।

कुलपुत्र

वचन में बहुत बड़ी शक्ति होती है। वह प्रयोक्ता द्वारा विध्वंसक व निर्माता दोनों रूपों में बदल जाता है। यह सब कुछ बोलने वाले पर ही निर्भर करता है। कुलपुत्र एक क्षत्रिय कुमार था। उसके बड़े भाई की किसी ने निर्मम हत्या कर दी और हत्यारा भागने में सफल हो गया। कुलपुत्र की माँ उसके सामने विलापात कर रही थी। कुलपुत्र के मन में भी भाई की मृत्यु का बहुत दुःख था, किन्तु वह क्या करे, इसी उधेड़बुन में था। माँ ने कुलपुत्र को ललकारते हुए कहा—तेरा बड़ा भाई मारा गया और तू गीदड़ की तरह घर में बैठा है। क्षत्रिय वह होता है जो शत्रु को पकड़ कर उससे अच्छी तरह बदला लेता है। तेरे से यदि कुछ भी न बन पड़ता हो तो तलवार मुझे दे। मैं एक क्षत्रियाणी का पौरुष दिखलाती हूँ।

कुलपुत्र भाई के वियोग से दुःखित तो था ही और माँ की जब उसने ललकार सुनी तो उसकी भुजाएँ फड़क उठीं। आँखों में खून उतर आया। होठ डसने लगा और तलवार लेकर गर्जता हुआ चल पड़ा कि जब तक भाई की हत्या का प्रति-शोध न ले लूँगा, माँ ! तुझे मुह नहीं दिखाऊँगा और तेरे सामने उस शत्रु की हत्या करूँगा।

प्रतिज्ञाबद्ध होकर कुलपुत्र घर से निकल पड़ा। शहरो, नगरो, कस्बो, जंगलो, पर्वतो व कन्दराओं का उसने चप्पा-चप्पा छान डाला, पर उसे अपने भाई का हत्यारा नहीं मिला। इस प्रकार भटकते हुए बारह वर्ष बीत गए। न उसको खाने की सुध थी, न विश्राम की और न किसी से बातचीत करने की। वह तो एक निष्ठा से शत्रु के पीछे दीवाना हो रहा था। जब तक वह उसे हाथ नहीं लग जाता, एक क्षण का भी चैन उसे कैसे मिल सकता था। रात और दिन इसी तरह घूमते हुए एक दिन वह शत्रु उसे मिल गया। उसे देखते ही कुलपुत्र का रोष उभर आया और बाज जैसे चिड़िया को दबोच लेता है, वैसे ही उसने शत्रु को पकड़ लिया और पिंजरे में डाल लिया। उछलता-कूदता हुआ घर आया और माँ से बोला—अब थपथपाओ मेरी पीठ। शत्रु को ले आया हूँ। अब केवल इसे परमधाम पहुँचाने की ही देर है।

हत्यारे की आत्मा काप उठी। मरने से कौन नहीं भय खाता ? वह कुलपुत्र

के पैरो गिरने लगा, गिड-गिडाने लगा और अपने अपराध के लिए बार-बार क्षमा मागने लगा । किन्तु कुलपुत्र उसे कब छोड़ने वाला था । इतने समय से प्रतीक्षा की जा रही थी । हत्यारे को अपने बचाव का कोई भी मार्ग दृष्टिगत नहीं हो रहा था । कुलपुत्र ने उसे पिंजरे से मारने के लिए बाहर निकाल लिया और तलवार चलाने के लिए कटिबद्ध हो गया । हत्यारे ने जमीन पर पड़ा एक तिनका मुंह में डाल लिया । तलवार ज्यों ही उसकी गर्दन पर पड़ने लगी, मा ने कुलपुत्र का हाथ पकड़ लिया और और बोली—बेटा ! क्षमा करो । अब यह अबध्य हो गया है ।

कुलपुत्र—(आश्चर्य के साथ) मा ! यह कैसे हो सकता है ? इतने कष्ट भेलने के बाद जबकि प्रतिज्ञा पूरी होने को आई है और तू मुझे शान्ति का उपदेश दे रही है ? भाई का हत्यारा अबध्य कैसे हो सकता है ? मा ! मुझे मत रोको । दुष्टता का फल चखाने दो ।

मा—नहीं बेटा ! मारने वाला बड़ा नहीं होता, क्षमा देने वाला बड़ा होता है । जो कुछ भी हो, अब तुझे इसको माफ करना होगा । देख, इसने अपने मुंह में तृण ले लिया है । इस तरह समर्पण करने वाले को क्षत्रिय कभी नहीं मारा करता ।

मा के एक वाक्य ने कुलपुत्र का हृदय बदल दिया । वह उससे गले मिला और उसका सारा अपराध माफ कर दिया । दोनों भाई बन गए ।

चण्डकौशिक

भगवान् श्री महावीर ग्रामानुग्राम विहरण करते हुए एक दिन श्वेताम्बिका नगरी की ओर पधार रहे थे। जिम मार्ग से वे प्रस्थान कर रहे थे, कुछ व्यक्तियों ने उस ओर जाते हुए उन्हें यह कहकर रोका कि इसी मार्ग पर भयकर आशीविष चण्डकौशिक सर्प रहता है। वह पलक मारते ही व्यक्ति को घराशायी कर देता है। मैकडो व्यक्ति उसके शिकार हो चुके हैं। अब यह मार्ग भी निषिद्ध मार्ग के नाम से आसपास प्रसिद्धि पा चुका है। अतः हे श्रमण ! इस पथ से न जाओ। इसी में तुम्हारा भला है।

भगवान् श्री महावीर जिस दिन से श्रमण बने थे, व्युत्सृष्टकाय होकर तप प्रधान साधना कर रहे थे। आते उपसर्ग से भीत होकर पथ न बदलने की उनकी अपनी प्रतिज्ञा थी, अतः उन्होंने उन व्यक्तियों का कथन सुना अवश्य, पर उससे प्रभावित होकर अपना मार्ग न बदला। वे उसी राह से और उसी समयनिष्ठ गति से चलते रहे। जब कुछ दूर पधारे, उसी चण्डकौशिक सर्प की बाबी आ गई। सर्प भी बाहर ही बैठा था। उसने भी कुछ दूरी पर ही भगवान् श्री महावीर को पधारते हुए देखा। उसे भी बड़ा आश्चर्य हुआ। बहुत दिनों बाद उस मार्ग से किसी मनुष्य का आगमन हुआ था। सर्प ने सूर्य की ओर देखा तथा अपने भयकर विष की ज्वाला महावीर स्वामी पर छोड़ी। भगवान् ध्यानस्थ खड़े हो गए। उसकी विष-ज्वाला का उन पर कोई प्रभाव नहीं हुआ। वे वैसे ही अविचल ध्यान में तल्लीन खड़े रहे। अपने अचूक विष का भी जब उन पर कोई प्रभाव न हुआ तो सर्प और अधिक आग-बबूला हो गया। वह वहां से चला और निकट आकर उसने भगवान् के पैर के अंगूठे को डसा। फिर भी उसके जहर का उनके शरीर पर कोई प्रभाव न हुआ। वह उनके शरीर पर चढ़ा और फिर उसने उनके कन्धों को डसा। जहर का तब भी कोई प्रभाव न पड़ा। भगवान् श्री महावीर उसी तरह अडोल ध्यान मुद्रा में लीन रहे। उसे उनका रुधिर बहुत सुस्वादु लगा। वह उसे पीने लगा। साथ ही साथ उसके हृदय में यह कौतूहलपूर्वक जिज्ञासा भी हुई कि आखिर क्या कारण है कि मेरे विष का इन पर कोई असर न हुआ? विचारमग्न होते ही उसे आतिस्मरण ज्ञान मिला। उसने उसके बल पर जाना, ये तो चौबीसवे

तीर्थंकर भगवान् श्री महावीर हैं। मैंने तो यह आशातना कर घोर अपराध कर डाला। वह उनके शरीर से नीचे उतरा, उनके चरणों में लौटने लगा और अपने इस दुष्कृत्य, इस जीवन के दुष्कृत्य व पूर्वभव के क्रोध-जनित दुष्कृत्यों का स्मरण, उनकी आलोचना व गर्हा करता हुआ, अपनी उसी बाबी में जाकर शरीर की ममता को छोड़ कर अनशनपूर्वक रहने लगा। उसने मनुष्यों को डसना छोड़ दिया, अन्य छोटे-बड़े जीव-जन्तुओं को सतांना छोड़ दिया और अपने शरीर की सार-सम्भाल को भी सर्वथा छोड़ दिया। आत्म-भाव से रमण करता हुआ रहने लगा।

निषेध करते हुए भी जब भगवान् श्री महावीर को उसी मार्ग से प्रस्थान करते हुए लोगो ने देखा तो उन्हें बहुत आश्चर्य हुआ। कुछ व्यक्ति अति दूर उनके पीछे भी हो गए। जब उन व्यक्तियों ने सर्प की उपरोक्त सारी घटना देखी तो उनके भी आश्चर्य का ठिकाना न रहा। भयकर विषघर का इस प्रकार शान्त हो जाना सचमुच ही एक अनोखी घटना थी। लोगो ने वापस आकर अपने गांव में व आसपास के अन्य गांवों में भी यह उदन्त सुनाया और चण्डकौशिक सर्प अब अपना विष छोड़कर शान्त हो गया है, यह प्रसिद्ध कर दिया। जनता में इससे हर्ष की लहर दौड़ गई। सर्पराज शान्त हो गया, इस बात से प्रेरित होकर सैकड़ों व्यक्ति उसकी पूजा व अर्चा के लिए वहां आने लगे। वे दूध, खाण्ड, मेवे-मिष्ठान्न आदि चढाने लगे। उपहृत पदार्थों की गंध से आकृष्ट होकर वहां बहुत सारी चींटियां जमा हो गईं और सर्प के शरीर को चूटने लगीं। चण्डकौशिक को इससे अपार वेदना हुई। उस समय भी उसने भगवान् श्री महावीर का तितिक्षा-आदर्श रखा। वह तिलमिलाया नहीं और न मन में भी क्रुद्ध हुआ। उसने न चींटियों को कोई आघात पहुंचाया और न स्वयं भी वहां से हटकर दूसरी जगह गया। वेदना को समभाव से सहन करता हुआ, शरीर का त्याग कर देव-योनि में उत्पन्न हुआ।

×

×

×

गुरु और शिष्य एक गांव से दूसरे गांव जा रहे थे। वर्षा ऋतु थी। कहीं-कहीं वर्षा हो चुकी थी, कहीं हो रही थी और कहीं होने वाली है, ऐसा प्रतीत हो रहा था। चारों ओर बादल मण्डरा रहे थे। स्थान-स्थान पर गड्ढों में पानी भर रहा था और मेढक टर-टर कर रहे थे। कहीं-कहीं पानी में से निकल कर छोटे-छोटे मेढक स्थल पर भी कूद-फाव कर रहे थे। गुरु और शिष्य दोनों जा रहे थे। गुरु आगे चल रहे थे और शिष्य पीछे-पीछे। अचानक गुरु के पैरों तले एक मेढक आ गया और वह मर गया। शिष्य ने गुरु को सावधान किया और प्रायश्चित्त लेने के लिए कहा। गुरु ने मुड़कर थोड़ा-सा चले की ओर देखा और उसे बिना कुछ कहे वे आगे चलने लगे। शिष्य ने सोचा मुझे अभी नहीं बोलना चाहिए था। जब गुरु स्थान पर पहुंच जाते तो नम्रता के साथ वन्दनापूर्वक निवेदन करना चाहिए था।

दोनों अपने स्थान पर पहुंच गए। शिष्य आया, नमस्कार किया और हाथ

जोड़कर उसने उसी घटना को दुहराया। गुरु ने एक बार कुछ रोषपूर्ण नेत्रों से उसकी ओर देखा और फिर अपने काम में लग गए। शिष्य ने फिर सोचा—मेरे निवेदन का यह समय भी उपयुक्त नहीं था। वस्तुतः तो सायंकाल प्रतिक्रमण के समय जब आलोचना की जाती है, तब ही मुझे प्रार्थना करनी चाहिए थी। वह नम्रता के साथ उठा और स्थान पर चला गया।

प्रतिक्रमण के मध्य आलोचना ग्रहण करने के लिए गुरु के समक्ष उपस्थित हुआ। उसने अपने द्वारा हुए दिवस सम्बन्धी किसी भी सदोष कार्य के लिए आलोचना की और साथ में गुरु से भी प्रार्थना की कि आज विहार में आपके पैरों से भी एक मेढक की हिंसा हो गई है, अतः आप भी उसकी आलोचना कर लें। गुरु से अब रहा न गया। वे आगे-बढ़कर हो उठे और अपना दण्ड लेकर शिष्य के पीछे झपटे। उसे पकड़ने को आतुर होकर, यह कहते हुए कि जरा ठहर तुझे बताऊँ, मेढक की हिंसा कैसे हुई है या कैसे होती है, उसके पीछे दौड़े। शिष्य आगे और गुरु पीछे, दोनों उपाश्रय में दौड़ने लगे। शिष्य अपने आपको गुरु से बचाने का प्रयत्न करता और गुरु शिष्य को पकड़ने का व मेढक की हिंसा का वास्तविक प्रायश्चित्त करने का। गुरु को इस तरह आवेश में देख कर शिष्य शीघ्रता से बचता हुआ चला और कहीं छिप गया। उपाश्रय में घना अन्धेरा था। खम्भे भी बहुत थे। गुरु आवेश के कारण अपने होश को भी भूल रहे थे और आगे-पीछे कुछ देख भी न पा रहे थे। अचानक एक खम्भे से टकरा गए और गिरते ही उनका प्राणान्त हो गया। उनकी वह आत्मा उस शरीर को छोड़कर सर्प की योनि में चण्डकौशिक के रूप में उत्पन्न हुई।



मुनि कूरगङ्गक

अमरपुर नाम का नगर था। वहा कुम्भ नामक राजा राज्य करता था। उसके ललिताग नामक राजकुमार था। वह बहुत ही सुकोमल और सुन्दर था। राजा, रानी और अन्य सभी लोगो का उस पर अतिशय प्यार था। एक बार धर्मघोष आचार्य अपने विशाल साधु-समुदाय के साथ नगर मे आये। उपदेशो की अमृत वर्षा होने लगी। राजा और रक सभी समान रूप से उपदेशामृत का पान करने लगे। सुकोमल भावना वाले ललितागकुमार पर भी आचार्य के हृदय-स्पर्शी उपदेशो का निरूपम प्रभाव पडा। उसे ससार निस्सार मालूम पडने लगा। राज्य, धन, यौवन सब नश्वर लगने लगे। वह साधु-दीक्षा अगीकार करने के लिए कटिबद्ध हो गया। माता-पिता ने बहुत प्रकार से उसे ससार मे ललचाना चाहा, पर वह अपने सकल्प पर अडिग रहा। उसके सत्कारो को समझकर अन्त मे माता-पिता ने भी उसे साधु होने की सहर्ष सम्मति दे दी।

ललिताग राजकुमार मुनि हो गया और धर्मघोष आचार्य के साथ विहार करने लगे। उन्होने इन्द्रिय-विजय का एक स्वतन्त्र मार्ग अपनाया। वे अपनी भिक्षा मे नाना सरस पदार्थो को छोडकर अग्नि सत्कारित कूर नामक नीरस धान्य लाते और प्रसन्नतापूर्वक भोजन करते। इस भोजन-व्रत के कारण अन्य साधु उन्हे कूरगङ्गक अर्थात् कूर के कवल भरने वाले, कहने लगे। निकेवल निराहार तपस्या उनके लिए अशक्य जैसी थी।

एक बार विमलाद्युत आचार्य राजगृही मे चतुर्मास करने के लिए आए। चतुर्मासिक चतुर्वंशी का पर्व आया। साधु-साध्वी और श्रावक-श्राविकाओ की महती परिषद् मे आचार्य ने तपस्या पर प्रभावशाली भाषण किया। श्रोताओ पर उसका निरूपम प्रभाव पडा। बडे-बडे तपस्वियो ने परिषद् मे खडे होकर चातुर्मासिक तप स्वीकार किया। कुछ एक ने मासिक तप आरम्भ किया तो कुछ एक ने अर्ध मासिक। इस प्रकार तपस्या की ऋढी लग गई। चतुर्वंशी का व्रत प्राय सभी लोगो के था। विचारे कूरगङ्गक मुनि पर बुरी बीत रही थी। व्रत करने का साहस उनमे नही था। मन ही मन सोचते थे, कब व्याख्यान पूरा हो और मैं भिक्षा के लिए जाऊ। आचार्य

इस चिन्तन में थे, आज तो लगभग सभी लोगों के उपवास है, व्याख्यान कितना ही लम्बा चलाया जाए, क्या हानि है ? कूरगङ्गक मुनि कुछ देर तो व्याख्यान समाप्त होने की प्रतीक्षा करते रहे, पर अन्त में जब देखा, व्याख्यान तो आगे से आगे लम्बा होता ही जा रहा है, भोली लेकर सबके ही बीच में आ खड़े हुए और विनम्र शब्दों में बोले—आचार्यवर ! मैं भिक्षा के लिए जाता हूँ, आज्ञा प्रदान करें। आचार्य को तपस्या के रसमग्ने इस वातावरण में भिक्षा की बात बहुत ही अमनोज्ञ लगी। वे बोले—कूरगङ्गक ! आज तो छोटे-छोटे बालकों ने भी उपवास किया है। तू तो सब प्रकार से समर्थ है, अतः तुझे भी उपवास करना चाहिए।

कूरगङ्गक—आचार्यवर ! आप मेरे ही कल्याण की बात कह रहे हैं, पर मैं अपने आपको अशक्य पाता हूँ।

आचार्य—यह सब बहाना मात्र है। राजघराने का होकर भी खाने में इतनी आसक्ति रखता है ? क्या तू ने खाने के लिए ही घर छोड़ा है ?

कूरगङ्गक—महामहिम ! मेरे लिए आपको कष्ट हो रहा है। मैं अशक्य हूँ, अपुण्य हूँ। जी तो चाहता है आपके शब्दों को मैं शिरोधार्य करूँ और एक साथ अनेक दिनों का उपवास ले लूँ, पर मेरी यह आत्मा बड़ी धीठ है। मुझे तपस्या नहीं करने देती। वे धन्य है, जिन्होंने आपके इंगित पर बड़ी-बड़ी तपस्याएँ ठान ली हैं।

आचार्य—तू तो केवल बातूनी ही रह गया है। यह चापलूसी मुझे अच्छी नहीं लगती। तनिक भी लज्जा है तो उपवास रख और ये भिक्षा के पात्र जहाँ थे, वहीं छोड़ दे।

कूरगङ्गक—अह ! कैसी दया है आपकी मेरे पर। आप ही मेरा कल्याण न चाहेंगे तो कौन चाहेगा, परन्तु बहुत देर हो रही है। गुरुवर ! मुझे भिक्षा की आज्ञा दे।

आचार्य—बड़ा धीठ और पेटभर है। जा ले आ पात्र भरकर कूर धान कहीं से और भरले अपना पेट।

कूरगङ्गक मुनि शान्त भाव से चुपचाप भिक्षा लेने चल पड़े। आचार्य की इस निर्हेतुक भर्त्सना पर जरा भी रज नहीं हुआ। यही मन में सोचते रहे—मेरे अच्छे के लिए ही तो कहते हैं। नहीं तो उन्हें इतना कहने की क्या पड़ी थी ?

श्रीडी ही देर में सदा की तरह नीरस कूर से पात्र भर लाए। आकर आचार्य को बताया। आचार्य का क्रोध अब तक भी शान्त नहीं हुआ था। आचार्य ने पात्र की ओर देखकर श्रुतकार किया। अन्य साधुओं की दृष्टि में कूरगङ्गक बहुत नीचे हो रहे थे। चारों ओर एक ही बात थी, गुरु का कहा मानकर उपवास कर लेते तो क्या प्राण थोड़े ही निकल जाते ? कूरगङ्गक मुनि एक ओर कक्ष में आये और धान्य पात्र सामने रखकर आत्म-चिन्तन करने लगे। उन्हें अपनी आत्मा के दोष दिख रहे थे। क्षमा की पराकाष्ठा थी और ध्यान की उज्ज्वलता थी।

इतने मे ही जैनधर्म की परम सेविका चक्रेश्वरी देवी आई । सबसे पूछने लगी—कूरगङ्गक मुनि कहा है ? अन्य साधु बोले—आचार्य के दर्शन करो । कूरगङ्गक मे क्या विशेषता है ? वह कहने लगी मुझे तो उन्ही के दर्शन करने है । सर्वदर्शी सर्वज्ञ सीमन्धर स्वामी ने मुझे बतलाया है—भरत क्षेत्र मे कूरगङ्गक मुनि को अभी केवलज्ञान होने वाला है और इसी आतुरता मे मैं उन्हे देखने आई हू । यह अनहोनी-सी बात सुनकर सभी साधु हँस पडे और कहने लगे—देवता भी कैसे भरमा जाते हे । सीमन्धरजी स्वामी क्या ऐसी बात कह सकते है ? देवी चट से चलकर कूरगङ्गक मुनि के सम्मुख आई । दर्शन किये । मुनिवर अपने ध्यान मे लीन थे । चार घाती कर्मों का नाश हुआ और कूरगङ्गक मुनि केवली हो गए । देव दुन्दुभी बजी, देवता और देवताओं के इन्द्र कैवल्य महोत्सव के लिए आए । आचार्य और अन्य मुनि अवाक् रह गए । आचार्य ने अपने आपको सम्भाला । आत्मालोचन किया । अपने क्रोध को धिक्कारा और उनकी क्षमा का मन मे अकन किया । भावो की शुद्धि हुई । तत्क्षण वे भी केवली हो गए । क्षमाशील शिष्य ने अपने साथ गुरु का भी कल्याण कर दिया । इसलिए क्षमा गरम धर्म है ।



भगवान् श्री महावीर और संगम

एक बार उग्र तपस्वी भगवान् श्री महावीर पेढाल ग्राम के उद्यान में पोलास नामक देवालय में एक रात्रि की प्रतिज्ञा ग्रहण कर कायोत्सर्ग कर रहे थे। इसी दिन इन्द्र ने अपनी सभा में भगवान् श्री महावीर के वीर्य व परिषह-सहिष्णुता की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए कहा— भरत क्षेत्र में ऐसा धीर पुरुष वर्तमान में कोई नहीं है। कोई भी शक्ति उन्हें अपने कायोत्सर्ग से विचलित नहीं कर सकती। देवों में इस प्रकरण से बड़ा हर्ष हुआ। इन्द्र के सामानिक^१ देव संगम को यह अच्छा नहीं लगा। उसने कहा—ऐसा कोई भी देहधारी नहीं हो सकता, जो देव-शक्ति के सामने नत कंधर न हो। उस देव ने इन्द्र के कथन को चुनौती देते हुए कहा—मैं उन्हें डिगा सकता हूँ। मेरी शक्ति के सामने उन्हें झुकना पड़ेगा।

इन्द्र—ऐसा न कभी हुआ और न कभी हो सकता है कि ध्यानस्थ तीर्थंकर किसी उग्रतम आघात या तर्जन से भी विचलित हो जाए।

संगम—यदि आप मेरे पर कोई कार्यवाही न करें तो मैं परीक्षा लेना चाहता हूँ।

इन्द्र असमजस में पड़ गया। यदि वह संगम को अनुमति देता है तो भगवान् पीडित होते हैं और यदि वह आदेश नहीं देता है तो उसके पूर्व कथन को इस रूप में चुनौती दी जा सकती है कि यह कथन सत्य के समीप नहीं है। इससे भगवान् की कष्ट-सहिष्णुता के प्रति सभी को सन्देह होने का भय जो था। न चाहते हुए भी इन्द्र को अनुमति प्रदान करनी पड़ी।

संगम स्वर्ग से चल कर पेढाल ग्राम में जहाँ भगवान् श्री महावीर थे, आया। उन्हें अनुकूल व प्रतिकूल उपसर्ग देने प्रारम्भ किए। वह बिना बनाए ही भगवान् का शिष्य बन गया। गाव में जाता और वहाँ लोगों से कहता—मेरे गुरु रात में चोरी करने के लिए आएंगे, अतः मैं संधि लगाने का मौका देख रहा हूँ। लोग बहुत क्रोधित होते।

१ सामानिक देव आद्य आदि में इन्द्र के बराबर होते हैं। केवल इनमें इन्द्रत्व नहीं होता। अन्य सभी बातें इन्द्र के समान होती हैं। इन्द्र के लिए सामानिक देव अमात्य, माता-पिता एवं गुरु आदि की तरह पूज्य होते हैं।

—तत्त्वार्थसिद्धिभाष्य अ० ४ सू० ४

भगवान् श्री महावीर और संगम]

[३६७

भगवान् के पास आते, भारते-पीटते व गालिया निकालते । कभी वह गाव से कोई वस्तु चुरा लाता और जब भगवान् ध्यानस्थ बैठे होते, उनके सम्मुख रख देता । ग्रामवासी आते और अपनी वस्तु को जब वहा देखते, उस तथाकथित चेले को पकड़ते । वह तुरन्त बोल उठता, मुझे क्यों भारते हो, मैंने तो मेरे गुरु के कहने से इसे चुराया था । अनजान ग्रामीण भगवान् महावीर पर बरस पड़ते ।

भगवान् सोचते मेरे यह पूर्व कर्मों का उदय है । मुझे समभाव रखना चाहिए । वे उस मार से विचलित न होते । इस प्रकार छह महीने तक वह सगम देवता भगवान् श्री महावीर के पीछे लगा रहा । एक रात में तो उसने अपनी नृशसता की पराकाष्ठा ही कर दिखाई । उसने बीस मारणान्तिक कष्ट दिए । यदि उस स्थान पर दूसरा कोई व्यक्ति होता, एक बार में भी बच नहीं सकता, किन्तु वे भगवान् श्री महावीर थे । सगम ने अपनी पूरी शक्ति लगा दी । उसने (१) धूल की वर्षा की, (२) वज्रमुखी चीटिया बनकर शरीर को काटा, (३) वज्रमुखी डास बनकर काटा, (४) धीमेल बनकर काटा, (५) बिच्छू बनकर डक मारे, (६) सर्प बनकर अनेक बार डसा, (७) नेवला बनकर नाखून और मुह से उनके शरीर को विदीर्ण किया, (८) चूहा बनकर काटा, (९) हाथी व हथिनी बनकर भगवान् श्री महावीर को सूड़ से पकड़ कर आकाश में उछाला, (१०) नीचे गिरने पर दातो व पैरो से रौदा, (११) पिशाच का रूप बनाकर डराया, (१२) व्याघ्र बनकर छलांग भरते हुए डराया । (१३) माता बनकर कहा—पुत्र ! तू किस लिए दुखी हो रहा है । मेरे साथ चल । मैं तुझे सुखी करूँगी, (१४) कानो में तीक्ष्ण मुख वाले पक्षियों के पिंजड़े बान्धे, जिससे उन पक्षियों ने भगवान् को बुरी तरह घायल कर दिया, (१५) चण्डाल के रूप में आकर दुर्वचनो से तर्जना की, (१६) दोनों पैरों के बीच में आग लगा दी, (१७) कठोर वायु चलाकर दुर्दान्त कष्ट दिया, (१८) गोल वायु चलाकर शरीर को चक्रवत् घुमाया, (१९) लोहे का गोला भगवान् श्री महावीर के मस्तक पर गिराया, (२०) रात्रि रहते ही प्रभात बना दिया । लोग आकर कहने लगे, अब क्यों बैठे हो, चलो यहा से । देखो ! कितना सूरज चढ़ आया है ? फिर भी भगवान् श्री महावीर अपने ध्यान में ही स्थित रहे । उन्होंने अपने अवधिज्ञान से जान लिया कि अभी रात्रि ही है । यह तो कृत्रिम प्रभात है । इन्द्र ने जब यह सारी घटना जानी, बहुत रुष्ट हुआ । वह स्वर्ग से आया और उसने आव देखा न ताव वज्र का प्रहार किया । सगम देव छह महीने तक चिल्लाता रहा । इन्द्र ने उसे अपने स्वर्ग से निकाल दिया । वह मेरु पर्वत की चूला पर जाकर रहने लगा ।



स्वामीजी का तप

दो सौ वर्ष पूर्व वि० स० १६१७ में आचार्य श्री भिक्षु ने जैनधर्म में एक क्रान्ति की। आचार्य श्री भिक्षु एक आध्यात्मिक महापुरुष थे। ऐहिक सुख-सुविधाओं ने उन्हें जकड़ने का असफल प्रयत्न किया, पर वे उनमें आवद्ध नहीं हुए। वे मत्पशोधक थे। सत्य की उपलब्धि व उसके संरक्षण में वे अपने प्राणों का उत्तमर्ग भी नगण्य समझते थे। आध्यात्मिकता के राजमार्ग पर किसी तरह का समझौता उन्हें स्वीकार्य नहीं था। उनके विचारों के अनुसार अस्खलित होनी हुई साधना ही साधना रह सकती थी। जान-बूझकर स्खलना भी करना और उसे साधना का ही अंग मानना, उन्हें कभी स्वीकार नहीं था। इसीलिए उन्होंने शिथिलाचार, अनुशासन-हीनता व साधुओं की पारस्परिक फिरकापरस्ती को समाप्त करने के निमित्त कदम उठाया। तेरापथ-सघ का निर्माण उसी का ही एक व्यवस्थित रूप है।

साधु-समाज में हुई इस क्रान्ति को तात्कालीन वर्मगुरु व उनके बहुसंख्य अनुयायी सह नहीं सके। क्योंकि इस क्रान्ति के सफल होने का परिणाम था कि उनके तथाकथित धर्म का अस्तित्व-नाश। अतः आचार्य भिक्षु को बहुत बड़े-बड़े परीषद् (कण्ट) खेलने पड़े। पहली रात्रि को ठहरने के लिए स्थान न मिलने से उन्हें श्मशान में ठहरना पड़ा। प्रथम चतुर्मास में ठहरने के लिए उनके विरोधियों ने उन्हें 'अन्वेषी ओरी' दी, जहाँ पर रात में विश्राम करने वाला निश्चित ही मर जाता था। पर उन्होंने अपनी साधना को मुख्यता देकर अपने को अभय बनाया और ऐसे भीषण स्थान पर भी सकुशल रहे। कई बार विरोधी राजकीय अधिकारियों को उनके विरुद्ध उकसाकर गावों से निकलवा देते थे, पर उससे भी उनकी निष्ठा में कमी नहीं आई। द्वेष में मर जाने से बहुत बार लोग उन्हें भिक्षा भी नहीं देते, पर उन्होंने अपने प्रण से विचलित होने का कभी सोचा तक नहीं। वे जनता को धर्म का वास्तविक स्वरूप समझाते, यदि कोई नहीं समझता या उनके पास नहीं आता तो वे नदी की चर में चले जाते। वहाँ आतापना लेते और अपनी साधना करते। जनता उनके प्रति उबलती थी, किन्तु वे निरन्तर स्थितप्रज्ञ भाव में रहे। उनकी साधना में किस तरह के परीषद् (कण्ट) उत्पन्न हुए, यह उनके शब्दों में ही जानना बड़ा सुन्दर होगा। वे अपने एक प्रमुख शिष्य हेमराजजी स्वामी को तेरापथ की उद्भवकालीन स्थितियाँ बताते

हुए कहते हैं—

“मैं उरगाने छोड़धा जद ५ वर्ष ताड़ तो पूरो आहार न मिल्यो । धी चोपर तो कठै । कपडो कदाचित् बासती मिलती तो सवा रुपीया री । तो भारमलजी स्वामी कहिता पछैवडी आपरै करो । जद स्वामीजी कहिता १ चोलपटो थारै करो १ म्हारै करो । आहार पाणी जाचने उजाड मे सव साध परहा जावता । रूखा री छाया मे आहार पाणी मेलने आतापना लेता, आथण रा पाछा गाम मे आवता । इण रीते कष्ट भोगवता । कर्म काटता । मैं या न जाणता म्हारो मारग जमसी, ने म्हा मे यू दीक्षा लेमी ने यू श्रावक श्राविका हुसी । जाण्यो आन्मा रा कारज सारसा, मर पूरा देसा, इम जाणने नपस्या करता । पछै कोई-कोई रे सरधा बेसवा लागी । लोग समझवा लाग़ा । जद थिरपालजी फतैचन्दजी आदि माहिला साधा कह्यो लोग तो समझता दीसै है । थै तपस्या क्यू करो । तपस्या करण नै तो म्हे छाईज । थे तो बुद्धिवान छो सो धर्म रो उद्योत कगे । लोका नै समझावो । जद पछै विशेष खप करवा लाग़ा । आचार, अनुकपा री जोडा करी, व्रत-अव्रत री जोडा करी । धरणा जीवा नै समझाया । पछै बख़ाण जोडधा ।”

आचार्य भिक्षु का जीवन जितना अपनी साधना के लिए समर्पित था, उतना ही जन-कल्याण के लिए था । वे अपनी साधना मे जितने सजग थे, उतने ही जनता को प्रतिबोध देने मे । वे अपने सारे मय और शक्ति का उपयोग दोनो ही कामो के लिये करते थे । कई बार सारी-सारी रात वे जिज्ञासु व्यक्तियों के साथ तत्त्व-चर्चा करने मे लगा देते थे । साथी साधु प्रहर रात के बाद लेट जाते थे । आचार्य श्री भिक्षु तत्त्व-चर्चा करते रहते । ब्रह्ममुहूर्त से कुछ पूर्व जब मुनि उठते वे उसी तरह अपनी तत्त्व-चर्चा या ध्यान मे मिलते । साधु उनसे पूछते—भगवन् ! आप इतने जल्दी ही कैसे बिराज गए । वे स्मित भाव से उत्तर देते—यह प्रश्न तो तब उत्पन्न हो सकता है, जबकि कोई सोया हो । साधुओं को बहुत आश्चर्य होता ।

इस तरह पूरी रात जग कर उन्होने जनता के दिल मे धर्म के सस्कार उतारे और जैनधर्म की क्लान्ति को आगे बढ़ाया । तेरापथ सध आज आचार्य श्री तुलसी के नेतृत्व मे अपनी साधना मे सुस्थिर रहता हुआ, जनता के नैतिक ऊर्ध्व संचरण का जो प्रशंसनीय उद्योग कर रहा है, उसके पीछे उसके प्रवर्तक आचार्य भिक्षु जैसे सफल साधको की साधना का ही रहस्य अन्तर्निहित है ।

आचार्य श्री भिक्षु भिक्षु स्वामी या स्वामीजी के नाम से भी पुकारे जाते थे ।

चक्रवर्ती सनत्कुमार

श्री मन्तकुमार इस अवसरपरिणी काल में चौथे चक्रवर्ती थे । अन्य चक्रवर्तियों की तरह उन्होंने भी भरतक्षेत्र के छ खण्डों में दिग्विजय कर पूर्ण साम्राज्य प्राप्त किया था । वे एक सुयोग्य शासक व दृढ धार्मिक मन्त्राट् थे । उनका लावण्य तारुण्य का आश्रय पाकर और भी अधिक निखर चुका था । एक दिन देव-सभा में इन्द्र ने उनके सौन्दर्य की अत्यधिक प्रशंसा की । उन्हें देखने के लिए दो देवता वहां से आये । उन्होंने ब्राह्मण का वेष बनाया और प्रातःकाल ही राज-दरबार में पहुँच गए । चक्रवर्ती ने उन्हें अपने पास बुला लिया । दोनों ही ब्राह्मणों ने कहा—हमने आपके सौन्दर्य की बहुत महिमा सुनी थी, अतः दर्शन करने के लिए आ गए । वास्तव में ही आप इस महिमा के पूरे योग्य हैं ।

स्वाभिमान के साथ सनत्कुमार ने कहा—तब तो तुमने गलती कर दी । यदि मेरा रूप ही देखना था तो जब स्नान आदि से निवृत्त होकर अपनी राजकीय पोशाक में सिंहासन पर बैठता हूँ और ऊपर छत्र, बगल में चवर आदि होते हैं, तब देखना चाहिए था ।

दोनों ही ब्राह्मणों ने नम्रता के साथ कहा—यदि आपकी कृपा होगी तो वह अवसर हमें अब भी मिल सकता है ।

चक्रवर्ती सनत्कुमार ने मधुर हास्य के साथ कहा—हां, तुम ठहरो और मैं अभी घण्टे दो घण्टे में राज्य-सभा में आता हूँ । तुम्हारे लिए वहां भी सुविधा होगी ।

चक्रवर्ती अपनी रूप-सम्पदा पर फूला नहीं समा रहा था । वह शीघ्र ही तैयार होकर सभा में आ बैठा । घमण्ड के साथ दोनों ब्राह्मणों से कहा—क्यों अब देखा मेरा सौन्दर्य ? पहले और अब सचमुच ही कितना अन्तर है ?

दोनों ही ब्राह्मण सर बुनते हुए बोले—मन्त्राट् ! वह सौन्दर्य अब नहीं रहा । सारी स्थिति ही बदल गई है ।

चक्रवर्ती ने आश्चर्य और खेद के साथ पूछा—यह कैसे ?

ब्राह्मण—महाराज ! उस समय आप पूर्ण निरोग थे । अब आपके शरीर में एक ही नहीं सोलह रोगों के अकुर फूट पड़े हैं, जो योड़ी देर ही में अपना प्रभाव

दिखला देगे। यदि आपको सन्देह हो तो आप अपना पान थूककर देखिये, उसमें कितने कीटाणु पैदा हो चुके हैं।

चक्रवर्ती ने वैसा ही किया। सारी वस्तुस्थिति जो उन ब्राह्मणों ने बतलाई थी, सामने आ गई। सम्राट् का दिल बदल गया। वे अपने सौन्दर्य का इतना विकृत रूप देखकर दहल उठे। सारा साम्राज्य उन्हें भार लगने लगा और वैभव नश्वर। उसी समय उन्होंने प्रव्रज्या का सकल्प किया और सिंहासन से उतरकर पादचारों होकर चल पड़े। पारिवारिकों व रानियों ने छ महीनों तक अनुराग के काटे बिछुर कर उनका मार्ग रोकना चाहा, पर वे सफल नहीं हुए। ससार से उचटे हुए सनत्कुमार के मन को पुन उसी साम्राज्य में टिका देना कोई सरल बात नहीं थी। वे सम्राट् से सीधे अकिंचन परित्राट् होकर निकल पड़े। कभी गुफाओं में अपनी समाधि लगाते तो कभी सूने घरों में, कभी भयावने जंगलों में पेड़ के नीचे कायोत्सर्ग करते तो कभी शहर के समीपवर्ती उद्यानों में भी। न कोई उनकी परिचर्या में था और न कोई रास्ता बताने वाला। कभी दो दिन का उपवास, कभी दस दिन का तो कभी महीने का। एक ओर उन्होंने अपने को तपस्या, ध्यान व साधना में लगाया था तो दूसरी ओर घोर रोगों ने उन्हें घर दबोचा था। जिस दिन से वे साधु बने थे उसी दिन से रोग उत्पन्न हो गए थे और वे क्रमशः बढ़ते ही जा रहे थे। न तो किसी प्रकार का उपचार था और न दुस्सह रोगों की पीड़ा से मन में अरति भी। उन्हें ऐसी अनुभूति हो रही थी, जैसे कि शरीर है ही नहीं।

इन्द्र ने फिर एक दिन अपनी सभा में सनत्कुमार मुनि की कष्ट-सहिष्णुता की प्रशंसा की। इन्द्र ने कहा—‘भयंकर बीमारी होने पर भी वे औषधि का प्रयोग नहीं करते। यह उनकी अटल प्रतिज्ञा है।’ पूर्वगित दोनों देव वैद्य का रूप बनाकर सनत्कुमार मुनि को छलने के लिए फिर उनके पास आए। नमस्कार कर उपचार करवाने के लिए बार-बार आग्रह करने लगे। किन्तु मुनि ने उनका कुछ भी नहीं सुना। जब वे अत्यन्त आग्रह करने लगे तो मुनि ने अपना थूक अपने शरीर से लगाया। लब्धि-बल से सारे रोग शान्त हो गए और शरीर निर्दोष हो गया। मुनि ने कहा—‘क्या तुम्हारी औषधि में इतनी क्षीघ्रता से रोग दूर करने की क्षमता है?’ देवों के मस्तक लज्जा से झुक गए। मुनि ने कहा—यदि मैं चाहता तो अपने रोग अपने तपोबल से कभी भी ठीक कर सकता था, किन्तु ये रोग तो शरीर के थे, आत्मा के तो नहीं। मेरी तो अपनी आत्मा है। शरीर तो यौगिक है, जो यही रह जाएगा और एक दिन मिट्टी में मिल जाएगा।

अपनी साधना में अग्रसर होते हुए सनत्कुमार मुनि को वर्षों के वर्ष बीत गए। एक दिन वे अपनी साधना में सफल हुए और मुक्त बने।



बाहुबली

प्रथम तीर्थंकर भगवान्, श्री ऋषभदेव जब प्रव्रजित हुए थे, मारा राज्य अपने मौ पुत्रो को वाट दिया था। भरत बड़े थे, अतः अयोध्या का राज्य उन्हें सौंपा गया। बाहुबली को वाल्मीकि देश का और अन्य अठारहवें भाइयों को अन्य राज्य। अपने-अपने राज्यों में सभी आनन्दपूर्वक रहते थे।

बाहुबली बहुत ही बलशाली थे। उनकी बलिष्ठता ने ही उनके स्वाभिमान को बहुत बढ़ा दिया था। किन्तु वे अपने पराक्रम और स्वाभिमान के साथ जनता के हित को भी कभी तिरोहित नहीं किया करते थे। वे एक न्यायप्रिय कुशल शासक थे। न्याय में वे अपने भाई से भी चूकने वाले नहीं थे। एक बार भरत ने बाहुबली के पास दूत भेजा और कहलवाया कि छोटे भाई के नाते बाहुबली को मेरी अधीनता स्वीकार करनी चाहिए। इस कथन ने बाहुबली के हृदय को कचोट दिया। उनका स्वाभिमान शतगुणित हो गया और कड़े शब्दों में भग्न को प्रत्युत्तर भेजा। उसके परिणामस्वरूप दोनों भाइयों में युद्ध हुआ। भरत को अपने चक्रवर्ती होने का व अपार सैन्यबल का अभिमान था और बाहुबली को अपने पराक्रम का। घमासान युद्ध हुआ और विजय बाहुबली के हाथ लगी।

बाहुबली को उस विजय ने विरक्त कर दिया। बहुधा तो विजयी उन्माद में भर जाया करता है, पर बाहुबली इसके सर्वथा अपवाद रहे। वे युद्ध-भूमि से राज-महलो में नहीं लौटे, अपितु तपश्चरण के लिए एकान्तवास की ओर चल पड़े। ज्योंही वे सकल्पवद्ध होकर आगे बढ़े, सोचा—ऋषभनाथ भगवान् के पास जाना चाहिए। उनके मार्ग-दर्शन में साधना करनी चाहिए। किन्तु दूसरे ही क्षण उनके मन में विचार आया—वहा तो मेरे अठारहवें छोटे भाई पहले से ही दीक्षित हैं। वहा जाने से मुझे उन्हें नमस्कार करना होगा। छोटे भाइयों के चरणों में यह शीश झुके, यह कभी नहीं हो सकता। क्या आवश्यकता है कि मैं उनके पास ही साधना करूँ। साधना तो व्यक्तिगत होती है। वह जैसे शहर में होती है, वैसे ही जंगल में होती है। जैसे वह समूह के साथ की जा सकती है, वैसे अकेले भी तो की जा सकती है। साधना कभी सहयोग नहीं चाहती। वह तो अपने हृदय की पवित्रता से ही आरम्भ होती है और

उसी का आधार पाकर विकसित होकर पूर्ण होती है। मुझे तो साधना करनी है। उसके लिए भगवान्, ऋषभनाथ व अन्य व्यक्तियों के सहयोग की क्या अपेक्षा? इन्हीं विचारों में डुबते-तैरते निर्जन अरण्य में चले गये। प्रासुक स्थान देखकर ध्यानस्थित खड़े हो गये। हिलना-टुलना, चलना-फिरना, उठना-बैठना, खाना-पीना सब बन्द। केवल आखें मूढ़े धर्म-ध्यान व गुल-ध्यान के ही चिन्तन में एक रम हो गये। दिन, महीने व वर्ष बीत गये।

ब्राह्मी और सुन्दरी दोनों बहिने भी भगवान्, ऋषभनाथ के उपदेश से सा-न्वी बन गई थी। उन्होंने एक दिन भगवान् से बाहुबली के बारे में पूछा। भगवान् ने स्थान की ओर संकेत करते हुए कहा—वह वहा ध्यान कर रहा है। बड़ा ही उग्र अभिग्रह है। किन्तु जब तक अभिमान से उपरत नहीं होगा, अपने लक्ष्य में सफल नहीं हो सकेगा।

दोनों ही सा-न्वी बहिने वहा से चली और अरण्य में जहा बाहुबली ध्यान कर रहे थे, आईं। उन्होंने नमस्कार किया और सगीत में बोली—‘वीरा ! म्हारा गज थकी ऊतरो’। यह ध्वनि बाहुबली के कानों में टकराई। चिन्तन अपने लक्ष्य से हट गया और इस ओर बढ़ गया। आखें फिर भी बन्द थी। उन्हें वह ध्वनि परिचित-सी लगी। सोचा तो ज्ञात हुआ कि मेरी बहिने ही मुझे सम्बोधन कर कह रही है। किन्तु मैं तो गजावृद्ध नहीं हूँ। भूमि पर खड़ा-खड़ा ध्यान कर रहा हूँ। मेरी बहिने अमृत्य तो नहीं बोलती। वे इसी एक युक्ति पर चिन्तन करने लगे। कुछ ही क्षणों बाद वे वास्तविकता पर पहुँच गये। ‘उनके अन्तश्चक्षु खुल पड़े। अपनी गलती का भान हुआ। वे सोचने लगे—‘साधना में अवस्था के छोटे-बड़े का प्रश्न नहीं हुआ करता। साधना का आरम्भ जो पहले करे, वह बड़ा है और जो जितने विलम्ब से करे, वह उतना ही छोटा। मेरे भाई तो तब थे, जबकि हम साम्राज्य से चिपके हुए थे। जब हमने वह जजाल समझकर छोड़ दिया—भाई नहीं, साधक हो गये। साधना में वे मेरे से अग्रणी हैं, अतः बड़े हैं, पूज्य हैं और वन्द्य हैं। मैंने साधना आरम्भ की, किन्तु साधना के हार्द—विनय को नहीं पहचाना। तपस्या, ध्यान व समाधि तब तक निस्सार है, जब तक कि हृदय विनम्र नहीं होता। मैंने सब कुछ किया, किन्तु मूल में भूल रखी। उसका परिणाम यह है कि अभी मैं साधना की भूमिका पर ही हूँ, सिद्ध की नहीं।’

चिन्तन की इसी ऊर्ध्वगामिता ने बाहुबली के आचरित सकल्प को तोड़ दिया। वे अपने अह पर झल्लाने लगे और उसे समाप्त करने के उद्देश्य से उन्होंने पूर्व दीक्षित अपने छोटे भाइयों को नमस्कार करने के निमित्त दो कदम आगे बढ़ाये। उग्र तपश्चरण और अस्खलित चिन्तन के आधार पर उनका कर्म-बन्धन क्षीण प्रायः तो हो ही चुका था और उस आत्म-नैर्मल्य से बचा-खुचा वह बन्धन और टूट गया। केवलज्ञानी बने तथा ससार के समस्त पदार्थों को हस्त-रेखा की तरह जानने लगे।

दो छात्र

एक गुरु के पास दो छात्र पढ़ते थे। एक विनीत था और दूसरा अविनीत। दोनों ही बड़े प्रतिभाशाली व परिश्रमी थे, किन्तु विनय और अविनय के कारण उनकी विद्या के फल में बड़ा अन्तर हो गया। एक दिन दोनों छात्र किसी कार्यवश दूसरे गांव जा रहे थे। रास्ते में उन्होंने बालू पर एक हाथ व पाव का चिह्न देखा। अविनीत छात्र उसे देखने ही बोल पड़ा—यह तो हाथी का पैर है। विनीत छात्र ने थोड़ा मोचकर कहा—नहीं, यह तो हथिनी का पैर है और वह एक आत्मा से कानी है। उस पर रानी बैठी है और वह गर्भवती भी है।

अविनीत छात्र ने अपना विचार विनीत छात्र के गले उतारना चाहा और विनीत ने अपना अविनीत के दिल में। इस वाद-विवाद में ही अगला गांव आ गया। दोनों ही एक तालाब पर हाथ-मुह धोने के लिए बैठ गये। गांव में खुशिया मनाई जा रही थी। बाजेबज रहे थे और गीत गाये जा रहे थे। किसी आगन्तुक से उन दोनों ने ही खुशी का कारण पूछा। आगन्तुक ने कहा—राजा के पुत्र हुआ है।

विनीत छात्र ने अगला प्रश्न किया—रानी यही थी या कहीं बाहर से आई थी ?

आगन्तुक—वह बाहर थी और अभी कोई एक पहर पहले ही जिस मार्ग से तुम आये हो, उसी मार्ग से वह लौटी थी।

विनीत छात्र—वह किस वाहन पर चढ़ कर आई थी।

आगन्तुक—हथिनी पर।

विनीत छात्र—हथिनी दोनों ही आँखों से देखती होगी ?

आगन्तुक—नहीं, वह कानी है।

विनीत छात्र की ही जब सब बात ठीक निकली तो अविनीत छात्र मन में बहुत दुःखित हुआ। दोनों वही तालाब के किनारे वृक्ष के नीचे बैठे आश्वस्त हो रहे थे। एक बुढ़िया पानी भरने के लिए वहाँ आई। वह अपना बड़ा भर कर लौट रही थी। दोनों ब्राह्मण छात्रों को जब वहाँ बैठे देखा तो वह भी उनके पास चली आई। पंडित समझकर उसने नमस्कार किया। उसके दिल में एक बहुत बड़ी व्यथा थी।

वह उनसे कहने लगी—‘पंडितजी ! मेरा लडका विदेश गया हुआ है । आज वारह वर्ष पूरे हो रहे हैं । उसका कोई भी समाचार नहीं है । आप पढ़े-लिखे हैं, अतः बुद्धिया पर दया कर यह बताने की कृपा तो करे कि वह मकुगल कब घर लौटेगा ?’

अपनी वेदना की बात कहते हुए बुद्धिया की आँखें डबडबा आईं । गरीर घुजने लगा । उसका परिणाम यह हुआ कि शिर पर रखा हुआ पानी से भरा घड़ा गिर पड़ा और वह फूट गया । अविनीत छात्र तत्काल ही बोल उठा—‘बुद्धिया ! तेरा बेटा मर गया । वह अब घर नहीं लौट सकेगा ।’ अविनीत छात्र के इस कथन ने बुद्धिया के वीरज के बाध को तोड़ दिया । वह और अधिक व्यथित हो गई । यह कथन उसके लिए सचमुच ही मर्माघात था । किन्तु दूसरे ही क्षण विनीत छात्र बोल पड़ा—‘माताजी ! चिन्ता मत करो । आपका लडका आनन्द मे है और अभी जब आप घर जाओगी, आपको वह घर पर बैठा मिलेगा ।’ बुद्धिया को इस कथन से बहुत सन्तोष हुआ । उसका दुःख हलका हो गया । वह दौडती हुई घर गई । ज्योही अपने आगम ने घुसती है, अपने इकलौते लाल को वहाँ बैठा देखती है । वह तो बासो उछलने लगी । बेटा विश्राम कर । मैं अभी आई, यह कहती हुई उल्टे पैरो दौडी । तालाब पर आई और विनीत छात्र के पैरो पडने लगी । बोली—वाह पंडितजी ! आप तो ब्रह्मज्ञानी हैं । सारा ससार आपकी आँखों के सामने जैसे कि नाच रहा है । आपका कथन पूर्णतः सच निकला है । मेरा लडका आज जबकि मैं घर पहुँची, वहाँ बैठा मेरी ही प्रतीक्षा कर रहा था ।

बुद्धिया का यह कहना अविनीत छात्र पर तमाचे का काम करने लगा । वह मन ही मन उबलने लगा । दोनों ही बार यह सच्च निकला और मैं झूठा । गुरु ने अध्ययन कराने मे सचमुच ही पक्षपात बरता है । बुद्धिया विनीत छात्र से अपने घर चलने के लिए आग्रह करने लगी । वह वहाँ गया भी । बुद्धिया ने अपने लाडले से साँी घटना कह सुनाई । बुद्धिया और उसके लडके ने उस छात्र का बहुत सम्मान किया ।

अपने कार्य से निवृत्त होकर दोनों ही छात्र गुरु के पास लौटे । अविनीत छात्र पहुँचते ही गुरु पर बरसने लगा, पक्षपात का आरोप लगाने लगा और बहुत बुरा-भला बोलने लगा । गुरु ने उसे शान्त करते हुए पूछा—आखिर घटना क्या है ? वह तो बताओ ताकि उसका कुछ उपचार किया जा सके ?

अविनीत छात्र ने दोनों घटनाएँ सुनाई । वह बोला—आपने इसे ज्ञान अधिक दिया, अतः इसका कथन सत्य प्रमाणित हुआ और मुझे पूरा ज्ञान नहीं दिया, अतः असत्य ।

गुरु ने दोनों ही छात्रों से कहा—दोनों ही घटनाओं का फलित तुम दोनों ने किस आधार पर निकाला ?

अविनीत छात्र ने पहली घटना के बारे मे कहा—जमीन पर बड़ा पाँव

चिह्नित था। वह हाथी के अतिरिक्त और किसका हो सकता था। मैंने तुरन्त कह दिया कि यह पाव हाथी का है।

विनीत छात्र से गुरु ने पूछा—तू ने किम आधार पर कहा ? विनीत शिष्य बोला—भगवन् ! उन चिन्हों में ईषद् आर्द्रता थी। हाथी के पाव में वह आर्द्रता नहीं होती, जबकि हथिनी के पाव में होती है। हाथी पर राजा-महाराजा आदि बड़े ही व्यक्ति सवारी किया करते हैं, अतः मैंने बड़ी आसानी से यह बतला दिया।

गुरु ने विनीत छात्र से बीच ही में पूछा—रानी का गभवती होना तू ने किम आधार पर बतलाया ?

विनीत छात्र—महाराज ! मालूम पड़ना है, रानी एक जगह नीचे उतरी थी। वहाँ उसकी हथेली जमीन पर टिक गई थी, अतः हाथ की रेखाएँ बालू में स्पष्ट दीखती थी। मैंने उन रेखाओं के आधार पर ही उसे मद्य प्रसूता बतलाया।

हथिनी के कानी होने का तूझे कैसे ज्ञात हुआ है, गुरु ने पूछा।

मार्गवर्ती पौधे बलताओं को वह खाती हुई गई, ऐसा उन पौधों से ही ज्ञात होता था। किन्तु उसने एक ओर के ही खाए, दोनों ओर के नहीं। यदि उसके दोनों आँखें होती तो दोनों ओर के पौधे खाती, विनीत छात्र ने नम्रतापूर्वक अपना अनुमान बताया।

गुरु ने दूसरी घटना के आधार के बारे में दोनों छात्रों से पूछा तो अविनीत ने कहा—बुढ़िया के सिर पर घड़ा था। बात करते हुए वह फूट पड़ा था, अतः उमका परिणाम तो यही होना चाहिए था कि उसका लडका भी मर गया।

गुरु का सकेत पाकर विनीत छात्र ने कहा—भगवन् ! यद्यपि यह सही है कि घड़ा फूट गया था, किन्तु उस समय की प्रकृति कुछ भिन्न थी। मैंने चारों ओर नजर डाली तो ज्ञात हुआ—आकाश आकाश में मिल रहा था, अर्थात् बहुत म्वच्छ था। उसमें किंचित मात्र भी मलिनता नहीं थी। बड़ी सुहावनी हवा चल रही थी। घड़े के फूट जाने से पानी बहकर तालाब में जा मिला था और घड़े की मिट्टी मिट्टी में। अतः मुझे यह स्वतः प्रतिभाषित हुआ कि बुढ़िया का लडका भी उसे शीघ्र ही मिल जाना चाहिए।

गुरु ने वत्सलता के साथ व्यग्न कसते हुए अविनीत छात्र से पूछा—क्यों शिष्य ! मैंने ये बातें इसे कब बताई थी। अविनीत छात्र का मिर झुक गया। गुरु ने कहा—निरभिमानता और बड़ों के प्रति समर्पण भावना ही मनुष्य को आगे बढ़ाती है।

महाबल

जम्बूद्वीप के अपरविदेह में वीतशोका नगरी थी। वहाँ का राजा महाबल था। वह बड़ा प्रतापी, नीतिनिष्ठ व धर्मपरायण था। एक दिन राजा ने वरबर्म मुनि के पास बर्मोपदेश का श्रवण किया और अपने अचल, धरण, पूरण, वसु, वैश्रवण व अभिचन्द्र इन छह मित्रों के साथ प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। सातो ने मिलकर यह प्रतिज्ञा कर ली थी कि हम सब एक समान ही तप किया करेंगे, न्यूनाधिक नहीं। अपने सातो की यहा अद्वैत मैत्री है और आगे भी समान तप का आचरण करने से मैत्री और एक साथ जन्म सम्भव होगा। एक दूसरे को एक दूसरे का वियोग न देखना पड़ेगा। प्रतिज्ञाबद्ध होने के अनन्तर महाबल मुनि ने सोचा, सातो में यहा मैं बड़ा हूँ। यदि समान ही तपस्वरण किया गया तो मैं बड़ा नहीं रह सकूँगा। किसी भी प्रकार से मेरा तप सर्वतोधिक रहना चाहिए।

सातो ही मुनि घोर तप का अनुष्ठान करने लगे। जिस दिन पारणा होता, महाबल मुनि कह उठते—आज तो मैं तप पूर्ण नहीं करूँगा, क्योंकि मेरे पेट में दर्द है। उदरव्याधि के समय पारणा नहीं करना चाहिए। आप सब पारणा करते और मैं एक दिन का उपवास और कर लेता हूँ। कभी कह देते—आज सर-दर्द है। पारणा ठीक नहीं रहेगा। इस प्रकार व्याधि का नाम लेकर कपट सहित अपने तप को लम्बा करते रहते। जब छहो साथी साधु उनसे कहते—आपने हमें पहले क्यों नहीं कहा? हम भी आज पारणा न करते तो वे उत्तर देते कि अभी-अभी विचार बदला है। घोर तप के अनुष्ठान में कपट का साहचर्य होने से महाबल मुनि ने स्त्री-वेद कर्म बाध लिया। अर्हद्, गुरु, बहुश्रुत व तपस्वियों की भक्ति व परिचर्या आदि तीर्थकर नाम कर्म उपार्जन के योग्य बीस बोलों की आराधना करते हुए महाबल मुनि ने तीर्थकर नाम कर्म का उपार्जन किया। बहुत वर्षों तक श्रमण पर्याय का पालन किया और समाधिपूर्वक पण्डित-मरण को प्राप्त कर जयन्त विमान में देव रूप से उत्पन्न हुआ। वहाँ से आयु शेष कर उसी महाबल मुनि की आत्मा मिथिला नगरी में कुम्भ राजा की पुत्री मल्लिकुमारी हुई, जो इस अवसर्पिणी में १६वीं तीर्थकर हुई।

पुरोहित

एक गरीब ब्राह्मण प्रतिदिन राज्य-सभा में आता था। अपनी स्वाभाविक व मरल भाषा में 'धर्म जय, पापे क्षय, भले भलो, बुरे बुरो' कहकर चला जाता था। वह न किसी से बोलता और न किसी से कुछ लेता-देता। इस प्रकार महीनो बीत गये। राजा भी उसे प्रतिदिन देखता। उसे बहुत आश्चर्य होता। एक दिन उसने उससे पूछा—ब्राह्मण देवता ! कहा रहता है ? उसने दूर में ही उत्तर दे दिया—राजन् ! आपकी छत्र छाया में ही रहता हूँ। राजा ने सुन लिया और वह चल दिया। दूसरे दिन फिर आया। वही वाक्य बोला। राजा ने उसका नाम पूछा। उसने अपनी स्वाभाविक नम्रता के साथ उत्तर दे दिया और चला गया। तीसरे दिन राजा न उसकी आजीविका का साधन पूछा। चौथे दिन उसे अपने निकट बुलाया और परिवार के बारे में जानकारी की। पुरोहित को यह नहीं ज़चा। वह बड़ा ईर्ष्यालु था। उसे अपने पद व अधिकारों की चिन्ता हुई। एक दिन राज-दरबार से लौटते हुए उसने ब्राह्मण का रास्ता रोका और राम-राम किया। पुरोहित ने ब्राह्मण से कहा—मूर्ख ! तू राज-दरबार में आता है और तेरे को अभी तक यह पता नहीं है कि वहाँ कैसे जाना चाहिए और कैसे बोलना चाहिए ? ब्राह्मण खबरा गया। वह नकुचाता हुआ बोला—पुरोहितजी ! मैं तो गरीब व अनपढ़ हूँ। आपकी यदि कृपा होगी तो मैं भी कुछ जान जाऊंगा।

पुरोहित ने कहा—राजा से बातचीत करते हुए मुझ कपड़े से अच्छी तरह बधा रहना चाहिए। वे राजा हैं, जब तक प्रसन्न हैं, तब तक ठीक है, किन्तु जब खष्ट हो गये तो खैर नहीं।

ब्राह्मण ने आभारपूर्वक हाथ जोड़े और पुरोहित ने कहा—अब आगे कभी गलती नहीं होगी।

पुरोहित राजा के पास पहुँचा और निवेदन किया—आप प्रतिदिन किस व्यक्ति से बात करते हैं, यह भी कभी सोचा होगा ? आपके द्वारा उचित व्यक्ति को ही प्रशय दिया जाना चाहिए, न कि ऐसे-वैसे व्यक्ति को।

राजा ने आश्चर्य के साथ पूछा—क्या यह ब्राह्मण उपयुक्त व्यक्ति नहीं है ?

पुरोहित—हा महाराज ! यह शराब पीता है ।

राजा—इसका क्या प्रमाण ?

पुरोहित—जिस दिन यह शराब पीकर आता है, अपना मुह कपड़े में बांध कर आता है । आप इसे देख सकते हैं ।

दूसरे दिन फिर दरबार जुड़ा । ब्राह्मण भी अपने नियमानुसार आया । किन्तु उसका मुह बंधा हुआ था । राजा समझ गया, यह शराबी है । वह मन ही मन भल्लाया, पर ऊपर से कुछ मुस्कराया । राजा ने एक बन्द लिफाफा ब्राह्मण के हाथ में दिया और कहा—भण्डारी के पास जाओ और वहां से अपना पुरस्कार ले लो । ब्राह्मण फूला नहीं ममाया । उसने मोचा, आखिर राजा की कृपा हो गई और मैं निहाल हो गया । मन ही मन उसने पुरोहित को भी धन्यवाद दिया । वह वहां से चल दिया । रास्ते में उसे पुरोहित मिला । राजा के द्वारा इस तरह उसका सम्मानित होना उसे बहुत खटका, पर वह कर क्या सकता था ? मार्ग में ही ब्राह्मण को टोकते हुए पुरोहित ने कहा—देखा, मेरे परामर्श का अचूक प्रभाव ? पहले ही दिन रुक्का मिल गया । ब्राह्मण उसके पैरों में गिर पड़ा । उसने उसका बहुत आभार माना । पुरोहित ने अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए कहा—आखिर इस सफलता की मुझे दक्षिणा क्या मिलेगी ?

जो आप चाहे । सब कुछ आपके चरणों में है, ब्राह्मण ने अपनी स्वाभाविक नम्रता के साथ कहा ।

राजा द्वारा दिया गया यह रुक्का आज की दक्षिणा होगी, पुरोहित ने ब्राह्मण की ओर धूरते हुए कहा ।

यह तो मुझे बड़े परिश्रम से मिला है, ब्राह्मण ने दीनता के स्वर में कहा ।

मिला किस की सूझ बूझ से है । दक्षिणा देते समय यह नहीं सोचा जाता कि क्या उपहार दिया जा रहा है, पुरोहित ने फिर अपनी बात को दृढतापूर्वक पुष्ट करते हुए कहा ।

ब्राह्मण के सामने कोई चारा नहीं रहा । उसने अपनी आंखें गीली करते हुए वह रुक्का पुरोहित के हाथ में रख दिया । पुरोहित ने उसे बीस रुपये प्रतिदान में दिये । ब्राह्मण ख़ासा होकर अपने घर पर चला गया और पुरोहित भण्डारी के पास पहुंचा । उसे वह लिफाफा दिया गया । भण्डारी ने उसे खोला । उसमें लिखा था—

“रुपया दीज्यो रोकड़ा, मत दीज्यो दो लाक ।

घर में ऊण्डो घालनै, काट न्हाक ज्यो नाक ॥”

भण्डारी ने राजा के आदेश का पालन किया । तलघर में उसे ले गया और पुरोहित को पकड़कर उसकी नाक उतार ली । पुरोहित के लेने के देने पड़ गये । वहां से निकल कर मुह झुपाता हुआ अपने घर पहुंचा । उल्टे माथे पड़ गया । घर से बाहर ही न निकला ।

अगले दिन उसी तरह ब्राह्मण फिर राजदरबार में हाजिर हुआ। सदा की भांति उसने अपना वही वाक्य दुहराया—‘धर्म जय, पापे क्षय, भले भलो, बुरे बुरो’। राजा ने उसे आश्चर्य के साथ देखा। उसकी आकृति में कोई अन्तर न था। राजा उसको वास्तविकता पूछ बैठ। राजा ने कहा—कल तुम्हें एक खक्का दिया था न ?

ब्राह्मण—हां, महाराज ! आपकी तो महरबानी हुई थी।

राजा—तब फिर ?

ब्राह्मण—(रोता हुआ) गरीबप्रवर ! मेरे ही भाग्य फूटे हुए थे। आपकी कृपा का लाभ न उठा सका।

बोलते-बोलते ब्राह्मण का गला रुन्ध गया। राजा को कुछ सन्देह हुआ। उसने ब्राह्मण को अपने पास बुलाया, बिठाया और धीरे से उसकी सारी राम कहानी सुनी। राजा आग-बबूला हो गया। उसे यह पता नहीं था कि यह सारा पुरोहित का षड्यन्त्र था। उसने अपने अनुचरो को भेजा और पुरोहित को बुला लिया। पुरोहित ने आने के लिए पहले तो बहुत आना-कानी की, किन्तु राजा का राजा कौन ? आखिर उसे आना पड़ा। पुरोहित की कलई खुल गई। राजा ने उसे फटकारा और अपने देश से निकाल दिया और ब्राह्मण की पुरोहित के पद पर नियुक्ति कर दी गई।

जो जैसा करता है, वह वैसा ही भरता है। जो खोदता है, वह पड़ता है। जो दूसरो का बुरा सोचता व करता है, वह अपना ही बुरा करता है।

साहसगति

वैताढ्य पर्वत पर ज्योतिपुर में ज्वलनशिख नामक राजा राज्य करता था। उसकी धर्मपत्नी का नाम श्रीमती था और पुत्री का नाम तारा। जब तारा ने यौवन में प्रवेश किया तो उसके विवाह की तैयारियाँ होने लगी। चक्राक राजा का पुत्र नाहसगति यह चाहता था कि तारा का विवाह उसके साथ हो, किन्तु राजा ज्वलन-शिख ने यह कहकर बात टाल दी कि तुम अल्पायुषी हो। उसने तारा का विवाह किष्किन्धा के राजा सुग्रीव के साथ कर दिया। साहसगति यह सहन नहीं कर सका। उसके दिल में चुभन पैदा हो गई। वह रात-दिन इसी टोह में रहता कि किसी भी प्रकार से तारा प्राप्त की जा सके। उसने हेमवन्त पर्वत पर जाकर रूप-परावर्तिनी विद्या की साधना आरम्भ कर दी।

दृढ निश्चय, उत्कट साधना व तन्मयता के आधार पर साहसगति अपने लक्ष्य में सफल हो गया। वह उछलता-कूदता किष्किन्धा आया। एक दिन वन-क्रीड़ा के लिए सुग्रीव अकेले ही किष्किन्धा से बाहर चले गये। साहसगति को इस सूचना से प्रसन्नता हुई और इच्छित कार्य की पूर्ति में सुविधा की अनुभूति भी। उसने सुग्रीव का रूप बनाया और राजमहलो में पहुँच गया। सुग्रीव का क्रीड़ा करने के निमित्त जाने से मन उचट गया। वह शीघ्र ही पुन लौट आया। जब वह भी महलो में घुसने लगा तो द्वारपाल ने उसे रोका। सुग्रीव को इससे आश्चर्य हुआ। द्वारपाल ने दूसरे ही क्षण कहा—‘महाराज सुग्रीव तो पहले में ही महलो में है। तुम तो कोई धूर्त हो।’ सुग्रीव को इस वाक्य से दुख भी हुआ और असमजस भी। वह सोच नहीं पाया कि यह क्या माया है? उसने द्वारपाल को टोका और अपने वास्तविक सुग्रीव होने का उल्लेख किया और पूर्व सुग्रीव को छली बताया। द्वारपाल ने कहा—वास्तविकता मैं नहीं जानता। उसका निर्णय तो करने वाले करेंगे, किन्तु जब तक कुछ भी प्रमाणित न हो जाये, मैं आपको महलो में नहीं जाने दूँगा।

दो सुग्रीव की बात विद्युत् वेग की तरह फैल गई। बालि के पुत्र और सुग्रीव के उत्तराधिकारी चन्द्ररश्मि ने जब यह घटना सुनी तो वह भी असमजस में पड़ गया। शीघ्रता से वह रानी तारा के महलो में पहुँचा और तथाकथित सुग्रीव को

बाहर निकाल लाया। दोनों को एक साथ खड़ा किया गया तो चन्द्रगमि भी पहचान नहीं सका कि चाचा कौन है और छली सुग्रीव कौन? दोनों को ही राज-दरबार में आने व महलों में जाने का पूर्णतः निषेध कर दिया गया व राज्य में आपातकालीन स्थिति घोषित कर दी गई। अमली सुग्रीव को इस घटना से बहुत दुःख हुआ। वह भी समझ नहीं पाया कि आखिर यह छली है कौन?

मन्त्रि परिषद् की बैठक हुई। चन्द्रगमि भी उसमें सम्मिलित हुआ। मवने इस पहलू पर सोचा, किन्तु समाधान नहीं हो पाया। अन्त में सर्वसम्मति निर्णय किया गया कि चवदह अक्षोहिणी सेना को दो भागों में बांट दिया जाये। दोनों को ही युद्ध करने के लिए कहा जाये। जो सच्चा होगा, वह जीत जायेगा, क्योंकि मृत्यु के पक्ष में देवी-शक्ति भी तो होती है। सम्भव है, इस तरह यह जटिल पहेली सुलझ जाय।

दोनों ही सुग्रीव को जब यह निर्णय सुनाया गया, एक को प्रसन्नता हुई और एक को खेद। एक को प्रसन्नता इस बात की थी कि मेरा दमने क्या गया। मेना व अस्त्र-शस्त्रों की हानि मेरी अपनी तो कुछ होगी नहीं। दूसरे को खेद इसलिए था कि सत्य होते हुए भी मेरी ही सेना व अस्त्र-शस्त्रों की हानि होगी और मुझे ही परेशानी उठानी पड़ेगी। असली सुग्रीव इस निर्णय से अक्रुलाने लगा। किन्तु वह कर भी क्या सकता था। वह अपने को मृत्यु प्रमाणित करने के लिए क्या सुदृढ़ आधार प्रस्तुत कर सकता था। बाधित होकर उसे रण-भूमि में उतरना पड़ा। किष्किन्धा के राजा सुग्रीव ने प्रस्ताव रखा कि आखिर सेना को क्यों इस चक्कर में डाला जाता है। निर्णय तो हम दोनों के बीच होने का है। हमें ही लड़ाया जाए और सत्य को मृत्यु और असत्य को असत्य प्रमाणित किया जाये। यह प्रस्ताव सभी को अच्छा लगा। दोनों ही अखाड़े में उतरे। विविध शस्त्रों से लड़े। एक-दूसरे ने अपने को सत्यवादी प्रमाणित करने के लिए अथक प्रयत्न करते हुए अपनी बहादुरी का पूरा परिचय दिया, किन्तु दोनों ही सबल रहे। विजय या हार, मृत्यु या असत्य का प्रश्न उसी तरह बीच में झूलते रह गया।

सुग्रीव चिन्ता से बहुत व्यग्र हो गया। सब तरह से परेशानी और अपने ही राज्य में इस तरह अपमानित होकर रहना उसके लिए असह्य-सा होने लगा। उसके रात और दिन व्यथा में ही बीतते। अपने को सकट-मुक्त करने के लिए उसने अपने निकट-वर्ती महयोगियों को एक-एक कर याद किया। प्रत्युत्पन्नमति व बलिष्ठ हनुमान को बुलाया गया। उसने भी बहुत प्रयत्न किये, पर मारे बेकार गये। सुग्रीव की चिन्ता इससे और बढ़ गई। वह आर्त्तव्यान में अपना समय व्यतीत करने लगा। रह-रहकर नाना सकल्प-विकल्प उठते। बड़े भाई बालि की स्मृति उसे ताजा हो आई। उग्रा नि श्वास के साथ उसके मुह से निकल पड़ा, यदि बालि भाई होता तो ऐसी परिस्थिति उत्पन्न ही क्यों होती? उसके सामने इस प्रकार का प्रपञ्च रचने की किसी की हिम्मत भी न होती और यदि कोई दुःसाहस कर भी लेता तो वह उसका शीघ्र ही प्रतिकार भी

कर देता। किन्तु वह तो अब साधु बन गया है और न जाने कहा तप तप रहा है ? उसी भाई का लडका चन्द्रशम भी बहुत बुद्धिशाली व बलवान् है, फिर भी निर्णय नहीं कर पाता कि चाचा कौन है और छली कौन ? बहुत कुछ सोचते-विचारते सुग्रीव को राजा रावण की याद हो आई। सोचा वह एक हजार विद्याओं की साधना कर चुका है। बड़ा प्रतापी है। लका और किष्किन्धा का स्वामी-सेवक का सम्बन्ध चला आ रहा है। यदि उसका आश्रय लिया जाये तो सम्भव है कि यह पहली सूलभ जाये। किन्तु दूसरे ही क्षण उसके मस्तिष्क में आया—वह तो आजकल व्यभिचारी हो गया है। सुना है, किसी की औरत को जंगल में से उठा लाया है। यदि उसको बुलाया गया तो वह हम दोनों को परमधाम पहुँचा देगा और तारा को अपने यहाँ ले जायेगा। शूर्पणखा का पति राजा खर भी हर एक के कष्ट में काम आने वाला था, किन्तु लक्ष्मण ने उसका पहले से ही काम समाप्त कर दिया है।

चिन्ता में इस प्रकार तैरते-डूबते हुए सुग्रीव को प्रकाश की एक रेखा दिखाई दी। राम और लक्ष्मण की ओर उसका ध्यान गया। उसे लगा कि यदि किसी भी प्रकार से राम मेरी प्रार्थना स्वीकृत कर लेते हैं तो मैं इस कष्ट से बच सकता हूँ। वे बलवान् हैं, मनीषी हैं और न्यायी भी। आजकल पाताल लका में वीरविराध के यहाँ अतिथि है। उसने प्रच्छन्न रूप से अपना एक चतुर दूत वीरविराध के पास भेजा और अपनी व्यथा कहलवाई।

सुग्रीव और वीरविराध का चाचा भतीजे का सम्बन्ध था। अपने चाचा की इस व्यथा से वह भी दुःखित हुआ। उसने दूत के साथ उसी समय कहला भेजा— 'श्रीघ्न ही आप स्वयं आए। राम और लक्ष्मण को अपना दुःख सुनाये। वे परम दयालु हैं और आपके दुःख को अवश्य दूर करेंगे।' दूत ने बहुत शीघ्र ही यह सवाद पहुँचा दिया। सुग्रीव को कुछ सन्तोष हुआ। वह अपने अनुचरो के साथ पाताल लका पहुँचा। वीरविराध को साथ लेकर राम और लक्ष्मण के चरणों में उपस्थित हुआ। नारी-हरण के षड्यन्त्र से उन्हें परिचित किया। इस घटना ने राम के सुषुप्त विरह को जागृत कर दिया। वे भी कातर दृष्टि से सुग्रीव की ओर देखने लगे। किन्तु स्वयं ने आश्वस्त होकर सुग्रीव के दुःख-मोचन का वचन दे दिया और साथ ही यह शर्त भी रखी कि फिर तुम्हें सीता की खबर लगानी होगी कि वह कहा है और किस रूप में है ? सुग्रीव ने यह सब स्वीकार किया।

राम और लक्ष्मण सुग्रीव और वीरविराध के साथ किष्किन्धा पहुँचे। दूसरे सुग्रीव को भी उन्होंने बुला लिया। पहले दोनों को परस्पर लडाया गया। कोई भी निर्णय नहीं हो पाया। राम ने अपना वज्रावर्त धनुष चढाया और जीवा को खींचकर टकारव किया तो विद्या को भगना पडा। साहसगति का अपना स्वरूप सामने आ गया। सच और झूठ का निर्णय हो गया। दम्भ का दमन हुआ और सत्य निखर आया। राम ने उसी धनुष से साहसगति को जमी का पूत बना दिया।

निन्नानवे का फेर

एक सेठानी ने दु खभरे शब्दों में सेठ से कहा—क्या बात है कि प्रतिदिन आप दुबले होते जा रहे हैं। पौष्टिक भोजन, खुल्ला मकान, अनेकों नौकर-चाकर व पूर्ण सुख-सुविधाएँ हैं, फिर भी ऐसा क्यों हो रहा है ? अपना पड़ोसी जिसके पास तन ढाकने को पूरा कपड़ा भी नहीं है, अतः सर्दी से ठिठुरता रहता है। खाने को पूरा भोजन नहीं है, रहने को केवल एक छोटी-सी भोपड़ी है, फिर भी शरीर में पूरा दृष्ट-पुष्ट है। कम से कम आपसे दूना तो होगा ही। यह तो एक जटिल पहेली है जो समझ में नहीं आ रही है।

सेठ ने स्मित हास्य के साथ कहा—मेरी यह समृद्धि ही मुझे दुबला बना रही है। इसका और कोई कारण नहीं है।

सेठानी ने आश्चर्य के साथ पूछा—यह कैसे हो सकता है ?

सेठ ने अपनी स्वाभाविक भाषा में कहा—यह तो एक गूढ़ पहेली है। धन का उपार्जन करना, उसकी सुरक्षा करना व उसमें वृद्धि करना, ये तीन ऐसे पहलू हैं, जिनकी चिन्ता स्वास्थ्य को कुरेद देती है। पड़ोसी के पास ऐश-आराम के साधन नहीं हैं तो उतनी लालसा भी नहीं है। वह प्रतिदिन कमाता है और आनन्दपूर्वक अपनी दो रोटी खा लेता है और निश्चिन्त होकर सोता है। आराम की नीन्द लेता है। जब तक यह निश्चिन्तता है, तब तक ही वह दृष्ट-पुष्ट है। मैं रात-दिन व्यवसाय की चिन्ता में डूबा रहता हूँ। मन्दी और तेजी की ऐसी तीक्ष्ण धार है कि वह शरीर को बनने ही नहीं देती। खायें गये पौष्टिक पदार्थ सारे बेकार हो जाते हैं। अब तो कुछ समझ गई होगी ?

सेठानी ने तपाक से उत्तर दिया—बात गले नहीं उतरती।

सेठ ने कहा—तो इसका प्रत्यक्ष प्रमाण बताता हूँ। सेठ ने एक रात को भौका देखकर निन्नानवे रुपये की एक थैली उसकी भोपड़ी में डाल दी। सुबह जब वह पड़ोसी सोकर उठा और थैली देखी तो बहुत खुश हुआ। उसने रुपये गिने। निन्नानवे हुए। सोचा—एक रुपया कम है। थैली खाली रहेगी। दूसरे ही क्षण उसके दिमाग में आया—चिन्ता की क्या बात है ? एक रुपया तो आखिर मैं भी

इसमें मिला सकता हूँ, जिससे थैली पूरी हो जाएगी। दूसरे ही दिन से उसने वही काम आरम्भ किया। दो चार आने जो वह प्रतिदिन कमाता, उसमें से कभी एक पैसा, कभी दो पैसा बचाने लगा। कभी नहीं भी बचते। जब तक पूरा रुपया नहीं हो जाता, तब तक थैली कैसे भरे ? उसे थोड़ी-थोड़ी चिन्ता सताने लगी। कभी-कभी रात को नींद भी उचट जाती। खाने में भी कमी करने लगा। कुल मिलाकर उसके शरीर पर भी बुरा प्रभाव पड़ने लगा। महीने डेढ़ महीने के बाद ही उसके शरीर का चतुर्थांश पहले से कम हो गया। थका हुआ दीखने लगा। सेठ ने एक दिन सेठानी से कहा—अब अपने पड़ोसी का शरीर देखो। क्या वह उमी तरह से हृष्ट-पुष्ट है ?

सेठानी ने उसे ध्यानपूर्वक देखा। बोली—यह क्या हुआ ? इतने दिनों में ही इतना अन्तर पड़ गया ?

सेठ ने कहा—हा ! यह तो केवल एक रुपये का चमत्कार है। थैली में केवल एक ही रुपये की कमी थी, जिसकी पूर्ति में पड़ोसी सूखने लगा है। जिसके हजारों व लाखों रुपये की चिन्ता होती है, उसके स्वास्थ्य पर किनना बुरा असर पड़ता है, तुम अब स्वयं अनुमान लगा लो। यह निन्नानवे का फेर (चक्कर) ऐसा ही है। जब तक मनुष्य इसमें नहीं फसता है, तब तक ठीक है, किन्तु जिस दिन फस जाता है, धर्म-कर्म, स्वास्थ्य आदि सभी से हाथ धो बैठता है।



सागर सेठ

घनदपुर नगर में सागर सेठ रहता था। उसके पास अरबो-खरबो का धन-वैभव था। घर में अपार धन और मन में उतनी ही कजूसी। वह, उसकी धर्मपत्नी, चार पुत्र व चार पुत्र-वधू से उसका भरापूरा परिवार था। धन लाकर कोई भी उसे देना, वह बहुत प्यार करता। यदि कोई एक पैसा भी खर्च कर देता, उसे बहुत ही बुरा लगता। पूरा परिवार होने से खर्च भी पूरा लगता। उसे वह सहन नहीं हुआ। बड़ी चातुरी में अपने चारों पुत्रों को विदेश कमाने के लिए भेज दिया। चारों बहुओं को महलों में—मकान के ऊपरी भाग में पहुँचा दिया और नीचे से जीना बन्द कर दिया। सगृहीन पूजा में से एक पैसा भी किसी तरह कम न हो जाए, सेठ को रात-दिन यही चिन्ता रहती। घर के छह व्यक्तियों के खाने के लिए केवल चार रोटियाँ बनती और वे भी मड़े-गले अनाज की। एक वह स्वयं खाता, एक अपनी धर्मपत्नी को देता और शेष दो रोटियाँ आधी-आधी कर चारों बहुओं को।

चारों ही बहुएँ कुलीन व रईसी खान-दान की थीं। उन्होंने अपने गत जीवन में निर्भीकता का अभाव नहीं देखा था। इससे इतना क्रूर व्यवहार देखकर वे बहुत दुःखित हुईं। अपने पतियों से दूर, खाने-पीने के लाले, आने-जाने के लिए प्रतिवन्ध आदि को देखकर वे मन ही मन अपने भाग्य को कोसती रहती। एक दिन सायंकाल विखिन्न मना वे चारों ही अपने ऊपरी आवास में बैठी थीं। संयोगत एक विद्याधरी ने आकाश-मार्ग से जाने हुए उन्हें देखा। वह नीचे चली आई। शिष्टाचार के अनन्तर उन चारों की दिल की बात निकलवा ली। वह उन्हें आश्चर्य करती हुई बोली—बहिनो! इतनी सी बात के लिए ही क्यों दुःखी हो रही हो। मैं तुम्हें एक उपाय बता देती हूँ। उससे तुम्हारा सारा दुःख दूर हो जाएगा।

चारों उनके पैरों पड़ गईं। बोली—हम आपका जीवन भर उपकार नहीं भूलेगीं।

विद्याधरी ने एक मन्त्र बताते हुए कहा—तुम इसकी सावना कर लो। इस मन्त्र से वृक्ष अभिमन्त्रित कर चाहे जहाँ तुम जा सकोगी और पुनः अपने आवास पर पहुँच जाओगी। तुम्हें स्वर्ग की वः उसके धन की कोई अपेक्षा नहीं रहेगी।

चारों ने सामान उस मन्त्र को सीखा। विद्याधरी अपने घर गईं। एक दिन चारों ही बहुओं ने रत्न-द्वीप जाने का संकल्प किया। तत्काल वृक्ष अभिमन्त्रित कर उस पर बैठ गईं और घण्टी उस द्वीप की सुषमा का आनन्द लूटती रहीं। जीवन में

इस प्रकार के आनन्द का उनके लिए यह प्रथम अवसर था। आते हुए वहाँ से एक बहू एक रत्न उठा लाई। चारो के लिए वह एक रत्न भी बहुत पर्याप्त था।

प्रतिदिन हलवाई के यहाँ से इच्छित भोजन उनके लिए आ जाता। वे चारो आनन्द से अपना जीवन बिताने लगीं। खाने-पीने का कष्ट और आने-जाने का प्रतिबन्ध सहज ही दूर हो गया। बहुत दिनों बाद हलवाई ने अपनी वस्तुओं की कीमत मागी। बहुओं ने उसे वह रत्न दे दिया और कहा—इसके रुपये चाहिए तो सेठजी से ले लेना। हलवाई सेठजी के पास पहुँचा। रत्न के परिवर्तन में रुपये मागे। हलवाई के हाथ में उस रत्न को देखकर सेठ को बहुत आश्चर्य हुआ। सहसा पूछ लिया—यह तेरे पास कहा से आया ?

हलवाई—आपकी बहुओं से।

सेठ—यह कैसे हो सकता है ? मेरी बहुओं के पास तो तन ढाकने के लिए लिए वस्त्र के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं तो रत्न भला कहा से आ सकता है ? और खाने को भी तो मैं उन्हें केवल दो सूखी रोटियाँ ही देता हूँ। उनके आने-जाने के भी सारे रास्ते बन्द हैं ?

हलवाई—यह आपका सोचना गलत है। आपकी बहुएँ तो प्रतिदिन ताजे और स्वादिष्ट भोजन करती हैं। मैं उन तक पहुँचाता हूँ। सच्चा को वे घूमने भी जाती हैं और बड़े आमोद-प्रमोद करती हैं।

सेठ सुनते ही सन्न रह गया। उसके इतने प्रतिबन्धों के होते हुए भी बहुओं का इस प्रकार आनन्द से रहना उसके धाव पर नमक था। उसने छान-बीन की। वृक्ष-अभिमन्त्रण का भेद भी जान गया। एक दिन चुपके से मध्याह्न में ही वह उस वृक्ष के कोटर में जा बैठा। सायकाल बहुएँ घूमने के लिए निकलीं। रत्न-द्वीप पर पहुँचीं। वे तो वृक्ष से उतर कर इधर-उधर घूमने लगीं और सेठ रत्न-द्वीप के वैभव को देखने लगा। रत्नों का ढेर देखकर उसका मन ललचा गया। उसके मन में आया—मेरी चारो ही बहुएँ मूर्ख हैं। प्रतिदिन यहाँ आती हैं और केवल एक ही रत्न ले जाती हैं। उसने अपनी लालसानुसार रत्नों का एक बड़ा गट्ठर बाध लिया। कुछ अपने पहने हुए कपड़ों में डाल लिए और बहुओं के आगमन से पूर्व ही उसी कोटर में जा बैठा। बहुएँ आईं और चल दीं। समुद्र से गुजरते हुए अचानक वृक्ष रुक गया। बहुत सारे प्रयत्न करने पर भी वह नहीं चला। एक बहू ने सुभाव रखा, वृक्ष को समुद्र में गिरा दो और अपने मन्त्र के प्रभाव से आकाश-मार्ग से उड़ चलो। दूसरी ने अनुमोदन किया। कोटर में बैठे हुए सेठ ने सब सुना तो घबराया। बोला—बहुओं ! अपने श्वसुर का भी थोड़ा ध्यान व मान रखना।

बहुओं ने श्राव देखा न ताव, बोली—बहुत दिन हुए हमें कष्ट देते हुए। आज अवसर आ गया; कहती हुई वृक्ष छोड़कर आकाश-मार्ग से अपने घर पहुँच गईं।



मम्मण सेठ

भाद्रव की अन्धेरी रात को काले-काले कजारे बादलो ने और अधिक काला कर दिया था। उमड़-धुमड़ कर घिरने वाले बादल मन में सिहरन-सी पैदा कर रहे थे। कोई भी आदमी उस समय घर छोड़कर बाहर जाना नहीं चाहता था। महारानी चेलना महाराज श्रेणिक के साथ महलो में बैठी हुई थी। बिजली के प्रकाश से उसने बहुत दूर नदी के किनारे एक बूढ़े व्यक्ति को लकड़िया बीनते हुए देखा। चेलना को उससे बहुत दुःख हुआ। उसी समय उसने राजा से कहा—महाराज ! क्या आपके राज्य में ऐसे दरिद्र भी रहते हैं, जिनको अपनी उदर-पूर्ति के लिए इतनी भयंकर रात में भी इस तरह परिश्रम करना पड़ता है ? आप बहुत बड़े दानी हैं, फिर यह कैसे ?

राजा श्रेणिक को भी यह बात कुछ अखरी। प्रातः काल अपने अनुचर भेजकर उस बूढ़े को वहाँ बुलाया गया। श्रेणिक ने पूछा—तू इतनी भयंकर रात में भी काम क्यों कर रहा था ? क्या तू इतना गरीब है ? तेरा क्या नाम है और क्या परिचय है ?

वृद्ध ने नम्रता के साथ कहा—महाराज ! मेरे पास एक बैल तो है, किन्तु मैं उसकी जोड़ी तैयार करना चाहता हूँ। दिन-रात लकड़िया बीन कर अपने लक्ष्य की पूर्ति के निकट पहुँच रहा हूँ। मेरा नाम मम्मण है और एक सेठ के घर मैंने जन्म लिया है।

श्रेणिक ने कहा—केवल एक बैल के लिए तुम्हें अब इस अवस्था में इतना कड़ा परिश्रम करने की आवश्यकता नहीं है। तुम्हें जैसा भी बैल चाहिए अपने राज्य की वृषभशाला से ले लो। राजा ने अपने अनुचरों से कहा—इसे अभी ले जाओ और जो बैल यह पसन्द करे, इसे दे दो।

मम्मण उन अनुचरों के साथ वृषभशाला में घूमा। बहुत सारे वृषभ देखे। बड़े दृष्ट-पुष्ट व सुन्दर आकृति वाले, पर उसे तो एक भी पसन्द नहीं आया। सब जगह घूमकर वह राजा के पास आ गया। श्रेणिक ने पूछा—क्यों बैल ले लिया ?

वृद्ध ने स्मित हास्य के साथ कहा—महाराज ! मुझे तो एक भी बैल अच्छा

नहीं लगा। आपकी उस वृषभशाला में ऐसा कोई भी बैल नहीं है, जो मेरे उस बैल के साथ जोड़ी में काम आ सके।

श्रेणिक ने आश्चर्य के साथ कहा—तेरा इतना क्या सुन्दर बैल है ? मुझे यहाँ लाकर दिखा।

मम्मण ने नम्रता के साथ उत्तर दिया—महाराज ! वह यहाँ नहीं आ सकता। कृपया आप मेरे घर पधारे तो महरबानी होगी।

राजा श्रेणिक उसके साथ चला। मकान के नीचे भूमिगृह में दोनों पहुँचे। घोर अन्धेरा था। मम्मण ने एक कपड़ा हटाया। एक साथ प्रकाश हो गया। राजा श्रेणिक ने उसके बैल को देखा। वह स्तम्भित रह गया। रत्नों का बैल था और उसीसे सारा भूमिगृह प्रकाशित हुआ था। श्रेणिक ने रानी चेलना को उसके बैल की घटना सुनाई। वह भी देखने के लिए आई। बहुत ही आश्चर्यकारी बैल था। रानी से रहा नहीं गया। उसने उलाहना की भाषा में कहा—मूर्ख ! जब तेरे पास इतना धन है, तू क्यों नहीं अपने काम में लेता। क्या इसे साथ ले जाएगा ?

मम्मण ने दोनों कानों के बीच जोर से अंगुलिया डाल ली और बोला—महारानीजी ! यह शिक्षा आप मुझे मत दीजिए। यदि इस शिक्षा के अनुसार मैं चलता तो क्या यह बैल बन पाता ? रानी अपने महलो में आ गई। मम्मण उसी तरह लोभवृत्ति में फसा लकड़िया बीनता रहा और एक दिन उस बैल को इसी ससार में छोड़कर चल दिया।



बादशाह

एक बादशाह के मन में अपना खजाना भरने की बड़ी लालसा जाग्रत हुई। उसने जनता पर बहुत कर लगा दिए। धीरे-धीरे धन दबने लगा और खजाना भी भरने लगा। बादशाह को उससे बड़ा आनन्द मिलता। अनहद करो की वजह से जनता में अशान्ति व बेचैनी बढ़ने लगी। बहुत बार बादशाह से कहा भी गया, किन्तु उसने एक भी न सुनी। जनता वजीर के पास पहुँची। वह भी बादशाह की इस प्रवृत्ति से लुब्ध था। उसने बहुत कुछ चिन्तन के बाद एक तरीका अपनाया। एक दिन वह सभा में विलम्ब से पहुँचा। बादशाह ने सरोष उसका कारण पूछा। वजीर ने कहा—जहापनाह ! कुछ आवश्यक काम हो गया था।

बादशाह—ऐसा क्या काम था ?

वजीर—मैं अपना खजाना व्यवस्थित कर रहा था और जमीन में गडवाने जा रहा था।

बादशाह इस बात से बड़ा ही स्तम्भित सा हुआ। उसकी तो कल्पना भी नहीं थी कि उसके सिवाय और किसी के पास खजाना भी है। बादशाह ने कहा—तू ने अपना खजाना हमें तो नहीं दिखाया ?

वजीर—जब चाहे आप घर पधारिए। आपसे बढ़कर हमारे और कौन होगा ?

बादशाह वजीर के साथ उसके घर पहुँचा। घर में वजीर ने एक ओर कई गड्ढे खुदा रखे थे और उसके पास ही मिट्टी का बहुत बड़ा ढेर था। बादशाह ने कहा—मिट्टी का इतना ऊँचा ढेर कैसे हो गया ?

वजीर—जहापनाह ! जितना ऊँचा यह ढेर लगा है, दूसरी ओर उतना ही गहरा गड्ढा खोदना पड़ा है। जहाँ से मैं इतना धन लाया हूँ, वहाँ उतना ही गहरा गड्ढा हुआ है।

वजीर का सकेत पाते ही उसके मजदूरों ने तत्क्षण ही उन गड्ढों को पत्थरों से भरना आरम्भ किया। जल्दी ही वे सारे भर गए।

बादशाह ने वजीर से कहा—तुम यह क्या करते हो ? खजाना दिखाओ न ?

मुझे खजाना दिखाने लाए हो या ये गड्ढे व पत्थर दिखाने ?

वजीर ने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया—महाराज ! मेरा तो यही खजाना है ।

बादशाह—पगले ! यह क्या खजाना ? ये तो पत्थर है ?

वजीर—तो फिर आपके खजाने में और क्या है ? है तो वे भी पत्थर ही ?

उन पत्थरो से जिस प्रकार आपका गड्ढा भर गया, उसी प्रकार इन पत्थरो से मेरा । खाने के काम में आपके खजाने में पड़े पत्थर भी नहीं आते और न ये भी । आप उनको देखकर सन्तुष्ट होते हैं और मैं इनको । आपने जन्मभर खजाने को बढ़ाया, पर क्या ये कभी आपके काम आए ? यदि नहीं तो फिर इस प्रकार जनता पर कर-भार लाद कर उसे क्यों पीड़ित किया जाए ?



जम्बूकुमार

भगवान् श्री महावीर एक बार राजगृह नगर के गुणशिल नामक उद्यान में पवारे हुए थे। राजा श्रेणिक, महारानी चेलना व सहस्रो व्यक्ति उपदेश सुनने के लिए आए हुए थे। उपदेश के अनन्तर श्रेणिक ने भगवान् से पूछा—‘भन्ते ! इस अवसर्पिणी काल में प्रथम केवली मरुदेवी माता हुई थी। अन्तिम केवली कौन होगा, कब होगा और उसका परिचय क्या होगा ?’

महावीर स्वामी ने उत्तर दिया—राजन् ! अन्तिम केवली जम्बूकुमार होगा। उसका जन्म इसी राजगृह नगर में ऋषभदत्त सेठ के घर होगा। सुधर्म गणधर के पास पहले वह ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार करेगा और फिर सब प्रकार के सावद्य योग का प्रत्याख्यान कर साधु बनेगा। ऋषभदत्त सेठ उसकी शादी कर ससार में रखने का प्रयत्न करेगा। आठ कन्याओं के साथ उसकी शादी हो भी जाएगी, किन्तु वह अपने व्रत पर दृढ़ रहेगा और उन आठों ही कन्याओं को प्रतिबोध देकर दीक्षा के लिए तैयार कर लेगा। विपुल धन-सामग्री को छोड़कर आन्तरिक वैराग्य से वह दीक्षित होगा।

राजा श्रेणिक को इसलिए भी बहुत प्रसन्नता हुई कि अन्तिम केवली उसकी राजधानी में ही जन्म लेगा।

✱

✱

✱

ऋषभदत्त राजगृह का प्रमुख सेठ था। उसके घर विशाल धन-सम्पत्ति थी और उससे भी अधिक उसके प्रति नागरिकों के दिल में सम्मान था। वह प्रत्येक व्यक्ति के दुःख-सुख में काम आता था, अतः छोटे-बड़े सभी उसको पूज्य भाव से देखते थे। ऋषभदत्त की पत्नी का नाम धारिणी था। एक बार रात को चौथे प्रहर में उसने एक स्वप्न देखा—एक फला-फूला व गहरा जम्बू वृक्ष आकाश से उतरता हुआ उसके मुँह में प्रवेश कर रहा है। धारिणी को इस स्वप्न से बहुत प्रसन्नता हुई। नैमित्तिकों से जब इसका फलादेश पूछा गया तो उन्होंने बताया कि शुभ लक्षण युक्त, विनीत व धार्मिक प्रकृति वाला बालक जन्म लेगा। माता व पिता को अपार खुशी हुई। जब बालक का जन्म हुआ तो स्वप्न के अनुसार उसका नाम

जम्बूकुमार रखा गया ।

जम्बूकुमार जब थोड़ा बड़ा हुआ आठ कन्याओं के साथ उसकी सगाई कर दी गई । सभी कन्याओं के परिवार पूर्णतः सम्पन्न थे और स्वयं कन्याएँ भी पूरी तरह दक्ष, सुशील व लावण्यवती थीं । सेठ ऋषभदत्त जम्बूकुमार के विवाह की योजनाएँ बना रहा था । उन्हीं दिनों भगवान् श्री महावीर के उत्तराधिकारी सुधर्मस्वामी राजगृह नगर में पधारे । राजगृह धार्मिक नगर था । जैन श्रावकों की वहाँ बस्ती अधिक थी । राजा श्रेणिक भी जैनी था । जब कभी भगवान् श्री महावीर या उनके शिष्य आचार्य आदि वहाँ पधारते, जनता में अपार उल्लास भर जाता था । दर्शन करने के लिए व प्रवचन सुनने के लिए हजारों-लाखों व्यक्तियों की अनायास ही उपस्थिति हो जाया करती थी । सुधर्मस्वामी भी जब वहाँ पधारे, सहस्रो व्यक्ति उपदेश सुनने के लिए पहुँचे । जम्बूकुमार भी वहाँ आया । उनके मन में सहज श्रद्धा व धार्मिक अनुराग था । प्रवचन से सैकड़ों व्यक्ति प्रतिबुद्ध हुए और हजारों ने यथाशक्ति त्याग-प्रत्याख्यान किए । जम्बूकुमार सुधर्मस्वामी के निकट आया और उमने प्रार्थना की—‘भगवन् ! मैं विरक्त हुआ हूँ, अतः श्रामण्य स्वीकार करना चाहता हूँ ।’

‘शुभ काम में विलम्ब मन करो’—सुधर्मस्वामी ने प्रत्युत्तर में कहा ।

माता-पिता में अनुमति लेने के निमित्त जम्बूकुमार रथ में बैठकर घर की ओर जा रहा था । जब वह शहर के दरवाजे के समीप पहुँचा, दीवाल में से एक बड़ी शिला उछली और उसके रथ के अत्यन्त पास में ही आ गिरी । जम्बूकुमार चौका और उसने उस शिला को देखा । उसको ज्ञात हुआ कि शहर में किसी ने नाल अस्त्र छोड़ा था, जिससे यह शिला गिरी । एक बार वह घबराया । उनके मन में आया—यदि यह शिला मेरे ऊपर गिर पड़ती तो क्या मैं बच सकता था ? मेरी मारी कल्पनाएँ घरी ही रह जाती । जो व्यक्ति भविष्य पर कुछ भी न छोड़कर वर्तमान में ही कर लेता है, वह तो हो जाता है और अवशिष्ट इसी तरह हवा में तैरता ही रह जाता है । वह घर की ओर न बढ़कर वापस मुड़ा और उसी उद्यान में आया, जहाँ सुधर्मस्वामी ठहरे हुए थे । हाथ जोड़कर प्रार्थना की—‘भगवन् ! इस ससार में विघ्न बहुत हैं । सोचा हुआ काम हो या न हो, कब तक हो कुछ भी पता नहीं चलता । दीक्षा लेने का मेरा विचार तो सुदृढ़ है, किन्तु वह कब क्रियान्वित होगा, कह नहीं सकता । इससे पहले मैं आपसे निवेदन करता हूँ कि मुझे आजीवन ब्रह्मचर्य की साधना करने का व्रत दिला दें ।’ सुधर्मस्वामी ने व्रत की दुष्करता और यौवन की भावकता के बारे में बताया और उसे बार-बार जागरूक किया । जम्बूकुमार ने कहा—‘भन्ते ! मैं पूर्णतः जाग्रत हूँ और समझ-बूझकर ही यह व्रत-ग्रहण कर रहा हूँ । आप बिना किसी सकोच के मुझे यह प्रतिज्ञा करवा दें ।’ सुधर्मस्वामी ने वह प्रतिज्ञा करवा दी ।

जम्बूकुमार घर पहुँचा। माता-पिता को अपने विरक्त होने की घटना सुनाई। दोनों ही पर जैसे कि कोई अनालोचित वज्रपात-सा हो गया हो। माता की आँखों से आँसू छलक पड़े और ममता का सागर उमड़ आया। विलखती हुई वह बोली—‘पुत्र ! तेरे पिता ने इतना धन कमा रखा है जो सात पीढ़ी तक भी नहीं खूट सकता। तेरा वर्तव्य है कि तू इसका उपभोग कर। सेठजी ने बड़ी कटी मेहनत से इसे कमाया है। तेरे जैसे पुत्र जब इसका उपभोग करेंगे, उनको अनीब प्रमन्नता होगी। यदि तू इस तरह अशुभ अवस्था में ही घर-गृहस्थी छोड़कर चला जाएगा तो कैसे तो आगे का परिवार चलेगा और कौन इस धन का उपभोग करेगा। यदि तुझे साधु हो बनना है तो बुढ़ापे में बनना, जिसमें अपनी भावी पीढ़ी भी चलनी रहेगी, धन का उपभोग भी होता रहेगा और तू अपनी माधना भी कर सकेगा। इस अवस्था में तो तेरा साधु बनना किसी भी दृष्टि से उपयुक्त नहीं कहा जा सकता।’

माता ने अपनी ममता का अचल खूब ही फैलाकर बिछाया, किन्तु जम्बूकुमार उसमें समेटा नहीं जा सका। उमने माता के कथन का उत्तर देते हुए कहा—‘मा ! तुझे तो यह ज्ञात ही होगा कि कभी-कभी धन को राजा हड़प लेता है। अग्नि में जलकर वह राख भी बन जाया करता है। चोरो द्वारा हथिया भी लिया जाता है। इसी धन के लिए पारिवारिकों में झगड़े भी हो जाया करते हैं। जब दिन पलट जाया करता है तो भरे हुए धन के भण्डार भी पत्थर हो जाया करते हैं। तू तो सब कुछ जानती है। धन ही मनुष्य का रक्षक या साथी नहीं है। यह तो मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन है। केवल धन के उपभोग के निमित्त ही जीवन जीना सरामर घाटे का सौदा है।’

उत्तर पक्ष का समाधान करते हुए जम्बूकुमार ने कहा—‘मा ! तुम मुझे कहती हो कि मे अच्छी तरह मे घर-गृहस्थी बसाकर साधु बनूँ, पर क्या मेरे भविष्य के बारे में तुम्हें अच्छी तरह पता है कि क्या होने वाला है ? व्यक्ति समझ तो यहाँ तक भी नहीं पाता कि अगले क्षण क्या होगा व अगला कदम कहाँ रखा जायेगा और योजनाएँ बना लेता है बहुत आगे की—सात पीढ़ियों की। क्या यह भी कोई समझदारी है ?

अनुराग के पास में जब जम्बूकुमार आबद्ध नहीं हो सका तो मा ने साधु-जीवन के परीषद् की भयानकता का सविस्तार उल्लेख करते हुए कहा—‘बेटा ! साधु-जीवन अत्यन्त दुष्कर है। तू बड़े लाडल-प्यार में पला है। कष्ट की तुम्हें अनुभूति तक भी नहीं हुई है। आराम से सुकोमल शय्या पर सोता है। खाने के लिए समयानुकूल व स्वास्थ्यानुकूल भोजन सकेत करते ही तेरे पास आ जाता है। यदि कहीं जाना भी होता है, रथ, घोड़े, शिविका आदि सभी तरह के वाहन तेरे लिए तैयार रहते हैं। तेरी परिचर्या के लिए सैकड़ों दास-दासी नियुक्त हैं। जीवन की कोई समस्या तेरे समक्ष नहीं है। किन्तु जिस दिन तू साधु बनेगा, विकट कष्ट तेरे सामने आएँगे। ऊबड़-खाबड़ जमीन पर केवल एक वस्त्र बिछाकर तुम्हें सोना होगा। भोजन के लिए

घर-घर भिक्षा करनी होगी। कोई तुझे आहार देगा, कोई नहीं भी देगा। कही रूखी-सूखी रोटी मिलेगी तो सब्जी नहीं मिलेगी। पैदल चलना होगा। अपना भार अपने कंधों पर उठाना होगा। शीत, ताप, दश-मस आदि के उत्कट परीषह अदीनवृत्ति से सहन करने पड़ेगे। वहा तेरा कोई दास-दासी नहीं होगा। केशो का लुचन करना होगा। जनता के कठोर वचन सुनकर उन्हें सहन करना पड़ेगा। बीमार हो जाने पर किसी गृहस्थ का शारीरिक सहयोग भी नहीं ले सकेगा। तेरे इस सुकुमार शरीर में यह क्षमता नहीं है। मेरी बात पहले ही तू मान ले, वरना मेघकुमार की तरह फिर कही पछताना न पड़ जाये ?'

जम्बूकुमार ने अपनी दृढ़ता बतलाते हुए कहा—'मा ! कायर व्यक्ति के लिए परोसी हुई रोटी खाना भी ठेढी खीर है और एक दृढप्रतिज्ञ के लिए लोहे के चने चबा जाना भी दूध की मलाई की तरह आसान है। कार्य कोई भी सरल या कठिन नहीं है। वह तो कर्त्ता की क्षमता पर ही निर्भर करता है। आसक्त व्यक्ति के लिए आपकी बात सर्वथा सही है, पर विरक्त के लिए उसका कोई महत्त्व नहीं है। मैं तुम्हारा पुत्र हूँ, अतः मेरे मे वह दृढ़ता है, जो किसी भी परिस्थिति में फिसलकर खण्डित नहीं हो सकती।'

धारिणी के सारे ही उपक्रम व्यर्थ गए। उसके मन में ममत्व उभर रहा था और उससे वह जम्बूकुमार के समत्व को तिरोहित करना चाहती थी, किन्तु सफल नहीं हो सकी। हारकर उसने अपने अन्तिम अस्त्र का प्रयोग करते हुए कहा—जम्बूकुमार ! तू मा-बाप का अत्यन्त विनीत है। हमारे प्रत्येक कथन पर तू पूरा ध्यान रखता है, अतः मैं तुझे एक पुरानी बात याद दिला रही हूँ। कुछ वर्ष पूर्व तेरी सगाई कर दी गई थी। अब यदि उसे छोड़कर तू साधु बनता है तो तेरे पिताजी की बात रहती है या जाती है, इस पर ध्यानपूर्वक कुछ विचार कर।

इस बार जम्बूकुमार का थोड़ा माथा ठनका। किन्तु अनुरागी यदि डाल-डाल पर होता है तो विरागी पात-पात पर होता है। उसकी अन्तर कलिया खुली हुई होती है। वह कहीं भटकता नहीं है और न किसी जाल में ही फसता है। जम्बूकुमार ने प्रश्न के रूप में कहा—'यदि मैं विवाह कर लेता हूँ तो क्या उसके बाद आप मुझे दीक्षित होने की अनुमति प्रदान कर देगी ?'

मा ने यह सोचकर कि फिर तो यह और जकड़ जायेगा, विराग पर अनुराग की सहज ही विजय हो जायेगी, कहा—'हां, फिर मैं तेरी प्रव्रज्या से पूर्णतः सहमत हूँ।'

मैं तो आजीवन ब्रह्मचारी बन चुका हूँ। उस व्रत से तो मुझे कोई भी शक्ति विचलित कर नहीं सकती। यदि केवल रस्म अदा करने से ही कार्य आसान हो जाता है तो इसमें मुझे क्या आपत्ति है, जम्बूकुमार ने इस आधार पर हा भर ली।

जम्बूकुमार की स्वीकृति से ऋषभदत्त और धारिणी को बहुत प्रसन्नता हुई। विवाह की तैयारियाँ होने लगीं। जम्बूकुमार का हृदय स्वच्छ था। वहा छत्र, विश्वास-

घात व ईर्ष्या नहीं थी। उसके मन में विचार उठा—‘मेरा विवाह हो जायेगा। मैं विरक्त हूँ, अतः साधु भी बन जाऊंगा, किन्तु मेरी होने वाली आठो पत्नियाँ तो विरक्त नहीं हैं। मेरे विचार से वे परिचित भी नहीं हैं। पूर्व जानकारी के बिना यदि मैं उन्हें छोड़ दूँगा तो उनके साथ धोखा होगा। उनका सारा ही जीवन आसंघ्यान में बीतेगा। यदि वे मेरे साथ सहर्ष साध्वी बनना चाहेगी तो उनके लिए भी कल्याण का मार्ग है, किन्तु विरक्ति तो अपने मन से ही सम्बन्ध रखती है। वह तो देखा-देखी होने वाली नहीं है, अतः मेरे लिए यह आवश्यक है कि मैं उन्हें पहले ही सूचित कर दूँ। मेरी सूचना के अनन्तर वे स्वतन्त्र हैं। चाहे जिस मार्ग का अनुसरण करे।’ जम्बूकुमार ने आठ व्यक्तियों को बुलाया और आठो ही कन्याओं के माता-पिता व स्वयं उन्हें भी अपने विचारों से सूचित करने के लिए भेजा।

पानी की निर्मलता स्वाभाविक होती है। उसमें गन्देलापन बाहर से आता है तब कीचड़ बन जाता है और पुनः किसी पदार्थ का संयोग मिलता है तो उसकी स्वच्छता निखर आया करती है। मनुष्य के विचारों का भी यही क्रम होता है। आठो ही कन्याओं ने दूत के द्वारा जम्बूकुमार का निर्णय सुना तो एक बार स्तम्भित-सी रह गईं। तरह-तरह के विचार उठे। कुछ उन विचारों में उलझी और कुछ ने उन्हें अच्छा समझा। सभी एकत्रित हुईं और अपनी-अपनी प्रतिक्रिया से एक दूसरी को परिचित करने लगी तथा किसी निर्णय पर पहुँचने के लिए सभी अकुलाने लगीं। एक ने कहा—कुमार जब तक हमारे साथ नहीं बैठता है, तब तक ही ब्रह्मचर्य-पालन की गप्पें हाँक रहा है। जब वह हमारे बीच बैठेगा और हमारे कटाक्ष उस पर पड़ेगे, अग्नि के पास रखे मक्खन की तरह पिघल जायेगा।

दूसरी ने कहा—यदि ब्रह्मचर्य-पालन के परिणाम सुदृढ़ होते तो विवाह का नाम ही नहीं लेता। विवाह की शीघ्रता अपने माता-पिता द्वारा तो हुई नहीं है। यह प्रस्ताव उनकी ओर से ही तो आया है ?

तीसरी ने कहा—मा-बाप के आग्रह से कुमार शादी कर रहा है तो शादी करने के बाद क्या वह हमारे आग्रह को ठुकरा देगा ? जैसे मा-बाप ने उसे राजी कर लिया है, हम भी राजी कर लेगी और वैराग्य का रंग धो डालेंगी।

चौथी ने कहा—यदि वह फिर भी नहीं माना तो हम भी क्या उससे कम हैं ? क्या हमारे में भी वह सामर्थ्य नहीं है ? हम भी गृहस्थाश्रम को छोड़ देगी और साध्वी बन जायेगी। इस कुमार को छोड़कर दूसरे किसी के साथ शादी करे, यह अपने लिए श्रेयस्कर नहीं है। हमने मन में उसे स्वीकार कर लिया है। अब चाहे वह अपने को छोड़े या स्वीकार करे। हमारा भविष्य तो उसके हाथों में ही सुरक्षित है। वह श्रेय के मार्ग पर अग्रसर होना चाहता है, हम प्रेय के केन्द्र पर खड़ी हैं। यद्यपि श्रेय और प्रेय का यह द्वन्द्व है, पर श्रेय के समक्ष प्रेय का महत्त्व भी तो क्या है ?

चौथी बहिन के विचार ने सबके हृदय में उथल-पुथल-सी मचा दी। उसका

कणन सबको भा गया। दो क्षण रुककर सबने ही उसका अनुमोदन किया और यह निर्णय किया कि यही श्रेयस्कर मार्ग है।

आठो कन्याओं के माता-पिताओं ने दूत के द्वारा जब जम्बूकुमार के दीक्षित होने के विचार व ब्रह्मचारी हो चुकने की प्रतिज्ञा सुनी तो वे असमञ्जस में पड़ गये। अन्तिम निर्णय करने के निमित्त उन्होंने अपनी कन्याओं से भी परामर्श किया। सभी कन्याओं ने स्पष्ट उत्तर दे दिया—यदि ब्याह करेगी तो जम्बूकुमार के साथ ही करेगी और किसी के साथ नहीं। यदि वे गृहस्थ रहकर भी ब्रह्मचर्य-पालन करना 'चाहेगे' तो हमें भी स्वीकार है। यदि वे साधु बनेंगे तो हम भी वैसा करने को कृतसंकल्प है। यदि वे गृह-वास करेंगे तो हम उसके लिए भी प्रस्तुत हैं। हम अपना समर्पण कुमार के चरणों में कर चुकी है। जिस कार्य में उनका भला है, उसमें हमारा भी भला है। आप कुछ चिन्ता न करें। जैसा कुमार चाहे, आप वैसा कर दीजिए। हमें सहर्ष स्वीकार है।

आठो ही कन्याओं ने दृढ़तापूर्वक अपने विचार बतला दिये। दोनों ओर से विवाह की नैयारिया होने लगी। ऋषभदत्त और धारिणी तो बासो उछलने लगे। उनका पुत्र सुकुमार, पूर्ण युवक व कान्तिमान् था। आठो कन्याएँ भी अपने सौन्दर्य, विचक्षणता व शालीनता में असाधारण थीं। दोनों ही पक्षों की ओर से विवाहोत्सव में करोड़ों रुपये व्यय किये गये। मागलिक दिन धूमधाम के साथ विवाह सम्पन्न हुआ। जम्बूकुमार अपनी आठ नवोढाओं के साथ घर आया और माता-पिता के चरणों में गिरा। ऋषभदत्त और धारिणी ने जी भर कर पुत्र व वधुओं को आशीर्वाद दिया। कन्याओं के माता-पिता ने देहेज में निन्नावे करोड़ सौनये, एक सौ बाणवे प्रकार के आभूषण, मिठासन आदि अतः भार व बहुमूल्य वस्त्र तथा सैकड़ों ही दाम-दासी दिये।

जम्बूकुमार के माता-पिता व कन्याओं के माता-पिता को फिर भी यही चिन्ता लग रही थी कि अगला सूर्योदय होते ही कहीं यह घर छोड़कर भाग निकलेगा। विपुल धन व लावण्य में यह लुभायेगा नहीं। किन्तु वे तो अपने विचार कह ही सकते थे। करना या न करना जम्बूकुमार की इच्छा पर ही निर्भर था।

सायंकाल जम्बूकुमार अपनी आठो नवोढाओं के साथ महल में बैठा था। उनके मन में तो केवल साधुत्व की ही भावना थी। वह चाहता था कि श्रेय के मार्ग पर अपनी सहर्षमिणियों को भी ले चले। नवो व्यक्तियों में बातचीत आरम्भ हुई। आठो स्त्रियाँ एक ओर और जम्बूकुमार एक ओर। तर्क-वितर्क चलने लगे। आठो का प्रयत्न था कि कुमार हमारी ओर आकर्षित हो जाए और कुमार का प्रयत्न था कि हम सभी विरक्त होकर प्रातःकाल एक साथ सयम ग्रहण करें।

आठो स्त्रियों के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—१ समुद्रश्री, २ पद्मश्री, ३ पद्मसेना, ४ कनकसेना, ५ नभसेना, ६ कनकश्री, ७ रूपश्री और ८ जयश्री।

समुद्रश्री ने वार्तालाप का आरम्भ करते हुए कहा—पतिदेव! आप सयम-ग्रहण करने के लिए उत्सुक हैं, यह बात सुन्दर है। किन्तु आपको आगे-पीछे का भी कुछ विचार

करना चाहिए। हम अपने स्वार्थ से आपके मार्ग में विघ्न उपस्थित करना नहीं चाहती। परन्तु आपका यह सुकुमार शरीर इस दुःसह भार का वहन करने में सक्षम नहीं है। आप घर में रहें और आनन्दपूर्वक जीवन व्यतीत करें, यही उत्तम है। हृद्यमान आनन्द को छोड़कर केवल अरूप आनन्द के पीछे दौड़ना बुद्धिमानी नहीं होगी, अतः आप कुछ सोचें। हमने वह बग किसान की घटना सुन रखी है, जिसमें आगामी आशा में वर्तमान में उपलब्ध का परिहार कर दिया था और फिर आखे भग्न-भरकर रोया था। हमारी बात यदि नहीं मानेंगे तो आपको भी उस किसान की तरह पछताना पड़ेगा।

जम्बूकुमार ने प्रश्न किया—भद्रे ! वह बग किसान कौन था और उसे किस तरह पछताना पड़ा था, जरा घटना सुनाओ तो ?

समुद्रश्री ने कहा—पतिदेव ! ध्यान से सुनें।

थली प्रदेश में एक किसान रहता था, जिसका नाम बग था। इस प्रदेश में एक ही फसल होती है और उसमें मोठ, बाजरा, मोग आदि कुछ ऐसे ही वान्य पैदा होते हैं। एक बार वह किसान अपने सुसराल मेवाड़ में गया। वहां गन्ने की भी खेती होती थी। जिन दिनों में वह अपने सुसराल गया था, गन्ना पक चुका था और काटा जा रहा था। जगह-जगह कोलू चल रहे थे। गन्ने का रस निकाला जा रहा था। गुड़ बन रहा था और कहीं-कहीं शक्कर भी बनाई जा रही थी। वहां के किसान रात्नीरो को रस बहुत पिलाते थे और गुड़ भी खिलाने थे। रस पीने का बग किसान के जीवन में पहला मौका था। उसे वह बहुत मीठा व स्वादिष्ट लगा। जितने दिन वह सुसराल रहा, भरपेट रस पीता रहा व गुड़ खाता रहा। जब वह लौटने लगा, अपने साले से उसने पूछा—‘इसके बीज कहाँ पैदा होते हैं ? कुछ मुझे भी दे दो ताकि अपने देश में भी खेती कर सकूँ और इस आनन्द को लूट सकूँ।’

साले ने कहा—‘इसके बीज इसकी गाठ में ही होते हैं। अपने गांव में गन्ने उतारें, आप चाहे जितने ले जायें और खेती करें।’

बग बहुत खुश हुआ। कई महीने वहां रहने के बाद जब घर चलने लगा, सने कच्चे गन्ने खरीदे और उनसे कई ऊट व गांठें फिराये पर लेकर भर लिए और अपने साथ ले आया। जब वह घर पहुँचा था, सावन-भाद्रव का महीना था। वर्षा अच्छी हुई थी, अतः फसल भी अच्छी हो रही थी। खेतों में छोटे-छोटे सुन्दर पीपे लहलहा रहे थे। आते ही उसने अपने कौटुम्बिकों से कहा—‘इस बार मैं एक नई ही किस्म के बहुत अच्छे बीज लाया हूँ। यदि उन्हें बोया गया तो सारा ही दारिद्र्य दूर हो जायेगा। पैदावार बहुत बढ़ेगी और उससे आय भी बहुत होगी। जो फसल खटी है, उसे अभी काट डालो। चौमासा है, वर्षा हो रही है, अतः यह खेती भी पक जायेगी। यदि कुछ दिन और निकल गये तो फिर कुछ भी नहीं बनने का है।’

पारिवारिकों ने कहा—‘यह मूर्खता कैसे की जा सकती है ? इतने बड़े परि-

श्रम से बीज बोया, फसल तैयार की, अब जबकि वह थोड़े ही दिनों में कटने वाली है और सैकड़ों मन अनाज पैदा होने वाला है, क्या इसे बीच ही में उखाड़ दे ?'

बग ने कहा—'अभी तो इस फसल में केवल अनाज ही पैदा होगा, किन्तु गन्ना बोने से रस से सरोबार खेती होगी। आप किसी तरह चिन्ता न करें और इस फसल को उखाड़कर अभी से गन्ना बो दें।'।

पारिवारिकों के यह बात नहीं जची। उन्होंने कहा—'इतनी क्या शीघ्रता है ? जब यह फसल कट जाये, गन्ना बो देना। तेरा चाहा हुआ भी हो जायेगा और यह फसल भी नष्ट नहीं होगी।'।

बग ने हँसते हुए कहा—'आप तो सारे ही बड़े डरपोक हैं। इतने घबराने से कोई काम थोड़े ही बनता है। आखिर तो अपने पुरुषार्थ और भाग्य पर भरोसा करना पड़ता है। आपको जैसे इस फसल से दीख रहा है कि सैकड़ों मन अनाज होगा, मुझे भी उसी तरह नजर आ रहा है कि गन्ने की फसल बोते ही घन का ढेर लग जायेगा।'।

बग किसान अधिक विचार-विमर्श को अनावश्यक समझ कर खड़ी फसल को स्वयं काटने लगा और दूसरों से भी कटवाने लगा। दो दिन में सारे खेत साफ हो गये। दूसरी बार हल चलाये गए और उसमें गन्ना बो दिया गया। खेत में पानी देने के लिए कुआ खूदवाया गया। बड़ी मेहनत की। खोदते गये, पर पानी नहीं निकला। आसपास कोई नदी, नहर या तालाब भी नहीं था-। थोड़े ही दिनों में खेती सूखने लगी और चौपट हो गई। किसान सिर पर हाथ रखकर रोने-भीकने लगा, किन्तु 'अब पछताये होत क्या जब चिड़िया चुग गईं खेत'। पहली फसल भी गई और गन्ने की फसल भी।

समुद्रश्री ने जम्बूकुमार का ध्यान आकर्षित करते हुए कहा—पतिदेव ! अपने सामर्थ्य की अवहेलना कर जो व्यक्ति ज्यादा डींगें हाकता है, उसे इस किसान की तरह झरना पड़ता है। साधु बनना बहुत अच्छा है, किन्तु आप किस वातावरण में पले-पुसे और कितने ऐश-आराम में रहे हैं, उसको देखते हुए क्या आप इस असिधारा-व्रत को अंगीकार कर उस पर चल सकेंगे ? हठ से यदि आप इस मार्ग पर चल भी पड़े तो सफल नहीं हो सकेंगे। थोड़ी दूर चलने के बाद एकदम क्लान्त हो जायेंगे। आपको वापस गृहस्थ में आना पड़ेगा। साधु बनकर गृहस्थ बनना कितना निकृष्ट काम है, यह आप जानते ही हैं। अतः हमारा निवेदन है कि परलोक की आकांक्षा में हस्तगत की न ठुकराये।

जम्बूकुमार ने अपनी निर्वेद भाषा में कहा—भद्रे ! सासारिक सुखोपभोग कितने वास्तविक हैं, यह किसीसे छुपा नहीं है। इनमें दो क्षण का आनन्द है। इनसे वृष्ट्या बढ़ती है और व्याधि विस्तीर्ण होती है। जब शरीर ही अपना नहीं है तो केवल इसको ही दृष्ट-पुष्ट करने के निमित्त जीना मुझे तो बुद्धिमानी नहीं लगती। यदि मेरे सामने वास्तविक सुख होते तो मैं कभी भी उन्हें छोड़ने की भूल नहीं

करता । किन्तु जो है वे अतात्त्विक है, अतः उनके पीछे सब कुछ होम देना भी मैं कोई विचक्षणता नहीं मानता । जो ऐसा करता है, वह तो मूर्ख कीवै जैसा होता है ।

समुद्रश्री ने नम्रतापूर्वक पूछा—मूर्ख कौवा कौन था ? उसकी क्या घटना है ?

जम्बूकुमार ने कहा—वह उदन्त भी तुम सुनो ।

जंगल में एक हाथी मर गया । दिन में बहुत सारे पक्षी वहाँ आने और उसका मांस खाते । जब संध्या का समय होता, सभी अपने-अपने घोंसलों में चले जाते । एक कौवा मांस का बहुत लोलुप था । वह रात को भी वहीं बैठा रहता, उड़ता नहीं । एक बार रात को मूसलाधार वर्षा हुई । चारों ओर पानी ही पानी हो गया । सब जगह बाले-खाले चलने लगे । वह कलेवर भी पानी की धार में आ गया और बहता हुआ किसी बड़ी नदी में जा मिला । कौवा फिर भी वहाँ से नहीं उड़ा । नदी का पानी समुद्र तक पहुँच गया । साथ में कलेवर और उस पर बैठा हुआ वह कौवा भी । समुद्र के पानी का क्या थाग और कहा तीर ? वहाँ पहुँचने पर कीवै की आँखें खुलीं । वहाँ से अपने घोंसले पर पहुँचने के लिए उड़ा । दिशाओं का ज्ञान तो था नहीं । रात का अन्धेरा था । तट छोड़ दिया और समुद्र की गहराई की ओर उठने लगा । बहुत उड़ा, फिर भी उसे न कोई वृक्ष मिला और न कोई मकान, पहाड़ या और कोई स्थान जहाँ पर बैठ कर विश्राम कर सके । उड़ता हुआ थक गया । पों फटी । कुछ उजाला हुआ । कीवै ने आश्रय के लिए चारों ओर नजर दौड़ाई । पानी के अतिरिक्त उसे और कुछ भी दिखाई नहीं दिया । ऊपर-नीचे उड़ता रहा । उसके पक्ष उसका कितनी देर साथ दे सकते थे । वह वहीं गिर पड़ा और मर गया ।

जम्बूकुमार ने समुद्रश्री को प्रतिवोध देते हुए कहा—कीवै की माम-गुदता की तरह मैं तो इन सुखों में आसक्त बनकर अपनी मूर्खता का परिचय देना नहीं चाहता । कीवै की मूर्खता पर प्रत्येक व्यक्ति हँसेगा, किन्तु अपनी प्रवृत्ति की ओर कोई नजर नहीं डालता । ससार के भोगों में लुब्ध बनना, आत्मा की दृष्टि से सरासर घाटे का सीढ़ा है ।

समुद्रश्री मौन हो गई । जम्बूकुमार की उक्ति उसके दिल में धर कर गई । वह भी अपने अन्तर-विवेक से जीवन की नश्वरता व आत्मा के मौलिक स्वभाव का चिन्तन करने लगी । मन ही मन उसने सकल्प कर लिया कि यदि प्रातः काल होते ही जम्बूकुमार दीक्षित होगे तो मैं भी पीछे नहीं रहूँगी ।

जम्बूकुमार के तर्कों का जब समुद्रश्री ने कोई उत्तर नहीं दिया तो पद्मश्री उसके प्रति व्यग्न कसती हुई बोल उठी—बहिन ! हम तो तेरे भरोसे निश्चिन्त थीं । किन्तु तू तो हमसे बदल गई और अपने विरोधी विचारों से प्रभावित हो गई । अब मेरी वाक्-पटुता देखो । मैं इन्हें अपनी ओर खींच लूँगी ।

पद्मश्री ने स्नेहिल नेत्रों से जम्बूकुमार की ओर देखा और कहा—प्राणनाथ ! सीमा में ही सब कुछ अच्छा लगता है । आप सुख की रट लगा रहे हैं । जो आपको

प्राप्त है, उसे आप नगण्य समझ रहे हैं और इससे अधिक पाने को व्यग्र है। किन्तु लोभ अच्छा नहीं होता। पहले आप इसका उपभोग करें और फिर अधिक पाने का प्रयत्न। यदि इसे यो ही ठुकरा दिया और अनुभव प्राप्त नहीं किया तो आगे यदि अधिक मिल भी गया तो वह किस काम का? मनुष्य भोजन उतना ही कर सकता है, जितना कि उसके पेट में स्थान होता है। मन दो मन भोजन सामने पड़ा भी हो तो उससे क्या बनने का है? आठ हम और इतना प्रचुर धन, इसका उपभोग आप क्यों नहीं करते हैं? यदि अधिक लोभ करेंगे तो बन्दर की तरह पछताना होगा।

भद्रे! वह बन्दर कौन था, जिसे पछताना पड़ा था। उसका वृत्तान्त भी तो सुनाओ, जम्बूकुमार ने कहा।

पद्मश्री ने कहा—बात बहुत सरस और शिक्षाप्रद है। आप ध्यान से सुनें और मेरे निवेदन पर कुछ चिन्तन करें।

सुन्दर जंगल में एक बावड़ी थी। उसका पानी बहुत स्वच्छ, हितकारी व मधुर था। आसपास में कोई आबादी नहीं थी, अतः उसका उपयोग भी नहीं होता था। पाना विशेष चामत्कारिक भी था। ऐसी किंवदन्ती थी कि यदि कोई बन्दर उसमें एक डुबकी लगा लेता है तो वह मनुष्य बन जाता है। उसी जंगल में एक बन्दर अपनी पत्नी के साथ रहता था। एक दिन क्रूरता-फादता हुआ वह वही पहुँच गया। दोनों के ही मन में विचार आया कि यहाँ स्नान करना चाहिए। दोनों ने ही डुबकिया लगाई और मनुष्य बन गए। बन्दर पुरुष हो गया और बन्दरी महिला। दोनों को ही इससे अपार खुशी हुई। दोनों ने एक दूसरे के चेहरे को निहारा और अपने भाग्य की भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे। थोड़ी देर वहाँ आमोद-प्रमोद करते रहे। बन्दर को कुछ उन्माद सूझा। उसने अपनी पत्नी से कहा—‘एक डुबकी में यदि हम पशु से मनुष्य बन गये तो हो सकता है, दूसरी डुबकी में देव बन जायें। यदि हमारी यह कल्पना मूर्त हो जाती है तो इससे बढ़कर हमारा और क्या सौभाग्य होगा?’

पत्नी ने बात काटते हुए कहा—‘अब अधिक लोभ में नहीं पड़ना चाहिए। पशु से मनुष्य और यह सुरूप हो गया तो इससे बढ़कर और क्या होना है? अधिक बनने के प्रयत्न में कहीं ऐसा न हो जायें कि मूल पूजा भी हाथों से निकल जायें। मुझे तो अब और कुछ प्रयत्न उचित नहीं लगता।’

बन्दर पुरुष ने एक भी नहीं सुनी। वह बावड़ी में गया और एक डुबकी लगा आया। मन में फूला नहीं समा रहा था। पत्नी की बुद्धि पर उसे तरस आ रही थी और स्वयं को वह महापण्डित समझ रहा था। उच्छलता-क्रूरता हुआ पत्नी के पास आया और गर्व के साथ बोला—देख मैं बन गया हूँ और तू अब मेरी ओर ताकती ही रह जायेगी।

पत्नी ने हँसते हुए कहा—क्या बन आये?

बन्दर पुरुष ने अभिमान के साथ ठहाका मारते हुए कहा—देव।

पत्नी ने व्यग कसते हुए कहा—क्या मनुष्य भी तो रहे ? छब्बेजी बनने गये थे, दुब्बेजी बन गये हैं । अपना रूप तो निहारो । पुन बन्दर हो गये हो । प्रमाण चाहिए तो अपने पीछे पूछ देख लो ।

बन्दर ने पीछे हाथ किया तो पूछ पकड़ में आ गई । इधर-उधर और देखा तो उसे स्पष्ट लगने लगा कि मैं मनुष्य से देव तो नहीं बना, अपितु मूल के रूप में आ गया । दिल को एक गहरा वक्का लगा । निश्चेतन-मा हो गया । पत्नी ने कहा—मैंने पहले ही कहा था, ऐसा न कीजिए । मेरी बात नहीं मानी, उसका परिणाम सामने आ गया ।

आखो में आसू भरते हुए बन्दर ने कहा—तो अब तू मेरी बात मान ले ।

पत्नी ने पूछा—क्या ?

बन्दर ने कहा—एक बार डूबकी लगा ले । दोनों एक जैसे हो जायेंगे । साथ-साथ रहेंगे । अपना मूल स्वरूप तो कही नहीं जायेगा ।

पत्नी ने कहा—मैं ऐसी मूर्ख नहीं हूँ । न तो मेरे मन में अप्सरा बनने की लालसा है और न अब तुम्हारे आनन्द के लिए इस मनुष्यत्व को छोड़ने के लिए ही तैयार हूँ । सब अपने-अपने कृतकार्यों का परिणाम भोगते हैं । तुमने लोभ किया, उसका दुष्परिणाम मैं क्यों भोगू ?

बन्दर ने अपना बहुत रोना रोया, पर उसकी पत्नी ने कुछ भी नहीं सुना । वह अपने आपको अकेला अनुभव करने लगा । संयोग ऐसा मिला कि उसी दिन एक राजकुमार उस जंगल में से गुजरा । उसने उस तस्वी को देखा तो वह उस पर मुग्ध हो गया । उसने विवाह का प्रस्ताव रखा और उसने अपनी मौन स्वीकृति दे दी । राजकुमार उस युवती को अपने महलो में ले आया और सुखपूर्वक रहने लगा ।

बन्दर जंगल में भटक रहा था । कुछ दिन बीत गए । एक दिन वह भी एक मदारी के हाथ चढ़ गया । मदारी को वह अच्छा लगा, अतः अपने घर ले आया । उसे अपनी कला सिखलाई और उसमें पूर्ण पारंगत कर दिया । बन्दर भी बड़ा होशियार था, अतः जल्दी ही सब कुछ सीख गया । एक गाव से दूसरे गाव, एक नगर से दूसरे नगर व एक राज्य से दूसरे राज्य में घूमता हुआ मदारी बन्दर की कला का प्रदर्शन करता और अपनी आजीविका चलाता ।

एक बार वह मदारी उसी नगर में पहुँच गया, जहाँ कि रानी के रूप में बन्दर की भूतपूर्व पत्नी रहती थी । मदारी के कन्धों पर बन्दर था और वह शहर में चक्कर लगा रहा था । रानी की उस पर नजर पड़ी और उसने उसको पहचान लिया । मदारी के साथ उसे ऊपर बुला लिया । बन्दर ने भी अपनी पत्नी को पहचान लिया । राजा के सामने उसके करतब दिखलाए गए । राजा को वे बहुत पसन्द आए । रानी ने भी बहुत प्रशंसा की । रानी के मन में अपना पुराना अनुराग उभर आया । उसने राजा के समक्ष प्रस्ताव रखा कि यदि इस बन्दर को अपने पास ही रख लें तो कैसा

हो ? मनोरजन का अच्छा साधन है । राजा के भी वह बन्दर मन भा गया । मदारी के हाथ अच्छी रकम आ गई और वह उस बन्दर को राजा के हाथ सौंप कर चला गया ।

रानी और बन्दर दोनों महलो में रहते । वह उसे रोटी भी खिलाती और कभी-कभी पास भी बैठती । किन्तु स्वयं महलो में आनन्द भी लूटती । रानी एक रानी की हैसियत से रहती और बन्दर एक बन्दर की तरह । रानी के लिए व्यवहार्य आनन्द का उपभोग बन्दर थोड़े ही कर सकता था । बन्दर अपनी भूतपूर्व सहधर्मिणी को उन महलो में राजा के साथ आमोद-प्रमोद करते हुए देखता । उसे वह बावड़ी और अपना लोभ याद आ जाता । आखे पानी से भर जाती और हृदय एक प्रकार की मार्मिक वेदना से । वह बहुत पछताता । उसे इसलिए भी अधिक दुःख होता था कि उसकी पत्नी तो अपनी बुद्धिमत्ता के कारण राजमहलो में आनन्द लूटती है और वह अपनी लोभवृत्ति के कारण जिन्दगी के दिन गिन-गिन कर काट रहा है ।

पद्मश्री ने कहा—प्राणनाथ ! आप उस बन्दर से कम नहीं हैं । हस्तगत सुख-साधनों को छोड़कर केवल आत्मा और मोक्ष की रट लगा रहे हैं, मुझे बताये तो सही वह आत्मा और मोक्ष इसके अतिरिक्त और है क्या ?

जम्बूकुमार ने हँसते हुए कहा—भद्रे ! मुझे उस पुण्यहीन लकड़हारे की तरह मत समझना जो अपनी भूर्खता के कारण जंगल में जीवन से हाथ धो बैठा था । मैं यदि इन प्राप्त सुख-साधनों को भी ठुकराता हूँ तो भविष्य के लिए केवल आशा-वान् होकर ही नहीं, अपितु पूर्णतः विश्वस्त होकर ऐसा करता हूँ । नश्वर सुखों को छोड़कर शाश्वत सुखों के लिए ही तो आतुर हो रहा हूँ ?

पद्मश्री ने कहा—पतिदेव ! वह भाग्यहीन लकड़हारा कौन था, जिसकी घटना के आधार पर आप अपना पक्ष पुष्ट कर रहे हैं । यदि उसके निमित्त से आपने मेरी युक्ति काट कर अपना अभिमत प्रमाणित कर दिया और यदि वह मेरे गले उतर गई तो मैं भी अपना आग्रह छोड़कर आपके साथ दीक्षित हो जाऊँगी ।

जम्बूकुमार ने पद्मश्री को सम्बोधित करते हुए सभी रमणियों से कहा—एक गाव में एक लकड़हारा रहता था । वह भूर्ख व दुर्भाग्यशाली था । कोयले बनाने के लिए वह प्रतिदिन सूखे जंगल में जाता और जो थोड़ा बहुत भी उसे मिल जाता, उससे वह अपना भरण-पोषण करता । एक दिन गर्मी के मौसम में वह जंगल में गया । चिलचिलाती धूप थी । तेज लू चल रही थी । एक बार पीने जितना-सा पानी साथ ले गया था । कहीं-कहीं एक दो छोटे-छोटे पेड़ थे जिनकी पूरी छाया भी नहीं बन पाती थी । सूखे लकड़ इकट्ठे किये और कोयले बनाने के लिए उनमें आग लगा दी ।

चिलचिलाती धूप व प्रचण्ड अग्नि के कारण उसे भयकर प्यास लग गई । जो थोड़ा पानी पास में था, उसने उसे एक बार में पी लिया, फिर भी प्यास शान्त

न हुई। इधर-उधर जंगल में पानी की खोज के लिए खूब घूमा, पर पानी नहीं मिला। आसपास में कोई गांव भी नहीं था। प्यास के मारे अकुलाने लगा। और कुछ उपाय नहीं सूझा तो बहुत दूर एक वृक्ष के नीचे वह लेट गया। नींद आ गई। प्यासा होने से उसने स्वप्न भी वैसा ही देखा। उसे लगा, वह घर पहुंच गया है और वहां जितना पानी था, पी गया। प्यास शान्त न हुई। कुछ पर गया और वहां का भी सारा पानी पी गया। फिर भी प्यासा रहा तो समुद्र पर पहुंचा। प्यास की इतनी अधिक अनुभूति हो रही थी कि समुद्र का पानी भी उसके लिए अपर्याप्त रहा। समुद्र के किनारे से वह फिर घर आ गया। प्यास के मारे इधर-उधर भटकने लगा। उसे कोई उपाय नहीं सूझा। बहुत खोज करने पर उसे कुछ भीगे हुए तिनके दिख-लाई दिए। मरता क्या नहीं करता? उसने वे तिनके भी अपने मुंह में निचोड़ लिए। प्यास शान्त नहीं हुई। थोड़ी देर में वह जग पड़ा। प्यास और अधिक उग्र हो गई थी। उसे वह सह नहीं सका। तड़फड़ता हुआ वही जंगल में मर गया।

जम्बूकुमार ने अपनी घटना का उपमहार करते हुए पद्मश्री से पूछा—क्यों शिवे! उन भीगे हुए तिनको से क्या उसकी प्यास शान्त हो सकती है, जबकि कुछ व समुद्र के पानी से भी नहीं हुई।

पद्मश्री ने कुछ शरमानते हुए कहा—स्वामिन्! उन भीगे हुए तिनको से तो प्यास शान्त कैसे हो सकती है?

जम्बूकुमार ने अपने अभिमत की ओर आकृष्ट करते हुए कहा—जिम एश्वर्य व सुख-सुविधा की ओर तुम सब मुझे वकलना चाहती हो, वे तो भीगे हुए तिनको के समान हैं। गत जन्मों में स्वर्ग का अपार वैभव भी मैं बहुत बार पा चुका हूँ। तुम भी पा चुकी हो, किन्तु उससे हमारी आत्मा भरी नहीं है। वे सुख तो समुद्र की तरह थे। मनुष्य-जीवन के सुख तो चाहे वे किनने भी बड़े व मात्रा में अधिक क्यों न हों, सीमित, सद्य विनश्वर व अतृप्ति करने वाले ही हैं। यदि इन सुखों के लिए आत्मिक आनन्द को लुटाया गया तो क्या हम उस भाग्यहीन लकड़हारे का उदाहरण चरितार्थ नहीं कर देंगे?

समुद्रश्री की तरह पद्मश्री भी निरुत्तर होकर एक ओर बैठ गई। पद्मसेना को यह अच्छा नहीं लगा। उनका बहुमत हटता जा रहा था और जम्बूकुमार का बढ़ रहा था। उसने अपनी सहज चपलता के साथ चुटकी भरते हुए कहा—स्वामिन्! आपकी यह हठवादिता देख कर मुझे कपिला रानी की स्मृति हो आती है। वह रानी थी, किन्तु उसके मन में लालसा अधिक जागृत हुई, जिसके परिणामस्वरूप वह रानी से रक बन गई। पश्चात्ताप में ही उसका सारा जीवन समाप्त हुआ। आप भी यदि इसी तरह हठवादिता में रहे तो बहुत दूर नहीं, कुछ ही दिनों बाद कष्टों में झूल जाएंगे। फिर आपको यह सम्पत्ति और हमारा कथन याद आएगा। फिर आप इस ओर ललचाई आँखों से देखेंगे। किन्तु एक बार तीर जब हाथ से निकल जाता है तो उसके

बाद पछताने से कुछ बनने का भी नहीं होता ।

जम्बूकुमार ने अपनी सहज मुस्कान के साथ पूछा—भद्रे ! वह कपिला रानी कौन थी और उसे किसलिए इतना पछताना पड़ा था ?

पद्मसेना ने बहुत चातुरी के साथ घटना सुनानी आरम्भ की। उसने कहा—स्वामिन् ! यह बात बहुत पुरानी है, पर बहुत रोचक व शिक्षाप्रद है। वसन्तपुर नामक नगर में जितशत्रु राजा राज्य करता था। उसकी ही रानी का नाम कपिला था। उसी नगर में देवदत्त नामक एक स्वर्णकार भी रहता था। स्वर्णकार की पुत्र-वधू व्यभिचारिणी थी। देवदत्त ने कई बार अपनी आँखों से उसे ऐसा करते देख लिया था। उसने अपने लड़के से कहा। लड़का अपनी पत्नी से अधिक प्यार करता था, अतः उसे अपने पिता का यह कहना बहुत ही बुरा लगता। वह तो अपनी पत्नी को सती-साध्वी समझ रहा था।

देवदत्त को अपने पुत्र व वधू का यह व्यवहार अच्छा नहीं लगा। केवल अपने अनुराग से ही सच्चे को झूठा और झूठे को सच्चा मानने का यह तरीका खलने वाला था। वह इस खोज में था कि कोई प्रमाण उपस्थित किया जाए ताकि लड़के को मेरी सत्यता पर विश्वास करना पड़े। एक दिन बहू अपने प्रेमी के साथ गहरी नींद में सो रही थी। देवदत्त ने उसे देख लिया। चुपके से पास जाकर उसने बहू के गहने उतार लिए। बहू को कुछ पता न चला। जब वे दोनों जगे तो देवदत्त पर उनका सन्देह हुआ। बहू ने अपने पति से यह सारी घटना दूसरा ही चोगा पहनाकर सुनाई। उसने कहा—आपके पिता मेरे साथ बुरा व्यवहार चाहते हैं। मुझे वह स्वीकार नहीं है। इसी का ही परिणाम है कि उन्होंने मेरे गहने अपने हाथ से उतार कर छीन लिये। मैं इस अपमान को सहन नहीं कर सकती।

लड़का देवदत्त के पास गया तो उसने वे गहने उसके सामने रख दिए और उसने कहा—‘यद्यपि तू मेरी बात नहीं मानेगा, किन्तु अब मेरे पास यह पुष्ट प्रमाण है।’

गहने देखते ही लड़का गुस्से में भर गया। कड़कते हुए बोल पड़ा—आप बुढ़े हो चुके हैं। आपको ऐसी बातें करते हुए शर्म आनी चाहिए। अपनी गलती दूसरे के सर पर मढ़ने में कितना पाप है, यह तो कोई छुपी हुई बात नहीं है ?

देवदत्त और उसका लड़का बड़े जोरो से एक दूसरे पर आक्षेप-प्रत्याक्षेप कर रहे थे। विवाद यहाँ तक बढ़ा कि झगड़े का रूप बन गया। दोनों को झगड़ते हुए देखकर लड़के की बहू भी वहाँ आ पहुँची। पति-पत्नी ने देवदत्त को आड़े हाथों लिया। आसपास के कई लोग भी वहाँ जमा हो गए। लड़के की बहू बोल उठी—स्वसुर द्वारा लगाया गया यह आरोप असत्य है। जब तक सत्य प्रमाणित न हो जाए, मुझे चैन मिलने का नहीं है। इसके लिए मैं जनता के बीच धीज करूँगी और सत्य व असत्य का निर्णय पच दे।

धीज की बात विद्युत् की तरह नगर में फैल गई। बूढ़े हवसुर पर सबको घृणा हुई। बहू के प्रति सबके मन में सहानुभूति जागृत हुई। धीज का समय निश्चित हो गया। हवसुर को अपनी सत्यता पर विश्वास था तो बहू अपनी धूर्तता के बल पर अपने असत्य को प्रकट नहीं होने देती थी। उसने गुप्त रूप से अपने प्रेमी को बुला कर अपनी योजना बता दी। ज्योंही धीज करने के लिए वह चलने लगी, त्योंही उसका प्रेमी पुरुष दौड़ता हुआ आया और एक पागल की तरह उसने उसके साथ गपकी भर ली। बहू ने उसे हटाने का बहुत प्रयत्न किया, पर वह तो दूर हुआ ही नहीं। कुछ लोगो ने उसे पकड़ कर दूर किया। वह बकने लगा। उसका एक ही कहना था—‘आज तू धीज करने के लिए खड़ी हुई है, पर कुलटा का भी क्या कभी कोई धीज होता है?’ उपस्थित जनता ने उसे पागल समझ रखा था, अतः उसके कथन पर किसी ने विश्वास नहीं किया। जनता, देवदत्त और पुत्र-बधू धीज करने के लिए नगर से बाहर देवी के मन्दिर में पहुँचे। देवी के बारे में जनता को यह पूरा विश्वास था कि सच्चा व्यक्ति यहाँ पर अच्छी तरह सच्चा प्रमाणित हो जाता है और झूठा बिना मौत ही मारा जाता है। बहू ने साहस के साथ सभी लोगो के सामने देवी को सम्बोधित कर कह दिया—‘मैंने अपने पति व इम पागल के अतिरिक्त और किसी पुरुष का अनुराग बुद्धि से स्पर्श भी किया हो तो तत्काल मेरी घात हो जाए और यदि ऐसा नहीं हुआ है तो मेरा सत्य प्रमाणित हो। वह तत्काल देवी के पैरों के नीचे से निकल गई। देवी उस पर आक्रमण कैसे करती? वह बच निकली। उपस्थित जनता जोरो से बोल उठी—बहू सती है और बूढ़ा इस पर झूठा आक्षेप लगाता है। बहू भी बासो उछलने लगी।

देवदत्त का सर झुक गया। उसे काटो तो खून नहीं। उसे क्या पता था कि दुराचार के आवरण में सत्य भी इस तरह ढक जाता है। वह अपना मन मसोस कर अपने घर आ गया। जीवन दुःखी हो गया। यदि वह घर से बाहर जाता है तो लोग उसे खिजाते हैं और बाहर न जाने पर स्वयं घर ही उसे खाने दौड़ता है। न उसे खाने की सुध थी और न रहने की। रात भर बैठा-बैठा तारे गिनता। एक पागल की तरह उसका जीवन बीतने लगा।

राजा को एक ऐसे आदमी की आवश्यकता थी जो दिन-रात बिना रुपकी लिए द्वारपाल का काम कर सके। बहुत खोज की गई, पर ऐसा कोई व्यक्ति नहीं मिला। राजा ने जब देवदत्त के बारे में सुना कि वह कतई नीद नहीं लेता है तो उसे अपने यहाँ बुला लिया और महलों में द्वारपाल के स्थान पर नियुक्त कर दिया। देवदत्त बड़ी सतर्कता के साथ अपनी जिम्मेदारी को निभाता।

रानी कमला का प्रेम एक महावत के साथ हो गया। प्रतिदिन हाथी अपनी सूँड़ से रानी को नीचे उतार लेता और कुछ देर के बाद उसे पुनः महलों में चढ़ा देता। एक दिन राजा महलों में ही था, अतः रानी नियत समय पर अपने प्रेमी के पास नहीं

पहुँच सकी। महावत गुस्से में भर गया। उसने हाथी बाधने की साकल रानी की पीठ पर दे मारी। आग बरसाते हुए उमने कहा—आज इतनी देर से तू कैसे आई? मैं तो तेरे लिए ही रात काली कर रहा था? रानी उसके पैरों में पड़ गई, गिड़गिड़ाने लगी और उसने अपनी परिस्थिति बतलाई। रानी दो एक घण्टे तक महावत के साथ रही और फिर हाथी ने उसे अपनी सूड़ से उठाकर महलो में पहुँचा दिया।

देवदत्त ने यह सारी घटना अपनी आँखों से देखी। उसे आश्चर्य हुआ कि राजमहलो में भी ऐसी घटनाएँ घटती हैं। अपने घर की घटना तो उसे छोटी-सी लगी। उसका मन कुछ हल्का हुआ। दिल में असह्य वेदना होने से उसे इतने दिन नींद नहीं आई थी, पर आज जबकि कुछ वेदना का अनुभव कम हुआ, नींद आ गई। राजा ने उसे ऊँघते हुए देख लिया। राजा ने उसे जगाया और सरोष पूछा भी कि आज नींद कैसे आ गई?

स्वर्णकार ने हँसते हुए कहा—राजन्! मेरा मन कई वर्षों से आज हल्का हुआ था। मन में बहुत दुःख था, पर एक घटना को देखकर वह कुछ कम हो गया, अतः नींद का आना स्वाभाविक ही था।

राजा ने आश्चर्य के साथ पूछा—वह क्या घटना थी, जिससे तेरी हराम हुई नींद भी पुनः आ गई।

देवदत्त ने स्मित शब्दों में कहा—महाराज! कहने में सकोच होता है और आपका भय भी लगता है। जीवन में एक बात कही थी, जिसका परिणाम नींद न आने के रूप में मुझे आज तक भोगना पड़ रहा था। यदि यह बात मुह से निकल गई तो कहीं प्राणों से ही हाथ धोना न पड़ जाये।

राजा ने आदेश के रूप में कहा—नहीं, तुम बिना किसी सकोच व भय के मुझे घटना सुनाओ। मैं तेरे पर अप्रसन्न नहीं, अपितु प्रसन्न ही होऊँगा।

राजा का सकेत पाकर देवदत्त ने रात बीती सागी घटना कह सुनाई। राजा को विश्वास नहीं हुआ। उसने देवदत्त को टोकते हुए कहा—तू भूठा है। रानी ऐसी नहीं हो सकती।

देवदत्त ने कहा—मैं आपके समक्ष प्रमाण उपस्थित करता हूँ। यदि वह प्रमाण सत्य न हो तो मुझे भी सत्य मत मानना।

राजा ने पूछा—प्रमाण क्या है?

देवदत्त—रानी की पीठ पर साकल की मार का निशान लगा होगा। आप प्रत्यक्ष देख लें।

राजा—नहीं। साकल की इतनी कठोर मार से तो रानी जीवित भी नहीं रह सकती। एक बार मैंने केवल फूलों का गुच्छा हल्के हाथ से उसके मारा था, उसमें भी वह मूर्छित हो गई थी।

देवदत्त—राजन्! कई बार फूलों के गुच्छे की मार से आदमी घायल हो

जाता है, पर साकल की मार से नहीं होता । यह मारने वाले पर निर्भर करना है । आप जाकर देखे तो सही ?

राजा तुरन्त महलो में आया । उसने रानी को अपने पास बिठाया और मीठी-मीठी बातें करने लगा । रानी अपना भेद खुलने देना नहीं चाहती थी, अतः वह राजा से कम ही बोलती और दूर खिसकने का प्रयत्न करती तथा अपना शरीर कपड़ों में छुपाये रखने की असफल चेष्टा भी करती । किन्तु जिस प्रकार हृदय छुपाये नहीं छुपता, वह बाणी के द्वारा प्रकट हो ही जाता है, उसी प्रकार पाप पर भी कितने ही पद क्यों न डाले जायें, वह ढका नहीं जा सकता । राजा ने अक्सर पाकर उमकी पीठ पर से कपड़ा हटा दिया । साकल की बहुत जोर की मार लगी हुई थी । राजा कुपित हो गया । उसने रानी को चुनौती देते हुए कहा—मेरे महलो में तेरे पर यह नृशम प्रहार किसने किया ? मुझे उसका नाम बताना होगा ?

रानी की जबान पूरी तरह से दब गई थी । वह क्या कहे और किमके ब्राने में कहे । राजा से वह सहा नहीं गया । उसने कड़े शब्दों में रानी को फटकारा और सारी घटना कह सुनाई । राजा ने महावत को भी बुला लिया और रानी के साथ उसे अपने देश से निकाल दिया ।

महावत और रानी सीमा पार एक गांव में पहुंचे । देवालय में जाकर दोनों ने विश्राम लिया । उसी रात को शहर में एक बड़ी चोरी हो गई । चोर धन-माल चुराकर दौड़ने लगा । लोगों को खबर हो गई और उन्होंने उमका पीछा कर लिया । चोर भी दौड़ता हुआ उसी देवालय में पहुंच गया । प्राण बचाने के लिए कोई उपाय खोजने लगा । रानी ने भी उसे देखा । वह उस पर मोहित हो गई । उसने कहा—यदि आप मेरे पति हो जायें तो मैं आपको इस कष्ट से बचा सकती हूँ । चोर ने इस प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार कर लिया । रानी ने महावत की आशंका करते हुए कहा—सारा धन उसके पास रख दो और मेरे पास आकर लेट जाओ । अब मैं अपने आप आपको बचा लूंगी । चोर ने वैसा ही किया । थोड़ी ही देर में पीछा करने वाले भी वहां पहुंच गये । महावत के पास धन पड़ा देखा तो उसे धन के साथ गिरफ्तार कर लिया । महावत गिड़गिड़ाते हुए बोला—मैं चोर नहीं हूँ । चोर तो वह देखो मेरी पत्नी के पास लेट रहा है । मुझे क्यों गिरफ्तार करते हो ?

इसका क्या प्रमाण, पीछा करने वालों ने पूछा ।

मेरी उस पत्नी से पूछ लो, महावत ने रानी की ओर संकेत करते हुए कहा ।

सारे ही लोग वहां पहुंचे । उन दोनों को जगाया गया और रानी से पूछा गया—दोनों पुरुषों में चोर कौन है ?

रानी ने महावत की ओर संकेत करते हुए कहा—चोर तो यह है । मैं इसकी पत्नी कब थी ? यह अपने बचाव के लिए मेरे पर झूठा अधिकार जमाना चाहता है । महावत गिरफ्तार कर लिया गया । महावत के दिल को बहुत चोट पहुंची ।

वह अपना दुःख सुनाये भी तो किसी सुनाये और क्या कहकर सुनाये । उसे यह भरोसा नहीं था कि इतने दिन पुराने प्रेम को तिलाजलि देकर रानी इस प्रकार विश्वासघात करेगी । महावत को शूली का दण्ड दे दिया गया । उसके अब दुःख का पार नहीं रहा । जल्लाद उसे शूली पर चढ़ाने के लिए ले जा रहे थे और वह सिसकिया भर रहा था । रास्ते में उसे जिनदास श्रावक मिला । उसने उसे घोरज बधाते हुए कहा— कायर की मौत क्यों मरते हो ? तुम्हारा अपराध चाहे हो या न हो, पर यह तो सही है कि तुम अपने को निरपराध तो प्रमाणित नहीं कर सके । अपराधी की आत्मा रोनी चाहिए । निरपराधी क्यों तड़फे ? अपनी गलती से या अन्य किसी कारण से तेरा यह जीवन तो समाप्त हो गया, पर इस प्रकार रो-भीककर भविष्य अन्वेष में क्यों डालता है ? मन में समता रख । अब किसी के साथ भी वैर-भाव रखना व्यर्थ है । आखिर व्यक्ति जो कुछ पाता है, उसमें दूसरा तो कोई निमित्त ही होता है, उपादान नहीं । आर्त्तध्यान छोड़ ।

सेठ की प्रेरणा से महावत का टूटा हुआ धैर्य कुछ सबल हुआ । मरते समय अच्छे अध्यवसाय आये । 'अन्त मति सो गति' अतः शुभ परिणामों के आघार पर महावत भी अपने अगले जन्म में देव बना ।

महावत शूली पर लटका दिया गया और चोर बच निकला । रानी महावत के प्रति प्रेम को छोड़कर चोर के साथ प्रेम करने लगी । सूर्योदय होते ही रानी चोर के पीछे-पीछे उसके गांव की ओर चलने लगी । कुछ दूर चले होंगे कि एक बड़ी नदी बीच में आ गई । नदी का वेग भी बहुत था और पानी भी गहरा था । चोर ने रानी से कहा—तुम नदी पार नहीं कर सकोगी, अतः मैं पहले उस पार जाकर अपना सामान छोड़ आता हूँ और फिर मैं तुम्हें ले जाऊंगा । रानी ने यह बात मान ली । उसने अपने सारे गहने व कपड़े उतार कर उसे दे दिये । उसने एक गठरी में सब कुछ बांध कर अपनी पीठ पर रख लिया और तैरता हुआ उस पार पहुँच गया । चोर के मन में आया, जो औरत राजा को छोड़कर महावत से और महावत को छोड़कर मेरे से प्रेम करने लगी, उसका क्या भरोसा कि वह आगे और भी क्या-क्या करेगी । मेरे साथ भी अच्छी तरह रह सके, ऐसा मुझे नहीं मानना चाहिए । इसने जैसे महावत को धोखा दिया है, मौका आने पर मुझे भी धोखा दे सकती है और मेरे भी प्राण लूट सकती है । मुझे तो यह अच्छा अवसर मिल गया । यदि मैं अब पुनः न लौटूँ तो यह मेरा पीछा भी नहीं कर सकेगी और मेरे से पूर्णतः परिचित न होने से किसीसे मेरे बारे में कुछ कह भी नहीं सकेगी ।

रानी और चोर दोनों दो तटों पर खड़े थे । रानी ने जोर से आवाज लगाई और इस ओर आने का आग्रह किया । चोर बोल पड़ा—अब मैं तेरे चक्कर में नहीं आऊंगा । मैंने तो तेरा आचार और प्रेम देख लिया है । कौन ऐसा मूर्ख होगा जो जान-बूझकर तेरे जैसी औरतों के पीछे खराब होगा । महावत जो तेरा घनिष्ठ प्रेमी था, उसे भी यदि तू ने इस तरह भरा डाला तो फिर मेरी कौन-सी गिनती है ? चोर तो यह

कहकर वहा से अपने घर की ओर चल पडा। रानी को इससे बहुत दुःख हुआ। वह रोने-चिल्लाने लगी। शरीर पर न गहने और न कपडे। खाने-पीने और रहने का तो प्रश्न ही कहा ? अब उसे अपने राजमहल याद आने लगे। राजा भी याद आया, किन्तु याद आने से ही वे मिलने वाले नहीं थे। रानी का कोई आश्रय नहीं रहा। वह नदी के किनारे खड़ी-खड़ी सिसकिया भरती हुई अपने दुःख को बाहर निकालने लगी।

शुभ परिणामो मे मृत्यु पाकर महावत देवयोनि मे उत्पन्न हुआ था। उसने अपने ज्ञान-बल से रानी का जीवन भी जाना। नदी के किनारे उसे विलखते हुए देखा। सियाल का रूप बनाकर वह वहा आया। मुह मे मास का एक टुकडा था। नदी के तट पर आकर पानी मे उसने एक मछली को देखा। उसको पकडने के लिए वह नलचा उठा। सियाल के आने पर रानी का ध्यान भी कुछ टूटा और वह अपने दुःख को भूलकर उसकी ओर देखने लगी। सियाल अपने मुह मे रहे मास के टुकडे को तट से कुछ दूर रख आया और मछली पकडने के लिए कुछ प्रयत्न करने लगा। कुछ दूर गया और आया, इतने मे वह मछली भी पानी की गहराई मे चली गई और सियाल की नजरो से ओझिल हो गई। निराश सियाल वापस लौटा तो उससे पहले ही मास के टुकडे को कोई पक्षी उठा ले गया। मछली भी नहीं मिली और मास भी चला गया। यह घटना देखकर रानी से न रहा गया। वह बोल पडी—सियाल ! तू कितना मूर्ख है ? लालच मे तो हर कोई गला कटाता है। यदि परिणाम को सोच कर मछली के पीछे न दौडता तो कम से कम मास तो तेरे पास रह ही जाता ? किन्तु वह भी चला गया। अब तुम्हे दोनो ओर से पछताना पडेगा।

सियाल ने रानी पर तीखा व्यंग कसते हुए कहा—मुझे तेरी तरह तीनो ओर मे तो पछताना नहीं पडेगा।

रानी—मैं तीन ओर से कैसे पछता रही हूँ, भाई सियाल ?

सियाल—पहले तू ने राजा से प्रेम किया बाद मे महावत और फिर चोर से। आज तो तीनो ही तेरे नहीं है और तू दुःख मे यहा विलख रही है। मेरे से तो तू अधिक मूर्ख है।

रानी के शरीर मे बिजली-सी कौध गई। उसके मन मे आया—मेरे अत्यन्त प्रच्छन्न जीवन का इसे क्या पता ? यह तो भोला पशु है ? रानी इस तरह आखें मूदे विचारो मे उलझ ही रही थी कि सियाल ने अपना देव का रूप बनाया और रानी से कहा—क्यो मुझे पहचानती है ? रानी ने आखे खोली और उसे देखा तो शर्म के मारे उसकी गर्दन झुक गई। रानी इतना ही बोल पाई—आप यहा कैसे ? महावत ने अपनी सारी घटना सुनाई। रानी उसके पैरो मे गिर पडी अपने अपराध के लिए बार-बार क्षमा मागने लगी और अपने पुराने प्रेम की याद दिलाने लगी। देव ने उसे दुत्कारते हुए कहा—ऐसी कमीनी औरत से कभी पाला ही न पडे, यही बस अच्छा है। मैं अब तो तेरा कुछ भी भला नहीं करूंगा।

वह वहा से चला गया। रानी दर-दर की ठोकरे खाने लगी। अपने विगत जीवन को याद करती, पर वह उसे अब कहा से मिल सकता था।

पद्मसेना ने अपनी कहानी को समाप्त करते हुए जम्बूकुमार से पूछा—क्यो स्वामिन् ! अब भी समझे या नहीं ? प्राप्त सुख में जो सन्तुष्ट नहीं होता, उसे कपिला रानी की तरह पछताना पड़ता है।

जम्बूकुमार ने पद्मसेना से कहा—भद्रे ! कपिला तो इसलिए दुःखित हुई थी कि अपने पति के अतिरिक्त अन्य से प्रेम करती थी, जो कि केवल अनुचित ही नहीं, वृणित भी था। मैं न तो अपनी परिणीता स्त्री से प्रेम करता हूँ और न अन्य से, अन मुझे दुःख क्यो भेलना पड़ेगा। जो इस चक्कर में पड़ता ही नहीं, वह कैसे दुःख पा सकता है। लगता है, विद्युत्माली और मेघमाली ब्राह्मण दोनों भाइयों की तू ने घटना सुनी नहीं है, इसीलिए ऐसा कह रही हो।

पद्मसेना ने अनन्तपूर्वक कहा—वह कौन-सी घटना है प्राणनाथ ! कृपया सुनाये तो सही।

जम्बूकुमार ने कहा—इसी भरत क्षेत्र में कुष्ट नगर था। वहा विद्युत्माली और मेघमाली दो भाई रहते थे। वे ब्राह्मण थे और अत्यन्त दीन व गरीब थे। शहर में बहुत धूमते। दक्षिण में यदि कुछ मिल जाता तो उससे वे अपना काम चला लेते। एक दिन शहर के बाहर वृक्ष की छाया में दोनों ही लेट रहे थे। एक विद्याधर उधर से आया। वह भी कुछ समय के लिए वहा विश्राम लेने लगा। तीनों की परस्पर बाते हुईं। विद्याधर को उनकी गरीबी पर करुणा आ गई। उसने उनसे कहा—यदि मेरे योग्य कोई कार्य हो तो बताओ, मैं उसे करूँगा। तुम दोनों की यदि गरीबी दूर हो सकती हो तो मैं वह भी करने के लिए प्रस्तुत हूँ।

दोनों ही भाइयों ने परस्पर विचार-विमर्श कर उससे विद्या मागी। विद्याधर ने उनकी माग स्वीकार कर ली। उसने कहा—इसकी साधना कुछ कठिन है। यदि वह तुम कर पाओगे तो मुझे उसमें प्रसन्नता ही होगी।

दोनों ही भाइयों ने जिज्ञासापूर्वक पूछा—वह साधना क्या होगी महाभाग ! और कैसे करनी होगी ?

विद्याधर ने कहा—यह एक मन्त्र है और उसका छह महीने तक जाप करना होगा।

दोनों ही भाइयों ने विस्वास के साथ कहा—यह तो हम अच्छी तरह कर सकेंगे। हमारे लिए यह कोई कठिन कार्य नहीं है।

विद्याधर—किन्तु इसके साथ ही तुम्हें चण्डाल-कन्या के साथ विवाह करना होगा। छह महीने तक उसके साथ रहते हुए अखण्ड ब्रह्मचर्य-व्रत आवश्यक है। ब्राह्मण होते हुए भी तुम ऐसा कर सकोगे ?

दोनों भाई—क्यो नहीं महाभाग ! चण्डाल-कन्या के साथ गृहवास तो

करना ही नहीं है, फिर उममे सोचने जैसी क्या बात है ? हमे शादो करना भी स्वीकार है और ब्रह्मचर्य का पालन भी । आप हमे वह मन्त्र बताये ।

विद्याधर ने वह मन्त्र बतला दिया । दोनों भाइयों ने दो चण्डाल-कन्याओं के साथ विवाह कर लिया और मन्त्र-साधना में लग गये । विद्युत्माली कुछ ही दिनों बाद ङिग गया । वह अपने मन को वश में नहीं रख सका । उसका ब्रह्मचर्य-व्रत टूट गया । फलस्वरूप विद्या सिद्ध नहीं हुई और वह बात भी ब्राह्मण समाज में फूट गई । समाज से वह वहिष्कृत कर दिया गया । पहले से वह और अधिक दुःखित हो गया ।

मेघमाली अपने प्रण में आङिग रहा । छह मास तक उसने अस्खलित साधना की । उमकी विद्या सिद्ध हो गई । इसके बाद वह जहा कही भी जाता, लोग बड़ा आदर करते । राजा भी उसे सम्मान की दृष्टि से देखता । विद्वान हो गया था, अतः राज-पण्डित की उपाधि से भी उसे विभूषित किया गया । सम्मान के साथ धन भी बढ़ा । उसका विवाह भी फिर राज-कन्या के साथ हुआ । उमका जीवन सुख से बीता ।

जम्बूकुमार ने अपनी सभी नवोढाओं से कहा—यदि गृहवास करता हूँ तो मेरी भी साधना ङिग जायेगी और विद्युत्माली की तरह केवल इसी जन्म में नहीं, जन्म-जन्मान्तर में पछताना पड़ेगा । मैं मेघमाली की तरह अपनी साधना को अक्षुण्ण रखते हुए आत्मा के भविष्य को सोचता हूँ । वर्तमान के किसी प्रलोभन में भविष्य को घुन्धला कभी नहीं बनाना चाहिए ।

पद्मसेना का सारा ही प्रयत्न विफल हुआ । अपने अभिमत का तार्किक उत्तर पाकर वह भी अपनी पूर्व दो स्त्रियों के साथ जाकर मौन बैठ गई । कनकसेना ने अपना बुद्धि-कौशल दिखलाना आरम्भ किया । उसने कहा—प्राणेश ! आप तो क्षेत्रकुटुम्बी की तरह लालची हो गये हैं । केवल अनासक्ति से ही काम नहीं चलेगा । यह माना कि आप विरक्त हैं, पर यह विरक्ति इस जीवन के साथ नहीं चल सकेगी । एक-एक कदम बढ़ाने से ही मजिल तय की जा सकती है, छलाग भरने से नहीं । आप अभी सम्यक्त्वी बने हैं । कुछ वर्ष श्रावक के व्रतों का पालन करिये । जब वृद्धावस्था आ जाये, विचार परिपक्व व स्थिर हो जाए, आप साधु बने । हम आपको पूरा सह-योग देगी । इस अधखिली व अल्हड अवस्था में आपका यह निर्णय गले नहीं उतरा । ऐसा लगता है, आगे-पीछे का कुछ भी बिना सोचे केवल लोभ में पडकर आग्रह कर रहे हैं । क्षेत्रकुटुम्बी ने भी तो यही किया था ?

जम्बूकुमार को कनकसेना के कथन पर मन ही मन हँसी आ गई । फिर भी उसने कहा—शिवे ! वह क्षेत्रकुटुम्बी कौन था ? उसने क्या लोभ किया था और उसे कैसे पछताना पडा था, संक्षेप में वह घटना तो सुनाओ ?

कनकसेना को कुमार के आदेश से प्रसन्नता हुई । उसने वह घटना सुनाते हुए कहा—क्षेत्रकुटुम्बी एक परिश्रमी किसान था । वह रात और दिन अपने खेत में काम करता । एक बार उसके खेत के पास से कुछ चोर निकले । चोर शहर से कुछ पशु व

बहुत सारा धन चुरा लाये थे। अन्धेरी रात थी। किसान अपने स्वाभाविक रूप से थोड़ी-थोड़ी देर बाद शख-ध्वनि करता और अपने काम में जुट पड़ता। चोर जब उधर से निकले तो वह शख बजा रहा था। चोरो ने सोचा—हमारा पीछा हो रहा है। उन्होंने वह धन, माल और पशु वहीं छोड़ दिये और जान बचाने की लालसा से वहाँ से दौड़ गये। कुछ चूल बुल होने से किसान का ध्यान भी उधर लग गया। वह भी वहाँ आ गया। चोर तो दौड़ गये थे। उसने वहाँ पड़ा धन-माल व पशु देखे तो बड़ा खुश हुआ। वह सब कुछ अपने घर ले आया।

क्षेत्रकुटुम्बी के घर खूब धन हो गया। पशु भी काफी हो गये तो उसका जमींदारे का-सा रोब पड़ने लगा। पास पड़ोस के मित्र उससे पूछते—इतना धन कहाँ से ले आया? कहीं डाका तो नहीं डाला है?

किसान गरजते हुए कहता—मैं क्यों डाका डालूँ जबकि मेरे पर ठाकुरजी की पूर्ण कृपा है। यह सब कुछ मेरा नहीं है, यह तो उनका ही पुण्य-प्रसाद है जो मुझे भाग्य से मिला है। मुझे तो ठाकुरजी के बहुत बार दर्शन होते हैं। वे मेरी भक्ति से पूरे रीझे हुए हैं। जिसके रो-रो में ठाकुरजी रमे हों, भला ऐसा क्यों न होता हो। तुम भी ठाकुरजी की सच्चे दिल से उपासना करो। वे तो सब पर ही प्रसन्न होते हैं और सबको ही अपने पुत्र के समान समझते हैं।

क्षेत्रकुटुम्बी ने अपने घर में ही ठाकुरजी का एक मन्दिर बनवा लिया। बहुत सारे लोग वहाँ आते, पूजा करते और चढ़ावा चढ़ाते। किसान की आय और बढ़ गई। धन बरसने लगा। ज्यों धन बढ़ा त्यों लालसा भी बढ़ी। इतना होने पर भी वह खेत जाना कभी भूलता नहीं था। वहाँ वह उसी तरह से श्रम करता, जैसे कि पहले करता था। फसल पक चुकी थी। एक बार रात में फिर उन्हीं चोरो का दल उधर से निकला। किसान ने अपनी रोजमर्रा की आदतवश शख बजाया। चोरो ने उसे सुना तो पिछली बार की उन्हें स्मृति हो आई। उनके मन में आया—हमारा पीछा तो कोई नहीं कर रहा है। उस समय भी हमने इस भय से सारा धन व पशु यहीं छोड़ दिये थे, किन्तु इस बार इसकी खोज करनी चाहिए। ध्वनि के अनुसार वे सारे ही किसान के खेत में पहुँच गये। सारी स्थिति का उन्हें ज्ञान हुआ। उन्होंने किसान को पकड़ लिया और अपनी पल्ली में ले गए। उसे बहुत पीटा। किसान कातरभाव से उनकी ओर देखने लगा। हिम्मत कर उसने उनसे पीटे जाने का कारण पूछा। चोरो ने कहा—तू ने शख बजाया था, इसलिए हम धन छोड़कर चले गये थे। तू ने हमारा धन हड़प लिया। जब तक वह धन वापस नहीं करेगा, हम तुम्हें पीटते रहेंगे और फिर भी नहीं देगा तो जान का भी तुम्हें खतरा है।

किसान धन भी देना नहीं चाहता था और बच निकलना भी चाहता था, पर चोरो ने ऐसा नहीं होने दिया। मार खाकर अन्त में उसे उन्हें धन लौटाना पड़ा और पशु भी वापस करने पड़े। लोगो में उसकी अप्रतिष्ठा हुई। सभी ने उसकी लोभवृत्ति

को बुरा बताया ।

कनकसेना ने कहा—प्राणनाथ ! मालूम पड़ता है, इतने धन और हम आठ से आप सन्तुष्ट नहीं हुए हैं । मन में कुछ और अधिक पाने की लालसा है, किन्तु यह अच्छी बात नहीं है । हमारा तो निवेदन करने का कर्तव्य है, जो हमने पूरा कर दिया है । आप माने चाहें न माने ।

जम्बूकुमार ने प्रत्युत्तर में कहा—कल्याण ! मेरे लिए सुख-सुविधाएँ व ऐश-आराम प्रचुर हैं । कोई भी उन्हें छीनने वाला नहीं है । किन्तु वस्तुतः ये स्वयं ही नश्वर हैं । इनसे जो आनन्द की प्राप्ति होती है, वह भी क्षणिक है । मैं इनसे अमन्तुष्ट होकर विरक्त नहीं हो रहा हूँ, अपितु आत्म-सन्तोष से प्रेरित होकर ही ऐसा कर रहा हूँ । अप्राप्त का त्याग वास्तविक त्याग नहीं है । प्राप्त भोगों का जो परिहार करता है, वही त्यागी है । तुम्हें जिन काम-भोगों में सार प्रतीत होता है, मुझे वे निस्सार व दुःखप्रद लगते हैं । 'विषकुम्भ पयोमुखा' पूरा घड़ा विष से भरा है । केवल उसके मुँह पर ढूँढ़ है । तुम मुझे जिवर प्रेरित करना चाहती हो, वहाँ यह उक्ति पूर्णतः सार्थक होती है । मैं उस तरुण बन्दर की तरह प्यास बुझाने के लिए कीचड़ में नहीं घुसूँगा और न कीचड़ को अपने शरीर पर ही मलकर अपने प्राण गवा दूँगा ।

कनकसेना ने पूछा—प्राणनाथ ! ऐसा वह तरुण बन्दर कौन था ? कृपया उसकी सारी घटना तो सुनाये ?

जम्बूकुमार ने कहा—एक बहुत रमणीक जगल था । पेड़-पौधे फल-फूलों में लदे थे । जगह-जगह सरोवर व झरणों में मीठा, ठण्डा व निर्मल जल था । वन्य पशु भी आनन्दपूर्वक वहाँ घूमते । बन्दरों की एक टोली भी वहाँ स्वतन्त्रतया कूदती-फादती थी । एक तरुण बन्दर भी कहीं से उसी जगल में आ गया । उसकी अन्य बन्दरों के साथ पटती नहीं थी । परस्पर झगडा होता रहता । वह अकेला था और उसका विरोधी सारा झुण्ड था । अतः वह उनसे पराभूत हो गया । आखिर उसे जगल छोड़ देना पड़ा । वह दूसरे जगल में पहुँचा । वहाँ भी ऊँचे-ऊँचे पहाड़, हरे-भरे वृक्ष बहुत थे, किन्तु पानी नहीं था । न तो कोई झरणा था और न कहीं नदी । वह बन्दर आगा-पीछा बिना कुछ सोचे ही वहाँ रह गया । एक-दो दिन निकाल दिये । फल-फूल खा लेता और वृक्षों पर व पहाड़ की चट्टानों पर छलांगें मारता रहता । थोड़ी बहुत प्यास लगी तो उसने पानी की खोज की, पर पानी नहीं मिला । भाग्य भरोसे छोड़कर वृक्ष की एक टहनियों पर लेट गया ।

गर्मी के दिन थे । आकाश में सूर्य तप रहा था, अतः पहाड़ी जमीन भी उबल रही थी । ऊपर और नीचे के ताप से वृक्षों पर भी अनहद गर्मी थी । कभी वह ऊषने लगता और कभी जगता तो तड़फने लगता । प्यास से अतिशय आकुल हो गया । पानी की टोह में निकला, पर पानी दूर-दूर तक कहीं दिखाई नहीं दिया । भटकता हुआ हार गया । उसने जगल का चप्पा-चप्पा छान डाला । एक जगह उसे थोड़ा कीचड़

दिखलाई पड़ा। प्यास बुझाने के लिए वह वहाँ पहुँचा, किन्तु कीचड़ से थोड़े ही प्यास शान्त हो सकती थी ? उसने कीचड़ मुँह में भी डाला। शरीर पर भी मला, कुछ ठंडा लगा, परन्तु प्यास बूझी नहीं। वह उस कीचड़ में लेट भी गया। कुछ देर वह वहीं लोट-पोट होता रहा। बाहर की शीतलता से अन्तर की प्यास कैसे मिट सकती थी ? वह बाहर निकला। धूप लगी तो शरीर पर लगा हुआ कीचड़ भी सूखने लगा। उससे उसका शरीर सिकुड़ने लगा और वेदना बढ़ती ही गई। वह कूक मचाने लगा। किन्तु वहाँ उसका रक्षक कौन हो सकता था ? बिलखते हुए व तड़फते हुए उसने अपने जीवन से हाथ धो डाले।

कनकसेना ! मैं ऐसा नहीं हूँ कि इस वैषयिक आनन्द रूप कीचड़ में फँसकर आत्मा के सर्वोपरि हित को बन्दर की तरह खाक कर डालूँ। जिधर तुम सबका रुझान है, वह क्या कीचड़ से कम है, जम्बूकुमार ने कहा।

जम्बूकुमार की युक्ति से कनकसेना प्रभावित हुई। वह भी अपनी तीन बहिनो के साथ जा बैठी। नभसेना ने भी अपनी वाक्पटुता दिखलानी आरम्भ की। उसने कहा—स्वामिन् ! एक कहावत है कि 'लोभे डुबे वाणियो' बनिया लोभ में डुबता है। आप भी बनिये हैं, अतः आज मुझे यह कहावत याद आ गई। साधना पुण्य-प्राप्ति व पापक्षय के लिए की जाती है। आपके पुण्य की प्रचुरता है, अतः साधना के दुरूह मार्ग पर बढ़ने का सकल्प क्यों कर रहे हैं ? प्राप्त पुण्य का उपभोग न करने से क्या पाप की वृद्धि नहीं होती है ? आपका तो यह उल्टा मार्ग है। मुझे लगता है, आप इस पुण्य-सचय से सन्तुष्ट नहीं हैं। यदि ऐसा ही है तो आप जानते हैं कि असन्तुष्ट हमेशा पछताता है। सिद्धि और बुद्धि दो महिलाओं की घटना तो आपने सुनी ही होगी ?

जम्बूकुमार ने कहा—नहीं सुभगे ! मैंने वह घटना नहीं सुनी है। तुम सुनाओ।

नभसेना ने कहा—स्वामिन् ! सिद्धि और बुद्धि नामक दो गरीब महिलाएँ थीं। दोनों ही नौकरानी का काम करती और ज्यों-त्यों अपना पेट भरती। गाव के बाहर छाना बीनने का काम भी वे करती थीं। एक दिन कण्ठ बनाते हुए बुद्धि को एक ब्राह्मण मिला। उसके दुःखित चेहरे को देखकर ब्राह्मण ने उसकी आजीविका के बारे में पूछा। बुद्धि की आँखें डबडबा आईं और गर्म निश्वास निकलने लगे। रूकते हुए गले से उसने अपनी सारी जीवन-कथा कह सुनाई। ब्राह्मण का दिल कष्ट से भर गया। उसने बड़े कोमल शब्दों में कहा—बहिन ! तुम छह महीने तक गणेश की उपासना करो। वे प्रसन्न होंगे और तुम्हारा सारा दुःख दूर कर देंगे।

बुद्धि ने ब्राह्मण की बात मान ली। वह रात-दिन तन्मयता के साथ जाप करती। छह महीने पूरे होने पर गणेश उस पर प्रसन्न हुए। इच्छित वरदान देने का वचन दिया। बुद्धि ने सोच-विचारकर प्रतिदिन की एक मोहर मांगी। गणेश ने कहा—तथास्तु। गणेश चले गये और उसे प्रतिदिन एक मोहर मिलने लगी। धीरे-धीरे

उसकी आवश्यकताएँ पूरी हो गईं और कुछ मग्न भी हो गया। जीवन आनन्दपूर्वक बीतने लगा, किन्तु उसकी तृष्णा कम न हुई।

बुद्धि की सम्पन्नता को देखकर सिद्धि मन में सोचने लगी, इमने यह वन कहाँ से पाया? हम तो साथ ही काम करती हैं, पर मेरे पास तो खाने के लिए पूरे दाने भी नहीं हैं और यह गुलछरें उड़ाती है। या तो इसे वन कहीं पड़ा हुआ मिला है या किसी बटोही को मारकर इसने उससे छीना है। इन दो बातों के अतिरिक्त तो और कुछ हो नहीं सकता। बड़ी होशियारी में वह उसे पूछती, पर बुद्धि भी अपना रहस्य उसे देना नहीं चाहती थी।

सिद्धि ने बुद्धि का पीछा नहीं छोड़ा। प्रयत्न करती रही और एक दिन नम्रता के द्वार से उसके हृदय में उतर गई। उसकी मगी बहिन बनकर उसने गणेश की पूजा का वह सारा हाल उसके मुँह से कहलवा लिया। वह भी उसी तरह से उपामना करने लगी। छह महीने पूरे होने पर गणेश को उसे भी वरदान देना पड़ा। सिद्धि ने अपने लिए प्रतिदिन की दो मोहरे मागी, क्योंकि वह बुद्धि से दुगुनी धनी बनना चाहती थी। गणेश अपने स्थान लौट आए और उसे वे दो मोहरे प्रतिदिन मिलने लगे। उसका भी अभाव पूरा हो गया और वह मजे में रहने लगी।

बुद्धि न जब अपने से अधिक उसकी सम्पन्नता देखी तो वह समझ गई कि गणेश को ही कृपा का यह पुण्य-प्रसाद है। उसने फिर दूसरी बार आराधना की। छह महीने बाद उसी तरह गणेश ने दशन दिए और वरदान मागने का कहा। बुद्धि फूली नहीं समाई। हाथ जोड़कर उसने निवेदन किया—प्रभो! जितना सिद्धि को देते हैं, उससे दुगुना तो मुझे दे। गणेश ने तथास्तु कहा। सिद्धि से बुद्धि के पास धन अधिक हो गया। उसे जब पता चला तो उसने भी पुनः आराधना की और बुद्धि से दुगुना धन मागा। इस प्रकार बुद्धि और सिद्धि में परस्पर होड़ लग गई। एक दूसरी से अधिक धन चाहती थी और दूसरी के धन से जलती भी थी। दोनों के ही मन में कुटिलता समा गई। दोनों ही इस ताक में थी कि एक दूसरी का किसी भी तरह से पराभव किया जाए। बुद्धि ने एक बार एक रास्ता खोज निकाला। उसने फिर एक बार छह महीने तक आराधना की और वरदान में कहा कि मेरी एक आख फोड़ डालो। गणेश ने फिर तथास्तु कहा।

सिद्धि बुद्धि के प्रत्येक कार्य पर पैनी नजर रखती थी। वह उसे अपने से अधिक धनी बनने देना नहीं चाहती थी। जब उसे यह ज्ञात हुआ कि बुद्धि ने फिर गणेश की आराधना की है तो उसने भी वैसा ही किया। गणेश को आना पड़ा। वे बेचारे बार-बार आते हुए परेशान हो गए थे। इस बार आए तो उनके मन में कुछ अव्यक्त-सा रोष था। फिर भी उन्होंने अपने भक्त को दुत्कारा नहीं। मधुर शब्दों में कहा—‘वरदान मागो।’ सिद्धि के तो यह भाग मुँह पर लगी हुई ही थी कि मुझे बुद्धि से दुगुना दो। इस बार भी उसने ऐसा ही कहा। गणेशजी प्रसन्न हुए और उन्होंने

कहा—तथास्तु । सिद्धि की दोनों आखें फूट गई ।

नभसेना ने कहा—प्राणनाथ ! आप भी उन दोनों की तरह होड़ में पड़ गए हैं, किन्तु उसका परिणाम क्या होता है, मैंने आपके समक्ष रख दिया है । अब आप ही सोचें कि आपका निर्णय समुचित है कि मेरा निवेदन ।

जम्बूकुमार ने अपनी शान्त भाषा में कहा—भद्रे ! पुण्य और पाप तो दोनों ही एक जैसी बेडिया हैं । एक सोने की है और एक लोहे की, उनमें अन्तर क्या है ? अज्ञानी मनुष्य लोहे की बेड़ी को बेड़ी मानता है और सोने की बेड़ी को आभूषण ! किन्तु सोना होने मात्र से ही आभूषण नहीं हो जाता । इस पुण्य का निमित्त क्या है, यह भी तो तुम सबने सोचा होगा ? वैभव व शारीरिक शालीनता पर तुम सब फूल गई हो और इसीमें मुग्ध बन रही हो, किन्तु इनके मूल को भूल रही हो । तुम टहनियों पर घूमती हो और मैं वृक्ष के मूल में पहुँचना चाहता हूँ । पुण्य के उपभोग से पुण्य की वृद्धि व पाप की अल्पता नहीं हुआ करती और न पुण्य का उपभोग न करने से पुण्य की कमी होती है । ज्यों-ज्यों प्राणी की आत्मिक उज्ज्वलता होती है, त्यों-त्यों उसे सम्पत्ति, प्रतिष्ठा, शारीरिक शालीनता आदि आनुसंगिक रूप में मिलते ही हैं । किन्तु धार्मिक अनुष्ठान न तो इनके लिए किये जाते हैं और न करने ही चाहिए । वह तो आत्मा की पवित्रता के लिए ही होता है और साथ में भौतिक समृद्धि के रूप में ये मिल जाते हैं । बहुधा व्यक्ति इनमें फँस जाता है और अपना मार्ग भूल जाता है । पुण्य की स्वर्ण शृङ्खला मनुष्य में उन्माद भरती है और फिर उसे अविनीत घोड़े की तरह उन्मार्ग में ले जाती है, जहाँ उसके सर्वस्व का भी नाश हो जाता है । विनीत घोड़े की तरह कुछ एक व्यक्ति ही ऐसे होते हैं जो धकेलने पर भी उन्मार्ग में नहीं जाते ।

नभसेना ने पूछा—पतिदेव ! विनीत और अविनीत घोड़े का यह क्या उपनय है ? यदि कर्षट न हो तो कृपया बताए ।

जम्बूकुमार ने कहा—एक राजा की छुडसाल में दो विशेष घोड़े थे । एक विनीत था और एक अविनीत । विनीत घोड़ा कभी उन्मार्ग में नहीं जाता । वह प्रतिक्षण अपने स्वामी की सुरक्षा का प्रयत्न करता रहता है । दूसरे उसे न तो कोई फुसला सकता है और न उसे स्वामि-भक्ति से विचलित ही कर सकता है । अविनीत घोड़ा बहुत जल्दी ही अपना रास्ता छोड़ देता है और स्वयं भटक जाता है तथा अपने सवार को भी भटका देता है । वह अपनी ही सुरक्षा का विशेष ध्यान रखता है । उसके मालिक का भी उस पर इतना अनुराग नहीं होता । विनीत घोड़े को श्रावक जिनदाम ने शिक्षा दिया था ।

नभसेना ने बीच ही में पूछ लिया—पतिदेव ! राजा लोग फिर अविनीत घोड़ों क्यों रखते हैं ? उनको तो और भी बहुत सारे अच्छे-अच्छे घोड़े मिल सकते हैं ?

जम्बूकुमार ने उत्तर देते हुए कहा—राज्य-मन्त्रालय के लिए दोनों ही प्रकार के घोड़ों की आवश्यकता होती है। कभी-कभी मूढ़ मीठे व्यक्तियों के लिए राजाओं को ऐसे घोड़ों का प्रयोग करना पड़ता है। ये घोड़े आकृति में भी सुन्दर होते हैं, अतः हर कोई व्यक्ति चढ़ जाता है। राजाओं को ऐसे घोड़े, विपत्तियों आदि इसी उद्देश्य से रखने होते हैं।

एक बार राजा की छुडसाल में चोरी हो गई। चोरो ने उस अविनीत घोड़े को फुसलाकर अपने साथ कर लिया। रात रहने ही चोर वहाँ से चल दिए। रास्ता भूल गए और भीषण जंगल में पहुँच गए। घोड़ा भी उजाड़ में पड़ गया। वहाँ उसे दाना-पानी कहा मिलने का था। भूख-प्यास से अकुलाने लगा। जब वह चलने में अशक्त हो गया तो वहीं गिर पड़ा। चोरो ने उसे वहीं छोड़ दिया और अपनी पत्नी की ओर दौड़ गए। घोड़ा उस भयंकर जंगल में पड़ा बिना मौत मर गया।

दूसरी बार चोर फिर उस छुडसाल में आए। इस बार विनीत घोड़े पर उनकी नजर पड़ी। उन्होंने उसे फुसलाने का प्रयत्न किया, पर वह उस से मम भी नहीं हुआ। चोरो ने उसे जबरदस्ती वहाँ से हटा लिया। घोड़े को उनके साथ चलना पड़ा। जब चोर उजाड़ में जाने लगे, घोड़े ने कदम बढ़ाने बन्द कर दिए। वह वहीं रुक गया। चोरो ने बहुत प्रयत्न किए, किन्तु वह अपना मार्ग छोड़ने को प्रस्तुत नहीं हुआ। हारकर चोरो को अपने प्राण बचाने के लिए घोड़ा वहीं छोड़ देना पड़ा। प्रातः काल होते ही राजा घूमने निकला। उसने घोड़े को रास्ते पर खड़ा हुआ देखा तो आश्चर्य हुआ। सारा वृत्तान्त जाना तो बड़ा हर्ष हुआ। राजा ने उसका बहुत सम्मान किया।

जम्बूकुमार ने मीठी चूटकी भरते हुए कहा—क्यों उन चोरो की तरह तुम मुझे अविनीत घोड़ा समझ कर ससार रूप जंगल में भटकाना ही तो चाहती हो? यदि मैं तुम सबकी फुसलाहट में आ जाता हूँ तो क्या मुझे भी बिना मौत नहीं मरना पड़ेगा? भद्रे! मेरी लोभवृत्ति नहीं है, अपितु आत्मा के सही स्वरूप को समझने का प्रयत्न है। साधना और लोभ का कोई मेल भी तो नहीं बैठता।

जम्बूकुमार का पलड़ा भारी हो गया। नमसेना भी समुद्रश्री आदि के साथ जा बैठी। आठ में से केवल तीन पत्नियाँ बाकी रही। नमसेना को भी निरुत्तर होकर बैठते देख कनकश्री को कुछ जोश आया। वह अपनी पाँचों बहिनों को फटकारती हुई बोल पड़ी—तुम तो सारी भावुक हो। अपने पक्ष को पृष्ठ रखने के लिए थोड़ा-बहुत भी तर्क-बल से काम नहीं लेती। प्रत्युत समर्पण के मार्ग पर चल रही हो, यह उचित नहीं।

पाँचों ने ही एक साथ कहा—अच्छा, तुम भी तो अपनी बुद्धिमत्ता का परिचय दो। हम यदि भावुकता में बहती हैं तो क्या हुआ, तुम तो ऐसा नहीं करती। तुम भी अपनी वाक्-पटुता से इनको अपने निर्णय से विचलित कर दो। हम तो तेरे साथ हैं

ही । तेरे पाव पूजेगी ।

कनकश्री ने स्वाभिमान के साथ हा भरते हुए जम्बूकुमार की ओर स्मित भाव के साथ अपने कटाक्ष का बाण छोड़ा । बोली—पतिदेव ! आप साधुत्व की ओर बढ़ना चाहते हैं, किन्तु साधना तो समृद्धि के दिनों में नहीं की जाती । कहा भी गया है—‘दुःख में सद्गुण सुमरण करै सुख में करै न कोय’ । परमात्मा का स्मरण तो दुःख के दिनों में ही किया जाता है, सुख में नहीं । आप यह तो बताये आपके लिए दुःख क्या है ? यदि कुछ भी नहीं है तो फिर यह साधना का ढोंग क्यों रचा जाए ? मुझे तो लगता है, बचपन में आपने यह बात पकड़ ली, जो अब छूटती नहीं । यह सोचते होंगे—मा-बाप क्या कहेंगे ? साधु क्या कहेंगे ? लोग क्या कहेंगे ? दूसरों के कहने की बात को छोड़िए । आपके मा-बाप तो आपके गृहवास के निर्णाय से बहुत खुश होंगे । लोग भी अच्छा ही समझेंगे । केवल साधु यदि कुछ कहेंगे तो आप मुझे आगे कर देना, मैं उनसे निपट लूंगी । शर्म के मारे यदि इस दुराग्रह को नहीं छोड़ेंगे तो उस ब्राह्मण के मूर्ख पुत्र की तरह पछताना पड़ेगा ।

जम्बूकुमार ने जिज्ञासा के भाव से पूछा—वह मूर्ख ब्राह्मण-पुत्र कौन था, भद्रे !

कनकश्री ने कहा—ब्राह्मण का एक पुत्र अनपढ़ व मूर्ख था । वह बहुत ही दुराग्रही था । जब तक ब्राह्मण इस ससार में रहा, उसके दिन आनन्द से कटते रहे । किन्तु जब से उसने आखें मूंदी, उस लड़के के लिए भी लेने का देना पड़ गया । उसकी मा ने कहा—बेटा ! अब कुछ आजीविका के साधन जुटाओ । कुछ पढ़-लिखकर होशियारी हासिल करो । अपनी परम्परा का काम आगे बढ़ाओ । अपने कुल की यह विशेषता रही है कि लिया हुआ काम बीच में नहीं छोड़ा जाता, चाहे उसमें कितने ही कष्ट क्यों न पड़ें । तुम्हें भी यह विशेष रूप से सीखना है । दूसरे की देखा-देखी भी नहीं करनी चाहिए । प्राण भले ही चले जाए, किन्तु प्राण से कभी विचलित नहीं होना चाहिए ।

लड़के ने विश्वासपूर्वक कहा—मा ! मैं तुम्हारी इन शिक्षाओं को अपने जीवन में अच्छी तरह उतारूंगा । न मैं कहीं देखा-देखी करूंगा और न प्रारम्भ किए हुए काम को भी किसी के कहने से बीच में छोड़ूंगा ।

मूर्ख लड़का बिना किसी काम के घर से बाहर आया । गली में कुम्हार का एक गधा भागता हुआ आ रहा था । उसके पीछे-पीछे कुम्हार दौड़ रहा था । उसने आवाज मारी—गधे को पकड़ो, पकड़ो । लड़का वहां खड़ा ही था । वह भी गधे के पीछे दौड़ने लगा और वह उसे पकड़ने में सफल हो गया । गधा दौड़ता रहा और उसके हाथ में उसकी पूछ थी । गधे ने दुलत्ती चलानी शुरू की, फिर भी उसने उसकी पूछ नहीं छोड़ी । दांत टूट गए, होठ फूट गए, छाती और माथे में मार पड़ते-पड़ते हडिब्या भी टूट गई, खून की धारा फूट चली, किन्तु फिर भी उसने पकड़ी हुई

पूछ नहीं छोड़ी। वह मन में सोच रहा था—मार चाहे जितनी पड़े, पर मा की दी हुई शिक्षा खण्डित न हो जाए।

गधे के पीछे घसीटते हुए को लोगो ने उसे देखा। उन्हें बहुत आश्चर्य हुआ। उसे पकड़ कर खींचा और गधे से दूर किया।

हे स्वामिन् ! यदि आप अपनी हठ पर ही दृढ़ रहे तो कहीं इम दुलत्ती मार के शिकार तो नहीं हो जाएंगे ? यद्यपि यह घटना आपके लिए कड़ी है, पर जब रोग असाध्य हो जाता है, तब उसे मिटाने के लिए कड़ी औषधि का ही प्रयोग किया जाता है।

जम्बूकुमार ने कनकश्री की तर्कों को खण्डन करते हुए कहा—वह ब्राह्मण पुत्र मूर्ख, हठवादी था, अतः उसकी प्रवृत्ति पर दर्शकों को तरस आ गया, किन्तु मैं अपनी हठवादिता या मूर्खता के कारण साधु नहीं बन रहा हूँ। मैंने गृहस्थाश्रम व साधु-जीवन का अच्छी तरह से अध्ययन किया है तथा दोनों के लाभालाभ को पूरी तरह तोलकर फिर उस पर अपना मन्तव्य स्थिर किया है। यदि ऐसा न होता तो तेरी ये पांच बहिनें मुझे कभी परास्त कर देतीं। पाचों ही मौन रहकर यदि मेरे पक्ष का समर्थन करती हैं तो उसका कारण यही है कि मेरी समझ-बूझ के पीछे ये कायल हैं। तू भी तब तक ही अपनी बात बधाय रही है, जब तक कि मैं तेरी बात का तार्किक उत्तर नहीं दे देता। अस्तु, सुख में परमात्मा व आत्मा का स्मरण नहीं करना चाहिए, यह सिद्धान्त ही गलत है। क्योंकि सुख में यदि साधना की जाती है तो फिर दुःख हो ही कैसे ? तू ने भी अपने पक्ष के समर्थन में आधी उक्ति का प्रयोग किया है और वह भी मुझे भरमाने के लिए। यदि अगली पक्ति पर चिन्तन किया जाता तो मुझे समझाने का यह कष्ट तुझे भी करना न होता। वह पूरी पक्ति इस प्रकार है—

दुःख में सद्गुण सुमरण करै, सुख में करै न कोय।

जो सुख में सुमरण करै, तो दुःख काहे को होय ॥

इस पक्ति से तो तेरा अभिमत पुष्ट नहीं होता, अपितु मेरा ही होता है। व्यक्ति जब सुख में होता है, उन्माद में भर जाता है और फिर उन्माद में प्रवृत्त होता है। वह सुख को स्थायी मानकर बैठ जाता है, जिससे दुःख का श्रीगणेश हो जाता है। रात के बाद जैसे दिन और दिन के बाद जैसे रात का चक्र चलता ही रहता है, उसी प्रकार सुख और दुःख का क्रम चलता हुआ कभी टूटता नहीं है। इसलिए सुख के उपभोग को दुःख का निमन्त्रण ही समझना चाहिए। सुख में दुःख की स्मृति और अनुभूति दोनों ही आवश्यक हैं। इन दोनों से प्रेरित होकर ही व्यक्ति साधक का जीवन जी सकता है। मुझे अपना यह सुख साधना के लिए उचित भूमिका के रूप में लगता है। सुख के इस झुरमुट में अपने को उलझ नहीं जाना चाहिए, अपितु सावधानी से चलना चाहिए। जीवन के ये बहुत ही मूल्यवान् क्षण हैं, जबकि हम

निर्बाध शान्ति के मार्ग में खुले रूप से दौड़ सकते हैं ।

गरीबी व दीनता में दुःख का आवास रहता है । वहाँ मनुष्य अपने शरीर की चिन्ताओं से भी मुक्त नहीं हो सकता, अतः त्याग का तो प्रश्न ही कैसे उठ सकता है ? वह विरक्त होना भी चाहे तो भी आवश्यकताएँ लालसा का उग्र रूप धारण कर लेती हैं, जिनका स्पष्ट परिणाम आसक्ति ही होता है । मैं जब इस चिन्ता में मुक्त हूँ तो साधना का द्वार मेरे लिए प्रतिक्षण खुला है । मेरी अपनी क्षमता पर ही यह निर्भर करता है कि कितनी लम्बी और कठोर साधना कर मैं सिद्ध, बुद्ध व मुक्त बन सकूँ ।

जम्बूकुमार ने अपने पक्ष का उदाहरण द्वारा समर्थन करते हुए कहा—तुम मुझे ब्राह्मण-पुत्र की तरह मूर्ख बताती हो, किन्तु मुझे तुम सबकी व्यामूढता पर हँसी आती है और उसके प्रत्युत्तर में चारक ब्राह्मण का उदाहरण याद आ जाता है ।

कनकश्री ने अपने स्वाभाविक हास्य के साथ कहा—वह चारक ब्राह्मण भी कौन था, कृपया यह तो बताएँ ?

जम्बूकुमार ने कहा—तुम सभी सुनो । कुशस्थल नामक एक गाँव में एक क्षत्रिय रहता था । वह बड़ा जमींदार था, अतः उसके पास कई गाँवों की मिल्कियत थी । भरा-पूरा परिवार था । उसके पास गौएँ, भैंसे व बैल आदि का बड़ा पशु-धन था । वह एक घोड़ी भी रखता था । घोड़ी की देखभाल के लिए उसने एक नौकर रखा । वह नौकर बेईमान था । घोड़ी के लिए जो दाना मिलता, उसे तो वह स्वयं खा जाता या अपने पास दबाकर रख लेता और घोड़ी को केवल सूखा घास डालता । खाने को पूरा न मिलने से घोड़ी दुबली होती गई । उसकी शक्ति घट गई । उससे काम अधिक लिया जाता, अतः एक दिन मर भी गई । उसने एक वेश्या के घर में जन्म लिया ।

चोरी करने वाले को एक बार क्षणिक सन्तोष होता है, पर अन्ततः दुःख, मार व अप्रतिष्ठा ही हाथ लगती है । उस नौकर के साथ भी ऐसा ही हुआ । उसके सरक्षण में जब घोड़ी मर गई तो क्षत्रिय उस पर बहुत कुपित हुआ । उसने जाच-पड़ताल में उसकी चोरी का पता लगा लिया । तिरस्कार के साथ उसे अपने यहाँ से निकाल दिया । चोर की अगली जिन्दगी बर्बाद हो गई । दुःख में वह मरा और उसी गाँव में जहाँ वह घोड़ी वेश्या हुई थी, ब्राह्मण हो गया । बेडोल व कुरूप शरीर में वह भटकता रहता । एक दिन उस वेश्या को उसने देखा । सहज अनुराग जागृत हुआ । वह उसके पास पहुँचा और अपनी अभिलाषा बतलाई । निर्धन व बेडोल होने से वेश्या ने उसकी एक भी नहीं सुनी । वह उससे अनुरक्त था, पर वह उसे नहीं चाहती थी । ब्राह्मण वेश्या के यहाँ नौकर रह गया ।

ब्राह्मण के दिल में वासना जागृत हुई । उसने विवाह करना चाहा, किन्तु जिसे वेश्या भी स्वीकार नहीं करती उसे और कौन औरत स्वीकार कर सकती थी । अपने क्षत्रिय

स्वामी की आज्ञा का उल्लंघन कर उमने घोड़ी का दाना चुराया था और उमने इतनी विपत्ति के मुह में फसा। कनकश्री ! जिस समारवाम के लिए मुझे प्रेरित कर रही हो वह एक तरह से आत्मा रूपी घोड़ी का दाना चुराना है। आत्मा तृष्णा, कामुकता व अहं से ऊपर सन्नोप, शान्ति व निरभिमान में वाम करती है। तुम स्वयं जानती हो आत्मा का स्वभाव और विभाव क्या है ? तुम मुझे विभाव की ओर ढकेलना चाहती हो और मैं अपने साथ तुम सबको स्वभाव की ओर। भला अब हम सबका मेल कैसे बैठ सकेगा ?

आत्मा के स्वभाव और विभाव की चर्चा सुनकर कनकश्री भी मौन रह गई और अपनी पांच बहिनो के साथ वह भी जा बैठी। केवल रूपश्री और जयन्तश्री दो बाकी रह गईं। जम्बूकुमार के मन में उल्लास था और उन दोनों के चेहरे पर दिखावटी पटुता थी, किन्तु उनका भी अन्तर्मन जम्बूकुमार की युक्तियों से प्रभावित हो चुका था। फिर भी अपनी छह बहिनो की परम्परानुसार रूपश्री खड़ी हुई और उसने भी कनकश्री को इसलिए कड़ा उलाहना दिया कि वह भी उनसे प्रभावित हो गई। रूपश्री ने जम्बूकुमार की ओर एक बार स्मित हास्य के साथ देखा और कहा—पतिदेव ! साधुत्व के दुष्कर मार्ग का अवलम्बन आप जैसे मुकुमार व्यक्तियों के लिए साध्य नहीं है। महलों में रहकर जीवन का आनन्द लूटा है, किन्तु दर-दर की खाक छानने का आपको अभ्यास नहीं है। साधु-जीवन में भूख, प्यास, शीत, गर्मी, वर्षा, दश-मश, आक्रोश आदि के साथ संघर्ष करना पड़ता है। निरालम्ब होकर जीवन ही प्राणों का उत्सर्ग जैसा हो जाना है। क्या आप में वह क्षमता है ? मैं तो समझती हूँ, कतई नहीं है। जो व्यक्ति अपने सामर्थ्य की अवगणना कर दुष्कर कार्य करना है, उसे हमेशा ही उस बाज पक्षी की तरह पछताना पड़ता है।

जम्बूकुमार ने कुछ उत्तर देने के पूर्व पूछा—भद्रे ! वह पछताने वाला बाज पक्षी कौन था ?

रूपश्री ने कहा—प्राणेश ! एक जंगल में एक पहाड़ था। उसकी गुफा में एक सिंह रहता था। सिंह रात को जंगल में घूमता और दिन को पड़ा ऊघना रहता। उसके दान्तों के बीच में कुछ मांस फसा हुआ रह जाता। जब वह ऊघता तो उसका मुह खुला रहता। एक बाज पक्षी ने यह सारी तजबीज देखी। उसने मन में सोचा—अब परिश्रम करने की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी। मेरी आवश्यकता जितना मांस तो सिंह के दांतों के बीच में यो ही पड़ा रहता है। इसकी ऊघ में यदि मैं यह मांस खाता रहूँ तो मुझे कौन रोकने वाला है ?

जब किसी का बुरा होना होता है तो उसे कार्य भी वैसा ही सूझता है और सारी सामग्री अपने आप ही वैसी जुट जाती है। बाज ने बिना किसी से परामर्श लिए प्रतिदिन वैसा करना प्रारम्भ कर दिया। उसके साथियों ने जब उसे ऐसा करने हुए देखा तो मनी ने निषेध किया, किन्तु उसने किसी की भी एक नहीं सुनी।

प्रत्युत उसने यह कहकर उनका तिरस्कार किया कि तुम तो किसी का भी आराम नहीं सह सकते ? मुझे बिना किसी आयास के जब भर पेट खाने को मिल रहा है, मैं ऐसा मूर्ख नहीं हूँ कि ऐसे स्वर्णिम अवसर को हाथ से खो दूँ।

बाज के साथी चुप रहे। जब कोई दूसरे की सुनता ही नहीं तो किसे क्या पड़ी कि वह उसके बीच में पड़े। हित का उपदेश भी तो उसके लिए लाभदायक होता है, जो उसे अच्छी तरह सुने और बाद में उस पर अमल भी करे। बाज ने अपना ढग नहीं बदला। बिना परिश्रम का खाना उसे स्वादिष्ट लगा। सिंह ऊधता रहता और वह उसकी डाढ़ में फसा मास आनन्दपूर्वक खाता और अपने भाग्य को सराहता। एक दिन बाज की मूर्खता से सिंह की ऊध खुल गई। अपनी डाढ़ का मास खाते देख उसे गुस्सा आया और उसने अपना जबाड़ा दबा दिया। बाज भीतर पिस गया और सिंह के पेट में समा गया।

पतिदेव ! जो व्यक्ति अपने अल्प सामर्थ्य को बहुत बड़ा मानता है और दूसरे के द्वारा कहे गए हितकारी कथन पर भी यदि अमल नहीं करता है, वह इस बाज पक्षी की तरह अकाल मृत्यु को प्राप्त होता है। 'सुज्ञेषु कि बहुना' आप तो समझदार हैं। मैं आपको इससे अधिक और क्या समझा सकती हूँ। मैंने आपके सामर्थ्य और साधु-जीवन की कठोरता को तोला तो ऐसा लगा, अतः अपना कर्तव्य समझकर निवेदन कर दिया। कुछ करना या न करना तो आपके अधीन है।

जम्बूकुमार ने अपने सामर्थ्य पर लगाए गए आरोप को निराधार प्रमाणित करने के लिए कहा—भद्रे ! बाज पक्षी तो मास का शृङ्खी था, अतः उसे प्राणों से हाथ धोना पड़ा था। किन्तु मेरी तो सम्पत्ति, रूप, ऐश्वर्य आदि किसी में भी आसक्ति नहीं है, मुझे क्यों पछताना पड़ेगा ? तुमने साधु-जीवन के विभिन्न कष्ट बताए, पर तुमने यह भी सोचा होगा कि इस साधना से कष्ट किसे होता है—आत्मा को या शरीर को ? साधना में प्रवृत्त होने से आत्मा को कभी कष्टों की अनुभूति नहीं होती। शरीर का बन्धन जब तक साथ है, तब तक शरीर पर आघात होने से आत्मा पीड़ित हो जाती है। कष्टों का कारण आत्मा नहीं शरीर है। शरीर नाश-मान् है और आत्मा अविनश्वर। शरीर पर जब घात-प्रत्याघात होंगे तभी तो आत्मा उससे विलग होकर अपने स्वरूप को प्राप्त करेगी। मेरा शरीर सुकुमार है, किन्तु आत्मा पूर्णतः सबल है। शरीर के समक्ष वह कभी घुटने नहीं टेकेगी। इसलिए भद्रे ! तुम मेरे शरीर की चिन्ता मत करो, जरा आत्मा की ओर भाँको। मैं तो सिंह की तरह साधु-व्रत स्वीकार करूँगा और सिंह-वृत्ति से ही उसे पूर्णतः निभाऊँगा।

जम्बूकुमार ने अपनी बात को दूसरा मोड़ देते हुए कहा—भद्रे ! तुम कहती हो कि मैं तुम्हारी बात मानकर तुम्हारे साथ गृहस्थाश्रम में रहूँ, किन्तु यह सम्बन्ध तो निकेल कच्चा है; शरीर का है, आत्मा का नहीं। जो कच्चे सम्बन्ध होते हैं, वे किसी भी समय धोखा दे सकते हैं। तुम सबका विवाह मेरे साथ हो गया, अतः यह

सम्बन्ध बन गया। यदि ऐसा न होता तो और किसी से तुम्हारा सम्बन्ध जुड़ता। वास्तविक सम्बन्ध में इकाई होती है और वही विगुड़ होनी है, जिसे आत्मा कहकर पुकारा जाता है। सुबुद्धि प्रधान की तुमने घटना मुनी होगी, जिमने कच्चे सम्बन्ध में विश्वास कर अपने को किस तरह दुःखित बनाया था।

पतिदेव ! सुबुद्धि प्रधान की वह क्या घटना थी, कृपया विस्तार में बताएँ तो—
रूपश्री ने नम्रता के साथ जम्बूकुमार से कहा।

जम्बूकुमार ने कहा—जितगन्धु राजा के पास सुबुद्धि नामक प्रधानमन्त्री था। वह राजा का पूरुषंत कृपापात्र था। राज्य का सारा संचालन उसके कन्वो पर ही था। राजा उसके भरोसे पर निश्चिन्त रहता। सुबुद्धि ने अपने तीन प्रकार के मित्रों की कल्पना कर रखी थी, नित्य मित्र, पर्वमित्र और राम-राम मित्र। नित्यमित्र में वह अपने शरीर व अपनी धर्मपत्नी को गिनता था। पर्वमित्र में अपने पारिवारिकजनो को और राम-राम मित्र में उमी शहर में रहने वाले एक सेठ को। नित्यमित्र को वह प्रतिदिन खाना खिलाता, पर्वमित्रो को बार-द्यूहार पर और राम-राम मित्र को कभी-कभी वर्ष दो वर्ष में एक बार।

वर्ष के सारे दिन एक बराबर नहीं होते तो मनुष्य का भाग्य भी एक जैसा कैसे रह सकता है ? कभी उसमें निखार आता है तो कभी विकार। सुबुद्धि प्रधान का एक दिन ऐसा था कि राजा की पूरी प्रसन्नता थी और एक दिन ऐसा आया कि राजा ने कुपित होकर उसे मृत्यु दण्ड सुना दिया। वह अपने प्राण बचाने के लिए सर्वप्रथम अपनी धर्मपत्नी के पास गया और उससे कहा—राजा ने कुपित होकर प्राण-दण्ड दिया है। तू मुझे किसी तरह घर में छुपा ले ताकि रक्षा हो सके।

धर्मपत्नी ने तपाक से उत्तर दिया—यदि राजा कुपित हो गया है तो घर में कोई जगह नहीं है। आप यदि यहाँ छुपेंगे तो राजा के अनुचर आपको खोजने के लिए यहाँ अवश्य आयेगे। वे घर के चप्पे-चप्पे को छान डालेंगे और आपको निकाल लेंगे। फिर आपके साथ मुझे और मृत्यु-दण्ड मिलेगा। राजा सारा वन हड़प लेगा, इज्जत मिट्टी में मिल जायेगी, अतः यही अच्छा है, आप और कहीं अपना आश्रय ढूँढें, जिससे घन और मेरे प्राणों की तो रक्षा हो सके।

धर्मपत्नी का यह रूखा उत्तर सुनकर सुबुद्धि को बहुत विषाद हुआ। उसने यह स्वप्न में भी नहीं सोचा था कि जिसे नित्यमित्र समझा जा रहा था, मौका आने पर वह इस तरह धोखा दे देगी। सुबुद्धि लाचार होकर अपने पर्वमित्रों के पास पहुँचा। रात हो गई थी, अतः सभी के दरवाजे बन्द पाये। सुबुद्धि ने आवाज लगाकर दरवाजे खुलवाये। जब सब मित्रों ने राजा के कुपित होने का समाचार सुना तो घर के बाहर से ही, जैसे उसकी धर्मपत्नी ने कहा था, कहकर उसे विदा दे दी। सुबुद्धि की आंखें भर आईं। उसके बचाव के लिए कोई सहारा ही नहीं रहा। गलियों की ओकरे खाता हुआ वह अपने राम राम मित्र के घर, जिससे कभी-कभी वास्ता पड़ता

था, आया। यद्यपि उसका धीरज टूट चुका था। वहाँ भी उसे आश्रय मिल जायेगा, ऐसी उसे सम्भावना नहीं थी, पर हारा हुआ व्यक्ति जो कुछ हाथ में आ जाये उसे ही अपनी रक्षा का शस्त्र बना लेता है। राम-राम मित्र ने जब अपने द्वार पर सुबुद्धि को देखा तो उसे प्रसन्नता हुई। उसने उसकी सारी बातें सुनी। राजा का उसे तनिक भी भय नहीं लगा। उसने उसे आश्वस्त किया और कहा—‘आनन्द से यहाँ रहो और मौका पाते ही मैं राजा का कोप दूर कर दूँगा।’ सुबुद्धि ने एक सुख की साँस ली। वह वहाँ ठहरा और कुछ दिन बाद उस राम-राम मित्र ने राजा के मन में सुबुद्धि के प्रति वही अनुराग जागृत कर दिया जो कि पहले था।

जम्बूकुमार ने अपनी सभी पत्नियों को सम्बोधन कर कहा—‘तुम्हारा और मेरा जो यह सम्बन्ध स्थापित हुआ है, वह विशुद्ध रूप से दैहिक है। यदि हम इसे हार्दिक भी कह दें तो भी वह हृदय शरीर का ही एक अवयव है। उससे अलग और कुछ नहीं। सुबुद्धि के लिए नित्यमित्र व पर्वमित्र दोनों ही किसी काम के न रहे, क्योंकि उनका सम्बन्ध केवल ऐहिक स्वार्थ तक ही सीमित था। उसी तरह हम सब के बीच भी वर्तमान ऐहिकता का ही प्रश्न मुख्य है। मैं चाहता हूँ कि जैसे शरीर के अन्दर हृदय को खोजा जाता है, उसी तरह हृदय की तहों को भी खोजा जाये, जहाँ कि आत्मा का शाश्वत वास है। यदि हृदय के इस कोमल बन्धन को तोड़ने में हम सफल हो गये तो फिर किसी की भी अधीनता हमारे पर नहीं रहेगी। मैं यही चाहता हूँ कि जेमे मैं तुम सबके हृदय के पीछे आत्मा को खोजता हूँ, वैसे ही तुम भी मेरे हृदय के पीछे आत्मा को निहारो।

रूपश्री भी अपनी छह बहिनों के साथ जा बैठी। केवल एक जयन्तश्री बच रही। यद्यपि अपनी सातों बहिनों के बदल जाने से उसका धैर्य भी टूट-सा गया था, पर साहस के साथ वह बोली—महाभाग! मैं मानती हूँ कि मेरी सातों बहिनें आपकी युक्तियों से प्रभावित हो चुकी हैं, किन्तु मुझे अभी तक उन पर विश्वास नहीं हुआ है। मैं तो एक ही बात जानती हूँ कि मनुष्य कई बार इतना व्यामूढ हो जाता है कि उसे यदि सत्य बात भी कही जाती है तो वह उसे भी झूठ ही मान लेता है। ब्राह्मण की लड़की ने राजा को अपनी सच्ची घटना सुनाई थी, किन्तु राजा के व्यामूढ हृदय ने उसे सच नहीं माना। मुझे लगता है, उसी तरह आप भी मेरी बहिनों के व मेरे कथन को सही नहीं मानेंगे। क्योंकि आपका दृष्टिकोण अभी तक शुद्ध नहीं है।

साधु-जीवन को मैं बुरा नहीं मानती, पर उसमें अवस्था परिपाक आवश्यक समझती हूँ। जब अवस्था ढलने लगती है, जीवन में सब तरह के कटु व मधुर अनुभव हो जाते हैं, विचारों में स्थिरता आ जाती है, जीवन की अलहटता से मुक्ति मिल जाती है, तब सुखपूर्वक साधना व तपस्या में लगे, आपको कोई भी नहीं टोकेगा। प्रत्युत आपके सभी सहयोगी होंगे। अभी निषेध करने का एकमात्र तात्पर्य यही है कि भावुकता में किये गये कार्य से लाभ के स्थान पर कहीं हानि न हो जाये।

जम्बूकुमार ने कहा—‘मे तेरे तर्क का तो उत्तर फिर दूँगा, किन्तु पहले मुझे यह बताओ कि किस ब्राह्मण की लडकी की सच्ची घटना को राजा ने भूठ करार दिया था ?’

जयन्तश्री ने कहा—श्रीगुरु नामक एक सुप्रसिद्ध नगर था। वंश के राजा का नाम सागर था। उसे कथा सुनने का बड़ा शौक था। वह प्रतिदिन एक-एक ब्राह्मण से कथा सुनता था। क्रमशः एक मूर्ख ब्राह्मण का भी कथावाचक के तन्त्र आ गया। राजा का उसे भी निमन्त्रण मिला। अन्य कथावाचक ब्राह्मणों को राजा के निमन्त्रण से जहाँ प्रसन्नता होती, उसे चिन्ता हुई। उनकी लडकी ने जब उसे चिन्तातुर देखा तो उसका कारण पूछा। ब्राह्मण ने कहा—‘बेटी। राजा कथा सुनना चाहता है। उसने मुझे इस निमित्त से निमन्त्रण भेजा है, किन्तु मैं कथा सुनाना जानता नहीं। राजा के आदेश का उल्लंघन किया जाये तो वह भी अच्छा नहीं होता और पालन तो किया ही कैसे जा सकता है, जबकि मेरे लिए काला अक्षर भैंस के बराबर है।’

तनिक से चिन्तन के बाद बेटी ने कहा—‘पिताजी। आप चिन्ता न करें। आपका काम तो मैं कर आऊँगी।’ ब्राह्मण को बड़ा सन्तोष हुआ। उसने अपनी लडकी को शीघ्रता से राजा के पास भेज दिया। राजा ने उसका सत्कार भी किया, पर उसे इस बात का आश्चर्य भी हुआ कि आज कथा सुनाने के लिए एक महिला आई है। राजा ने लडकी से कहा—अच्छी कथा सुनाना। इधर-उधर की यो ही बात बनाकर मत टाल देना।

लडकी बोली—राजन् ! यह कैसे हो सकता है ? मैं ऐसी कथा सुनाऊँगी कि सम्भवतः आपने पहले कभी सुनी भी न हो ?

राजा दत्तचित्त होकर सुनने बैठ गया और लडकी ने कथा सुनाना आरम्भ किया। उसने कहा—राजन् ! कुछ दिन पूर्व मेरे पिता ने मेरी मगाई की थी। मेरे अनुरूप ही लडका खोजा गया। उसने मुझे देखना चाहा तो मेरे पिता ने उसे अपने घर बुला लिया। मुझे भी जब यह ज्ञात हुआ तो बड़ी खुशी हुई। मैंने अपने हाथों से स्वादिष्ट भोजन बनाया और परोसा। मुझे देखकर वह मोहित हो गया। हम दोनों एकान्त में थे, अतः वह बहुत आतुर हो गया। उसने अपनी भावना व्यक्त की। मैंने उसे इसलिए स्पष्ट इन्कार कर दिया कि विवाह से पूर्व यह कार्य शोभा नहीं देता। मेरे इस कथन से उसके दिल को गहरा धक्का लगा, जिसके परिणाम स्वरूप उसकी वही मृत्यु हो गई। मेरे लिए यह एक गम्भीर पहली बन गई, किन्तु मेरी प्रत्युत्पन्न बुद्धि ने एक मार्ग खोज निकाला। मैंने उस लाश को अपने घर के पीछे गाड़ दिया। किसी को कुछ पता भी नहीं चला।

राजा ने कहा—ऐसा नहीं हो सकता। तू तो झूठ-मूठ ही बात गढ़ रही है। मैं तो इस पर विश्वास नहीं करूँगा। तू ने मुझे बनावटी बात कही है, इसलिए पुरस्कार के स्थान पर दण्ड दिया जायेगा।

लडकी ने नम्रता के साथ कहा—राजन् ! दण्ड देना या न देना आपके हाथ की बात है, किन्तु एक प्रश्न मेरा अवश्य है । पीछे जितनी कथाएँ आपने सुनी हैं, उन पर तो आपको पूरा विश्वास होगा ?

राजा—हां ।

लडकी—क्या वे सारी कथाएँ सच्ची थीं ?

राजा असमजस में पड़ गया । यदि वह उन्हें झूठी कहता है तो अपनी प्रतिष्ठा पर आच आती है और यदि सत्य कहता है तो उसका प्रमाण क्या ? किन्तु अपनी प्रतिष्ठा की सुरक्षा रखने के लिए उसने कह दिया—वे कथाएँ तो सारी सत्य थीं ।

लडकी—तो यह झूठी कैसे हो सकती है ? क्योंकि यह भी तो उनसे मिलती-जुलती ही है ।

राजा को आखिर कह देना पड़ा कि यह कथा भी सत्य है ।

जयन्तश्री ने जम्बूकुमार को सम्बोधन करते हुए कहा—महाभाग ! आपने जो युक्तियाँ व कथाएँ सुनाई हैं, यदि वे सत्य हैं तो मेरी बहिनो ने भी जो कुछ आपसे निवेदन किया है, वह भी असत्य कैसे हो सकता है ? आप केवल अपने आग्रह पर ही इतने अड़े न रहे । कुछ इधर-उधर की भी सोचें । मेरे से भी आप यही अपेक्षा रखते हैं कि मैं भी आपके साथ हो जाऊँ, किन्तु मुझे तो मेरी बहिनो की ही बात अच्छी लगती है ।

जम्बूकुमार ने अपने कोमल स्वर में कहा—जयन्तश्री ! विचारों की दृढ़ता के लिए तुम अवस्था को आवश्यक मानती हो, किन्तु अवस्था के साथ उसका क्या सम्बन्ध हो सकता है ? बूढ़ापे में विचार परिपक्व ही होते हैं और जवानी में अस्थिर, यह तो कोई मानने जैसी बात नहीं है । विचारों की स्थिरता का सम्बन्ध सस्कारों से होता है । वे जितने पवित्र होंगे, विचारों का स्थायित्व भी उतना ही होगा । यौवन की अलहदता उस व्यक्ति को ही पराभूत करती है, जिसके सस्कार धूमिल होते हैं । जीवन के परिमार्जन के लिए कड़वे-मीठे अनुभव भी इतने आवश्यक नहीं होते । जहर को चखकर प्रत्यक्ष अनुभूति के साथ ही जहर मानना इतनी बुद्धिमत्ता नहीं है । त्याग के लिए ऐश्वर्य का पहले भोग हो ही, यह तो कीचड़ में पहले कपड़ा गन्दा करके धोने जैसी बात हो जाती है ।

जीवन में अच्छे विचार आते ही कम हैं और आते हैं तो उनका स्थायित्व भी कम हो पाता है । किसी संयोग से स्थायित्व हो भी जाता है तो वहाँ से विचलित करने के लिए अनेक व्यक्ति तैयार रहते हैं । मैं समझता हूँ, तुम आठों ने भी मेरे साथ वैसा ही किया है । किन्तु मैं तुम्हारे तक़ों से हतप्रभ नहीं हुआ हूँ । साधना का सम्बन्ध सुकुमारता व अवस्था दोनों से कभी नहीं होता, वह तो मानसिक दृढ़ता का परिणाम है, जिसे तत्काल प्रारम्भ कर देना चाहिए । मैंने अपने अभिमत को विभिन्न उदाहरणों से स्पष्ट कर दिया है, फिर भी अन्तिम रूप में ललितकुमार की

एक घटना और सुना देता हूँ। इस घटना की प्रतिज्वनि यह है कि कामामक्त व्यक्ति का बुरा हाल होता है। वह अपनी मर्यादा का भी अनिक्रमण कर देता है जिसका परिणाम स्वर्णिम जीवन के साथ खिलवाड़ होता है।

ललितकुमार एक समृद्धिशाली सेठ का लड़का था। वनवान् की मन्नान ऐश-आराम में अपने जीवन को स्वाहा कर देती है। ललितकुमार ने भी वैसा ही किया। खाने-कमाने की तो उसे कोई चिन्ता नहीं थी। जितने रुपये की प्रतिदिन आवश्यकता होती मिल जाते और वह गुलछरें उड़ाता। एक दिन वह घूमना हुआ राजमहलों के नीचे पहुँच गया। रानी ने उसे देखा। वह सुरूप तो था ही, अतः रानी उस पर मोहित हो गई। उसने अपनी भावना कुमार तक पहुँचाने के लिए फूलों की एक माला में चिट्ठी बांध दी और नीचे खड़े कुमार के गले में डाल दी। कुमार ने ऊपर देखा और आँखों से ही दोनों की बात हो गई।

कुमार महलों में पहुँच गया। राजा युद्ध करने के लिए गया हुआ था। दोनों को एकान्त का अवकाश मिल गया। युद्ध में जाते हुए राजा को रोकते हुए पुरोहित ने कहा—आज का मुहूर्त अच्छा नहीं है, अतः आप वापस पधार जाएँ। जब अच्छा मुहूर्त आएगा, आपसे निवेदन करूँगा। तब आप चढ़ाई करना। राजा वापस घूम गया। महलों में चढ़ने लगा। ललितकुमार और रानी ने उसे देख लिया। ललितकुमार घबराया। उसने रानी से छुपाने के लिए कहा। रानी ने उत्तर दिया—‘यहाँ ऐसा स्थान ही कहा?’ वह और अधिक गिड़-गिड़ाने लगा। रानी ने कहा—‘और तो कोई स्थान नहीं है, केवल नीचे शौचालय है। तुम चाहो तो उसमें उतार दू। जब राजा युद्ध में चला जाएगा, मैं तुम्हें ऊपर उठा लूँगी और फिर अपने आनन्दपूर्वक रहूँगे।’ ललितकुमार ने यह स्वीकार कर लिया।

पुरोहित ने कई महीनों तक राजा को अच्छा मुहूर्त नहीं दिया, अतः वह युद्ध में नहीं जा सका। रानी भी ललितकुमार को इसीलिए महलों में नहीं बुला सकी। वह वहाँ अकुलाने लगा। भूख-प्यास से तड़फने लगा। जब कुछ समय और निकल गया तो वह वहाँ बेहोश होकर गिर पड़ा। उसे वहाँ सम्भालने वाला कौन था। एक दिन मूसलाधार वर्षा हुई। शौचालय में ऊपर से नाला गिरा। पानी की बाढ़-सी आ गई और वह उसमें बह गया। पानी की तेज धारा में बहता हुआ बाजार में आ गया। सैकड़ों व्यक्तियों ने ललितकुमार को बेहोशी की अवस्था में देखा। घर वालों की सूचना दी गई तो वे आए और उसे अपने घर ले गए। उपचार करने पर कई दिन बाद वह ठीक हुआ।

जम्बूकुमार ने जयन्तश्री से पूछा—भद्रे! क्या ललितकुमार दूसरी बार रानी के महलों में जाने की सोचेगा?

जयन्तश्री—नहीं।

जम्बूकुमार—भद्रे! इसी तरह जिसने सासारिक विषय-वासनाओं के परि-

ग्राम को अच्छी तरह पहचान लिया है, क्या वह फिर उस तरफ जाएगा ? मैंने सुधर्मस्वामी की देशना से ससार का स्वरूप, पौद्गलिक ऐश्वर्य की अस्थिरता भला भाति जान ली है। मैं अब किसी भी परिस्थिति में अपने निराश को नहीं बदल सकता।

जम्बूकुमार के उत्कट वैराग्य का आठो ही धर्मपत्नियों पर गहरा प्रभाव पड़ा। यद्यपि वे पहले ही यह निराश कर चुकी थी कि जैसे जम्बूकुमार करेगे वैसे वे भी करेगी, फिर भी उन्होंने अपनी ओर से उनकी गहराई को परखने का प्रयत्न किया था। युक्ति के साथ-साथ उन्होंने अपनी ओर से शृंगारव हास्य के द्वारा भी उन्हें विमुग्ध करने का प्रयत्न किया, किन्तु उत्कट वैराग्य पर अनुराग कभी हावी नहीं हो सकता। उन्होंने भी परम उत्साह के साथ जम्बूकुमार से कहा—पतिदेव ! हम भी आपके साथ हैं। आप इस श्रेय के मार्ग पर आगे बढ़ें। हमारी मंगल कामना है।

#

#

#

प्रभव राजकुमार अपनी चोर-वृत्ति के कारण काफी बदनाम हो चुका था। कुछ दिन तो वह छुपा रहा, किन्तु अन्ततः उसे प्रकट में भी आना पड़ा। राजा ने उसे अपने देश से निकाल दिया। वह किसी चोर पल्ली में पहुँच गया। वह सब तरह से योग्य था। प्रशासन का उसे अच्छा अनुभव था। मिलन-सारिता के कारण उसने सभी चोरों में प्रमुख स्थान पा लिया। सभी चोर उसे हृदय से चाहते। क्रमशः प्रभव उस तस्कर दल का नेता बन गया। निर्भय होकर बड़े-बड़े सेठों के खजाने छूटता और राज्य-व्यवस्था को चुनौती देता। उसके नाममात्र से जनता थर्रा उठती। कोतवाल आदि नगर रक्षक भी उससे भय खाते।

जम्बूकुमार के विवाह व दहेज की बात जब प्रभव ने सुनी तो उसने अपने साथियों को ऋषभदत्त सेठ के घर चलने के लिए आदेश दिया। उसने कहा—आज हमें उतना धन मिल सकता है, जितना कि पिछले जीवन में कभी न मिला हो। क्योंकि वहाँ अठारहों करोड़ सौनयो व अन्य सैकड़ों बहुमूल्य वस्तुओं का ढ़ेज आज हो आया है। एक साथ वह तिजोरियों में नहीं रखा जा सकेगा। यदि हम आज ही पहुँचते हैं तो आसानी से सारा माल बाहर ही पड़ा मिल जाएगा। प्रभव के इस आदेश से सभी तस्करो को प्रसन्नता हुई।

आधी रात होते ही प्रभव अपने पाँचसौ साथियों के साथ ऋषभदत्त के घर आ गया। उसने अपनी अवस्वापिनी विद्या का स्मरण किया और उसके बल पर घर के सभी व्यक्तियों, नौकरों और पहरेदारों को गहरी नींद में सुला दिया। काफी दहेज घर के आगन में ही पड़ा था, अतः तस्करो ने शीघ्रता से गठरिया बाधनी आरम्भ कर दी। कुछ भीतर रखा जा चुका था, जिसे प्रभव ने उद्घाटनी विद्या के स्मरण से अनायास ताले खोलकर प्राप्त कर लिया। जब सब तैयार हो गए तो प्रभव ने उन्हें चलने का आदेश दिया। तस्कर गठरिया उठाने लगे तो वे उठी नहीं। अपने

पैर एक दूसरे के सहयोग के लिए इधर-उधर बढ़ाने लगे तो टम से मन भी नहीं हुए। सभी ने अपने नेता प्रभव से यह हकीकत कही। प्रभव गहरी चिन्ता में पड़ गया। रात का चौथा प्रहर आरम्भ हो गया था, अतः उसमें चिन्ता और अधिक बढ़ गई। उसने मन में सोचा—कोई मेरे से भी अधिक शक्तिशाली यहाँ है, जिस पर मेरी विद्याओं का कोई असर नहीं हुआ, प्रत्युत मेरे पर उसका हो गया। भयानुग होकर वह इधर-उधर देखने लगा। उसे कोई भी ऐसा व्यक्ति दिखाई नहीं दिया। जब ऊपर देखा तो ज्ञात हुआ कि एक महल में दीपक जल रहा है। वह ऊपर आया। ज्यों ही महल के निकट पहुँचा, बातचीत की कुछ अस्पष्ट-सी त्वनि सुनाई दी। खिड़की में छुपकर देखा तो वह दग रह गया। एक युवक अप्सरा नृत्य आठ युवतियों से बातें कर रहा है। प्रभव का मन भी बातें सुनने को उतावला हो चला। दीवाल के पीछे छुपकर बातें सुनने को बैठ गया। नवो व्यक्तियों की ही वैराग्य भरी बातें उसने सुनी। उसका मन दहल उठा। उसके मन में आया—मेरे मे और इस युवक में कितना अन्तर है? यह प्राप्त धन और ऐश्वर्य को ठोकर मार रहा है और मैं इसकी झूठन को खाने के लिए ललचा रहा हूँ। यह तो मनुष्य के शरीर में ईश्वर है और मैं इसी चोले में एक दैत्य। मुझे राज्य का पूरा वैभव व सम्पूर्ण अधिकार मिल रहा था, किन्तु दूसरों के धन को हड़पने की अभिलाषा में वह सारा चला गया। आज तक मेरी वही स्थिति चली आ रही है। मैं तो अपना यह जीवन भी बरबाद किया है और अगला जीवन भी। उससे रहा नहीं गया। खिड़की में चढ़े होकर उसने युवक को प्रणाम किया और कहा—महाभाग! यह सिर सामन्तों व राजाओं के सामने कभी नहीं झुका, पर तुम्हारी इस निस्पृहवृत्ति के समक्ष झुक रहा है। तुम्हारे जैसे महामानवों को पाकर यह वसुन्धरा धन्य है। उसने अपना परिचय दिया और कहा—मेरे पाँच सौ साथियों को जिन्हें आपने स्तम्भित कर दिया है, कृपया मुक्त करे। मेरी अवस्थापिनी और उद्धादिनी दोनों विद्याएँ आपके चरणों में हैं और अपनी स्तम्भिनी विद्या विनिमय में प्रदान करे।

जम्बूकुमार और उन आठों स्मरणियों ने खिड़की की ओर झाँका। एक दैत्याकार मनुष्य खड़ा था। स्त्रियाँ अपने स्वभावानुसार कुछ भयभीत हुईं। किन्तु जम्बूकुमार ने कहा—प्रभव! मैंने तो तेरे किसी व्यक्ति को स्तम्भित नहीं किया है और कल भी तो किसलिए? तुम्हें धन मारभूत जान पड़ता है, किन्तु मेरे लिए मिट्टी में और इसमें कोई अन्तर नहीं है। तुम्हारे पाँच सौ आदमी कहाँ हैं और क्या बात है, मैं तो उससे परिचित भी तो नहीं हूँ।

प्रभव ने अपनी सारी कथा सुनाई। उसका भी मन धन से धर्म की ओर बढ़ चुका था। उसने कहा—महामानव! जो निर्णय आपका है, वही मेरा है। मेरे पिता जो कि राजा है, अथवा प्रयत्नों के बावजूद भी मेरा जीवन नहीं बदल सके। आपके केवल दशन व कुछ देर के वार्तालाप ने मेरा जीवन झकझोर डाला है, किन्तु

मेरे साथियों को आप मुक्त कर दे। वे आपका धन नहीं ले जाएंगे। केवल वे अपने प्राण बचाना चाहते हैं।

जम्बूकुमार ने कहा—प्रभव ! तुम नीचे जाओ और उनसे बात करो।

प्रभव नीचे आया और उसने देखा तो ज्ञात हुआ कि किसी के भी पैर नहीं थमे हुए हैं। सभी प्रभव से कह रहे थे—‘आपने तो विलम्ब कर दिया। काम करके बहुत विलम्ब से लौटे। अब जल्दी करे। पो फटने वाली है। कुछ उजाला होने से पहले ही नगर की सीमा को लाव जाए तो अच्छा है। प्रभव ने कहा—‘किसका धन और कौन हम लेने वाले ?’

अपने नेता के मुंह से यह अप्रत्याशित बात सुनकर सारे ही तस्कर भौचक्के रह गए। उन्होंने एक साथ पूछा—‘स्वामिन् ! ऐसा क्यों ?’

प्रभव ने कहा—हमने अपने जीवन का स्वर्णिम विभाग इस छीना-भपटी में ही बिता दिया। हमारे लिए तो धन सर्वस्व है, किन्तु इस पृथ्वी पर ऐसे भी मानव हैं जो इसे धूल समझते हैं। हम आज यहाँ धन हड़पने के लिए आए हैं, किन्तु जिस व्यक्ति का हमने यह समझ रखा है, उसे यह दहेज में मिला है, पर वह इस ओर भाकता तक नहीं है। कुमार विरक्त है और प्रातः काल होते ही वह अपनी आठो धर्मपत्नियों के साथ दीक्षित हो जाएगा। मैंने भी निर्णय कर लिया है कि मैं भी अब उसके साथ दीक्षित हो जाऊँगा। तुम यह धन तो यहीं रहने दो और यहाँ से जाओ तथा अपना नेता किसी दूसरे को बना लो।

हम अपने नेता का साथ किसी भी हालत में नहीं छोड़ेंगे, सभी ने एक स्वर में कहा।

तो अब तस्कर जीवन जीने के लिए मैं भी तैयार नहीं हूँ, प्रभव ने दृढ़ता के साथ कहा।

आपके नेतृत्व में रहकर यदि हमने कर्म-क्षेत्र में कुशलता प्राप्त की है तो क्या धर्म-क्षेत्र में बढने का हमारा साहस नहीं है ? सभी तस्करो ने फिर एक साथ कहा।

तो मुझे तुम सबका नेतृत्व स्वीकार है। तुम सब कुमार के चरणों में पड़ो। वे तुम्हारा कल्याण करेंगे, प्रभव ने कहा।

प्रभव जम्बूकुमार के पास आया और उसने अपने अनुचरों की भावना रखी। कुमार को इससे हार्दिक प्रसन्नता हुई। पाच सौ तस्करो को कुमार ने प्रतिबोध दिया और उन्हें विरक्त बना दिया।

प्रातः काल होते ही कुमार माता-पिता के पास पहुँचा और दीक्षा की अनुमति मागने लगा। माता का हृदय फिर मनता से भर गया। उसने कुमार को फिर समझाया। जब वह नहीं माना तो अनुमति देनी पड़ी और वे भी स्वयं दीक्षित होने के लिए तैयार हो गए। आठो पत्नियों के माता-पिता के पास यह सवाद पहुँचा तो

वे भी विरक्त हो गए । इस प्रकार जम्बूकुमार ने अपने अपार धन-वैभव को छोड़कर पाच सौ सत्ताईस व्यक्तियों के साथ भगवान् श्री महावीर के उत्तराधिकारी सुधर्म स्वामी के चरणों में भागवती दीक्षा ग्रहण की । अपनी आत्मा को तप, स्वाध्याय न कायोत्सर्ग से भावित करते हुए वही जम्बूकुमार सुधर्म स्वामी के उत्तराधिकारी होकर अन्तिम केवलज्ञानी बने । वे आगे चलकर जम्बूस्वामी के तथा प्रभव स्वामी के नाम से प्रसिद्ध हुए । जम्बूस्वामी के उत्तराधिकारी प्रभव स्वामी हुए ।



गौतम स्वामी

इन्द्रभूति भगवान् महावीर के प्रथम शिष्य थे। ये गौतम गौत्री थे, अतः गौतम स्वामी के नाम से ही प्रसिद्ध थे। अपने पूर्व जीवन में ये कर्मकाण्डी और वेदों के प्रकाण्ड पंडित थे। भगवान् महावीर के पास वे इस उद्देश्य से आये थे कि शास्त्रार्थ में उन पर विजय पाकर उनके इन्द्रजाल को प्रकट किया जा सके, किन्तु उस शास्त्रार्थ में वे ही उनके प्रथम गणधर के रूप में शिष्य बन गये।

भगवान् महावीर के साथ इन्द्रभूति का गुरु और शिष्य का सम्बन्ध तो था ही, परन्तु उसके साथ ही इन्द्रभूति के दिल में भगवान् महावीर के प्रति अनुराग भी बहुत था। भगवान् महावीर उनसे न अनुरक्त थे और न विरक्त। वे समदर्शी व समव्यवहारी थे। किसी भी प्राणी की आत्मा में उन्हें अन्तर प्रतीत नहीं होता था, अतः न उनके कोई निकट था और न कोई दूर। किन्तु गौतम स्वामी के मन में भगवान् महावीर के प्रति सहज श्रद्धा के साथ कुछ मोह मिश्रित अनुराग भी था। उदाहरण के रूप में वह उस समय प्रकट हुआ, जबकि कार्तिक अमावस्या के दिन भगवान् महावीर का निर्वाण हो चुका था और वे उनके पास न होने के कारण विलाप करने लगे थे। यह विलाप ही उनके कर्म-मल के उच्छेद में बाधक बन रहा था। जब तक वे भगवान् के प्रति मोह मिश्रित अनुराग के भूले में भूलते रहे, केवल-ज्ञान उनसे दूर रहा। भगवान् महावीर स्वयं अनासक्त थे और उसी प्रकार की अनासक्ति के लिए सबको प्रेरणा देते थे तो मैं इस प्रकार आसक्ति में क्यों फसू, इस तरह चिन्तन करते हुए जब उन्होंने अपने अन्तर-विवेक को नया मोड़ दिया, उन्हें भी केवल-ज्ञान की उपलब्धि हो गई।



दो सेठ

एक सेठ का भरापूरा परिवार था। छोट-बड़े पच्चास व्यक्तियों का एक साथ ही खाना बनता था और एक माथ ही निवास व व्यवसाय था। व्यापार अच्छा चलता था, अतः किसी को भी किसी तरह की चिन्ता नहीं थी। अपने पारिवारिको पर सेठ का बड़ा प्यार था और घर के सदस्यों की सेठ के प्रति श्रद्धा थी। प्यार और श्रद्धा से जीवन में किसी तरह का अभाव कभी नहीं खटकता था। मयोगवश चक्र उल्टा चल पड़ा। व्यापार चौपट हो गया। आय के साधन बन्द हो गये। सगृहीत पूजा छूटने लगी और एक दिन ऐसा भी आया कि खाने के लिए पूरी गोटी भी नसीब होनी मुश्किल हो गई। सेठ ने परिवार के छोटे-बड़े सभी सदस्यों को एकत्रित किया और अपनी भूतकालीन व वर्तमान परिस्थितियों पर प्रकाश डाला। भावी जीवन की आवश्यकताओं और उनकी पूर्ति के लिए अपनी योजनाएं बतलाईं। सेठ ने कहा— इतने दिन तक हम श्रम श्रम से ही अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति आसानी से कर लेते थे, पर अब ऐसा होना सम्भव नहीं है। कड़े श्रम की आवश्यकता पड़ेगी। उसमें किसी को भी सकोच अनुभव नहीं होना चाहिए। क्यों, श्रम के लिए सभी प्रस्तुत हों न ?

जो आपका सकेत हो, एक साथ ही घर के सभी सदस्यों ने सेठ से कहा।

सेठ ने कहा—‘हमारे पास अब इतनी पूजा नहीं है कि हम कोई बड़ा उद्योग या व्यवसाय कर सकें। गृह-उद्योग के रूप में हमें छोटे-छोटे कार्यों से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करनी होगी। कल प्रातः काल से ही जंगल में चलो। वहां कुछ न कुछ कार्य मिल ही जायेगा।’ सभी ने यह सहर्ष स्वीकार किया।

प्रातः काल होते ही छोटे-बड़े सभी व्यक्ति तैयार हो गये और सेठ के आदेशानुसार कसी, कुदाल व हसिया कच्चे पर उठाये उसके साथ ही चल पड़े। सुबह का खाना सभी ने घर पर खा लिया और दोपहर के लिए साथ ले लिया। बच्चों ने अपनी पीठ पर पानी की केतलियां लटका ली और स्त्री, पुरुष व बच्चे सभी एक दूसरे से आगे-आगे बढ़ने लगे। एक काफिला-सा हो गया। सघन जंगल में पहुंचे। एक अच्छा-सा वट का वृक्ष देखकर सेठ ने कहा—यहां अपना आज का पड़ाव डाला जाये। सभी वहीं रुक गये और सेठ से कुछ करने के लिए सभी ने आज्ञा मांगी। अपने पारिवारिको का अपार ऐक्य

देख कर सेठ का हृदय फूल गया। उसने महिलाओं को आदेश दिया कि वे सरकण्डे काटे। सात वर्ष से छोटे बच्चों के लिए उसने कहा कि वे नन्हें-नन्हें बच्चों को खिलाये। बड़े लड़के सरकण्डों के छिलके उत्तारे और युवक उन्हें काटने, पीटने का काम करे। पकी अवस्था व अस्वस्थता वाले व्यक्ति काम करने वालों को अपने अनुभव बतलाए और काम में उनका जोश बढ़ाये। आदेश होते ही सारे व्यक्ति काम में जुट पड़े। एक नया कारखाना-सा खुल गया। एक ओर कटाई, छाटाई होने लगी तो दूसरी ओर मूज बनने लगी। चक्के चलने लगे और धडाधड रस्सियां बनने लगी।

वटवासी यक्ष ने जब इतना बड़ा जमघट देखा तो उसे आश्चर्य भी हुआ और अपनी शान्ति में व्याघात होने से दुःख भी। उनकी एकता अवश्य आश्चर्य का विषय थी, पर इतनी खटपट वह अपने सर पर कैसे सहन कर सकता था। उसने आकाश-वाणी के रूप में महिलाओं से कहा—यह मेरा स्थान है। इसे मत काटो। यदि ऐसा हुआ तो अच्छा नहीं होगा।

महिलाओं ने उत्तर दिया—यह सब सोचना हमारे अधिकार में नहीं है। जो कुछ कहना है, सेठजी से कहो।

यक्ष ने बच्चों व युवकों से भी कहा, किन्तु उनसे भी यही उत्तर मिला। यक्ष सेठ के पास पहुँचा। सेठ उस समय गूथी जाने वाली रस्सियों की देख-भाल कर रहा था। यक्ष ने सेठ से यही पूछा—सेठ! इन रस्सियों का क्या करोगे?

सेठ ने तपाक से उत्तर दिया—मैं इनसे तुम्हें बाधूंगा।

यक्ष घबरा गया। सेठ के पारिवारिकों की एकता को वह भली-भाँति जान चुका था, अतः उनके लिए कोई भी काम असम्भव नहीं था। यक्ष ने पूछ लिया—मुझे क्यों बाधोगे? मैंने तुम्हारा कोई अपराध तो नहीं किया।

सेठ ने कहा—हमें अपनी आजीविका चलानी है, माग के नहीं खाना है। धन्वा न करे तो क्या भूखो मरे?

यक्ष—सेठ! यहाँ यह खटपट मत करो। इससे मैं बहुत परेशान हूँ।

सेठ—आज आये है, कल तक का काम सामने पड़ा है और परमों भी आने का विचार है।

यक्ष—यदि मैं इसकी दूसरी व्यवस्था कर दूँ तो?

सेठ—फिर हमें यहाँ आने की क्या आवश्यकता रहेगी?

यक्ष ने अपना धन-भण्डार खोल दिया। सेठ ने अपने पारिवारिकों से कहा—जितना उठा सको, धन के गट्ठर बाध लो और घर की ओर चलो। पच्चासो आदमी थे, अतः सभी ने कसकर गट्ठर बाध लिए और उन्हें लादे सेठ के पीछे-पीछे घर की ओर चल दिये। घर में अपार सम्पत्ति हो गई और पहले की तरह ही सब काम चलने लगे।

सेठ के पड़ोस में एक दूसरा सेठ और रहता था। उसने उसकी अचानक

समृद्धि देखी तो उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने इसका कारण जानना चाहा, किन्तु सेठ ने कुछ भी बताने से स्पष्टतः इन्कार कर दिया। महिलाएँ महिलाओं ने मिली। इधर-उधर की बातें चली तो भेद खुल गया। पड़ोसी सेठ ने जब यह सब कुछ सुना तो उसके भी मुँह में पानी भर आया। धन-कुबेर बनने की लालसा जागृत हो गई। उसने भी अपने परिवार के सभी सदस्यों को बुलाया, पर एक भी नहीं आया। बड़ी कठिनाता से समझा-बुझाकर सबको बुलाया गया। सेठ ने अपने पड़ोसी के धन-कुबेर बनने की कहानी कह सुनाई और सभी में इस प्रकार एक साथ चलने व धन-कुबेर बनने की प्रेरणा दी। कुछ एक ने तो स्पष्ट इन्कार कर दिया और कुछ एक ने दबी जवान से स्वीकृति दी। कुछ एक ने चलने से पहले ही यह प्रश्न उठा दिया कि आखिर धन में हिस्सा किस-किसका और कितना होगा।

सेठ ने बहुत प्रयत्न के बाद सबको चलने के लिए रजामन्द कर लिया। प्रातः काल होते ही सभी चले। कोई आगे चलता तो कोई पीछे। कोई किमी की बगल ताकता तो कोई किसी को रास्ते में ही कोसने लगता। आखिर उसी जगल में उसी बट वृक्ष के नीचे पहुँचे। सेठ ने सबसे काम पर जुट पड़ने के लिए कहा। किसी ने काम प्रारम्भ नहीं किया। बड़ी मुश्किल हो गई। अन्ततः सेठ ने स्वयं काम करना प्रारम्भ किया। उसके पीछे-पीछे कुछ एक अन्य व्यक्तियों ने भी काम शुरू कर दिया। यक्ष ने यह भी सारा बातावरण देखा। उसने उसी प्रकार आकाशवाणी की—मब रुक जाओ। सबने ही काम छोड़ दिया और भाग खड़े हुए। यक्ष ने पूछा—इन रस्सियों से क्या करोगे ?

परिवारिको ने कहा—सेठजी को बाँधेंगे।

यक्ष ने फिर एक ललकार की तो कसी, कुद्दाल, हसिया वही जगल में छोड़कर अपने प्राण बचाने के लिए सभी घर की ओर भाग खड़े हुए। यक्ष ने सेठ से कहा—सेठ ! तेरे में और उस सेठ में केवल इतना ही अन्तर है कि उन सबमें एकता थी और तुम सबमें फूट। एकता का फल मधुर होता है और फूट का कटु।



वेगवती

मृणालिनी नगरी में श्रीभूति नामक एक प्रतिष्ठित पुरोहित रहता था। उसकी पत्नी का नाम सरस्वती था। वेगवती उसी पुरोहित की कन्या थी। एक दिन वह अपनी सखियों के साथ भ्रमण करती हुई उद्यान में चली गई। इसी उद्यान में कृशकाय घोर तपस्वी सुदर्शन मुनि आए और कायोत्सर्ग करने लगे। नगर में जब मुनि के आगमन की सूचना हुई तो जनता के समूह के समूह उनके दर्शनार्थ आए। वेगवती को यह उचित नहीं लगा। उसका हृदय मुनि के प्रति द्वेष से भर गया। सैकड़ों व्यक्तियों के उस समूह को सम्बोधित कर उसने कहा—केवल वेष पहन लेने से ही क्या साधु होते हैं। इस वेष में न मालूम कितने दम्भ और दुराचार पलते हैं। आप लोग जिस व्यक्ति को मुनि समझ रहे हैं, वह तो गृहस्थ की सामान्य भूमिका से भी बहुत नीचे है। अभी-अभी मैंने देखा था कि वह अकेली स्त्री के साथ एकान्तवास कर रहा था। कर्मकाण्डी पवित्र ब्राह्मणों को छोड़कर आप लोग इन पाखण्डियों के पीछे क्यों पड़े हैं ?

मुनि ने जब अपने पर लगाए जाने वाले मिथ्या आरोप को सुना तो वे सतप्त हो गए। यद्यपि वे यह भली भाँति जानते थे कि मैं निर्दोष हूँ, अतः मेरे पर कलक मढ़ा जा सकता है, किन्तु उसका प्रतिफल मेरी आत्मा पर कुछ भी पड़ने का नहीं है। फिर भी इससे जैन साधुओं के प्रति जनता में बहुत बड़ी भ्रान्ति फैलेगी। मैं यदि किसी के समक्ष स्पष्टीकरण भी करूँगा तो कोई उस पर विश्वास नहीं करेगा। मेरे पास और कोई उपाय भी नहीं है, किन्तु जब तक यह मिथ्या आरोप दूर नहीं होगा, मैं ध्यानस्थित ही रहूँगा। किसी भी प्रकार के आहार व पानी का उपभोग नहीं करूँगा।

अभिग्रह ग्रहण कर मुनि अपने ध्यान में लीन हो गए। चिन्तन का ऊर्ध्व संचरण हुआ। वे अपने शरीर और आत्मा के ऐक्य को भी एक बार जैसे कि भूल ही गए।

वेगवती का वह कथन सुनकर जनता नगर की ओर मुड़ चली। सबने ही उसके कथन पर विश्वास कर लिया, अतः मुनि के प्रति उनके भी मन घृणा से

भर गए। वेगवती ने जब यह मारी घटना देखी तो उसे बहुत हर्ष हुआ। वह भी नगर की ओर जाने लगी। दो-चार कदम चली होगी उसकी जवान बन्द हो गई। भय से सन्नस्त हो गई और पीडा से अभिभूत होकर मरगान्त दुखों की अनुभूति करने लगी। उसे अपना मिथ्या-आचरण याद आया। वह भी एक मनुष्य थी। उसमें चिन्तन था, मवेदना थी और विवेक था, अतः अपने द्वारा किए गए कार्य के प्रति उसका हृदय स्नान से भर आया। विचारों के वेग को रोक नहीं सकी। तिलमिलाने लगी। उसकी जवान खुल गई। उसने उस समय जोर-जोर से चिल्लाने हुए कहा--‘मुनि सर्वथा निर्दोष है। इन्होंने कोई भी ऐसा आचरण नहीं किया है, जो मैंने पहले कहा था। न तो कोई महिला मुनि के पाम आई थी और न एकान्त-वास ही हुआ है। मैंने द्वेषवश ऐसा कह दिया था। मैंने मुनि पर मिथ्या कलक लगाया है। मुनि अपनी साधना में पूर्णतः निष्णात है। इनमें किसी प्रकार की कोई स्खलना नहीं है। मैं पापिनी हूँ। ऐसी मिथ्या बात कहकर मैंने बहुत बड़ा पाप अर्जित किया है। मैं इस पाप के प्रतिफल से जन्म-जन्मान्तर में भी नहीं छूट सकूंगी।’

जनता पुनः मुनि की ओर मुटने लगी। कुछ ही क्षणों में सहस्रो व्यक्ति वहाँ इकट्ठे हो गए। मुनि ने आरोप मुक्त हो जाने में अपने अभिग्रह की पूर्ति की। उन्होंने ध्यान खोला और आगन्तुक जनता को प्रतिबोध दिया। वेगवती ने भी मुनि का शरण ग्रहण किया। उसने अपने अपराध के लिए पुनः पुनः क्षमा मांगी। मुनि का भावपूर्ण उपदेश सुनकर जनता के मन में धर्म के प्रति आस्था जागृत हुई। वेगवती का भी दिल बदला। उस पर भी उपदेश का असर हुआ। सम्यक्त्व ग्रहण की और श्रावक के बारह व्रत अंगीकार किए। कुछ समय पश्चात् वह साध्वी बनी और सम्यग् प्रकार से अपनी साधना सम्पन्न कर पाचवे स्वर्ग में उत्पन्न हुई।

वेगवती की आत्मा ने स्वर्ग से अपना आयुष्य समाप्त कर मिथिला नगरी में महाराजा जनक के घर सीता के रूप में जन्म लिया।

कुण्डरीक

पुष्कलावती विजय मे पुण्डरागिणी नामक नगर था । वहा के राजा का नाम महापद्म व महारानी का नाम पद्मावती था । दो पुत्र हुए, जिनके नाम क्रमशः पुण्डरीक और कुण्डरीक रखे गए । एक बार नगर मे एक स्थविर मुनि पधारे । महापद्म ने उनका उपदेश सुना, विरक्त हुआ और पुण्डरीक को अपना उत्तरदायित्व सौंप कर साधु बन गया । तप, स्वाध्याय व ध्यान मे महापद्म लीन हो गया और स्थविर मुनि के साथ विहरण करने लगा । कुछ वर्ष बाद स्थविर मुनि फिर उसी नगर मे पधारे । पुण्डरीक और कुण्डरीक दोनों भाई धर्मोपदेश सुनने के लिए गए । पुण्डरीक ने श्रावक-धर्म स्वीकार किया और कुण्डरीक ने पूर्ण विरक्त होकर साधु धर्म । पुण्डरीक अपनी राजधानी लौट आया और कुण्डरीक ने स्थविर मुनि के साथ विहार कर दिया ।

लम्बी तपस्या, घोर विहार व निश्चल ध्यान मुद्रा मे कुण्डरीक ने अपने शरीर को होम दिया । वे अपने पूर्व जीवन मे जितने राज्याश्रयी थे, अब उतने ही त्यागाश्रयी हो गए । पारणो मे समय पर जो भी रूखा-सूखा भोजन मिल जाता, वे ले लेते और साधना मे लीन हो जाते । उनकी भावना मे विद्युद्धि व समय मे दृढता अद्भुत थी । उनका शरीर बिल्कुल सूख गया, पर उनका अर्ध्यात्म निखर आया । शरीर ने एक बार उन्हें धोखा दे दिया । दाह-ज्वर रोग उत्पन्न हो गया । बड़ा भयंकर रोग था । तपस्या से शरीर कृश तो हो ही गया था, पर जब रोग ने और आक्रमण कर दिया, वे बहुत ही परेशान हो गए । उनका मनोबल अतुल था, पर शरीर-बल के क्षीण हो जाने से ध्यान, स्वाध्याय आदि सभी कार्यों मे व्याघात होने लगा । इतना होने पर भी वे स्थविर मुनि के साथ विहार करते और अपनी किसी भी प्रवृत्ति मे असयतता नहीं होने देते ।

स्थविर मुनि विहार करते हुए फिर उसी पुण्डरागिणी नगर के उद्यान मे पधार गए । मुनि कुण्डरीक भी साथ थे । राजा पुण्डरीक को जब मुनिवर के आगमन का समाद मिला तो वह दर्शन करने के लिए आया । अपने छोटे भाई को इस तरह रोग से पीडित देखा तो उसने स्थविर मुनि से प्रार्थना की कि आप शहर मे पधार

जाए ताकि इनका अच्छी तरह उपचार हो सके। स्थविर मुनि ने राजा की प्रार्थना स्वीकृत कर ली।

राजवैद्य के द्वारा कुण्डरीक मुनि का उपचार आरम्भ हुआ। निदान अच्छी तरह से हो गया था, अतः औषधोपचार में बीमारी भी धीरे-धीरे दूर होने लगी। काफी लाभ हो जाने पर स्थविर मुनि तो ब्रह्मा से विहार कर गए और कुण्डरीक मुनि की परिचर्या के लिए कुछ साधुओं को वहाँ छोड़ गए। बीमारी की वजह से मुनिवर का समय तपस्या, ध्यान व स्वाध्याय में कम लगता और औषधि-सेवन व पथ्य-ग्रहण में अधिक। इसमें शरीर तो ठीक होने लगा, पर आत्मा विकृत होने लगी। विरक्ति आसक्ति में बदलने लगी और पथ्य-ग्रहण रम-लोभुपता में। कुछ दिन बाद मुनि का शरीर बिल्कुल स्वस्थ हो गया, किन्तु वे वहाँ से प्रस्थान करना नहीं चाहते थे। साथी साधुओं ने विहार करने के लिए अनुनय किया तो अभी मैं पूरा ठीक नहीं हूँ, ऐसा कहकर बात टाल दी। मुम्बादु भोजन, अच्छा मकान व अच्छी परिचर्या ने उन्हें साधना-विमुख कर दिया। उनके व्यवहार व बोल-चाल में उनके बड़े भाई पुण्डरीक ने इस रहस्य को अच्छी तरह भाप लिया। एक दिन वह उनके पास आया और उन्हें प्रतिबोधित करने के उद्देश्य से बोल पड़ा—मुने! आपका वैराग्य बड़ा ऊँचा है। उभरते हुए इस जीवन में मादकता के चक्कर में न फसकर तपस्या का यह विकट पथ स्वीकार कर आपने बहुत ही ऊँचा आदर्श उपस्थित किया है। आप जैसे तपस्वी मुनियों को शतशः धन्य है। हम तो इस मनुष्य जन्म को पाकर विषय-वासना में बुरी तरह उलझ गए हैं। दूसरों को लगता है कि राज्य-वैभव में बहुत बड़ा आनन्द है, पर मुनिवर! हम ही जानते हैं कि इन दुविधाओं में फसकर हमने किस तरह अपनी आत्म शान्ति को ताक पर रख दिया है। हम तो उस दिन की प्रतीक्षा में हैं, जब इस मायावी समार को छोड़कर आपके त्यागमय व शान्तिपूर्ण जीवन का अनुसरण करेंगे।

पुण्डरीक ने अपनी भावना के ब्याज से मुनि कुण्डरीक को अपने दिन की सारी बाने कह दी। मुनि भी उसके लक्ष्य को ताड़ गए। उन्हें अपने सकल्प पर धृष्टा हुई। साधना की ओर मन को मोड़ लिया और दूसरे ही दिन वहाँ से प्रस्थान कर दिया। वे अपने गुरु स्थविर मुनि के पास पहुँच गए।

अच्छे सस्कार बड़े प्रयत्न के बाद जागृत होते हैं, किन्तु बुरे सस्कारों को सौ-सौ बार दुत्कारने पर भी वे पीछा नहीं छोड़ते। मुनि कुण्डरीक साधना में एक बार अवश्य स्थिर हो गए, किन्तु वे असद् विचार कभी-कभी उभर आया करते थे। वे उन्हें दमित करने का बहुत प्रयत्न करते। कभी वे अपने कार्य में सफल भी हो जाते और कभी-कभी असफल भी। धीरे-धीरे असफलता बढ़ती गई और एक दिन उसने फिर मुनि कुण्डरीक को घर दबोचा। मुनि अपनी साधना को भूलकर आत्म-विस्मृत हो गए। बिना किसी से कुछ पूछे अपनी राजधानी में आ गए। भाई पुण्ड-

रीक अपने भाई की मनोभावना को पहचान गया। वह उनके पास आया और पिछली तरह इस बार भी उन्हें जागरूक करने का प्रयत्न करने लगा। मुनि कुण्डरीक ने पुण्डरीक की बात को बीच ही में काटते हुए कहा—भाई! मुझे ये धर्म-कर्म की बातें अब नहीं सुहाती। मैंने बहुत वर्षों तक यही सुना और सुनाया, किन्तु आज यह बात सर्वथा निःसार प्रतीत होती है। इस साधना के चक्कर में ही तो मैंने अपने इस शरीर को सुखा दिया। हाथ कुछ भी नहीं आया। अब इस बन्धन में रहने की भूल तो मैं नहीं कर सकता।

राजा पुण्डरीक असमजस में पड़ गया। वह नहीं चाहता था कि भाई की नट पर पहुँचने ही वाली जीवन नौका इस तरह दुर्दैव के किसी पत्थर से टकरा जाए और चूर-चूर हो जाए। उसने बहुत प्रयत्न किए, पर पतंग की डोर हाथ से निकल चुकी थी। कुण्डरीक ने तो स्पष्ट कह दिया, मैं इस व्याधि को अब सहन नहीं कर सकता। पुण्डरीक का दिल घड़कने लगा। किन्तु दूसरे ही क्षण उसने अपने आपको सावधान किया और भाई को ललकारते हुए कहा—‘ले, तू यदि समय-जीवन नहीं जी सकता तो मैं इस मार्ग पर जाता हूँ। तू अपने वस्त्र मुझे दे दे और मेरे वस्त्र तू ले ले।’ पुण्डरीक ने अपने सारे राज्य-चिह्न व राजकीय पोशाक उतार दी। कुण्डरीक ने अपना मुनि का वेश उतार दिया। वेश-भूषा का दोनों ने परस्पर परिवर्तन कर लिया। वह परिवर्तन वस्त्रों तक ही सीमित नहीं रहा। दोनों ने उनमें उतना रस भी लिया। पुण्डरीक ने मुनि के वस्त्र-धारण कर मुनि की चर्या सहित वहाँ से स्थविर मुनि की ओर बिहार कर दिया। साथ में उन्होंने अभिग्रह भी धारण कर लिया कि जब तक स्थविर मुनि के दर्शन नहीं होंगे, अन्न और जल ग्रहण नहीं करूँगा। चलते-चलते उनके पाम पहुँचे। वृद्धावस्था, मार्ग की दुर्गमता व अभिग्रह की कठिनाता से वहाँ पहुँचते-पहुँचते एकदम परिवर्तन हो गए। उन्होंने प्रब्रज्या ग्रहण की और सातवें दिन आयुष्य पूर्ण कर सर्वार्थ-सिद्धि विमान में उत्कृष्ट देव-योनियों में उत्पन्न हुए।

कुण्डरीक राजा बनकर राजधानी में आया। ऐहिक विषय-वासना में भूखे भेड़िये की तरह दूट कर पड़ा। साधु-जीवन में जितना वह विरक्त था, इस जीवन में उतना ही आसक्त होगया। भोगैषणा ने उसके शरीर में असाध्य व भयंकर रोग पैदा कर दिए। उपचार किए गए, पर किसी तरह भी उनका शमन नहीं हुआ। सातवें दिन वह भी मृत्यु को प्राप्त होकर सातवीं नरक में जाकर पड़ा।

भावदेव और नागला

भवदेव और भावदेव दो भाई थे। उनकी माता का नाम रेवती गाथापत्नी था। वह बारह व्रतधारिणी श्राविका थी। अपने नित्य-नियम, तप-जप व व्रत पक्की थी। माता की धार्मिक भावना का भवदेव पर काफी प्रभाव पड़ा। वह भी अपनी माता की तरह पापभीरु व धर्म-निष्ठ बना। ज्योंही वह शशव को पार कर तारुण्य में आया, उसकी धार्मिक भावना और भी बढ़ी। वह विरक्त होता गया और एक दिन माता की अनुज्ञा प्राप्त कर साधु बन गया। रेवती और भावदेव दोनों (माता-पुत्र) गृहस्थ में रहते हुए भी यथाशक्य धर्मानुष्ठान कर रहे थे।

भावदेव बड़ा हुआ। तारुण्य में आते ही माता ने उसका विवाह-मस्वार एक सुखा कन्या नागला के साथ समीपवर्ती एक ग्राम में कर दिया। भावदेव अपनी नवोढा के साथ घर आ रहा था। रास्ते में सयोगत उसको बड़े भाई मुनि भवदेव के भी दर्शन हो गए। मागलिक कार्य में साधु-दर्शन पाकर भावदेव के खुशी का पार न रहा। उसने वही जंगल में उपदेश सुना। भवदेव मुनि ने अवसर देकर ममार की अनित्यता और अशरणता का विशद व हृदयग्राही विवेचन किया। भावदेव को भी विरक्ति-सी होने लगी। भवदेव मुनि ने और अधिक अपने विवेक्य विषय पर प्रकाश डालते हुए कहा—जब तक व्यक्ति वैषयिक सुख में लिप्त नहीं होता है, ऊपर उठ सकता है। किन्तु एक बार मकड़ी के इस जाले में फसने के बाद मनुष्य का त्राण पाना असम्भव-सा है। विज्ञ पुरुष वही है, जो फसने के बाद छुटकारा पाने के वनिस्पत उसमें फसे ही नहीं। भावदेव ! देख जरा अपने जीवन की ओर। अभी तक तू इस चगुल में नहीं फसा है। फसने को उद्यत है। यदि पौरुष को जागृत कर लिया तो समझ तू ने अपने इस अमूल्य नर-जीवन का सार खींच लिया।

भावदेव बोला—मुनिवर ! जब मैं आपकी ओर व आपके उपदेश की ओर आकृता हूँ, मन आपकी ओर उन्मुख होता है, किन्तु जब इस (नवोढा नागला) की ओर आकृता हूँ, कुछ कर्नव्य अपना स्मरण दिला देता है। अनुराग विराग को दबा देता है।

पति की बात को बीच ही में काटती हुई नागला बोली—पतिदेव ! मेरी

और आपको जरा भी सोचने की आवश्यकता नहीं है। यदि आप विरक्त हैं तो साधु बनिए। मैं अपना जीवन परम श्रद्धेया सास के चरणों में बैठकर आनन्दपूर्वक बिता दूंगी। मैं तो इस दुष्कर साधना को स्वीकार करने में असमर्थ हूँ, पर आपके लिए विघ्न भी बनना नहीं चाहती। मेरा आपसे निवेदन है, सासारिक विषय-वासनाओं के चक्कर में तो सारा ससार ही फसा हुआ है। धन्य वह है, जो इससे उपरत होता है। देखिए, अपने बड़े भाई को जिन्होंने तारुण्य के प्रथम चरण में ही अपनी आत्मा को इस प्रकार साब लिया है। वस्तुतः ये पुरुष नहीं, महापुरुष है। आपका भी कर्तव्य है, यदि आप विरक्त हैं तो भाई के मार्ग को स्वीकार करे और दुष्कर साधना की अग्नि में आत्मरूप स्वर्ण को तपाकर निखार दे।

भाई के हृदयग्राही उपदेश, पत्नी की सजीव प्रेरणा और अपने सहज वैराग्य ने अनुराग पर विजय प्राप्त कर ली। भावदेव भी भवदेव मुनि के पास प्रव्रजित हो गए और साधना में लीन होकर एकान्त में तपश्चरण करने लगे। नागला अपनी सास के सान्निध्य में रहती हुई, धर्माचरण करती और धर्मापरायणा सास की सेवा भी।

दिन, महीने वर्ष बीतते गए। भवदेव और भावदेव दोनों मुनि अपने स्वाध्याय, ध्यान, तप-जप में दत्तचित रहते। ग्रामानुग्राम विचरते और जनता को प्रतिबुद्ध करते। भवदेव मुनि वृद्ध हो गए। भावदेव अब भी युवावस्था में ही थे। भावनाओं ने करवट ली। कभी-कभी उनका मन साधना से विचलित हो उठता। सोचते किस चक्कर में फस गया। भूखा रहना, अरस-विरस खाना, गाव-गाव घूमना, यह क्या साधना? फिर मन में आता, नहीं यह साधना तो मैंने सहर्ष स्वीकार की है। किसी ने मेरे पर बलात् थोपी तो नहीं है। मैं क्यों उद्विग्न होता हूँ? किन्तु विचारों के इस आरोहण-अवरोहण में क्रमशः साधना के भाव क्षीण होते गए और रागभाव बढ़ता गया। मन इतना आतुर हो उठा कि साधना को छोड़ पुनः गृहस्थ बनने को तत्पर हो गए। बड़े भाई की ओर ध्यान गया। कुछ सकोच हुआ। बढ़ते हुए पैर रुक गए। बड़े भाई और उनका यह वार्द्धक्य, मुझे अपनी साधना नहीं छोड़नी चाहिए। साधुवेश में रहे, पर उनका मन गृहस्थाश्रम की ओर मुड़ गया। सोचने लगे भ्रातृ मुनि के स्वर्गधाम पहुँचते ही मैं अपना रास्ता लूंगा।

भवदेव मुनि का शरीर वार्द्धक्य और तपश्चर्या के कारण जर्जर हो गया। उन्होंने अन्नशन किया और समाधिपूर्वक पण्डित-मरण प्राप्त कर लिया। भावदेव स्वतन्त्र हो गए। उन्हें रोकने वाला व उन पर किसी का लिहाज ही, ऐसा अब कोई व्यक्ति नहीं रहा। बड़े हर्ष के साथ अपने ग्राम की ओर बढ़े। राह चलते अपने भावी जीवन के समस्त रेखा-चित्र बनाने लगे। किन्तु रह-रहकर उनके मन में आता, यदि माताजी जीवित होगी तो फिर दाल नहीं गलेगी। सारे मनसूबे धरे ही रह जाएंगे। दूसरे क्षण आता, जब भाई साहिब स्वर्गधाम पधार गए हैं तो माताजी भी उनसे पीछे नहीं रहती होगी। इस प्रकार विचारों में डूबते हुए भावदेव मुनि के वेश में ही अपने गाव के

बाहर पहुँच गए। यक्षपूजा के निमित्त बहुत सारी महिलाएँ एकत्रित होकर उभर से जा रही थीं। नागला भी उनमें से एक थी। उसने साधु को देखा तो अपनी सहेलियों से अलग हो कर नमस्कार करने के निमित्त वहाँ आ गई। अकेली महिला को देख कर भावदेव ने पूछा—क्या बहिन ! तू इसी ग्राम में रहती है ?

बहिन ने वन्दन किया और उत्तर दिया—हा महाराज !

भावदेव—क्या तू इसी गाँव में रहने वाली सुप्रसिद्ध आदिका रेवती गायाम्पनी को जानती है ?

बहिन—हा महाराज ! उसे तो गाँव का बच्चा-बच्चा जानता है। वह तो बहुत धर्मपरायण व प्रथम कोटि की आदिका थी।

भावदेव—क्या वह आजकल सानन्द है ?

बहिन—नहीं महाराज ! उसके शरीर को शान्त हुए तो कई वर्ष हो गए।

भावदेव ने अपने मन में मोचा—चलो, यह भी भ्रष्ट खत्म हो गया। अब मेरे अभीप्सित की पूर्ति में कोई बाधक नहीं होगा। उसने बहिन से आगे और पूछा—क्या तू उसकी पुत्र-वधू नागला को भी जानती है ? वह कहाँ है और कैसे है ?

बहिन ने भावदेव को पहचाना लिया। उसे लगा, अरे ! ये तो मेरे पति ही हैं, पर ये अभी क्यों आए हैं और ये प्रश्न क्यों पूछ रहे हैं ? कहीं दाल में काला तो नहीं है ? उसने अपने आपको प्रकट नहीं होने दिया और भावदेव के मन की बात निकलवाने का प्रयत्न करने लगी। वह बोली—हा महाराज ! मैं उसे भी अच्छी तरह से जानती हूँ। वह भी अपनी सास की तरह दृढवर्मा आदिका है और अपने व्रत-नियम में बहुत पक्की है। वह तो आजन्म ब्रह्मचारिणी है मुनिवर ! उसका त्याग बहुत बड़ा है और हर एक महिला इतने उत्कट त्याग का उदाहरण भी उपस्थित नहीं कर सकती। उसने तो विवाह करते ही अपने पति को उनकी विरक्ति देखकर स्वयं साधुत्व की ओर प्रेरित किया था। वह स्वस्थ है और मेरे ही पड़ोस में रहती है। किन्तु महामुने ! आप आज महिलाओं के बारे में ये इतने प्रश्न कैसे कर रहे हैं ? साधु के लिए तो यह शोभा नहीं देता ?

भावदेव—नागला मेरी धर्मपत्नी है, इसलिए मैं यह पूछ रहा हूँ।

बहिन—जैन मुनि के तो पत्नी होती नहीं। आप यह क्या कह रहे हैं मुनिवर !

भावदेव—मुनि के पत्नी तो नहीं होती, किन्तु मैंने तो शादी करते ही दीक्षा ग्रहण करली थी। विवाह के बाद घर भी नहीं पहुँचा था कि बड़े भाई भावदेव मुनि जंगल में ही मिल गए थे और उनके कहने से मैंने यह सब कुछ स्वीकार कर लिया था। परन्तु अब . . .

बहिन—अब क्या करना चाहते हैं आप ?

भावदेव—तुझे इससे क्या प्रयोजन है ?

बहिन—प्रयोजन तो मुझे यह है कि नागला मेरी सखी है और उसके बारे में

जब आप गृह सोच रहे हैं तब मुझे भी कुछ उसके विचारों के अनुसार ही सोचना व प्रयत्न करना चाहिए। किन्तु मुनिराज ! मैं आपको स्पष्ट बतला देना चाहूंगी, वह अब आपको नहीं चाहेगी। आप उसके लिए अपनी साधना को खण्डित न करें।

भावदेव—उसके विचारों का तुझे क्या पता हो सकता है ? उसके लिए जब मैं इतना आतुर हूँ, वह भी मेरे लिए अवश्य आतुर होगी। वह तो मेरी बात निहारती होगी और काग उड़ाती होगी। स्त्री के लिए तो पति ही सब कुछ होता है। वह बड़ी पति-भक्ता है, अतः मुझे अवश्य चाहेगी। मेरे प्रस्ताव को वह कभी नहीं ठुकराएगी।

भावदेव नहीं चाहते थे कि बातचीत लम्बी करके नागला और उनके अपने बीच के समय का इस प्रकार व्यत्यय किया जाए। किन्तु वह बहिन तो इतनी पक्की थी कि उनका पीछा ही नहीं छोड़ती थी। उसने कहा—महाराज ! व्यर्थ ही इतनी लम्बी बातें चल पड़ी। कुछ धर्म की बातें होती, आपका और मेरा दोनों का कल्याण होता। खैर, बताइए आप कहाँ ठहरेगे ? श्रावक समाज आएगा, दर्शन करेगा, सामायिक करेगा, व्याख्यान सुनेगा और आपसे उपदेश ग्रहण करेगा। अपने मन की बातें आप जाने, हमें उनसे क्या प्रयोजन ? हमें तो आपसे शिक्षा लेनी है और अपने जीवन का कल्याण करना है। मुनिवर ! आप इस उद्यान में कुछ देर के लिए विश्राम करें। बहुत दूर से पैदल चलते हुए आए हैं। थक गए होंगे। पसीना चू रहा है। मैं नागला को अभी सूचना करती हूँ।

भावदेव उद्यान के एक कमरे में विश्राम हेतु ठहर गए। अपनी भावी कल्पनाओं को सजो रहे थे। सोच रहे थे, कब जाना, कैसे जाना और कैसे अपना उजड़ा हुआ घर बसाना। बीस-पच्चीस मिनट का समय बीता होगा, वही बहिन साथ में एक अन्य महिला को लेकर उद्यान के उसी कमरे में आ बैठी और सामायिक करने लगी। भावदेव ने सोचा, कुछ देर के लिए यह बला और आ गई।

मुनि अपनी कल्पनाओं में खोए जा रहे थे और बहिन अपनी कल्पनाओं में। भावदेव अपनी साधना का सब कुछ लुटा देना चाहते थे, पर बहिन उसके संरक्षण के लिए तत्पर थी। वह सोच रही थी, नौका बीच भवर के फंस गई है। डूबने ही वाली है। यदि इस अवसर पर भी इसे तिनके का सहारा मिल जाए तो सम्भव है बचाव हो जाए।

भावदेव सोच रहे थे, कब यह बहिन जाए और कब मैं अपने घर की ओर प्रयाण करूँ। बहिन सोच रही थी, कब मेरी सजीविनी औषधि लगे और कब मृत-प्राय इस साधना के शरीर में जीवन का संचार हो। दोनों एक दूसरे की गतिविधियों को देख रहे थे। अचानक एक बालक दौड़ता हुआ आया और उस बहिन के मना करते हुए भी उसकी गोद में बैठ गया। वह बहिन उसके सिर पर हाथ फिराने लगी और दोनों की विचित्र-सी बातें प्रारम्भ हो गईं।

बालक बोला—मा ! अभी-अभी तू मुझे बहुत ही सुस्वादु खीर-खाण्ड का

भोजन परोस कर आई थी न ? मैंने उमें बड़े चाव से खाया । मुझे वह भोजन उड़ून अच्छा लगा । इतना अच्छा भोजन तो तू ने मुझे कभी भी नहीं परोसा होगा ।

मा—बेटा ! तुझे ही यदि ऐसा भोजन नहीं परोसती तो किसे परोसती ?

बालक—लेकिन मा जब मैंने अन्निम कबल लिया, उसके साथ एक मक्खी आ गई । दो-चार क्षणों के बाद ही वमन हो गई और खीर खाण्ड का वह भोजन साग बाहर निकल गया ।

मा—फिर तू ने क्या किया बेटे ?

बालक—मा ! मैंने उसे यो ही नहीं जाने दिया । तुरन्त उस वमन को चाट गया । मैं तेरा इगिताकार सम्पन्न पुत्र जो ठहरा ।

मा—सौ-सौ शाबास बेटे ! तेरे पर मुझे बहुत गर्व है । तेरे जैसे सयाने लडके इतनी अच्छी चीजों को निरर्थक थोड़े ही जाने देते हैं । तू ने बहुत अच्छा काम किया । देख, भविष्य में भी ध्यान रखना । कभी और भी गेमा मौका आए तो ऐसे ही करना ।

मा और बेटे के उक्त वार्तालाप से भावदेव विधुब्ध हो उठे । ग्लानि और क्रोध से उनका हृदय भर गया । वह बोल उठे, कितने कमीने हो तुम दोनों ? क्या वमन भी कभी खाई जाती है ? और यदि कभी कोई प्सा भी लेता है तो क्या उसकी इस प्रकार प्रशंसा भी की जाती है ? छी ! छी ! जिस वमन को कुत्ते और कौवे भी नहीं खाते, उसको इस छोकरे ने खा लिया तो तू टम प्रकार इसकी प्रशंसा में पुन वावती है । तुम दोनों तो बड़े ही गण-गुजरे व्यक्ति हो ।

भावदेव की इस फटकार से नागला में पोरुष फूट पड़ा । उमन एक मिहनी की भान्ति गरजते हुए कहा—मुनिराज ! इस वच्चे ने यदि वमन खा ली, यह तो अबोध और नासमझ था, किन्तु आप जरा अपनी भी तो सोचिए ? आप क्या करने को उद्यत हो रहे हैं ? जिस विषय-वासना और सासारिक सुख-समृद्धि को वमन समझ कर छोड़ दिया, क्या आप आज उसी वमन को खाने के लिए ही तो नहीं आए हैं ? आप तो सब कुछ समझते हैं । इतने शास्त्र पढ़े हैं, कठोर तपस्याएँ की हैं, तप-जप व स्वाध्याय में अपना अधिकांश जीवन होम दिया है और आज इस प्रकार से आतुर होकर अपना सब कुछ भस्म कर रहे हैं, आपको कुछ समझ-बुझकर कदम उठाना चाहिए । सर्प जब अपने शरीर की कञ्चुकी को छोड़ देता है, उस ओर कभी मुड़कर नहीं देखता । आपने जिस परिवार, धन-वैभव, पत्नी आदि को बन्धन का कारण समझ कर छोड़ दिया, उसे पुन स्वीकार करने जा रहे हैं ? देखिए, आप जिन नागला के प्रेम में आसक्त बनकर यह सब कुछ कर रहे हैं, वह नागला मैं ही हूँ और आपके सामने खड़ी हूँ । मैं आपसे स्पष्ट कह देना चाहती हूँ, मैं आपके इस सामारिक प्रेम के पीछे पागल नहीं हूँ । मैं आपका एक मुनि के रूप में ही सत्कार कर सकती हूँ, पर आपको पति के रूप में स्वीकार नहीं कर सकती । आप अपने प्रण को तोड़ने

के लिए तैयार है, किन्तु मैं अपने प्रण मे अडिग हू । किसी प्रलोभन, भय या अन्य किसी प्रकार से भी मैं उसे नहीं तोड़ सकती । आपके लिए यही श्रेयस्कर है, आप अपनी साधना मे स्थिर होकर पुन अरण्य की ओर चले जाए और इस शरीर का सार तपश्चर्या से निकाले । मैं उस दिन को बहुत बड़ा समझूंगी, जिस दिन बड़े भाई भवदेव मुनि की तरह आप भी अपनी साधना को पूर्ण कर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त बनेगे ।

नागला के ये हृदय से निकले शब्द-तीर भावदेव की भावनाओं पर जाकर सीधे लगे । उनका विवेक जागृत हुआ, मस्तक झनझना उठा । उन्हें अपने द्वारा विहित इस सकल्प पर घृणा हुई, ग्लानी हुई और रोष हुआ । उन्हें जैसे अन्धेरे मे प्रकाश मिल गया हो, अरण्य मे भटकते हुए को मार्ग मिल गया हो । वे उठे और नागला के प्रति इस प्रकार आभार प्रकट करते हुए कि नारी हो तो ऐसी हो जो पतित को पावन बना दे, गिरे हुए को उठा दे और मृत मे भी जीवन का संचार कर दे , सुनसान घने जंगलों की ओर बढ़ गए, जहां उन्होंने घोर तपस्या और अप्रकम्पित ध्यान के द्वारा अपने साधना पूर्ण की ।



पाप का घट

दो व्यक्ति अठोस पड़ोस में रहते थे। एक धनवान् था और दूसरा मध्यम श्रेणी का। धनवान् व्यक्ति बहुत ही सहृदय, दयालु व प्रत्येक के दुःख में काम आने वाला था। जनता उसे बहुत ही आदर की दृष्टि से देखा करती थी। किन्तु उसका पड़ोसी हमेशा ही उससे डाह रखता था। उसे उसका धन बहुत अस्वस्व था और उससे भी अधिक जनता द्वारा होने वाला उसका आदर खलता था। वह रात-दिन इसी खोज में रहता, किसी भी तरह अपने पड़ोसी को नीचा दिखाऊँ। धनवान् कभी भी उसका बुरा न करता और न उसके लिए बुरा सोचता ही।

ईर्ष्यालु पड़ोसी के घर लड़के की शादी का प्रसंग आया। वह धनवान् के पास पहुँचा और उसने अपने लड़के के लिए सोने के गहने चाहे। धनवान् ने उसी समय अपनी तिजोरी खोली और स्वका लिखा कर उसको दे दिये। विवाह हो गया, पर वह गहने वापस करना नहीं चाहता था। एक दो बार धनवान् ने उसे कहा तो वह बहुत बिगड़ा। अपनी सफाई पेश करता हुआ गरज पड़ा—‘मैंने तो वे गहने कभी के दे दिए। क्या मेरे से दो बार लेना चाहते हो? तुम धनवान् हो, अतः मेरे तुम्हारी बात मानते हैं, पर कोई मेरा भी सहयोगी होगा ही? इस तरह एक शरीफ व्यक्ति की इज्जत लेना किसी भी व्यक्ति के लिए उचित नहीं।’

धनवान् जरा सहमा और बोला—एक तो चोरी और ऊपर से सीनाजोरी? तू ने मुझे गहने कब लौटाये थे? मैं अपनी वस्तु वापस मांगता हूँ, उसमें भी तू मेरे सिर पर चढा जा रहा है। सावधान रहना, अभी तो तुझे भाई-चारे में कहा है, पर यदि इस तरह न माना तो आगे चलकर पचायत को इकट्ठा करूँगा और फिर वहाँ न्याय की मांग करूँगा। वहाँ फिर तू इन गहनों को कहा छुपाएगा?

ईर्ष्यालु का पारा और ऊपर चढ़ गया। वह भी नाक-भौ चढ़ाकर बोल पड़ा—इस तरह धन के मद में चाहे जो कह सकते हो, पर अन्ततः गरीबों के रक्षक भगवान् भी होते हैं। तुम्हारे पास धन है तो तुम अपने घर बैठे हो। मेरे से तुम्हारा क्या लेना-देना है, पर कम-से-कम इस तरह झूठे आक्षेप मढ़कर किसी गरीब की आबरू तो नहीं लेनी चाहिए। तुम्हारे पाम धन का बल है तो मेरे पास जनता-जनार्दन का।

आ जाओ मदान मे । देखे कौन जीतता हे और कौन हारता हे ?

धनवान् ज्यो का ल्यो उसकी ओर देखता ही रह गया । उमने सोचा—गहने भी गए और यह बदनाम भी करेगा, पर जब यह बदमाशी पर ही उतर आया है तो मै कर ही क्या सकता हू ?

ईर्ष्यालु पडोसी ने धनवान् के विरुद्ध जनता को भडकाना आरम्भ किया । जहा कही भी वह जाता हर एक से यही कहता—देखो, कैसा कलियुग आया है ? धनवान् गरीबो को निगल ही जाना चाहते हे । मैने इसको कभी के गहने लौटा दिए, किन्तु यह पुन उन्हे मागता है और इज्जन लूटने को भी उतारु हो रहा है ।

जनता उत्तर देती—यह व्यक्ति तो ऐमा नहीं है । यह तो प्रत्येक व्यक्ति के दुःख मे काम आने वाला है । ईमानदार हे, सहृदय हे, दयालु है और किसी का भी कभी शोषण नहीं करता ।

ईर्ष्यालु अपने पक्ष को मजबूत करने के लिए पुन कहता—वह जमाना चला गया, जबकि यह अपने धर्म-कर्म के अनुसार रहता था व परमेश्वर का भी ध्यान रखता था, पर अब तो इसके पैसा ही परमेश्वर हो रहा है । अपनी प्रतिष्ठा, प्रामाणिकता आदि सब कुछ खोकर भी धन को सुरक्षित रखना चाहता है ।

कोई व्यक्ति ईर्ष्यालु की बात मानता, कोई न मानता, पर एक पक्षीय प्रचार से धीरे-धीरे जनता के भी जचने लगा, धन के मद मे व्यक्ति न्याय अन्याय कुछ भी नहीं देखना । हो सकता है, यह गरीब बेचारा ठीक हो और धनवान् की ही केवल ज्यादाती हो ।

सारे वातावरण को देखते हुए धनवान् ने सोचा—गहने भी गए और बदनामी भी मिली । मै तो दोनो ओर से घाटे के सौदे मे रहा । छोटे व्यक्ति से भ्रष्टे मे कभी लाभ नहीं हो सकता । धनवान् को अपनी सत्यता पर पूरा विश्वास था, अत उसने पचायत से न्याय की प्रार्थना की । पचायत ने जब पडोसी से पूछा तो वह बामो उछलने लगा । वह कहने लगा—मै तो चाहता ही था कि मेरे साथ न्याय हो । धनवान् की ज्यादाती मै सह नहीं सकना ।

पचो ने कहा—तुम्हे अपनी सत्यता प्रमाणित करने के लिए जलता हुआ लोह का गोला हाथ मे लेना होगा ।

ईर्ष्यालु—मुझे सब स्वीकार हे ।

नियत दिन पच, सारा समाज व धनवान् एक जगह इकट्ठे हो गए, पर वह ईर्ष्यालु नहीं आया । थोड़ी प्रतीक्षा के बाद वह पहुचा । हाथ मे अनाज से भरा एक घडा था । वह दौडता हुआ आया । विलम्ब के लिए उसने माफी मागी । पचो की ओर देखकर जनता के समक्ष चिल्लाकर बोल पडा—मैने धनवान् के गहने लौटा दिए । यदि यह मेरी बात सत्य न हो तो पच जो गर्म लोहे का गोला मेरे हाथ पर रखे, उससे हाथ जल जाए और यदि मै सत्य होऊ तो मेरा सत्य प्रकट होकर रहे । उमने

अपना अनाज से भरा घड़ा सेठ के हाथों में देते हुए कहा—सेठ ! जरा दो मिनट के लिए इसे भी सम्भाले रखना । मैं अपना धीज कराए लेता हूँ । सेठ ने वह घड़ा ले लिया । पचो ने अग्नि-सदृश लोहे का गोला ईर्ष्यालु के हाथ पर रखा । हाथ जला नहीं । उसने जनता के समक्ष पचो के आदेश से अपनी सत्यता का प्रमाण उपस्थित कर दिया । जनता उसके पक्ष में बोन पड़ी और उस धनवान् को दुत्कारने लगी । इन सारी घटना से धनवान् की आखें पयरा गईं । उसे यह विश्वास न था कि वह इस प्रकार गहनो से भी हाथ जो बैड़ेगा और झूठा भी पड़ेगा । अपनी आत्मा में एक तूफान आया और उससे खड़ा न रहा गया । उसके हाथ से घड़ा नीचे गिर गया और फूट गया । अनाज बिखर गया और उसमें छुपा हुआ गौरव भी प्रकट हो गया । उस घड़े में अनाज के साथ उस ईर्ष्यालु ने गहनो छुपा रखे थे । गहनो सबके सामने आ गए और जनता ईर्ष्यालु को कोसती हुई बोल उठी—पाप का घड़ा भरता-भरता इस प्रकार फूटता है ।



नन्दन मणिहारा

राजगृह नगर मे नन्दन नामक मणिहारा रहता था। वह धन-धान्यादि से सम्पन्न और नगर के प्रमुख लोगो मे से एक था। कालान्तर मे वह जैन श्रावक बन गया। नाना व्रत नियमो की आराधना करने लगा। एक बार ग्रीष्मकाल मे उमने तीन दिनो का पौषधव्रत किया। भयकर गर्मी पडी। प्यास से उसका मन आकुल-व्याकुल हो उठा। परिणामो की स्थिति विषम हो गई। वह सोचने लगा, धन्य है वे लोग जो कुआ, बावडी आदि बनवाते है। मुझे भी ऐसा ही धर्म करना चाहिए।

प्रातः काल भोजन आदि से निवृत्त होकर राजा के पाम गया और भूमि-याचना की। राजाज्ञा पाकर उमने एक विशाल पुष्करिणी तैयार करवाई। उसके चारो ओर चार बाग लगवाए। पूर्व के बाग मे चित्रशाला, दक्षिण के बाग मे दान-शाला, पश्चिम के बाग मे औषधशाला और उत्तर के बाग मे अलकाशाला बनवाई। सहस्रो लोग वहा आते और इच्छित सुख-सुविधा प्राप्त करते। नगर मे नन्दन मणिहारे की इलाघा फैल गई।

अन्त मे नन्दन मणिहारा के शरीर मे एक साथ कुष्ठादि सोलह रोग उत्पन्न हुए। नाना उपचारो से भी वे शान्त न हुए। अपनी प्रवृत्तियो मे आसक्त नन्दन मणिहारा मरा और उसी पुष्करिणी मे ददुंर रूप से उत्पन्न हुआ। आते-जाते लोग नन्दन मणिहारे की प्रशंसा करते। वह सब सुनकर उसे जातिस्मरण-ज्ञान हुआ। उसने अपने आपको पहिचाना। अपने मिथ्याचरण वा पश्चात्ताप किया। फिर से श्रावक के बारह व्रत पालन करने लगा। भगवान् श्री महावीर राजगृह मे पधारे। पुष्करिणी पर जल भरने के लिए आती जाती स्त्रियो के मुख से यह मवाद उस ददुंर को भी मिला।

नन्दन ददुंर यह सवाद पाकर बहुत प्रसन्न हुआ। फुदक-फुदककर वह भी भगवान् के दर्शनी के लिए चल पडा। राजमार्ग पर श्रेणिक राजा का भी आगमन हो रहा था। अकस्मात् वह ददुंर राजा श्रेणिक के घोडे के पैर नीचे कुचला जाकर घायल हो गया। राजमार्ग के एक ओर हटकर उसने भगवान् श्री महावीर को वन्दन किया और आभरण अनशन कर लिया। वह शुभ ध्यानरत वहा से मरा और प्रथम देवलोक मे ददुंर रावतशक विमान मे देवरूप से उत्पन्न हुआ।

आषाढभूति

आचार्य आषाढभूति अपने सौ शिष्यों के साथ चातुर्मासिक प्रवास के लिए इतिहास प्रसिद्ध उज्जयिनी नगरी में आए। बहुश्रुत और प्रभावशाली आचार्य के आगमन पर जन-सागर उमड़ पड़ा। आचार्य की आकर्षक व्याख्यान शैली पर मुग्ध होकर सहस्रो की सख्या में लोग प्रतिदिन उपस्थित होने लगे। आस्तिकता का मडन और नास्तिकता का खडन प्रवचन का प्रमुख विषय था। आचार्य की ओजस्विनी और तर्कपूर्ण प्रतिपादन शैली से अनेको नास्तिक भी आस्तिक हो गए।

नगर में महामारी का प्रकोप हुआ। बालक, वृद्ध, स्त्री, पुरुष घड़ाघड़ मरने लगे। घर और परिवार उजड़ने लगे। आचार्य आषाढभूति पर भी विपत्ति के बादल मंडराए। एक-एक कर शिष्य काल-कवलित होने लगे। आचार्य आषाढभूति प्रत्येक शिष्य के मरण-प्रसंग पर उसे धर्म-समाधि देते और कहते—शिष्य ! तुमने बड़ी धर्माश्रयणा की है, अवश्य तुम देवयोनि में जन्म लोगे। मेरा तुम्हारे प्रति अमिट वात्सल्य है और तुम्हारी मेरे प्रति अटूट श्रद्धा। देवयोनि से एक बार के लिए तो अवश्य आना और मेरे से मिलना। एक-एक कर निन्नानवे शिष्य चले गए, पर एक भी देवयोनि से वापस आकर उनसे नहीं मिला। परम आस्तिकवादी आचार्य की श्रद्धा डगमगा उठी। दुर्भाग्यवश उनका प्रियतम और कुमार शिष्य विनोद भी महामारी के चंगुल में फँस गया। आचार्य आषाढभूति ने अपनी छल-छलाई आँखों से उसकी ओर देखते हुए कहा—विनोद ! तुम भी चले जा रहे हो, मेरा क्या होगा ? और शिष्यों की तरह तुम भी मुझे भूल जाओगे न ? इतने शिष्यों में से एक भी लौटकर मिलने को नहीं आया। क्या मैं यह सच न मान लूँ कि स्वर्ग-नरक कुछ भी नहीं है ?

शिष्य विनोद का गला भर आया। बोला—गुरुदेव यह क्या ? आस्तिकता का मेरा भी इस प्रकार डोल सकता है ? और शिष्य नहीं आए, पर मैं अवश्य स्वर्ग से लौटकर आऊँगा और आपकी भावनाओं को पुनः आस्तिकता में स्थिर कर अपने आपको उद्धार बनाऊँगा। यही कहते-कहते विनोद ने सदा के लिए आँखें मूंद लीं।

एक प्रहर बीत गया। विनोद आया तो नहीं। देवों की द्रुतगति में इतना

ममय तो नहीं लगता। इसी चिन्ता में आषाढभूति बैठे थे। अहोरात्र निकल गया पर चले के आने की कोई आहट उन्हें सुनाई न दी। वर्य का बाध टूट गया। शास्त्र मिथ्या है। तर्क प्रयोजन शून्य है। परलोक हो और मेरा एक भी शिष्य न आए ? विनोद भी मुझे भूल जाए, यह हो नहीं सकता। मैं तो ठगा गया। पुनर्जन्म की चिन्ता में मैंने अपने इस जन्म को भी धूलिसात् कर दिया। मैं नगे पैर, नगे मिर जन्म भर भटकता रहा। रूखा-सूखा जो मिला खाया। खैर, जो भी हुआ। बीत गई, वह बात गई। अब भी मैं भौतिक सुखोपभोग का रस ले सकू तो जीवन सार्थक हो। तत्क्षण उठे और उपाश्रय से बाहर चल पड़े। चरणों की द्रुतगति के साथ चिन्तन भी द्रुतगति से चन रहा था। मुझे दूर अपरिचित प्रदेश में जाना है और भोगोपभोग की सभी सामग्रियों को जुटाना है।

शिष्य विनोद का देव सिंहासन डोल उठा। अवधिज्ञान लगा कर उसने देखा— मेरे गुरु परम नास्तिक होकर वासना के गर्त में गिर पड़ने के लिए जा रहे हैं। अपना कर्तव्य सूझा। सोचा, गुरु में दया और लज्जा का थोड़ा भी भाव अवशेष रहा है तो अवश्य मैं उन्हें बचा लूंगा। मन में सकोच था, गुरु कहेंगे समय पर क्यों नहीं आया ? मेरी विवशता का भान मैं उन्हें भी करा दू कि भौतिक विषयों में व्यक्ति किस प्रकार समय की नियमितता को नहीं निभा पाता। देव-माया से उसने अपने गुरु के मार्ग पर एक अनोखा नाटक रच डाला। गुरु देखने में लीन हो गए। देव-शक्ति से उन्हें भूख, व्यास आदि शरीर धर्मों ने जरा भी बाधित नहीं किया। छह महीने तक वे रमणीय नाटक देखते ही रहे। उन्हें यह भान ही नहीं हुआ, मैंने यहाँ अपना आधा वर्ष पूरा कर दिया है। नाटक पूरा हुआ और गुरु आगे चल पड़े। शिष्य देव का प्रतिबोध प्रयत्न भी चालू था। घने जंगल में उन्हें छह सुकुमार बालक मिले। वे गहनो में लदे-फड़े थे। आचार्य आषाढभूति को देखते ही वे पुलकित होकर उनके चरणों में गिर पड़े। आचार्य ने पूछा—कौन हो बच्चे ? क्या नाम है तुम्हारे ? वे बोले—आर्य ! हम आप ही के श्रावको के बालक हैं। हमारे नाम पृथ्वी, अप, तेजस्, वायु, वनस्पति और त्रस हैं। अपने माता-पिता के प्यारे व इकलौते बच्चे हैं। उनके साथ ही हम वन-झीड़ा के लिए आए थे, पर न जाने वे कहा रह गए हैं, हम कहा आ गए। दूर-दूर तक का जंगल हम घण्टों से छान रहे हैं, पर उनका कोई पता नहीं।

आषाढभूति सोचने लगे—बालक बहुमूल्य गहनो से लदे हैं। मुझे अपना घर-बार रचाने के लिए धन की आवश्यकता होगी। धन-प्राप्ति का ऐसा सुखद योग फिर कहा मिलेगा ? केवल गहने लूंगा तो बात फूटेगी। इन बालकों को मार ही डालू तो ये सारे गहने मैं यो पचा सकता हूँ। हृदय में नास्तिकता तो थी ही। एक-एक कर सुकुमार बालकों के गले पर हाथ मारा और सबके गले मसोस दिए। गहने उतार लिए और अपनी झोली में रखे पात्र में डाल लिए। लाशों को किसी एक

रन्ध्र में डाल कर कि यहाँ कोई नहीं देख सकेगा, निडर हो गए ।

देव शिष्य सोचने लगा—गुरु के हृदय में दया का तो लेश भी नहीं रह गया है । छह प्रकार के जीव ससार में होते हैं । एक-एक बालक ने अपने नाम के छद्म में छहों कायो को याद दिला दिया, पर गुरु का हाथ एक क्षण के लिए भी भ्रमका नहीं । अब मुझे देखना है, इनमें लज्जा का भाव भी अवगेष है या नहीं ?

आचार्य कोसो दूर निकल गए । किसी ने उन्हें रोका नहीं, टोका नहीं । कदम-कदम पर अपने साहस का गर्व उनके मन में उभर रहा था । अकस्मात् उन्होंने देखा सामने एक विस्तृत पड़ाव लगा है । रमोइया बन रही है । लोग आमोद-प्रमोद में इधर-उधर घूम रहे हैं । दूसरे ही क्षण देखा, ये सब तो जैन श्रावक ही मालूम पड़ रहे हैं । ज्योंही इन्होंने मुझे देखा है, बड़े उत्साह से हाथ जोड़ते, वन्दना करते मेरी ओर ही आ रहे हैं । अविक सोचने का समय कहा, श्रावक आए और आचार्य के चरणों में गिर पड़े । कुशल प्रश्न पूछा और अपने भाग्य को सराहने लगे । वन्य हैं गुरुदेव ! आपने अप्रत्याशित दर्शन दिए । आषाढभूति मन में लज्जित से थे । उनसे यह न कहा गया कि मैं अब मुनि-धर्म में नहीं हूँ । गम्भीर भाव से अपनी प्रतिष्ठा रख लेने के लिए आचार्य ने कहा—उज्जयिनी में महामारी का प्रकोप हुआ । सारे शिष्य चल बसे । मुझे भी चतुर्मास में विहार करना पड़ा । महज रूप में तुम्हें भी दर्शन-लाभ मिल गया ।

आषाढभूति सोच रहे थे, शीघ्रानिशीघ्र इस पड़ाव के उस पार पहुँच जाऊँ, यहीं मेरे लिए ध्येयस्कर है । परन्तु देव-माया के ये श्रावक उनकी भोली खुशामाना ही चाहते थे । श्रावक बोले—गुरुदेव ! बड़ी दूर में आए हैं, हमें पात्र-दान का लाभ दे ।

आषाढभूति (मन ही में—यह भी एक मुम्बित आई है) प्रकट—श्रावकजी ! आहार की तो मेरे अभी जरा भी खप नहीं है ।

श्रावक—गुरुदेव ! ऐसा न कहें, क्या हम ऐसे हतभागे हैं कि गंगा घर आन पर भी प्यासे ही रह जाएंगे ।

आषाढभूति—समझदार श्रावक अनावश्यक हठ नहीं किया करते । जैमा देज, काल हो वैसे मान लेना चाहिए ।

श्रावक—गुरुजन ! देश, काल के साथ कुछ भक्ति भी देखा करते हैं । हम तो आपके बच्चे हैं । आपकी भोली जबरदस्ती खोल कर भी पात्र में कुछन कुछ तो डाल ही देंगे ।

आषाढभूति भोली को सम्भालने और हड़ता से पकड़ने लगे ही थे कि कुछ मुह-लगे श्रावकों ने गुरुदेव ! गुरुदेव ! कुछ तो कृपा करिए, कहते-कहते बलात् भोली खोल दी । गहनो का भरा पात्र सबके सामने आ गया । सब विस्मित ! अरे ! यह क्या ? हाय ! हाय ! साधु के वेश में यह ढोंग ।

आषाढभूति की दशा देखते ही बनतो थी। चेहरा सकपका गया। आँखों के आगे अन्धेरी आने लगी। हृदय की धड़कन बढ़ गई। सोचने लगे धरती फट जाए तो अन्दर चला जाऊँ।

बला पर बला और आ टपकी। बच्चों की खोज में निकले खोजी निराश होकर वहाँ पहुँचे। बच्चों के मा-बाप जो अत्यन्त आतुर और व्याकुल हो रहे थे, उनकी भी दृष्टि उन गहनो पर पड़ी। यह अच्छी तरह स्पष्ट हो गया कि बच्चों को मारकर गहने लिए गए हैं। मा-बाप हाय-हाय कर रोने लगे, छाती-माथा कूटने लगे। दूसरे लोग यह सब जानकर और अधिक बौखला उठे। आषाढभूति आँख मूढ़ कर प्रस्तर मूर्ति की तरह खड़े ही रह गए। क्योंकि कर्तव्यमूढ़ता उन्हें खाए जा रही थी। कुछ ही क्षणों बाद हृदयद्रावी कोलाहल शान्त हुआ। आचार्य के कानों में मधुर-सी आवाज आई—मैं आपका प्रिय शिष्य विनोद। आँखें खुल पड़ीं। देखा न कहीं पड़ाव है, न गहने। विनोद नतमस्तक सामने खड़ा है। गुरु ने समझा यह सारी माया इसकी ही थी। शिष्य पर रज भी हुआ और प्रमोद भी। आचार्य बोले—विनोद ! मेरी नैया डुबोकर ही तुम आए।

विनोद—आर्यवर ! भौतिक सुखों में सलग्न देवों को समय का कोई ध्यान नहीं रहता। वहाँ का एक ही नाटक यहाँ के सहस्रो वर्ष पूरे कर देता है। मैं वचन-बद्ध था, इसलिए आ सका। अन्य देव आना चाह कर भी पुन वहाँ के पौद्गलिक आनन्द में ऐसे लीन होते हैं कि दुबारा चाहने तक यहाँ की पीढ़ियाँ पूरी हो जाती हैं।

याद करे, मार्ग में आपने भी एक नाटक देखने में छह मास पूरे किए हैं। देखिए ? सूर्य अपना अयन बदल चुका है।

आषाढभूति पुन परम आस्तिक और भव-मुमुक्षु मुनि बने।



प्रसन्नचन्द्र राजर्षि

ढाई हजार वर्ष पूर्व पोत्तनपुर नगर मे प्रसन्नचन्द्र राजा राज्य करता था । उसके जीवन मे यौवन और वैराग्य दोनो एक ही साथ आए । यौवन की अलहडता और अधिकारो की मादकता ने भी ससार की नश्वरता के कारण विचारो मे विरवित के अकूर पैदा कर दिये । वह धीरे-धीरे राजकीय व्यवस्था से दूर हटने लगा । अपने नाबालिग राजकुमार को पदासीन कर भगवान् श्री महावीर के चरणो मे साधु बन गया ।

ग्रामानुग्राम विहरण करते हुए भगवान् श्री महावीर एक बार राजगृह पधारे । हजारो व्यक्ति दर्शनों की उत्कण्ठा से समवसरण मे पहुचे । राजा श्रेणिक भी देशना सुनने के निमित्त अपने अन्त पुर व सेना के साथ आया । समवसरण के बाहर प्रमन्न-चन्द्र राजर्षि एकाग्रता के साथ ऊर्ध्व बाहु होकर एक पाव से ध्यानस्थित खडे थे । हजारो व्यक्ति, राजा श्रेणिक व उसकी सेना उनकी बगल से गुजरी, पर जैसे कि उन्हे कुछ भी मालूम तक नही हुआ । राजा श्रेणिक ने भी उनके दर्शन किये । वह उनकी समाधि पूर्ण स्थिति से बहुत प्रभावित हुआ ।

राजा श्रेणिक का सेनापति भी उधर से गुजरा । उसने राजर्षि पर कटाक्ष करते हुए उन्हे अपने ध्यान से विचलित कर दिया । उसने कहा—यहा आकर आखे मूद कर खडा हो गया । छोटे बच्चे पर राज्य का बहुत बडा भार डाल दिया । शत्रु राजाओ ने उम पर आक्रमण कर दिया है और राज्य छीन लेना चाहते हे । वह नादान है, इसीलिए राज्य की सुरक्षा नही कर सकता । दुविधाओ से घबरा कर केवल आखे मूद लेने से सिद्धि थोडे ही मिल जायेगी । पहले कर्म-क्षेत्र मे उतरो और वहा सफलता प्राप्त करने के बाद फिर यह साधना करो ।

राजर्षि पूर्णत ध्यानस्थ थे, पर इस कथन से उनका मन उचट गया । वे खडे वही थे, किन्तु भावना से उत्तेजित हो गये और अपनी कल्पनाओ से वही युद्ध करने लगे । मन ही मन उन्होने सेना को सुसज्जित होने का आदेश दे दिया, युद्ध-भूमि मे पहुंच गये और शत्रु-सेना के साथ लटने भी लगे । अब अमुक सैनिक व सेनापति को मार गिराया और अब शत्रु राजा को भी ।

राजा श्रेणिक ने इसी समय भगवान् श्री महावीर के समक्ष राजर्षि की ध्यान-

मुद्रा की बहुत प्रशंसा की। श्रेणिक ने जिज्ञासा की—भगवन् ! इस समय यदि वे मुनि काल-धर्म को प्राप्त हो तो किम योनि मे उत्पन्न हो ?

भगवान् महावीर—राजन् ! पहली नरक मे ।

श्रेणिक चकित रह गया। वह समझ नहीं सका कि इस कथन का आखिर अशय क्या है ? वह अन्यमनस्क-सा बैठा सोच ही रहा था और भगवान् महावीर ने फिर कहा—यदि इस समय वह काल-धर्म को प्राप्त होता है तो दूसरी नरक मे जाये। श्रेणिक जिज्ञासा और कौतूहल के बीच झूल रहा था। भगवान् महावीर ने क्रमशः सातवी नरक का भी उल्लेख कर दिया। श्रेणिक के मन मे कौतूहल तो इस बात का था कि इतने बड़े तपस्वी नरक मे कैसे जा सकते है ?

एक ओर न्यानस्थ खड़े हुए प्रमन्नचन्द्र राजर्षि मन से युद्ध लड़ रहे थे और दूसरी ओर समवसरण मे भगवान् श्री महावीर और राजा श्रेणिक के बीच ये प्रश्नोत्तर हो रहे थे। थोड़ी देर बाद मुनि का चिन्तन बदला। उन्होंने सोचा—कौन पुन, कौन शत्रु राजा और कौन मैं ? जब मैंने बन्धन समझ कर इसे छोड़ दिया तो अब उसकी चिन्ता करना क्या मेरी साधना की भूमिका के अनुरूप है ? मेरे लिए तो ममार के सारे ही प्राणी समान होने चाहिए। एक के प्रति पुत्रत्व और दूसरे के प्रति शत्रुत्व का भाव साधना का नहीं, अपितु अनुराग व द्वेष का परिचायक है। भाग्यवाने मोड़ लिया। थोड़ी ही देर मे वे अपनी साधना मे स्थिर हो गये और उसी तरह भावना की विशुद्धि मे चढते हुए तेरहवे गुरुस्थान मे पहुच गये। केवल-ज्ञान प्राप्त किया और अपनी साधना के चरम छोर को पा लिया।

भगवान् महावीर और श्रेणिक के प्रश्नोत्तर समाप्त नहीं हुए थे। मानवी नरक मे वे उल्टे चले। क्रमशः छठी, पाचवी और पहली नरक मे पहुच गये। फिर ऊपर को बढने लगे तो क्रमशः पहला देवलोक, दूसरा, तीसरा यावत् बारहवा और श्रैवेयक विमान, अनुत्तर विमान और फिर भगवान् ने कहा—अब उन्होंने केवल-ज्ञान प्राप्त कर लिया है। अवरोह और आरोह के इस क्रम को श्रेणिक समझ नहीं पाया। उस समय हर्ष, जिज्ञासा और कौतूहल से अभिभूत हो जाने से उसके त्रिविध रूप हो गये। श्रेणिक ने मन्त्रता के साथ पूछा—भगवन् ! यह सब ऐसे क्यों हुआ ?

भगवान् महावीर ने मानसिक आरोह व अवरोह की वह सारी घटना बतः सुनाई।

भाई के प्रति बहिन का स्नेह

कनकपुर नगर में एक सेठ रहता था। उसके एक पुत्र और एक पुत्री थी। सेठ के घर में अपार धन था। दोनों ही बहिन-भाइयों में बड़ा प्रेम था। कुछ वर्षों बाद सेठ व सेठानी चल बसे। पीछे केवल बहिन व भाई दो ही प्राणी रह गये। बहिन की शादी कर दी गई, अतः वह भी अपने मसुराल चली गई। लड़का अकेला रह गया। उसने भी शादी कर ली और अपनी गृहस्थी आनन्दपूर्वक चलाने लगा। अच्छा व्यवसाय चलता था और उससे अच्छी आय होती थी। सुख व समृद्धि के बीच जीवन गुजर रहा था।

सुख और दुःख का क्रम दिन और रात की तरह चलता रहता है। सुख के बाद दुःख और दुःख के बाद सुख आता ही रहता है। लड़के के जीवन में भी यही हुआ। वह सुख, समृद्धि व वैभव में पला-पुमा था, पर जीवन के उभरते हुए दिना में सबने ही उसमें कितारा कस लिया। व्यवसाय में घाटा लगा और धन चला गया। धन के अभाव में समृद्धि कैसे हो सकती थी? धीरे-धीरे सारा ही वातावरण बदल गया और वह अपने आपको एक असहाय गरीब की भांति अनुभव करने लगा। तबदीर यहाँ तक पलटी कि खाने के भी लाले पड़ गये। वह स्वयं अपना व अपनी पत्नी का भरण-पोषण भी पूरी तरह करने में असमर्थ हो गया। कुछ दिन तक तो वड परिस्थितियों से सघर्ष करता रहा, किन्तु केवल पेट को पकड़कर कितने दिन निभाले जा सकते थे। उसकी पत्नी ने कहा—आप और किसी बड़े नगर में जाइये और कुछ व्यवसाय करिये। आपका परिश्रम फलवान् होगा। यहाँ रहते हुए कोई धन्धा आरम्भ नहीं किया जा सकेगा। उसने पत्नी की बात मान ली और अपने शहर से चल दिया।

फटे-पुराने कपड़े थे, भूख के मारे पेट पीठ से चिपक रहा था, आगे अभी जा रही थी, गाल पिचक गये थे, पर किसी के सामने हाथ पसारना वह अपने स्वाभिमान के प्रतिकूल समझता था। मार्ग में चलते हुए बहिन का घर भी आ गया। बहिन के प्रति महज स्नेह उमड़ पड़ा। सोचा—बहुत दिनों से आया हूँ, मिलता चलूँ। बहिन के दरवाजे पर आया और अपने आगमन की सूचना पहुँचाई। बहिन ने ऊपर से उसे देखा। भाई ने नीचे ही खड़े बहिन को देखा। भाई की दीन अवस्था देखकर वह बड़ी

विस्मित हुई। किन्तु निमेष मात्र से ही भाई के प्रति उसके हृदय में रहा हुआ स्नेह बदल गया। ऐसे गरीब व्यक्ति को अपना भाई बनाने में उसे शर्म महसूस हुई। उसने साँचा—मेरे घर अपार समृद्धि है। यदि परिवार वालों ने इस भाई को देखा तो वे लोग मुझे हँसेंगे। तत्क्षण ऊपर खड़े ही जान-बूझकर उसने उत्तर दिया—यह मेरा भाई नहीं हो सकता। वह तो बहुत बड़ा वैभवशाली है। ऐसा व्यक्ति तो मेरे भाई की अगिठी सुलगाने वाला हो सकता है। इसे जहाँ पशु बन्वते हैं, वहाँ उतार दिया जाये।

नीचे खड़े भाई ने बहिन के ये शब्द सुन लिये। उसका हृदय टुक-टुक हो गया। उसे तो बहिन से बड़ी आशा थी, पर बहिन के इस कथन से उस पर तुषारापात हो गया। वह तो सोच रहा था, बहिन को अपने दुःख की बातें सुनाऊँगा और उससे दिल को थोड़ी शान्ति मिलेगी, किन्तु बहिन ने तो केवल दो-एक वाक्यों में उसे दुस्कारा ही नहीं, अपितु सदा के लिए उसके हृदय में झूल पैदा कर दिये। उसे बहिन का वैभव नहीं चाहिए था और न वह उसे पाने के लिए वहाँ आया था। उसे तो केवल बहिन का स्नेह चाहिए था, पर उससे भी उसे खाली हाथ ही लौटना पड़ा।

बहिन नौकरो को आदेश देकर अपने कमरे में चली गई। नौकरो ने उसे अपने साथ लेकर जहाँ मालकिन ने आदेश किया था, उतार दिया। भाई का दिल भर रहा था, गला रुध रहा था। उसका दुःख बाहर लुढ़क पड़ना चाहता था, पर वह उसे अपने अन्दर ही समेटे रहा। उसने किसी को भी ज्ञात नहीं होने दिया कि मैं भाई ही हूँ। थोड़ी देर बाद उसके सामने खाना आया, सूखी रोटी, बासी राब, खट्टी छाछ और बूसा हुआ शाक। देखते ही आँखों के सामने अन्वैरी आ गई। उसने वह भोजन ले लिया और नौकरो से कहा—आप जायें, मैं खाना खा लूँगा।

भाई के सामने वह भोजन पड़ा था, कानों में बहिन के वे वाक्य टकरा रहे थे और हृदय में अपनी गरीबी की अपार वेदना थी। आँखों से आसुओं की धार बह चली और वह विचारों में खो गया। उसको अपने वैभवपूर्ण गत जीवन की स्मृति हो आई। बहिन और भाई का पारस्परिक अटूट प्रेम भी याद आ गया। वह उन दिनों को भूला नहीं था, जबकि बहिन भाई के बिना एक क्षण भी चैन से बैठ नहीं सकती थी। आज उसका धन चला गया, मा-बाप की छाया भी उसके ऊपर से उठ गई तो बहिन का सहज स्नेह भी उससे किनारा कर गया। वह वहाँ बैठा हुआ जी भर रोया। उसे बड़ा धीरज बन्वाने वाला कोई नहीं था। थोड़ी देर बाद उसके विचार बदले। उसने अपने आपको सम्भाला। उष्ण निःश्वासों के साथ उसके दिल से ध्वनि निकल पड़ी—सुख में सभी आस-पास घूमते रहते हैं, पर इस समय मेरे पुरुषार्थ के अतिरिक्त मेरा और कोई भी साथी नहीं है। यदि मेरे हाथ-पैरों ने मेरा साथ दिया तो वह दिन भी दूर नहीं रहेगा, जबकि गया हुआ वैभव पुनः लौट आयेगा।

वह वहा से उठा। उसने वह खाना खाया नहीं, अपितु वही एक खड्डा खोदकर सुरक्षित रूप से रख दिया।

बहिन को बिना सूचित किये ही वह वहा से चल पड़ा। एक व्यावसायिक केन्द्र में पहुँच गया। बनिये का लडका था, व्यापार करने में पूर्णतः प्रवीण था। भाग्य ने उसका साथ दिया तो लक्ष्मी उल्टे पैरो पुनः लौट आई। धन बढ़ा तो व्यापार भी बढ़ा और उससे आय और अधिक बढ़ गई। लाखों रुपये उसके पास हो गये। पुनः वही शान-शौकत और रईसी। कुछ महीने बीते तो घर की याद आ गई। अपनी पत्नी से मिलने के लिए उसने वहा से प्रस्थान किया। बीसों नौकर-चाकर, समान का अपार ढेर, घोड़े व बैलगाड़ियों की लम्बी कतार के साथ चलता हुआ मार्गवर्ती बहिन के गांव पहुँच गया। इस बार भी बहिन से मिलने की उत्कण्ठा हुई। वह शहर के बाहर ही बगीचे में ठहर गया। बहिन को सूचना पहुँचाई। बहिन दौड़ती हुई भाई के पास आई और गले मिली। भाई के प्रति अपना अटूट स्नेह दिखाने लगी। भाई को अपने घर भोजन का निमन्त्रण दिया। भाई अपने अनुचरों के साथ बहिन के घर पहुँचा, बहिन ने वडी आव-भगत की। भाई ने कहा—बहिन! यहा इतना आनन्द नहीं आयेगा। जहा पशु बान्धे जाते हैं, वहा चलो। मैं तो वही भोजन करूँगा।

बहिन ने भाई के कथन को ठुकराते हुए कहा—नहीं, वह कोई तेरे उपयुक्त मकान थोड़ा ही है। तुम्हें तो मैं यही इसी मकान में अपने हाथ से खाना खिलाऊँगी। कितने वर्षों के बाद मेरे घर आया है।

भाई ने बहिन का कहना नहीं माना और वह उधर ही चल दिया। बहिन भी पीछे-पीछे हो गई। पशु बांधे जाने वाले मकान को जल्दी से साफ करवाया गया। भाई के लिए नाना प्रकार के मिष्ठान्न व शाक बनाये गये। भोजन के समय बहिन ने अपने हाथ से थाल परोसा। भाई ने उसी समय अपने अनुचरों को सकेत किया तो कई थाल, बहिन द्वारा परोसे गये थाल के इबार उधर और आ गए। एक थाल हीरो से भरा था, एक मोलियों से, एक मोहरों से तो एक पन्नों से। भाई उन हीरो, मोलियों, मोहरों व पन्नों को सम्बोधित करते हुए कहने लगा—आप सब भोजन करिये। यह भोजन आपके लिए ही विशेष रूप में बना है। आप ही इस सृष्टि के प्राण हैं, अतः आपकी ही मनुहारे हो रही हैं। बहिन कहने लगी—भाई! क्या तू पागल हो गया है? ये हीरे, पन्ने जो कि पत्थरों के टुकड़े हैं, कभी भोजन करते हैं? तू तो बुद्धिमान् है।

भाई ने बहिन पर व्यग्न कसते हुए कहा—हां, आजकल ऐसा ही होता है। अब भोजन मनुष्य के लिए नहीं, इन सब के लिए ही बनता है। यदि ऐसा न होता तो मैं तो बही हूँ, जिसको तू ने ही अगिठी सुलगाने वाला बतलाया था और इसी स्थान में सूखी रोटी, बासी राब, खट्टी छाछ व बुरा हुआ शाक खाने के लिए भेजा था। भाई ने झटपट वह खड्डा खोदा और बहिन के हाथ में वह भोजन रख दिया।

बहिन शम के भारे जमीन में बसने लगी। उसकी आखें पथरा गईं, जबान बन्द हो गई और दिल में घिग्घी-सी बन्ध गई। भाई ने अपने अनुचरो को आदेश दिया—
प्रस्थान के लिए शीघ्र ही तैयार हो जाओ। आदेश पाते ही कुछ-एक क्षणों में सब सन्नद्ध हो गये और भाई ने अपने गाव की ओर कूच कर दिया। बहिन पत्थर की मूर्ति की तरह बहा खड़ी-खड़ा भाई की ओर केवल देखती ही रह गई।



भरत की अनित्य भावना

सम्राट् भरत प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव के सौ पुत्रा में ज्येष्ठ थे। जब ऋषभदेव प्रव्रजित हो गए तो उनका उत्तराधिकार उन्हें ही मिला। उन्होंने अपने साम्राज्य-विस्तार के लिए बड़ी बड़ी लड़ाइयाँ लड़ी और उनमें सफल भी हुए। किन्तु उनके अठाणवे छोटे भाई और बाहुबली ने उनकी अधीनता स्वीकार नहीं की। इसके लिए भी काफी प्रयत्न किए गए। अठाणवे भाई विरक्त होकर साधु बन गए। भरत के लिए यह कुछ अपवाद का कारण बना। बाहुबली के साथ युद्ध हुआ। उसके परिणामस्वरूप जीत बाहुबली के हाथ लगी किन्तु वे युद्ध-भूमि से ही साधु बनकर चल दिए। निन्तानवे ही भाइयों के इस तरह दीक्षित हो जाने से यद्यपि उन्हें चक्रवर्ती का पद प्राप्त हो गया, पर उनकी खुशियाँ जाती रही। उनका मन राज्य-सम्पदा से भर गया। शासनसूत्र का यद्यपि वे संचालन करते, पर उसमें उनकी ग्राम्यता नहीं हुई।

एक दिन भगवान् श्री ऋषभदेव मयोध्या पवारे। सम्राट् भरत व अन्य हजारों व्यक्ति उनके दर्शन करने के लिए गए। एक स्वर्णकार ने भगवान् से पूछ लिया—क्या हमारे सम्राट् मोक्षगामी है? वे अल्पारम्भी है या बहु-आरम्भी?

भगवान् ने उत्तर दिया—भरत मोक्षगामी है, क्योंकि वह अल्पारम्भी है।

स्वर्णकार ने भगवान् ऋषभदेव पर पक्षपात का आरोप लगाया। उसका कहना था—भरत ने बहुत बड़े-बड़े युद्ध किए हैं। उनमें लाखों व्यक्तियों का संहार हुआ है। ऐसा करने वाला व्यक्ति अल्पारम्भी कैसे हो सकता है और कैसे मोक्षगामी हो सकता है? भरत ने उसके विचार ताड़ लिए और उन्होंने उसे फासी की सजा सुना दी। स्वर्णकार बहुत घबराया। वह सम्राट् के पैरों गिर पड़ा। अपने अपराध के लिए पुन-पुन क्षमा मागने लगा। बहुत कुछ अनुनय-विनय के पदवात् भरत ने कहा—यदि तू तेल से लबालब भरा हुआ कटोरा हाथ में लेकर शहर के प्रमुख-प्रमुख मार्गों से चक्कर लगा कर यहाँ चला आए और तेल की एक बूँद भी नीचे न गिरे तो इस सजा से बच सकता है। स्वर्णकार ने सब कुछ स्वीकार कर लिया।

दूसरे ही दिन सम्राट् के आदेश से शहर के प्रमुख-प्रमुख मार्गों में विशेष रूप से कहीं नाटक होने लगे, कहीं संगीत होने लगा तो कहीं और कुछ उत्सव होने लगे।

स्वर्णकार लबालब भरे हुए उम कटोरे को लेकर वहा से सहस्र सैनिकों के पहरे में चला। बड़ी भीड़ व नाटक, संगीत व उत्सव के मार्गों को पार कर वह भरत के पास पहुँच गया। भरत ने पूछा—क्यों घूम आया ?

स्वर्णकार—हा, महाराज !

भरत—नगर में आज तू ने क्या-क्या देखा ?

स्वर्णकार—कुछ भी नहीं देखा महाराज !

भरत—स्थान स्थान पर होने वाले नाटक तो देखे होंगे ?

स्वर्णकार—महाराज ! आज तो मुझे मृत्यु के अतिरिक्त और कुछ भी दिखलाई नहीं देता था।

भरत—कहीं संगीत तो सुना होगा ?

स्वर्णकार—आपकी साक्षी से कहता हूँ, मोत की गुणगुनाहट के अतिरिक्त कुछ भी नहीं सुना। नाटक या संगीत हो रहे होंगे, पर मेरे लिए तो प्राणों का प्रश्न था। इधर-उधर देखकर आनन्द छूटूँ या प्राण बचाकर जिन्दगी का मुख नूटूँ ?

भरत—मोत का इतना डर ?

स्वर्णकार—सम्राट् इसे आप क्या जाने ? यह तो वही जान मकना है, जिसके ऊपर बीतती है।

भरत—तो क्या मैं अमर रहूँगा ? तू तो एक जीवन की मोत से डर गया। न कहीं तू ने नाटक देखा, न कहीं संगीत सुना और न कहीं ऊँची नजर ही उठाई। मैं तो मोत की लम्बी परम्परा से परिचित हूँ, अतः क्या यह साम्राज्य मुझे लुभा सकता है।

स्वर्णकार का सिर शर्म से झुक गया। उसे अपनी उद्दण्डता पर घृणा हुई। उसने क्षमा माँगी और अपने घर चला गया।

सम्राट् भरत एक दिन शीशमहल में स्नान करने के लिए गये। अगूठी खोली तो अगुलि की शोभा घट गई। जब उसे फिर पहना तो शोभा बढ़ गई। अपने समस्त आभूषणों को क्रमशः उतारा और पहना। सुन्दरता घटी और बढ़ी। इसी एक छोटी-सी घटना ने उन्हें अन्तर्मुख बना दिया। वे चिन्तन में गहरे डूबने लगे। पर-पदार्थ से बढ़ने वाली शोभा कृत्रिम है और मुझे उसे स्वाभाविक नहीं मान लेना चाहिए। जब तक आत्मा का सहज सौन्दर्य नहीं निखरेगा, यह कृत्रिमता बनी ही रहेगी। भावना का प्रवाह आगे बढ़ने लगा। ससार की नश्वरता व पदार्थों के बाह्यभाव पर गहरे चले गए। अनासक्त तो पहले से रहते ही थे और इस विचार-जागृति ने उन्हें और आगे बढ़ाया। गुणस्थानों का आरोह हुआ और केवल-ज्ञान प्राप्त हुआ। न तो अधिक तप तपा, न स्वाध्याय या ध्यान किया और न साधुत्व के दुश्चरण मार्ग का अवलम्बन ही, फिर भी हलुकर्मिता व अपने सहज सत्कारों के आधार पर भरत सम्राट् होते हुए भी सब कुछ कर सके और राजमहलों में भी केवल-ज्ञान प्राप्त कर सके।

थावरचा पुत्र

थावरचा पुत्र अपने आवास की ऊपरी भूमिका पर खड़ा था। इधर-उधर के नाना दृश्य देख रहा था। उसके कानों में अचानक एक मधुर ध्वनि पड़ी। उसका दिल उस ओर खिंच गया। वह वहाँ खड़ा-खड़ा सुनता ही गया। उसके मन में प्रश्न उत्पन्न हुआ, आखिर यह क्या है, क्यों है? माता के पास आया और पूछा तो माता ने उत्तर दिया—पड़ोसी के घर पुत्र का जन्म हुआ है और उस उपलक्ष में ये मधुर-मधुर गीत गाए जा रहे हैं।

थावरचा पुत्र—तो क्या मेरे जन्म के उपलक्ष में भी इसी तरह गीत गाए गए थे ?

माता—हा बेटे ! इससे भी और अधिक मधुर।

थावरचा पुत्र—मा ! मन करता है, मैं ये गीत सुनता ही रहूँ।

मा—जाओ बेटे ! तुम सुनो।

थावरचा पुत्र छत पर आ गया और गीत सुनने में तल्लीन हो गया। इस बार उसे ये गीत कर्ण-कटु लगे। सुनने से जी अकुलाने लगा। पुन दौड़ा-दौड़ा माँ के पास आया और पूछने लगा—मा ! अब तो ये गीत सुनाने नहीं लगते, क्या बात है ? क्या ये गाने वाले दूसरे व्यक्ति हैं ?

मा—नहीं बेटे ! गाने वाले तो वे ही व्यक्ति हैं, पर • ।

थावरचा पुत्र—तो मा, यह अन्तर कैसे ?

मा—अब परिस्थिति बदल गई मालूम होती है।

थावरचा पुत्र—यह क्यों ? रग में भग कैसे ?

मा—बेटे, अब वह बच्चा जिसका अभी-अभी थोड़ी देर पहले जन्म हुआ था, देहान्त हो गया। अब वे गीत रोने में बदल गए हैं।

थावरचा पुत्र को यह बात बहुत कड़वी लगी। सुनते ही सन्न-सा रह गया। उसके दिल में भय और वेदना घर कर गई। वह अकुलाते हुए बोला—मा ! व्यक्ति मरता क्यों है ?

मा—जब आयु पूर्ण हो जाती है, प्रत्येक व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है।

थावरचा पुत्र—तो मा, व्यक्ति की मृत्यु कब होती है ? क्या छोटे-बड़े का इसमें कुछ विचार रहता है ?

मा—नहीं बेटे ! अभी तू ऐसी बातें मत कर ।

थावरचा पुत्र—नहीं मा ! एक बात और बतादो । क्या मुझे भी इस प्रकार मरना होगा ?

मा—अरे तुझे क्या मुझे भी मरना होगा ।

थावरचा पुत्र और अधिक घबरा गया । मा से उसने फिर पूछा—क्या इससे बचने का कोई उपाय भी है ? हे तो क्या है और कहा है ?

मा—हा है तो सही, पर बड़ा कठिन है । इसका एकमात्र उपाय भगवान् अरिष्टनेमि के चरणों में बैठकर साधना करने से प्राप्त हो सकता है । भगवान् अरिष्टनेमि प्रत्येक व्यक्ति को मृत्यु के चगुल से बचा सकते हैं । पर बेटे ! वह साधना बड़ी कठोर है ।

थावरचा पुत्र—मा ! कठोर हो चाहे, पर वह कितने दिन करनी होती है ।

मा—जीवनपर्यन्त ।

थावरचा पुत्र—तो मा ! मैं तो यही कार्य करूंगा । मैं अमृत बनना चाहता हूँ । वे अरिष्टनेमि प्रभु आजकल कहा हैं ? क्या अपने शहर में भी कभी आते हैं ?

मा—हा वे पधारते हैं ।

थावरचा पुत्र की विरक्ति बढ़ती गई । वह बाल्य-जीवन में भी सर्वथा ससार पराङ्मुख व्यक्ति की तरह रहने लगा । एक दिन भगवान् अरिष्टनेमि प्रभु पधारे और उसकी भावना सफल हुई । वह दीक्षा-ग्रहण कर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त पद की ओर अग्रसर हुआ ।



सुभूम

हस्तिनापुर नगर के राजा का नाम अनन्तवीर्य था । जितशत्रु राजा की कन्या रेणुका की बहिन उसकी धर्मपत्नी थी । एक बार एक दुःखी व सन्तान रहित अग्नि नामक ब्राह्मण घूमता हुआ किसी तापस के आश्रम में पहुँच गया । वहाँ के जम नामक कुलपति ने उसे पुत्र रूप में स्वीकार कर लिया । उसका नया नाम सस्कार हुआ और उसके परिणामस्वरूप वह जमदग्नि पुकारा जाने लगा । वह घोर तपश्चरण करने लगा ।

वैश्वानर व धन्वन्तरी नामक दो देव थे । एक जैन था और दूसरा शैव । दोनों में परस्पर धार्मिक विवाद छिड़ गया । दोनों ही ने अपने-अपने धर्म को श्रेष्ठ बतलाया । विवाद बहुत लम्बा चला, पर निर्णय कुछ भी नहीं हो पाया । अन्त में दोनों ने ही बहुत कुछ सोच-विचार कर एक प्रस्ताव रखा कि वही धर्म श्रेष्ठ गिना जायेगा, जिसको मानने वाले अपने धर्म से कभी विचलित नहीं होते होंगे । दोनों ही प्रकार के धार्मिकों की परीक्षा ली जाये । वैश्वानर ने जैनधर्म की श्रेष्ठता को प्रमाणित करने के लिए विश्वासपूर्वक यहाँ तक कह दिया कि एक शैव जो कि बहुत वर्षों से साधना कर रहा हो, उसकी तुलना में एक जैन जो कि साधना को स्वीकृत करने के लिए केवल तत्पर ही हुआ हो, दोनों की समान परीक्षा की जाये । साधना को आरम्भ करने वाला जैनी उस शैव से बहुत आगे मिलेगा । धन्वन्तरी को इस प्रस्ताव से और भी अधिक प्रसन्नता हुई ।

दोनों ही देव अपने रूप बदलकर स्वर्ग से मर्त्य लोक में आ गये । सर्वप्रथम वे एक जैन साधक के पास गये । उसका नाम पद्मरथ था । वह मिथिला का राजा था । ससार से विरक्त होकर वासुपूज्य मुनि के पास दीक्षित होने के लिए जा रहा था । दोनों ही देवों ने अनुकूल व प्रतिकूल, सब तरह से उसे अपने लक्ष्य से विचलित करने का प्रयत्न किया, किन्तु वह तनिक भी विचलित नहीं हुआ । दोनों ही देख हार गये और वहाँ से लौट गये । वैश्वानर ने धन्वन्तरी से कहा—मेरा साधक तो इस परीक्षा में पूर्णतः सफल है । अब तुम अपने साधक को प्रमाणित करो ।

धन्वन्तरी वैश्वानर को साथ लेकर घोर तपश्चरण करने वाले जमदग्नि के

आश्रम में आया। धन्वन्तरी उस तापस को देखकर फूला नहीं समा रहा था। उसकी आँखों में बड़ा तेज था और ललाट बड़ा भव्य था। लम्बी-लम्बी डाढ़ी व जटा बहुत ही मनोहारिणी थी। दोनों ही देवों ने चकवे व चकई का रूप बनाया और उस तापस की डाढ़ी पर जाकर बैठ गये। तापस भी शान्त भाव से लेटा रहा। चकवे व चकई ने वहाँ बैठते ही परस्पर बातें प्रारम्भ की। चकवा बोला—प्रिये! तेरी अनुमति हो तो मैं अकेला ही हिमालय की सैर करना चाहता हूँ। तू महान् तपस्वी के इस आश्रम में आनन्दपूर्वक रहना। मैं बहुत शीघ्र ही लौट आऊँगा।

चकई—रूप-लोलुप व विषय-लोलुप व्यक्ति कहता ऐसा ही है, किन्तु लावण्य को देखकर अपना स्वस्व भी पहले पहल वही लुटाता है। दूसरे के साथ की गई प्रतिज्ञाएँ, वह बहुत सरलता से भूल जाता है। ऐसे व्यक्तियों के साथ ही मैं तुम्हारी गिनती करती हूँ।

चकवा—तुम्हारा कथन सत्य है, किन्तु कहीं कोई अपवाद भी तो होता है। मैं तुम्हें दृढ़ निश्चय के साथ कहता हूँ कि मैं अपना वचन पूर्णतः निभाऊँगा। यदि ऐसा न हो तो गौ-हत्या व विश्वासघात जितना पाप मुझे लगे।

चकई—इस कथन में कुछ भी तथ्य नहीं। ऐसे शपथ बहुत सारे व्यक्ति खाते रहते हैं। यदि तुम्हें जाना ही है तो एक शपथ खाओ कि निश्चित समय पर न लौट सकूँ तो इस तापस जितना पाप लगे।

चकई का यह कथन सुनकर जमदग्नि तापस आग-बबूला हो गया। उसने दोनों पक्षियों को हाथ से पकड़ लिया और बोला कि जन्म से ही इतना दुष्कर तप कर रहा हूँ, फिर मेरे में इतना बड़ा कौन-सा पाप रह गया, जिससे गौ-हत्या व विश्वासघात से भी बढ़कर मेरा पाप बताया जा रहा है।

दोनों ही पक्षियों ने कहा—‘पापर्थ’! इससे बढ़कर और क्या पाप होगा कि बिना सन्तान पैदा किये ही तपस्वी बन गये। आपको पता होना चाहिए कि ‘अपुत्रस्य गतिर्नास्ति’ अपुत्र की गति नहीं होती, यह श्रुति वाक्य है। पक्षियों के इस कथन से ऋषि के दिल को एक गहरी ठेस पहुँची। उनका मन विचलित हो गया और वे शादी करने के लिए उतावले हो उठे। जमदग्नि के मानस की यह स्थिति देखकर शैवधर्मों देव धन्वन्तरी को बहुत दुःख हुआ। उसने अपने साथी देव से अपनी हठवादिता के लिए क्षमा-यचना की और उसका धर्म स्वीकार कर लिया।

जमदग्नि अपने आश्रम से निकलकर राजा जितशत्रु के पास पहुँचा। उसके कन्यारूप बहुत थी। ऋषि ने राजा से एक कन्या की भिक्षा मांगी। राजा को यह माँग बहुत ही अनुचित लगी, पर शपथ के भय से उसके मुँह से यही वाक्य निकला—‘जो कन्या आपको चाहेगी, ऋषिवर! वह आपको भेंट कर दी जायेगी। ऋषि बहुत हर्षित हुए, किन्तु कन्याओं ने यह बात सुनी और ऋषि का क्षुत्क्षाम कुश शरीर देखा तो सभी ने उनका तिरस्कार किया। कोई भी उनके साथ विवाह करने को तैयार न

हुई। ऋषि को कन्याओं का यह व्यवहार जले पर नमक जैसा लगा। वे क्रुद्ध हो गये और उन्होंने अपने तपोबल से निन्तानवें कन्याओं को कुबडा बना दिया।

सभी कन्याएँ इधर-उधर खेल रही थी। उन सब में छोटी कन्या का नाम रेणुका था। ऋषि ने फलो का प्रलोभन देकर उसे फुसला लिया और अपने साथ चलने के लिए हाँ भरवा ली। राजा जितशत्रु को यह घटना बताई गई तो उसने अपने वचन का पालन करने के लिए रेणुका ऋषि को भेंट कर दी। ऋषि ने अन्य कन्याओं का कुबडापन भी दूर कर दिया।

जमदग्नि ऋषि रेणुका को लेकर अपने आश्रम में लौट आए। रेणुका वहाँ बड़ी होने लगी। उसके भरण-पोषण की ऋषि पूरी चिन्ता रखते। धीरे-धीरे वह बाल्य से यौवन में आ गई। ऋषि वृद्ध थे, रेणुका षोडशी थी, पर दोनों का दाम्पत्य सम्बन्ध हो गया। एक बार ऋषि ने रेणुका से कहा—मैं एक चरु की साधना करना चाहता हूँ। उससे तेरे ब्राह्मणोत्तम पुत्र होगा। रेणुका ने कहा—आप एक नहीं दो चरु की साधना करें। ब्राह्म चरु मेरे लिए और क्षात्र चरु अनन्तवीर्य की धर्मपत्नी मेरी बहिन के लिए। ऋषि ने रेणुका का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया और दो चरु की साधना सम्पन्न कर ली।

रेणुका ने एक दिन अपने भावी पुत्र के भविष्य के बारे में चिन्तन किया। उसने सोचा—ऋषिवर की तपस्या से मेरा पुत्र अतुल तेजस्वी होगा, किन्तु वह होगा ब्राह्मण-धर्मा ही तो। हरिण की तरह वह भी वन की खाक छानता हुआ भटकेगा। यह तो अच्छा नहीं है। यदि ऋषिवर की तपस्या के परिणाम स्वरूप मुझे क्षात्रधर्मा पुत्र मिल जाता है तो वह बड़ा यशस्वी होगा और प्रशासक होगा। उसने उन दोनों चरु में परिवर्तन कर लिया। बहिन के लिए साधा गया क्षात्र चरु अपने पास रख लिया और अपने लिए साधा गया ब्राह्म चरु बहिन के पास भेज दिया। समय पाकर रेणुका के पुत्र हुआ जिसका नाम राम रखा गया और उसकी बहिन के जो पुत्र हुआ उसका नाम कृतवीर्य रखा गया। राम आश्रम में व कृतवीर्य राजमहलो में बड़ा होने लगा।

एक बार एक विद्याधर आकाशमार्ग से जा रहा था। वह अष्ट होकर वन में गिर पड़ा। राम ने उसे देखा तो उसकी अच्छी तरह परिचर्या की। विद्याधर प्रसन्न हुआ। उसने उसे पारशवी (परशु सम्बन्धी) विद्या दी। राम ने उसकी साधना कर ली। उसके बाद वह परशुराम के नाम से विख्यात हुआ।

बहिन के प्रेम से प्रेरित होकर रेणुका एक बार हस्तिनापुर गई। बहनोई के साथ उसका अनुचित सम्बन्ध हो गया। वहाँ उसके पुत्र भी हुआ। जमदग्नि ऋषि पुत्र सहित रेणुका को अपने आश्रम में ले आये। राम से यह सहन न हो सका। उसने पुत्र सहित अपनी माँ को मार डाला। रेणुका के बध का हस्तिनापुर में जब उसकी बहिन को पता चला तो उसने अपने पति अनन्तवीर्य को भी वह घटना कह सुनाई। अनन्तवीर्य को गुस्सा आ गया। एक दिन जब राम वन-झींडा के लिए गया तो उस समय अनन्तवीर्य ने उसका

आश्रम तोड़ डाला। जब राम लौटा तो आग-बबूला हो उठा। उसने अनन्तवीर्य पर आक्रमण किया और उसे मार डाला। कृतवीर्य राजा हुआ। उसने अपने पिता की मृत्यु का प्रतिशोध लेने के लिए राम के पिता जमदग्नि ऋषि को मार डाला। कृतवीर्य और राम के बीच फिर संघर्ष हुआ और उसमें कृतवीर्य मारा गया। परशुराम क्षत्रियो पर कुपित हो गया और उस समय उसे जितने भी क्षत्रिय मिल सके, इन्हे परमधाम पहुँचा दिया।

कृतवीर्य की पत्नी तारा उस समय सगर्भा थी। अपने पति की मृत्यु का सवाद पाकर वह जंगल में चली गई। एक तापस ने कसणापूर्वक उसे अपने आश्रम में छुपाकर रख लिया। तारा के पुत्र हुआ। वह बचपन में मिट्टी बहुत खाता था, अतः उसका नाम सुभ्रम रखा गया। सुभ्रम बचपन से ही बलशाली, चतुर व होनहार लगता था। आगे चलकर वह आठवाँ चक्रवर्ती हुआ।

परशुराम बहुत पराक्रमी था। विद्या के बल सिद्ध की हुई परशु से उसका बल और द्विगुणित हो गया। वह किसी क्षत्रिय को फूटी आँखों भी देखना नहीं चाहता था। सारी पृथ्वी पर उसका आतंक छा गया। कृतवीर्य की मृत्यु से हस्तिनापुर का राज्य उसके हस्तगत हो गया। उसने अपने जीवन काल में पृथ्वी को सात बार निःक्षत्रिय बनाया।

एक बार परशुराम क्षत्रियो को खोजता हुआ उसी आश्रम में पहुँच गया, जहाँ कि सुभ्रम अपनी माँ के साथ रहता था। परशुराम के परशु की। यह विशेषता थी कि वह क्षत्रिय का आभास पाते ही क्रोधित होकर चमकने लगती थी परशुराम ने जब उस आश्रम में ऐसा देखा तो वहाँ उसे क्षत्रिय होने का सन्देह हुआ, अतः उसने कुलपति से पूछताछ की। कुलपति ने इस बात को सहज ही में टालते हुए कहा—जो तापस है, वे क्षत्रिय ही तो हैं। कुलपति के इस उत्तर से परशुराम सन्तुष्ट हुआ और वह वहाँ से लौट आया।

परशुराम के लिए युद्ध लड़ना तो बाजीगर के समान तमाशा दिखलाना था। उसे अपनी भुजाओं व परशु पर बहुत घमण्ड था। क्षत्रियो के जितने भी प्रमुख राजाओं को उसने मारा था, उनकी दाढ़ निकलवा कर एक थाल सजा रखा था। एक बार परशुराम ने किसी नैमित्तिक से अपने मारने वाले का नाम पूछा। नैमित्तिक ने कहा—दाढ़ से भरा हुआ यह थाल, जिसके निमेष मात्र में खीर से भर जायेगा और तत्क्षण वह उसे खा जायेगा, उसके हाथ से मृत्यु सम्भावित है। परशुराम ने इसका निर्णय करने के लिए एक दानशाला बनवाई। वहाँ किसी भी व्यक्ति के आगमन पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था। उस दानशाला के मुख्य द्वार के समीप वह दाढ़ से भरा थाल एक सुन्दर सिंहासन पर रख दिया गया।

तापस के आश्रम में माँ के साथ प्रच्छन्न रूप से रहता हुआ सुभ्रम बड़ा हुआ। विद्याधर मेघनाद ने निमित्त विशेषज्ञों के कथन से सुभ्रम के चक्रवर्ती होने का जब

सवाद मुना तो उसने अपनी कन्या पद्मश्री का उसके साथ विवाह कर दिया । तीनों प्राणी उसी आश्रम में रहने लगे । एक बार मा के कथन से सुभूम ने अपने पिता की मृत्यु का सवाद सुना तो वह अत्यन्त क्रुद्ध हुआ और परशुराम को मारने के लिए हस्तिनापुर की ओर चल पड़ा । पहले पहल वह उसी दानशाला में पहुँचा । सिंहासन देखकर विश्राम के निमित्त वहाँ बैठ गया । दाढ़ों से भरे थाल पर उसकी नजर टिकी । निमेष मात्र से ही थाल खीर से भर गया । सुभूम ने वह सारी खा ली । मेघनाद भी उसके साथ ही था । दानशाला के रक्षकों को सुभूम का यह व्यवहार अच्छा नहीं लगा । वे बड़बड़ाने लगे । मेघनाद भी गुस्से में भर गया । उसने ब्राह्मणों का वही सफाया कर दिया । परशुराम को जब यह सूचना मिली तो वह भी वहाँ दौड़ आया । एक क्षत्रिय द्वारा ब्राह्मणों का वध वह कैसे सहन कर सकता था ? आते ही उसने अपनी तलवार सुभूम पर चलाई, किन्तु उसका कोई भी परिणाम नहीं निकला । परशुराम के जीवन में वह पहली घटना थी, जब कि उसका प्रहार खाली गया हो । वह क्रोध और भय दोनों से भर रहा था । परशुराम के प्रहार से कुपित होकर सुभूम ने भी प्रहार किया । उसके पास और कोई शस्त्र नहीं था, किन्तु वह थाल ही चक्ररूप में परिणत हो गया था । पुण्यशाली के हाथ से छोड़ा गया तिनका भी बाण का काम करने लगता है । उस एक ही प्रहार से परशुराम घराशायी हो गया ।

केवल परशुराम की मृत्यु से ही सुभूम की आत्मा को शान्ति नहीं मिली । उसने तीन सप्तक अर्थात् इक्कीस बार इस भूमण्डल से ब्राह्मणों का उच्छेद करने का प्रयत्न किया । उसमें वह सफल भी हुआ, किन्तु किसी भी जाति का सर्वथा लोप प्रायः असम्भव ही हुआ करता है । हस्तिनापुर के राज्य ने सुभूम के मन में राज्य-विस्तार की लालसा को भड़का दिया । भावी चक्रवर्ती था, अतः भरतक्षेत्र के छह ही खण्डों में उसने शासन प्रवर्तित कर दिया ।

अधिकारों की प्राप्ति से अहं में वृद्धि स्वाभाविक ही है । सत्ता की अधिक प्राप्ति के लिए व्यग्र होना भी बिरले ही मनुष्य छोड़ सकते हैं । पूर्ण चक्रवर्ती हो जाने पर भी सुभूम की लालसा भरी नहीं । वह घातकी खण्ड के भरतक्षेत्र के छह खण्डों की दिग्विजय के लिए और निकला । मन्त्रियों ने उसे बहुत समझाया, पर वह नहीं माना । चर्मरत्न पर अपनी अपार सेना को बैठाकर लवण समुद्र को पार कर रहा था । चर्मरत्न के अधिष्ठायाक हजार देव उसके सहयोग में थे । ज्योंही लवण समुद्र की गहराई में पहुँचे, सभी देवों के मन में विश्राम लेने की आई । सभी ने एक साथ यही सोचा, यदि एक क्षण मैं विश्राम ले लेता हूँ तो इसमें क्या हानि हो जाने की है । सेना गिरेगी तो नहीं । सभी ने वैसा ही किया और सेना के साथ चक्रवर्ती सुभूम समुद्र में डूब गया । कोई भी नहीं बच सका । अति लालच में व्यक्ति प्राप्ति को भी गवा बैठता है ।

उदाई राजर्षि और अभीचकुमार

सिन्धु देश में वित्तभयपुर नगर था। उदाई वहाँ का राजा था। रानी का नाम पद्मावती, कुमार का नाम अभीचकुमार व भानेज का नाम केशीकुमार था। उदाई राजा के अधीन महासेन प्रमुख दश मुकुटबन्ध राजा व छः छोटे राजा भी थे। इस प्रकार वह छोटे-बड़े सोलह देशों का स्वामी था। वह जैनी श्रावक था। शासन-सूत्र का संचालन करते हुए भी वह अपने दैनिक धार्मिक अनुष्ठान को न कभी भूलता था और न कभी गौण ही करता था। तत्त्व-रुचि भी अच्छी थी, अतः जीव, अजीव आदि नौ ही तत्त्वों को अच्छी तरह जानता था। एक दिन राजा ने पौषध किया। धर्म-जागरण करता हुआ अपनी पौषधशाला में बैठा था। चिन्तन की श्रेणी ऊर्ध्वमुखी हो रही थी। भगवान् श्री महावीर की उसे स्मृति हो आई। वह सोचने लगा—वे देश, नगर व कानन कितने धन्य हैं, जिनमें स्वयं भगवान् श्री महावीर विचरण करते हैं। वे राजा, सेठ व अन्य नागरिक कितने धन्य हैं जो भगवान् की प्रतिदिन पर्युपासना करते हैं, उपदेश सुनते हैं, उनसे सम्यक्त्व, व्रत व महाव्रत ग्रहण करते हैं और अपने हाथ से शुद्ध, प्रासुक व एषणीय भोजन, वस्त्र, पात्र, मकान व शय्या आदि का दान करते हैं। मेरे जैसे अभागों को वह स्वर्णिम अवसर कहा है? ऐसे देश में रह रहा हूँ, जहाँ भगवान् श्री महावीर के दर्शनो का भी कोई मौका नहीं मिलता। सौभाग्य से यदि भगवान् यहाँ पधार जाये तो इस बार मैं अपनी भावना पूरी कर लूँ। मैं उनकी पर्युपासना, भक्ति आदि तो करूँ ही, पर साथ ही इस असार ससार को छोड़कर दीक्षित भी हो जाऊँ।

व्यक्ति की उत्कट भावना कभी छुपी नहीं रहती। दूर हो या समीप, निर्मल हो या मलिन; अपने तदनुरूप प्रतिबिम्ब से प्रत्येक सम्बन्धित व्यक्ति को प्रभावित करती है। उस समय भगवान् श्री महावीर चम्पा के पूर्णभद्र उद्यान में विचरण कर रहे थे। वित्तभयपुर और चम्पा के बीच सात सौ कोश का अन्तर था। भगवान् श्री महावीर केवलज्ञानी थे, अतः उन्होंने वहाँ बैठे ही उदाई की वह भावना जान ली और उसे कृतार्थ करने के लिए अपने साधु-समुदाय के साथ वहाँ से विहार कर दिया। बड़ा बीहड़ मार्ग था। बीच में अनेकों पहाड़, छोटी-बड़ी नदियाँ व भयानक जंगल थे।

किन्तु परीषद्‌हो का तनिक भी विचार न करते हुए और आमानुग्राम विहरण करते हुए भगवान् एक दिन वितभयपुर के मृगवन उद्यान में पधार गये। राजा उदाई को जब यह अप्रत्याशित सवाद मिला तो उसे अनहद हर्ष हुआ। अपने सभी कामों को छोड़कर सर्वप्रथम भगवान् श्री महावीर के दर्शनार्थ अपनी रानी, कुमार व सेना के साथ चला। हजारों नागरिक भी दर्शन करने व उपदेश सुनने के लिए आये। भगवान् ने उपदेश दिया। ससार की अनित्यता व जीवन की महत्ता पर प्रकाश डाला। श्रोताओं पर गहरा प्रभाव पड़ा। यथाशक्ति त्याग-प्रत्याख्यान किये और परिषद् जिघर से आई थी उबर ही चली गई।

राजा उदाई ने निवेदन किया—प्रभो ! आज मैं कृतार्थ हो गया हूँ। आपके दर्शनों से मेरे नयन, उपदेश से कान और श्रद्धा से हृदय पवित्र हो गया है। मैं चाहता हूँ, राज्य का भार अपने पुत्र को सौंपकर आपके चरणों में साधनामय जीवन बीताऊँ।

भगवान् महावीर ने कहा—श्रेय के मार्ग में विलम्ब मत करो।

कुछ एक कार्य के परिणाम अतिशीघ्र आ जाते हैं और कुछ एक के वर्षों बाद। कुछ एक के परिणाम दृश्य होते हैं और कुछ एक के अदृश्य। कभी-कभी ऐसा भी हो जाता है कि एक कार्य का परिणाम समाहित कुछ ही होता है और हो कुछ ही जाता है। चर्म चक्षुए भविष्य के अन्तस्तल को कभी नहीं देख पाती। राजा उदाई अपने महलों की ओर जा रहा था। उसका मन विरक्त था, अतः वह उस प्रकार की ही अपनी योजनाएँ बना रहा था। शासन-व्यवस्था का उत्तराधिकारी उसका इकलौता पुत्र अभीचकुमार था। इसमें दूसरे किसी विकल्प को स्थान भी नहीं था। राजा के मन में आया—राज्य बन्धन का कारण है, यही समझ कर मैं इसे छोड़ रहा हूँ। अभीचकुमार मुझे बहुत प्रिय है। यदि मैं इसे अपना उत्तराधिकारी बनाकर दीक्षित होता हूँ तो हो सकता है राज्य में यह आसक्त हो जाये और अपना पतन कर ले। मुझे ऐसी ही कोई व्यवस्था करनी चाहिए, जिससे मैं भी अपनी निर्बाध साधना कर सकूँ और अभीचकुमार के लिए भी साधना का द्वार खुला रह सके। मैं उसका पिता हूँ, अतः जितना मैं अपने हित के लिए सचेष्ट हूँ, उतना मुझे पुत्र के लिए भी होना चाहिए। अपना बन्धन कुमार के गले में डालूँ, यह तो उसके साथ न्याय नहीं होगा।

राजा उदाई भावना में बह गया। उसके चिन्तन में एकान्त अध्यात्म था, पर उसके लिए दूसरे व्यक्ति का भी अनुकूल मानस है या नहीं, यह सोचने का उसने तनिक भी उपक्रम नहीं किया। साधना का आरम्भ अपने मन से होता है, किसी के द्वारा बलात् थोपने से नहीं हुआ करता। अभीचकुमार राज्य में आसक्त न बने, यह विचार बहुत उत्तम है, किन्तु कुमार का हृदय इसके लिए क्या सोचता है, यह जानना भी उतना ही आवश्यक है, जितना कि उसके हिताहित की चिन्ता करना। गलत निश्चयन में दी गई अमृतोपम औषधि भी विष हो जाती है, यह कोई अज्ञात रहस्य नहीं है। राजा उदाई ने कुमार से बिना कुछ परामर्श किये ही अपना एक पक्षीय सुदृढ निर्णय

उदाई राजर्षि और अभीचकुमार]

[४७३]

कर लिया कि राज्य कुमार को न सौंपकर भानेज को ही सौंपना है। इसी चिन्तन में तैरता-डूबता हुआ वह अपनी राज्य-सभा में पहुँचा। कौटुम्बिक पुरुष को बुलाया और उसे अन्य आदेश के साथ यह आदेश भी कर दिया कि 'सारे देश में यह उद्घोषणा कर दी जाये कि मेरा उत्तराधिकारी केशीकुमार है। उसका शीघ्र ही राज्याभिषेक किया जाये। मैं दीक्षित होना चाहता हूँ।'

कौटुम्बिक पुरुष राजा के आदेश से स्तम्भित-सा रह गया। किन्तु वह इस उद्घोषणा में सशोधन कैसे कर सकता था और राजा को दूसरा कहनेवाला भी कौन था? प्रधानमंत्री को जब यह ज्ञात हुआ तो तुरन्त ही वह राजा के पास पहुँचा। सविनय पूछा—क्या आपका उत्तराधिकारी केशीकुमार होगा?

राजा ने कुछ गरजते हुए उत्तर दिया—'हां। मैंने बहुत कुछ चिन्तन के बाद यह निश्चय किया है। इससे देश का भला होगा, जनता का भला होगा, अभीचकुमार का भी भला होगा और तुम्हारा हमारा सबका भला होगा। इसमें परिवर्तन की अब कोई सम्भावना व आवश्यकता नहीं है।' राजा के इस उत्तर के समक्ष प्रधानमंत्री क्या बोल सकता था। सारे देश में उद्घोषणा हो गई। जिस व्यक्ति ने ही यह सुना आश्चर्य हुआ। सभी के मस्तिष्क में नाना प्रकार के प्रश्न उभरने लगे। राजा के इस आदेश का किसी ने भी स्वागत नहीं किया। बड़ी आलोचना की, किन्तु वह आलोचना राजा तक कैसे पहुँच सकती थी। सारा ही कार्य इतनी शीघ्रता में हुआ कि उसके प्रतिरोध में कुछ करने का अवकाश भी किसी को प्राप्त नहीं हुआ।

अभीचकुमार ने भी जब यह घोषणा सुनी तो वह अपने कानों पर विश्वास न कर सका। वह अपने मित्रों व निकट के व्यक्तियों से यह सारी घटना समझने लगा तो दूसरी ओर केशीकुमार का राज्याभिषेक भी हो गया। उसके दिल में दुःख का पार न रहा। उसने अपने मित्रों के समक्ष अपना दिल हल्का करते हुए कहा—आज तक जान व अनजान में मैंने कभी भी पिताजी के किसी भी आदेश का उल्लंघन नहीं किया। उनके सकेत से ही सब कुछ करता रहा। मेरी योग्यता पर भी उन्हें कोई सन्देह नहीं था। राज्य पाने के लिए मैं कोई उतावला भी नहीं हो रहा था। पिताजी ने दीक्षित होते-होते मेरे साथ यह शत्रुता क्यों बरती?

कुछ एक मनचले परामर्शदाताओं ने कुमार को राजा व केशीकुमार के विरुद्ध झड़काने का भी प्रयत्न किया। किन्तु कुमार ने यह कहते हुए बात टाल दी कि पिताजी ने मेरे साथ जो कुछ किया, पर मैं उनके प्रति ऐसा कोई कार्य नहीं करूँगा, जिससे उनकी अवहेलना हो।

राजा उदाई भगवान् श्री महावीर के चरणों में दीक्षित हो गये। हृदय में वैराग्य था और मन में समज्ञा। एक साथ सारा जीवन बदल गया। राजा से निर्ग्रन्थ पर्याय में आ गये। स्थविर साधुओं के सान्निध्य में उन्होंने आचाराग आदि सूत्रों का अध्ययन किया और उग्र तपश्चरणा के साथ स्वाध्याय, ध्यान आदि में लीन रहने

लगे। कुछ समय बाद उदाई राजर्षि का शरीर रुग्ण हो गया। साधु-जीवन में भयंकर परीषह और बीमारी की वेदना ने उनके शरीर को क्षत-विक्षत कर दिया, परन्तु उनका धैर्य नहीं डोला। वे अपनी साधना में उसी तरह लीन रहे जैसे कि पहले थे। ग्रामानुग्राम विहरण करते हुए एक बार वे अपनी राजधानी में पधार गये। राजा केशीकुमार को जब यह ज्ञात हुआ तो धार्मिक व सासारिक दोनों सम्बन्धों को याद करते हुए वह अपने पूरे परिवार के साथ दर्शनार्थ व उपदेश श्रवणार्थ आया। शहर के सहस्रो नागरिक व राज्याधिकारी भी पुन-पुन उनके सम्पर्क में आने लगे।

सज्जन सब जगह गुण ही देखता है और दुर्जन बुराई। सज्जनता और दुर्जनता का यह पारस्परिक पार्थक्य चलता आया है और चलता भी रहेगा। सज्जन अपने कार्य-विस्तार में इतने पटु नहीं होते जितने कि दुर्जन होते हैं। उदाई राजर्षि के वित्तभयपुर आगमन से जहाँ सर्वत्र हर्ष था, कुछ एक इसे फूटी आँखों से देखना नहीं चाहते थे। राजा केशीकुमार के पास उन्होंने अपनी भावना धीरे-धीरे पट्टुबानी आरम्भ की। उन्होंने अपने अभिमत की पुष्टि के लिए राजा से कहा—आप सम्भवतः यह नहीं जानते होंगे कि राजर्षि उदाई के अपने नगर में आने का क्या कारण है? युग की हवा ही बदल गई है। एक दिन था, जब वैराग्य से प्रेरित होकर उदाई साधु बने थे, किन्तु आज वे राज्य की ओर ललचाई आँखों से देख रहे हैं। उनका वैराग्य समाप्त हो गया है। राज्य पाने के लिए ही वे सारे राज्याधिकारियों के साथ साठ-गाठ कर रहे हैं। यदि ऐसा न होता तो सारे ही वे उनके पास क्यों जाते? हमें यह घटना अप्रिय लगी अतः सरकार से निवेदित कर दी। समय पर यदि कड़ा कदम न उठाया गया तो स्थिति नियन्त्रण से बाहर हो सकती है। राज्य-संचालन में पारिवारिक सम्बन्ध सर्वथा गौण होते हैं और देश का लाभ ही सर्वोपरि हुआ करता है।

अपने पारिपाक्षिक व्यक्तियों के बार-बार एक ही बात कहने से केशीकुमार के मन में भी यह बात जच गई। अपने अधिकारों की सुरक्षा के लिए उसने अपने सारे विगत सम्बन्ध भुला दिये। उसने अपने बागवान् से मुनि को निकालने का आदेश दे दिया और शहर भर में यह घोषणा करवा दी कि उदाई मुनि को ठहरने के लिए कोई भी सज्जन यदि मकान देगा तो राजा उसका धन लूट लेगा और परिवार सहित मौत के घाट उतार देगा। राजर्षि को इस उद्घोषणा का कोई पता नहीं। जब बागवान् ने उनको बाग से चले जाने का कहा तो वहाँ से वे शहर में आ गये। घर-घर पर ठहरने के लिए स्थान की गवेषणा करने लगे। जो भी व्यक्ति मिलते राजर्षि को देखकर मुह छुपा लेते। किसी ने भी शहर में ठहरने के लिए स्थान नहीं दिया। कड़ी धूप, कन्धों पर भार, शरीर में उग्र व्याधि व घर-घर घूमते हुए राजर्षि एकदम क्लान्त हो गये। नगर के एक छोर से दूसरे छोर तक पहुँच गये। बड़े-बड़े भव्य मकानों में उन्हें ठहरने के लिए एक छोटा-सा कमरा भी नहीं मिला। अन्ततः वे शहर के बाहर एक कुम्भार के द्वार पर पहुँच गये। राजर्षि ने अपने शान्त स्वर से कुम्भार को पूछा—

उदाई राजर्षि और अभीचकुमार]

[४७५]

क्या तेरे घर रातभर ठहरने के लिए मुझे कोई स्थान मिल सकता है ?

कुम्भार—आपका नाम ?

राजर्षि—उदाई ।

नाम सुनते ही एक बार कुम्भार का माथा ठनका । राजा द्वारा करवाई गई उद्घोषणा उसे याद आ गई । किन्तु दूसरे ही क्षण उसके मन में साहस भर आया । उसने सोचा—राजर्षि के ठहरने से राजा सारा धन खूट लेगा, किन्तु मेरे घर बतैन-भाण्डे, राख की ढेरी व गव्हे के अतिरिक्त रखा भी क्या है ? बड़ी शौक से राजा खूट सकता है । अधिक कुपित होगा तो प्राण-दण्ड दे देगा । जो इस ससार में पैदा हुआ है, उसे दो दिन पहले या पीछे मरना भी तो होगा । राजर्षि जैसे तपस्वी को ठहरने के लिए स्थान देने से यदि ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो सकती है तो मेरे लिए इससे बढ़कर और क्या सौभाग्य होगा ? कुम्भार के मन में भावनाएँ उभरी और उनसे प्रेरित होकर उसने राजर्षि को अपने घर ठहरा लिया ।

राजा के गुप्तचर राजर्षि के पीछे लगे हुए थे । वे इस खोज में थे कि कौन राजर्षि को अपने घर ठहराता है और उसके विरुद्ध कितनी शीघ्र कार्यवाही की जा सकती है । कुम्भार के विरुद्ध भी राजा के पास शिकायत पहुँची । राजा कुपित हुआ, पर उसे खूटने में उसका क्या सम्मान था ? कुम्भार के घर से राजर्षि को निकलवाना भी कई दृष्टियों से उसे उचित प्रतीत नहीं हुआ । इसमें उसका लाभ कम था और हानि अधिक । राजा के मन में यह चुभन तो बहुत बड़ी थी ही । यदि उदाई उसके नगर में रहे तो उसके चैन का कोई प्रश्न भी नहीं था और यदि वे वहाँ से अन्यत्र विहरण भी कर जाते हैं तो भी समस्या का उचित समाधान तो नहीं । वह तो माखो के आगे से हटकर पीछे आ जाने जैसी बात थी ।

राजर्षि अस्वस्थ थे, अतः औषधि-सेवन भी करते थे । राजा उन्हें मरवाना चाहता था, पर प्रकट रूप में नहीं, प्रच्छन्न रूप में । राजा ने वैद्य को बुलाया और अपने मन की बात कही । साथ ही में उसने प्रलोभन व भय दोनों दिखलाये । सकेतपूर्वक कार्य करने पर राजवैद्य की उपाधि, धन व अन्य सम्मान भी दिए जाएंगे और ऐसा न करने पर मृत्यु दण्ड भी पाना पड़ेगा । वैद्य एक बार कसमसाया, किन्तु राजा के आदेश से उसने ऐसा करना स्वीकार कर लिया ।

राजर्षि वैद्य के घर दवा लेने के लिए आए । वैद्य ने उन्हें रोग और औषधि का विशेष रूप से विश्लेषण करते हुए बड़ी भक्ति के साथ दवा दी । साथ ही में कहा—मन्ते ! यह दवा दही में लेने की है । आप और कहा गवेषणा करेंगे । मेरे यहाँ प्रासुक जोगवाई है । आप कृपा करें । राजर्षि ने उसकी भक्ति देखकर वहाँ से दही लिया और उसके साथ ही दवा ले ली । दही जहर मिश्रित था । राजर्षि इससे अनभिज्ञ थे । पर ज्यों ही वे अपने स्थान पर पहुँचे, जहर ने अपना प्रभाव दिखलाना आरम्भ कर दिया । शरीर में अपार वेदना व बेचैनी शुरू हो गई । फिर भी राजर्षि एक

समत्वयोगी थे। उन्हें वैद्य की भक्ति व दवा पर सन्देह हुआ, किन्तु वे साधक से सिद्ध बनने जा रहे थे, अतः राग और द्वेष दोनों से ऊपर उठे। वैद्य के प्रति उनके मन में तनिक भी शत्रुता नहीं थी। वे अपने शरीर सम्बन्धी सभी कामों से उपरत होकर समाधिपूर्वक अध्यात्म-चिन्तन में लीन हो गए। भावों की उज्ज्वलता व श्रेणी बढ़ी। शरीर व आत्मा का सर्वथा पार्थक्य नजर आने लगा। अपार शारीरिक वेदना भी उनकी आत्म-शक्ति को व्यथित नहीं कर सकी। वे भौतिक सतह से कुछ ऊपर उठे, अद्विज्ञान की प्राप्ति हुई। अपने ज्ञान-बल से उन्होंने राजा केशी का सारा षड्यन्त्र जान लिया, फिर भी उसके प्रति उनके मन में शत्रुभाव नहीं आया। उन्होंने यही सोचा, इसके द्वारा दिए गए जहर से मेरे किसी भी आत्मभाव में न्यूनता आने वाली नहीं है। वह मेरी किसी भी साधना में बाधक नहीं है, किन्तु मैंने इसे राज्य सौंपकर आसक्त बना दिया। मैंने अपना व अभीचकुमार का तो लाभ सोचा, किन्तु इसकी इसमें कितनी हानि हुई है, इसका अनुमान कौन लगा सकता है? उदाई राजर्षि इस प्रकार अपने अध्यात्म विचारों में आलूट हुए और उन्होंने क्रमशः गुण-स्थानों के आरोहण में कर्मक्षय कर केवल ज्ञान प्राप्त किया और कुछ एक क्षणों में निर्वाण के शाश्वत सुखों में स्वयं को आरोहित कर लिया।

राजर्षि की धर्मपत्नी पद्मावती अपना आयु शेष कर देव-योनियों में उत्पन्न हुई थी। उसका राजर्षि के प्रति घनिष्ठ अनुराग था। जब उसने राजर्षि के प्रति की गई इस प्रकार की अक्षम्य आशातना को जाना तो वह बहुत कुपित हुई और उसके परिणामस्वरूप सारे वित्तभयपुर नगर को केवल उस कुम्भकार के घर को छोड़ कर ध्वस्त कर दिया। हजारों-लाखों व्यक्ति मारे गए और सारा नगर श्मशान-सा बन गया।

*

*

*

केशीकुमार के राजा बन जाने के बाद अभीचकुमार समस्या में पड़ गया। वह क्या करे? कहा रहे? ये प्रश्न उसके सामने आने लगे। केशीकुमार के राज्य में तिरस्कृत जीवन व्यतीत करना उसे किसी भी दृष्टि से उचित न लगा। और कोई उसका आश्रय था नहीं। बहुत कुछ सोच-विचार के बाद अपने परिवार को साथ लेकर वित्तभयपुर नगर से वह चम्पापुरी में राजा कौणिक के पास आ गया। राजा कौणिक अभीचकुमार की मौसी का लडका था। दोनों की परस्पर अगाध मैत्री थी, अतः अभीचकुमार सम्मान के साथ वहाँ रहने लगा।

अपने नगर व चम्पापुरी में उसे कोई विभेद नजर नहीं आया। वहाँ सब तरह का आनन्द व उसकी पूरी प्रतिष्ठा थी। किन्तु राजर्षि उदाई के प्रति उसकी वही मलिन भावना थी। जब अपने राज्य की उसे स्मृति हो आती, उसका मन दुःख से भर जाता और अपने पिता के प्रति अत्यन्त घृणा व ग्लानि होती। अभीचकुमार यहाँ तक सोचने लगा कि वह मेरा पिता नहीं, बड़े से बड़ा दुश्मन था।

उदाई राजर्षि और अभीचकुमार]

[४७७]

राजर्षि के प्रति कभी उसकी अच्छी भावना नहीं बनी । क्रमशः शत्रुता बढ़ती ही गई । वह बारह व्रतधारी श्रावक भी बन गया, पर उसके दिल से शत्रुभाव का वह शल्य नहीं निकला । वह सामायक, पौषध व पाक्षिक प्रतिक्रमण भी करता । चौरासी लाख जीव-योनि से 'खमतखामना' भी करता, किन्तु उदाई से नहीं करता । अन्तिम समय में उसने पन्द्रह दिन का सथारा (अनशन) भी किया, किन्तु आत्मा में वह एक अकल्पनीय शल्य रह गया, जिसके परिणामस्वरूप वह वहां से अपना आयु शेष कर असुर देव हुआ । शुद्ध रूप में श्रावक के व्रतो का पालन करने वाला वैमानिक देव ही होता है, परन्तु विराधक हो जाने से देवों की असुर नामक निम्न कोटि में उत्पन्न हुआ ।



सर्मप्रकाश से परिवार-नाश

एक सेठ अपनी पत्नी के साथ रह रहा था। परिवार में केवल दो ही प्राणी थे, पर सयोग की बात थी, दोनों का भी भरण-पोषण पूरा नहीं हो पा रहा था। सेठानी ने सेठ से अपने मैके चलने का आग्रह किया। सेठ कुछ दिन तो उसकी बात टालता रहा, पर एक दिन उसने पूरा जोर लगा दिया। उसने कहा—यहाँ रोटी के लिए लाले पड़ रहे हैं। घन्घा कोई है नहीं। मैके चलोगे तो सम्भव है कोई घन्घा हाथ लग जाए। यदि न भी लगा तो भूखे तो नहीं रहेगे। सेठ ने बात मान ली और दोनों ही पैदल चल दिए। रास्ते में एक कुआँ आया। सेठानी का मन कुटिलता से भर गया। उसने सेठ से पीने के लिए पानी मागा। कुआँ आ गया था, अतः सेठ ने कहा—कुएँ पर चलो। कुछ विश्राम भी कर लेगे और पानी भी पीयेंगे। दोनों कुएँ पर आ गए। सेठ पानी निकालने के लिए कुएँ में झुका। सेठानी ने मौका देखकर उसे धक्का दे दिया और स्वयं अकेली ही चल दी। पीहर में जाकर बात बनादी कि हम तो यहाँ आ रहे थे। रास्ते में पानी पीने के लिए कुएँ पर चढ़े। सेठजी को चक्कर आ गया। मैंने बचाने का बहुत प्रयत्न किया, किन्तु वे बच न सके, गिर ही पड़े। सभी पारिवारिकों की उसके प्रति सहानुभूति उमड़ पड़ी और वह वहाँ अपने वैधव्य के साथ रहने लगी।

सेठ ज्यों ही कुएँ में गिरा, सम्मल गया। बीच में ही एक छज्जा उसके हाथ लग गया। उसने उसे पकड़ लिया और धीरे-धीरे शान्त होकर उस पर चढ़ बैठ। तकदीर की बात थी, थोड़ी ही देर बाद उधर से एक सौदागरो का काफिला आ गया। उन्होंने भी उसी कुएँ पर कुछ देर के लिए विश्राम किया। पानी खींचा। भीतर बैठे हुए सेठ ने आवाज लगाई तो उन्होंने उसे निकाल लिया। सेठ ने आप बीती उन्हें नहीं बताई, अपितु बात यों ही टाल दी। वह भी उन सौदागरो के साथ हो लिया।

दुर्जन की सगति से सज्जन के अच्छे दिन भी बुरे हो जाया करते हैं और सज्जन की सगति से दुर्जन के बुरे दिन भी अच्छे। जो जिसे प्रभावित कर देता है, उसका ही प्रतिबिम्ब दूसरे पर पड़ जाया करता है। अपनी पत्नी के साथ सेठ को नाना

प्रकार की यातनाएँ फैलनी पड़ी थी और इन सौदागरों के सहवास में वे यातनाएँ दूर हो गई और सेठ पुनः सेठ बन गया। अच्छे रुपये कमा लिए। सबके साथ मैत्री से रहता और प्रमाणिकता रखता। उसके दिल में सबके लिए और सबके दिल में उसके लिए अनूठा आदर हो गया।

धन कमाने के बाद सेठ को फिर अपना घर बसाने की सूझी। सोचा, दूसरी शादी कर लूँ, किन्तु जचा नहीं। वह अपने ससुराल आया। पत्नी ने उसे देखा तो हक्की-बक्की रह गई। सेठ चतुर था, अतः उसने कलई नहीं खुलने दी। सारी घटना को समेट लिया और पत्नी को लेकर अपने घर आ गया। कुछ वर्षों बाद उसके एक लड़का हुआ। बड़े होने पर उसका भी विवाह कर दिया। दो प्राणियों के घर में चार प्राणी हो गए। किन्तु बहू का स्वभाव सास से भी चण्ड था। वह हर किसी से झगड़ लेती और घर में आतंक बनाए रखती। सेठ और उसका पुत्र, दोनों ही परेशान रहते थे। सास और बहू की तो एक अणु भी नहीं पटती थी। छोटी-छोटी बात पर झगड़ पड़ती थी और एक दूसरी का इस तरह से अपमान करती जैसे कि एक दूसरी का इस घर से कोई वास्ता ही न हो। पिता और पुत्र सब कुछ देखते रहते। उनके बीच-बचाव से भी समस्या सुलझी नहीं, अपितु उलझती ही गई। अन्ततः हार मानकर दोनों ने ही दोनों को कहना छोड़ दिया।

पैर में लगी हुई शूल की नोक भी जब असह्य पीड़ा कर सकती है, तब हृदय में लगी हुई शूल की वेदना का तो कहा ही क्या जा सकता है? प्रिय व मधुर शब्द हृदय को जितना नहीं सहलाते, मर्म-भेदी शब्द उससे भी शतगुण अधिक हृदय को कुरेद देते हैं। सेठ एक दिन भोजन कर रहा था। सेठानी परोस रही थी। उसकी थाली में अचानक सूरज की किरणें पड़ीं तो उसका तड़का सेठ के मुँह पर पड़ने लगा। सेठानी ने अपनी साड़ी का पल्ला थोड़ा ऊँचा किया। तड़का पड़ना बन्द हो गया। सेठ को इस समय कुएँ में गिराने वाली घटना याद आ गई, अतः उसके चेहरे पर थोड़ी-सी हँसी दौड़ गई। रसोई में बैठी बहू ने यह सारी घटना देखी। उसे लगा, इसके पीछे कोई रहस्य अवश्य है। यदि मैं इसे किसी भी तरह जान सकूँ तो फिर मेरे सामने ऊँचा मुँह कर बोलने का सास का दुस्साहस तो नहीं रहेगा।

काफी रात बीतने पर थका-मादा लड़का घर आया। पुत्र-वधू तो उसकी प्रतीक्षा में बैठी ही थी। सब कुछ छोड़कर उसने पहले-पहल अपनी दिन बीती सुनाई और उसका मूल जानने के लिए आग्रह करने लगी। लड़के ने उसे बहुत समझाया, पर उसने तो एक भी नहीं सुनी। अपने हठ पर अड़ी रही। लड़के ने भी और कोई मार्ग न देखकर पिता से पूछ ही लिया। सेठ ने उसे नहीं पूछने के लिए जोर दिया, किन्तु भवितव्यता के आगे किसी की भी कुछ नहीं चला करती। पिता ने पुत्र से वह सारी घटना बता दी और पुत्र ने अपनी श्रीमती से। सुनते ही वह फूली नहीं समाई।

दो-चार दिन ही बीते होंगे। सास और बहू परस्पर लड़ पड़ी। बहू के पास अच्छक बाण था, अतः उसने उसका सास पर प्रयोग कर लिया। वह बोल पड़ी— 'तू आज किस मुह से बोल रही है। पति-भक्ता तो ऐसी है कि मौका पाते ही पति को तो कुए में धकेल देती है। याद कर अपने पिछले कुकर्मों को।' सेठानी को काटो तो खून नहीं। वह पथरा गई। उसने आगा-पीछा कुछ भी नहीं सोचा। ऊपर कमरे में गई और फासी खाकर मर गई।

सेठ घर आया। उसने सेठानी के बारे में पूछा तो बहू ने तपाक से उत्तर दे दिया— 'मैं क्या उसके पीछे-पीछे डोलती हूँ। बैठी होगी कहीं इधर-उधर। अपने आप आ जाएगी, चिन्ता की कौन-सी बात है।' सेठ समझ गया कि आज खूब जोरो का युद्ध हुआ है। वह सेठानी को खोजता हुआ ऊपर चला गया। उसे फासी खाकर लटकते हुए देखा। उसका हृदय रो पड़ा। इस हत्या का निमित्त और कोई नहीं है। यदि मैं लड़के से वह घटना नहीं बताता तो यह अनर्थ नहीं हो पाता। दुःख से उसे और कुछ नहीं सूझा। फासी के रस्से से उस लाश को उतार दिया और स्वयं के गले में उसे डाल लिया।

ढलते दिन खाना खाने के लिए लड़का घर आया। उसने सेठजी के बारे में श्रीमतीजी से पूछा। उत्तर मिला— 'अभी तो वे यही घूम रहे थे। सास के पीछे डोल रहे थे। सम्भव है कि ऊपर गए हों। भावी से प्रेरित वह भी ऊपर आ गया। पिता-को लटकते हुए देखा और मा का शव जमीन पर पड़ा था। उसके दिल में आया— इस पाप का निमित्त मैं हूँ। यदि मैं पिताजी से वह घटना पूछकर श्रीमतीजी को न बताता तो सम्भव है कि यह घटना न घटती। मेरी वजह से अनर्थ हुआ है। उसने सेठ के शव को नीचे उतार दिया और स्वयं लटक गया।

रसोई में बैठी बहू भोजन के लिए प्रतीक्षा कर रही थी। न तो सेठजी ही आए और न उसके पति ही, तो वह झल्ला गई। सबसे अधिक रज तो उसे इस बात का हुआ कि सारे ही ऊपर जाकर न जाने करते क्या है? अभी तक नहीं लौटे हैं तो सम्भव है कि वे मेरे विरुद्ध कोई षड्यन्त्र बना रहे हों। मुझे गफलत में नहीं रहना चाहिए। कान लगाकर कुछ सुनू तो सही। वह धीरे-धीरे जीने में चढ़ी। कोई भी काना-फुन्सी सुनाई नहीं दी। वह और ऊपर चढ़ी फिर भी कुछ भी सुनाई नहीं दिया। बड़ी होशियारी के साथ कदम उठाती हुई कमरे के पास पहुँच गई। उसे इस बात की बहुत अधिक प्रसन्नता थी कि वह कितनी कुशल है कि बिना आहट किए यहाँ तक चढ़ आई और किसी के बिना कुछ जाने उनकी सारी गुप्त बातें सुन लेगी। कमरे की दिवाल पर अपने कान टिका दिए, फिर भी कुछ सुनाई नहीं दिया। वह अपनी उसी कुशलता के साथ दरवाजे के पास तक पहुँच गई, फिर भी बातें सुनाई नहीं दी। उसने अपना मुँह दरवाजे की ओर किया। देखा कि सास व श्वसुर तो लेटे पड़े हैं। ये तो मेरे विरुद्ध कोई षड्यन्त्र तो नहीं बना रहे हैं। वह कमरे में घुस आई।

वह तीनों प्राणियों के शव देखे । सास, श्वसुर व पति तीनों ही अपनी जीवन-लीला समाप्त कर चुके थे । वह घबराई । सास व श्वसुर की मृत्यु का उसे इतना कष्ट नहीं हुआ । किन्तु पति की हत्या से वह उद्धेलित हो गई । साथ-ही-साथ लोक-निन्दा का भी उसे भय लग्न । उसे भी और कोई उपाय नहीं सूझा । पति के शव को नीचे उतार दिया और वह स्वयं उस फन्दे में लटक गई ।



शालिभद्र और धन्ना

शालिभद्र राजगृह के समृद्धिशाली सेठ गोभद्र का पुत्र था। उसकी माता का नाम भद्रा और बहिन का नाम सुभद्रा था। घर में अपार वैभव था। महाराज श्रेणिक का वैभव भी उस वैभव के समक्ष पानी भरता था। इतने सम्पत्तिशाली बिरले ही होते हैं, इसीलिए व्यवसायी अपने बहीखातो में लिखा करते हैं कि गौतम स्वामी की लब्धि, धन्ना-शालिभद्र की श्रद्धा, बाहुबल का बल, कयवन्ना का सौभाग्य, अभयकुमार की बुद्धि, चक्रवर्ती भरत की पदवी, मरुदेवी माता की सुख-सम्पत्ति प्राप्त हो।

शालिभद्र अपने गत जीवन में एक ग्वाले का सगम नामक लड़का था। जब तक सगम का जन्म नहीं हुआ था, ग्वाले के घर पशु-धन भरपूर था, किन्तु सगम के जन्म के बाद क्रमशः वह घटता गया। भरापूरा परिवार भी धीरे-धीरे कम होता गया। घर में सगम और उसकी मा, केवल दो व्यक्ति बच पाए।

समृद्धि में बड़े दिन भी क्षण की तरह लगते हैं और गरीबी में क्षण भी बड़े दिन की तरह कटना मुश्किल हो जाता है। सगम और उसकी मा के लिए भी ऐसा ही हुआ। खाने के लाले पड़ गए और तन ढाकने के लिए कपड़े की भी कमी हो गई। धीरे धीरे सगम भी बड़ा होता गया। वह कुछ समझने भी लगा।

सगम अपनी मा के साथ जीवन बिता रहा था। रूखी-सूखी जो भी उसे मिल जाती, खाकर सन्तुष्ट हो जाता। एक दिन खीर खाने की चाह हुई। मा से उसने कहा। मा ने ममता भरी आँखों से निहारते हुए सगम को गोद में भर लिया। उसकी आँखें डबडबा आईं। रुन्धे गले से बोली—बेटा! अब अपने भाग्य में खीर कहा है? खीर खाने के दिन तो चले गए। आज तो सूखी रोटी और छाछ भी मिल जाये तो बहुत बड़ी बात है। एक दिन था, जबकि अपने घर दूध की नदी बहा करती थी। अड़ोस-पड़ोस के सैकड़ों व्यक्ति छाछ, दही व दूध लेने के लिए आया करते थे और मैं जी भर कर उन्हें दिया करती थी। किन्तु आज भाग्य बदल गया है, अतः किसी दूसरे को देना तो बहुत बड़ी बात है, अपने लिए भी दाने-दाने को तरसना पड़ता है।' सगम की मा बोलते-बोलते सिसकने लगी। जब

पुरानी समृद्धि की स्मृति ने और दबाव डाला तो वह फूट-फूट कर रोने लगी। मा की इतनी दयनीय स्थिति देखकर सगम भी अपने आपको रोक न सका। उसको अपनी पूर्व समृद्धि का कोई अनुभव नहीं था, पर मा का दुःख उसके लिए असह्य था। वह भी उससे अधिक रोने लगा। दोनों का रोना चीख के रूप में बदल गया। वह चीख अबोस-पडोस के मकानों तक टकराने लगी। पडोसियों ने जब उसे सुना तो दौड़कर आये। मा और सगम को ढाढस बन्वाया और रोने का कारण पूछा। मा ने एक ही वाक्य में उत्तर दिया—चने थे, तब चबानेवाले नहीं थे और जब चबाने वाले हुए तब चने नहीं हैं।

करुणा करुणा को पैदा करती है। उसमें कोमलता होती है, अतः उसकी सहानुभूति में स्वतः ही दो दिल जुट पड़ते हैं। पडोसियों ने अपने पूर्व सम्बन्धों से प्रेरित होकर खीर का सारा सामान सगम के घर पहुँचा दिया। मा ने बड़े चाव के साथ खीर पकाई और अपनी असीम ममता के साथ अपने इकलौते बेटे की थाली में उसे परोसा। सगम खीर को देखकर फूला नहीं समा रहा था। आसन बिछाकर वह बैठ गया और खीर के ठण्डी होने की प्रतीक्षा करने लगा। उसकी मा पानी भरने के लिए घर के समीपवर्ती कुएँ पर चली गई।

स्थित धूरी पर घूमनेवाले चक्र का एक भाग ऊपर होता है तो दूसरा नीचे। जब उसमें घुमाव आरम्भ होता है, तब नीचे का भाग ऊपर और ऊपर का भाग नीचे अपने आप चला जाता है। जीवन भी इसी तरह का एक घुमावदार चक्र है, जिसमें आरोह और अवरोह एक-दूसरे के बाद आते ही रहते हैं। सगम का चक्र घूमने ही वाला था; अतः उसके उपकरण भी उसी तरह जुट गए। ज्यों ही वह उतावला होकर खीर खाने के लिए बैठा, उसकी नजर गली में पड़ी। एक तपस्वी मुनि गोचरी के लिए घूम रहे थे। उसके हृदय में भक्ति उमड़ी। वह उसी समय वहाँ से दौड़ा। बाहर आया और मुनि से अपनी खीर लेने का आग्रह करने लगा। मुनि उसकी आग्रह-युक्त प्रार्थना को टाक न सके। बालक ने अपने भोले-भाले स्वभाव के अनुसार कहा—आधी खीर मैं खाऊँगा और आधी आपको दूँगा। मुनि ने अपना पात्र निकाला। सगम ने अपनी थाली में खीर को आधी-आधी बाँटने के लिए अंगुलि से देखा खींच डाली और मुनि के पात्र में बहराने लगा। खीर तरल थी, अतः वह एक साथ ही सारी की सारी मुनि के पात्र में आ गई। सगम को इससे बहुत खुशी हुई। उसे उसके लिए कोई अनुत्पाद नहीं हुआ, वह अपने आपको धन्य-धन्य समझने लगा।

मुनि अपने स्थान की ओर चले गये। सगम बैठा-बैठा अपनी थाली को देख रहा था और चिन्तन में भावनाओं का उत्कर्ष आ रहा था। उसी समय उसकी मा भी पानी भरकर वहाँ आ गई। सगम की थाली की ओर एक नजर निहारते हुए जब उसने देखा तो उसकी ममता और उम्र आई। सोचा—खीर खाने का अवसर सगम के जीवन में कोई एक-आध बार ही आया है। सम्भव है, यह

अभी तृप्त नहीं हुआ है। बच्चा है। मैंने तो अपने जीवन में बहुत खीर खाई है। मा ने कुछ बची हुई खीर भी उसकी थाली में परोस दी। सगम ने उसे खाय़ा और हाथ धोकर उठ गया।

रोष के साथ कहे गए शब्द तो कई बार केवल हृदय में ही खाई पैदा करते हैं, किन्तु स्नेह के साथ कहे गए शब्द कभी जीवन के दो टुकड़े भी कर देते हैं। सगम के लिए भी ऐसा ही हुआ। ममता के साथ मा के मुह से शब्द निकल पड़े— 'सारी ही खीर खा चुका है?' सगम केवल मुस्कराया। वह दो कदम आगे बढ़ा होगा, पेट में दर्द होने लगा। दो-एक क्षण बाद वह असह्य हो गया। उसने मा को पुकारा। मा आई, किन्तु वह कुछ भी बोल न सका। पेट को पकड़े-पकड़े कुछ देर सिसकिया भरता रहा। मछली की तरह तड़फने लगा और बातों ही बातों में उसने सदा के लिए इस नश्वर ससार से आखिरी मूद ली। मा पर वज्र का-सा आघात लगा। उसकी आशा का एक ही तो दीपक था और वह भी असमय में इस प्रकार बुझ गया।

सगम अपने उस पहले चोले को छोड़कर गोभद्र सेठ के घर शालिभद्र के रूप में आया। अतुल धन था, अतः सुख की क्या कमी थी? बचपन में सुखपूर्वक लालन-पालन हुआ और यौवन में लावण्यवती बत्तीस कुमारियों के साथ विवाह-संस्कार हुआ। कुछ वर्ष पश्चात् शालिभद्र के ऊपर से गोभद्र की छाया उठ गई। किन्तु उसकी मा भद्रा घर का सारा कार्य-भार सम्भाल लेती। शालिभद्र कभी अपने आवास से नीचे नहीं उतरा। सातवीं मजिल पर अपनी रमणियों के साथ आनन्दपूर्वक रहता।

एक बार रत्नकम्बल के व्यापारी सौलह कम्बल बेचने के लिए राजगृह आए। एक-एक कम्बल का मूल्य सवा लाख रुपए था। शहर में खरीदने वाला उन्हें कोई सेठ नहीं मिला। व्यापारी राजा श्रेणिक के पास पहुंचे। कम्बल महलों में भेजे गए। रानियों ने उन्हें बहुत पसन्द किया। किन्तु मूल्य अधिक होने के कारण राजा ने कम्बल खरीदे नहीं। वापस लौटा दिए। व्यापारी निराश होकर दरबार से लौट आए। धर्मशाला के बाहर निराश बैठे थे। उन्हें दुःख इसलिए अधिक हो रहा था कि जिस माल को राजा ने नहीं खरीदा, उसे खरीदने वाला अब है भी कौन?

अभावस्था की अन्वकारपूर्ण रात्रि में भी आकाश में कुछ नक्षत्र चमकते रहते हैं। कुछ एक मनीषी उनके आघात पर दिशाओं का बोध कर लेते हैं और गन्तव्य पर पहुंच जाते हैं। शालिभद्र की कुछ दासियां पानी भरने के निमित्त उसी धर्मशाला के आगे से गुजरीं। उन्हें उदास देखकर उनमें से एक ने उसका कारण पूछ ही लिया।

तुम्हें इससे क्या लेना देना है? तुम अपना रास्ता मापो। उनमें से एक व्यापारी ने यह कड़ा उत्तर दे दिया।

अक्कड़ और व्यापार का यह गठबन्धन कब से, कैसे और क्यों? एक दासी

ने कहा ।

हम दासी होकर किसी का माल नहीं बिका सकती, यह समझना भी गलत है, दूसरी दासी ने कहा ।

चतुर व्यापारी वही होता है जो प्रत्येक ग्राहक को, चाहे वह छोटा हो या बड़ा, निर्घन हो या धनवान् अपना माल दिखाता है, उससे बात करता है । ऐसा न करने वाला व्यवसाय में सफल नहीं हो सकता, तीसरी दासी ने और कहा ।

एक वृद्ध व्यापारी ने जब दासियों का उक्त कथन सुना तो उसका सिर कुछ ठनका । उसने अपने साथियों से कहा—अपने बताने में क्या लगता है ? माल बिकेगा तो ठीक है न भी बिकेगा तो अपने घर से तो कुछ जाएगा नहीं । उन्होंने रत्नकम्बल की अपनी सारी बात बतलादी ।

दासियों ने हँसते हुए कहा—बस, इतनी-सी बात के लिए इतनी मायूसी ? क्या हुआ यदि राजा ने इसे नहीं खरीदा ? क्या आप हमारे सेठ के पास गए ?

व्यापारी—कौन-सा सेठ ?

दासिया—(स्वाभिमान के साथ) सेठ शालिभद्र ।

व्यापारी—क्या वह हमारा एक कम्बल भी खरीद सकेगा ?

दासिया—आप लोग एक कम्बल की चिन्ता करते हैं । वहा यदि पहुँच गए तो जितना माल आपके पास है, उतना और लाना पड़ेगा । यह तो उनके लिए कुछ भी बहुमूल्य नहीं है । आज तक जो भी व्यक्ति उनके घर आया कभी खाली हाथ नहीं लौटा ।

व्यापारियों को दासियों के कथन से बहुत सन्तोष हुआ । वे उनके साथ हो लिए । शालिभद्र के घर पहुँचे । राजप्रासाद से भी शतगुण रमणीयता वहा उन्होंने देखी । जब पहली मजिल में प्रविष्ट हुए, उन्हें लगा कि कुछ माल तो अवश्य बिक जायेगा । दासियों ने उन्हें परिचित करते हुए बताया—यह मजिल तो नौकरो के लिए ही है । दूसरी मजिल पर पहुँचे । वह पहली से भी अत्यन्त भव्य थी । दासियों ने कहा—यह मुनीमो के रहने के लिए है । सेठ तो अभी बहुत ऊपर है । व्यापारियों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा । उन्हें यह ज्ञात हुआ कि माल तो अवश्य ही बिक जायेगा । तीसरी मजिल में पहुँचे । वहा की भव्यता तो अनुलेख्य व अकथनीय थी । व्यापारियों ने एक दूसरे से कानाफूँसी की—बहुत घूमे हैं, किन्तु ऐसा भव्य मकान तो कभी नहीं देखा । दासियों ने कहा—यहा हमारे सेठ की माताजी रहती है । आप उनसे ही बातें कर लें ।

भद्रा को सूचना दी गई । वह अपने मुलाकात वाले कमरे में आ गई । व्यापारियों ने अपना माल दिखाया । देखते ही भद्रा सेठानी ने कहा—यह तो आधा माल है । मुझे तो इससे दुगुना चाहिए ।

व्यापारियों ने कहा—माताजी ! हमारे लिए तो यह माल भी इसलिए सिर-

दर्द बना हुआ था कि राजा श्रेणिक जैसे व्यक्ति भी खरीद नहीं पा रहे थे। हमें क्या पता था कि आप जैसे श्रेष्ठशाली भी यहां रहते हैं, जो एक साथ बत्तीस कम्बल भी खरीद सकते हैं।

भद्रा ने अपने मुनीमो से कहा—‘अविलम्ब बीस लाख स्वर्णमुद्राएं दे दी जाये। गिनने में समय लगेगा, अतः तोलकर दे दो।’ भद्रा की उदारता व मिलनसारिता से व्यापारी बहुत प्रभावित हुए। दासियों का आभार मानते हुए वे अपने घर की ओर चल दिये।

सेठानी भद्रा ने वे सौलह कम्बल अपनी बत्तीस पुत्र-वधुओं में बांट दिये। बहुओं को वे पसन्द नहीं आये, किन्तु सास के वात्सल्य के कारण उन्होंने एक दिन उसे ओढ़ा और दूसरे दिन अपने मकान के पीछे उन कम्बलों को गिरा दिया। सेठ की महतरानी ने उन्हें उठा लिया। वह राजप्रासाद की भी महतरानी थी। उसे वह कम्बल बहुत अच्छा लगा, अतः उसे ओढ़कर राजमहलों की सफाई के लिए गई। रानी ने उसे देख लिया। उसे भी वह कम्बल भा गया, अतः उसे अपने पास बुलाया और पाने का सारा वृत्तान्त उससे पूछा। महतरानी ने वह सारी घटना कह सुनाई। रानी के मन में बहुत डाह हुई। राजा को कोसते हुए उसने शालिभद्र के ऐश्वर्य की भूरि-भूरि प्रशंसा की और अपने तुच्छ राजकीय वैभव पर उसने थूका। रानी ने राजा से कहा—आपसे एक भी कम्बल नहीं खरीदा गया और एक ही सेठ ने सारे कम्बल खरीद लिये और एक दिन काम में लेकर सेठानियों ने उन्हें फैंक भी दिया। यह है ऐश्वर्य। हम तो केवल झूठे घमण्ड में हैं।

श्रेणिक के मन में यह बात जर्जी नहीं, पर बात सत्य थी, अतः अस्वीकार भी वह कैसे कर सकता था? राजा ने शालिभद्र से मिलने की ठानी। उसने अपना विशेष दूत भेजा और सन्देश कहलवाया। दूत मा भद्रा के पास पहुंचा। भद्रा ने निवेदन करवाया कि इसके लिए आप ही यहां पधारने का कष्ट उठाये। मेरा लड़का इतना सुकोमल है कि वह वहां तक पहुंचना तो दूर, मकान से नीचे भी नहीं उतर पायेगा।

राजा श्रेणिक को भद्रा के कथन से और भी आश्चर्य हुआ। वह उसे देखने के लिए स्वयं शालिभद्र के घर आया। राजा ज्यों-ज्यों मकान में प्रविष्ट हुआ, उसे लगा जैसे कि वह स्वर्ग में आ गया हो। उसके राजमहल उस मकान के सम्मुख गरीब की झोपड़ी जैसे लग रहे थे। भद्रा ने अपनी मजिल में राजा का बहुत सत्कार किया। पुत्र को नीचे बुलाने के लिए दासियों के द्वारा उसने कहला भेजा—‘बेटा! अपने नाथ घर आये हैं, अतः तुम नीचे आओ और उनका स्वागत करो।’

शालिभद्र ने अपनी स्वाभाविक भाषा में उत्तर दिया—‘मा! मुझे क्या पूछती हो? नाथ का जितना भी मूल्य हो दे दो और अपने झण्डार में डाल दो। अपने घर घन की तो कोई कमी नहीं है?’

दासियो ने श्रेणिक के सम्मुख ही शालिभद्र का वह कथन कह सुनाया । श्रेणिक कुछ समझ नहीं पा रहा था । भद्रा ने दासियो के द्वारा फिर कहलवाया— यह कोई भण्डार मे डालने की वस्तु नहीं है, अपितु अपने स्वामी-रक्षक है । तू जल्दी ही नीचे आ और उनके चरणों मे नमस्कार कर ।

भद्रा का सन्देश दासियो ने शालिभद्र तक पहुँचा दिया । किन्तु शालिभद्र कुछ उत्तमन-सा हो गया । उसने कभी कल्पना भी नहीं की थी कि उसके ऊपर भी कोई रक्षक या मालिक है । मा के बुलाने से वह नीचे तो आया, पर एकदम क्लान्त हो गया । उसने श्रेणिक को नमस्कार किया । श्रेणिक ने उसे गोद मे भर लिया । उसे ऐसा लगा जैसे कि मक्खन को हाथ मे ले लिया हो । राजा का सुकोमल स्पर्श भी शालिभद्र को बहुत कर्कश लगा और उसकी गर्मी से सारे शरीर मे पसीना चूने लगा । श्रेणिक ने उसे आशीर्वाद दिया और शीघ्र ही वह अपने महलों मे चला गया । मा के सन्देश मे आया हुआ नाथ शब्द उसके दिल मे बार-बार खटकने लगा । बेचैनी होने लगी और उस एक शब्द ने ही शालिभद्र के चिन्तन को मोड़ा और साथ ही साथ उस चिन्तन ने उसके जीवन को । स्वर्गीय आनन्द के उपभोग मे मेरा भी और कोई नाथ है, यह कल्पना भी नहीं थी । किन्तु है तो इसका तात्पर्य यह है कि जिसे मैंने सारभूत समझ रखा था, वह नि सार है, भार है और केवल व्यवहार है । मेरा स्वामी तो वस्तुतः मैं ही हूँ । मेरे पर दूसरे का अधिकार हो, यह कैसे सहन किया जा सकता है ।

शालिभद्र का चिन्तन और ऊर्ध्वगामी हुआ । उसे स्वत्व और परत्व मे स्पष्टतः भेद प्रतीत होने लगा । उसे लगा, शरीर को तो मैंने अपना समझ रखा है, किन्तु यह भी मेरा केवल भ्रम है । शरीर मेरा कहा है ? यह तो आत्मा पर एक आवरण है जो उसे सर्वथा आच्छादित व अधिकृत किये हुए है । मुझे राजा का प्रभुत्व स्वीकार नहीं है, किन्तु जब शरीर की अधीनता मे व उसकी सेवा-शुश्रूषा मे कितने वर्ष बिता दिये । इस शरीर के कारण ही तो मैं इतना व्यामूढ बन गया हूँ कि मुझे जब मे ही सार्वभौम आनन्द की अनुभूति होती है । अपनी चेतना को तो सर्वथा भूल ही चुका हूँ । आज यदि इस जब ससार को ही सब कुछ न मानता तो मेरा नाथ भी कोई दूसरा न होता । मैं ही तो अपना नाथ हूँ । मैं असावधान रहा, जिसका परिणाम यह हुआ कि मेरे पर दूसरे का स्वामित्व हुआ ।

विचारों की गहराई मे इस प्रकार डुबकिया लगाते हुए शालिभद्र ने एक बहु-मूल्य मुक्ता पा लिया । अपनी बत्तीसो पत्नियों को आह्वान करते हुए उसने अपना निर्णय सुना दिया—मैं अब इस वासना के कीचड़ मे नहीं रह सकता । जीवन का एक स्वर्णिम भाग इसके पीछे नष्ट कर दिया, किन्तु अब मेरे लिए यह सब कुछ असह्य है । मैं आसक्ति से विरक्ति की ओर बढ़ा हूँ, अतः दीक्षित होकर आत्म-तत्त्व को पाना चाहता हूँ ।

शालिभद्र का यह असभावित निर्णय बत्तीसो ही पत्नियों के लिए बच्चाघात से कम न था। वे अन्यमनस्क-सी एक दूसरी का मुह ताकने लगी। किसी की भी जबान से एक शब्द नहीं निकला। उनकी आखें पथरा गई और हृदय स्पन्दन रहित हो गया। अत्यधिक दुःख के कारण उनके आसू भी लुढ़क न सके। वे भी भीतर ही गर्मे निश्वास के साथ विलीन हो गये। शालिभद्र ने ही उनका मौन भंग करने के लिए कुछ शब्द और कहे। वे उसके पैरों में गिर पड़ी और कातरभाव से अपने हृदय को खोलने भी लगी। शालिभद्र ने कहा—कुछ भी हो, मेरा अपना निर्णय अटल है। उसमें परिवर्तन नहीं हो सकता। मैं तुम्हारे अनुराग में बन्धा रहा, उसका ही तो यह परिणाम आया कि मेरा नाथ कोई और दूसरा ही हो गया।

पत्नियों ने शालिभद्र को लुभाने का अथक प्रयत्न किया, किन्तु वे सफल न हो सकी। उनके धीरज का बाध टूट गया। वे फूट-फूटकर रोने लगी। जिन महलों में स्वर्गीय आनन्द के फुवारे फूटते थे, वहाँ कुहराम मच गया। एक शालिभद्र सुख की अनुभूति करता था, किन्तु सैकड़ों पारिवारिक व दास-दासी विलखते थे। शालिभद्र गृहवास को छोड़ने के लिए अकुला रहा था। वह उसी समय उस रमणीय प्रासाद से उतर कर एक भिक्षु का जीवन जीना चाहता था, किन्तु सबके दुःख ने उसके मन में एक प्रकार की हल्की-सी ममता उभार दी। अपने निर्णय में आशिक सशोधन करते हुए उसने कहा—मैं तुम सबके लिए एक कार्य कर सकता हूँ।

सबके ही दिल में आशा की उज्ज्वल आभा फूट निकली। सभी पूछ बैठी—क्या ?

आज ही मैं तुम को नहीं छोड़ूँगा, अपितु प्रतिदिन एक-एक को छोड़ूँगा। इस प्रकार तुम सबको एक साथ कष्ट न होगा और बत्तीस दिनों में मैं अपने निर्णय पर पट्ट चूकूँगा, शालिभद्र ने सान्त्वना के शब्दों में कहा।

सभी पत्नियों ने इस कथन को इसलिए सहर्ष स्वीकार कर लिया कि एक बार यदि लक्ष्य चुका दिया जाता है तो फिर तो सब कुछ हो सकता है। महलों में फिर वही राग-रग होने लगा। शालिभद्र अपनी प्रतिज्ञानुसार प्रतिदिन एक-एक पत्नी से अपने आपको अलग करने लगा।

शालिभद्र की बहिन का नाम सुभद्रा था। उसका विवाह राजगृह के एक प्रतिष्ठित सेठ धन्ना के साथ हुआ था। धन्ना के घर शालिभद्र जितनी समृद्धि तो नहीं थी, पर उसके पास अच्छी-खासी सम्पत्ति थी। एक दिन अपनी अशोक वाटिका में स्नान के समय सुभद्रा अपने पति की पीठ पर पीठी मल रही थी। उस समय उसे अपने एकमात्र भाई शालिभद्र की स्मृति हो आई। उसके दीक्षित होने के सवाद से उसकी छाती भर आई। आखें डबडबा आईं और बहुत कुछ रोकने पर भी आसू छलक पड़े। गर्म-गर्म बूँदें सेठ की पीठ पर पड़ी। धन्ना ने अपनी गरदन धुमाई और सुभद्रा के चेहरे पर नजर गड़ाई। सुभद्रा को रोते देखकर उसे आश्चर्य व दुःख दोनों हुए। सान्त्वना के स्वर

मे उसने उससे रोने का कारण पूछा । सुभद्रा अपने दिल को रोक न सकी और अधिक फूट-फूटकर विलपने लगी । वन्ना ने और अधिक अनुराग व आग्रह के साथ पूछा । सुभद्रा ने अपनी व्यथा व्यक्त करते हुए कहा—मेरा भाई विरक्त हो गया है । वह प्रतिदिन अपनी एक-एक पत्नी का त्याग करता है । इस प्रकार वह बहुत जल्दी इस भौतिक ससार को छोड़ देगा । मेरे एक ही तो भाई हैं और वह भी जब दीक्षित होने जा रहा है तो दिल उमड़ आया ।

घन्ना ने स्मित हास्य के साथ कहा—तेरा भाई तो कायर जान पड़ता है ।

सुभद्रा—यह आप कैसे कह रहे हैं ? अपार सम्पत्ति व सुख को छोड़ना क्या कम बात है ?

घन्ना—यदि उसे छोड़ना ही है तो फिर विलम्ब किस बात का और प्रतिदिन एक-एक छोड़ने का क्या तात्पर्य ? जिसका मन सुदृढ होता है, वह तो ऐसा नहीं करता है । यदि वह ऐसा करता है तो मुझे तो इसमें सन्देह है और इसीलिए कह सकता हूँ उसमें पुरुषार्थ नहीं, कायरता है ।

सुभद्रा—पतिदेव ! कहना सरल है, किन्तु करना बहुत कठिन है । सचमुच यदि बात ऐसी ही है तो इस वीरता की पहल आप क्यों नहीं कर दिखाते ? 'पर उपदेश कुशल बहुतेरे, जे आचरहि ते नर न घनेरे' दूसरो की ओर अगुली उठाना आसान है, किन्तु ऐसा कर दिखाना लोहे के चने चबाना है । उभरते हुए जीवन में धन-सम्पत्ति, ऐश्वर्य व आराम को पीठ दिखाने वाले मेरे भाई जैसे बिरले ही होंगे ।

घन्ना—तो मैं इस तेरी चुनौती को स्वीकार करता हूँ और प्रतिज्ञा करता हूँ कि अब से सयम जीवन ही जीऊंगा । इस घर, सम्पत्ति व परिवार से मुझे कुछ भी नहीं लेना-देना है । (अपने आसन से खड़े होकर) ले, अब जाता हूँ ।

सुभद्रा एक बार समझ न पाई कि आखिर यह हो क्या रहा है । घन्ना सेठ जब नेह तोड़कर जाने लगा, सुभद्रा उसके पाव पकड़कर बैठ गई । अपनी धृष्टता के लिए बार-बार क्षमा मागने लगी, किन्तु घन्ना का एक ही उत्तर था—बड़े हुए कदम पुनः नहीं लौटते । सुभद्रा और घन्ना की अन्य पत्नियाँ विलखती रही, पर उसने एक भी न सुनी । सब कुछ त्याग कर वह निकल पड़ा । शालिभद्र के घर आया और उसे ललकारा । शालिभद्र की भावना को और पुष्ट किया तथा अपने साथ लेकर चल पड़ा । दोनों भगवान् श्री महावीर के चरणों में उपस्थित हुए और वहाँ दुष्कर साधु-जीवन स्वीकार कर लिया ।

कोमलता और कठोरता आपेक्षिक होती है । व्यक्ति की भावना व कल्पना ही प्रत्येक पदार्थ में नाना अध्यारोप करती है, जिनके आधार पर यह अभिव्यक्ति होती है कि अमुक कोमल है व अमुक कठोर । शालिभद्र जैसे व्यक्ति के लिए जीवन में राजा श्रेष्ठिक का कर-स्पर्श भी कठोर था और इस जीवन में नुकीले काटे व पत्थर का स्पर्श भी कुछ प्रतीत नहीं होता । शहरो व जगलो में स्थविर मुनियों के सान्निध्य में

अपनी साधना व उत्कट तपस्या करते हुए अपनी आत्मा को भावित करने लगे । घोर तपश्चरण के द्वारा उन दोनों ने ही अपने शरीर का पूरा सार खींचा और समाधिपूर्ण पण्डितमरण प्राप्त किया ।



जिनरक्ष और रयणादेवी

चम्पानगरी में माकन्दी सार्यवाह के जिनपाल और जिनरक्ष दो पुत्र थे। उन दोनों भाइयों ने ग्यारह बार लवण समुद्र की यात्रा की थी और अपने व्यापार से बहुत सारा धन एकत्रित किया था। बारहवीं बार वे फिर लवण समुद्र की यात्रा के लिए प्रस्तुत हुए। माता-पिता ने निषेध किया, पर उन्होंने वह नहीं माना और यात्रा में चल पड़े। जब जहाज समुद्र के बीच पहुँचा तो बड़े जोर का तूफान आया। समुद्र की उत्तुंग लहरों से टकराकर जहाज नष्ट-भ्रष्ट हो गया। टूटा हुआ एक काष्ठ-खण्ड डूबते हुए दोनों भाइयों के हाथ लगा। उस पर बैठकर दोनों भाई सहज गति से तैरते हुए रत्नद्वीप नामक स्थल पर जा पहुँचे। उस द्वीप की स्वामिनी का नाम रयणादेवी था। उसने उन दोनों को देखा और उन्हें अपने आश्रय में ले लिया। तब से वे दोनों भाई उस कामातुर देवी के साथ भोग-विलास करते हुए वहीं रहने लगे।

एक दिन लवण समुद्र के अधिष्ठायाक सुस्थित नामक देव की आज्ञा से वह रयणादेवी लवण समुद्र की सफाई करने के लिए गई। जाते समय उन दोनों भाइयों को उसने कहा—दक्षिण दिशा के वन खण्ड को छोड़कर और किसी भी दिशा के वन खण्ड में भ्रमण कर सकते हो। पीछे से दोनों भाइयों ने इच्छानुसार भ्रमण किया। सहसा मन में आया, दक्षिण दिशा के लिए देवी ने निषेध क्यों किया? वहाँ अवश्य कोई रहस्य है। हमें चलकर देखना चाहिए। वहाँ जाकर उन्होंने देखा, सैकड़ों मनुष्यों की हड्डियों के ढेर लगे हुए हैं और एक जीवित पुरुष शूली में पिरोया पड़ा है। यह स्थिति देखकर वे बहुत घबराए और उस मरणासन्न पुरुष से कुछ जानना चाहा। उसने कहा—जहाज के टूट जाने से मैं यहाँ आ पहुँचा था। मैं काकन्दी नगरी में रहने वाला घोड़ों का व्यापारी हूँ। बहुत दिनों तक यह देवी मेरे साथ काम-भोग भोगती रही। मेरे द्वारा एक छोटा-सा अपराध हो जाने पर उसने मुझे यह दण्ड दिया है। तुम दोनों की भी किसी दिन यही स्थिति होने वाली है। पहले भी इसने कितने लोगों को मारा है, ये हड्डियों के ढेर स्वयं बता रहे हैं। यह सुनकर दोनों भाई बहुत भयभीत हुए और वहाँ से भाग निकलने का उपाय उससे पूछने लगे। उसने बताया, पूर्व दिशा के वन खण्ड में शैलक नामक एक यक्ष रहता है। उसकी आराधना करने से वह तुम्हें

इस देवी के प्रपञ्च से छुड़ा सकता है। दोनों भाई पूर्व दिशा के वन खण्ड में आए और उन्होंने शैलक यक्ष की आराधना की। प्रसन्न मुद्रा में यक्ष प्रकट हुआ और कहने लगा, मैं तुम्हें तुम्हारे इच्छित स्थान पर पहुँचा दूँगा, किन्तु वह देवी मार्ग ही में आकर तुम्हारे से अनुनय-विनय करेगी और अपने हाव-भाव से तुम्हें मोहित करना चाहेगी। यदि तुम मन से भी उसकी ओर विचलित हुए तो मैं तुम्हें बीच ही में छोड़ दूँगा। दोनों भाइयों ने कहा—हम ऐसा नहीं होने देंगे। किसी भी प्रकार आप हमें ले चलिए। यक्ष ने घोड़े का रूप बनाया और दोनों भाइयों को अपनी पीठ पर बैठ जाने के लिए कहा। दोनों भाई पीठ पर बैठे और घोड़ा पवन वेग से आकाश मार्ग में उड़ने लगा। देवी अपने स्थान पर लौटी और दोनों भाइयों को वहाँ नहीं देखा तो उसे बहुत क्षोभ हुआ। उसने अपने देव सम्बन्धी ज्ञान से तत्काल यह पता लगा लिया कि शैलक यक्ष की पीठ पर बैठकर दोनों भाई आकाश मार्ग से जा रहे हैं। वह तत्काल वहाँ पहुँची और उन्हें मोहित करने के लिए अनेक हाव-भाव दिखलाने लगी, अपने विरह की असह्य वेदना अभिव्यक्त करने लगी। जिनपाल डूब रहा, विचलित नहीं हुआ। जिनरक्ष को उसकी अम्यर्थता पर अनुकम्पा आई और वह रागपूर्वक उसकी ओर देखने लगा। यक्ष ने उसे विचलित हुआ समझकर पीठ से नीचे गिरा दिया। नीचे गिरते हुए जिनरक्ष को देवी ने खड्ग में पिरो लिया और उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिए। जिनपाल सकुशल चम्पानगरी में पहुँचा। अपने माता-पिता से मिला। कुछ समय तक सासारिक सुख भोग कर उसने दीक्षा ग्रहण की। आयु शेष कर सौ धर्म देवलोको में पहुँचा। वहाँ से महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होकर मोक्ष प्राप्त करेगा।



नमि राजर्षि

मिथिला नगरी मे नमि नामक राजा था । एक बार उसके शरीर मे दाह-ज्वर का रोग उत्पन्न हुआ । असह्य वेदना से राजा व्याकुल हो उठा । उसे कुछ नहीं सुहाता । यहाँ तक कि रानिया उसके शरीर पर विलोपन करने के लिए चन्दन घिस रही थी और उनके ककरणों से जो शब्द हो रहा था, वह भी राजा के लिए असह्य हो गया । राजा ने कहा—शब्द बन्द होना चाहिए । रानियों को यह सूचना दी गई तो उन्होंने एक-एक करण अपने हाथों मे रखा । शेष उतारकर एक ओर रख दिए । शब्द बन्द हो गया । कुछ ही समय पश्चात् राजा ने कहा—शब्द बन्द कैसे हो गया ? क्या रानियों ने चन्दन घिसना बन्द कर दिया ? उत्तर मिला—किसी भी रानी के हाथ मे दो ककरण नहीं है, एक-एक ही ककरण हर एक के हाथ मे है , इसलिए शब्द नहीं होता । नमि राजा को इस एक और अनेक की घटना से प्रतिबोध मिला । एकाकीपन मे शान्ति है । अनेकता ही सबषों का कारण है । रोग शान्त हुआ । नमि राजा ने 'प्रत्येक बुद्ध' होकर प्रज्ज्या ग्रहण की । एकाकी विहार करने लगे । उन नमि राजर्षि के निर्मोह भाव की परीक्षा करने के लिए ब्राह्मण के रूप मे इन्द्र आया । उसने अपनी देव-शक्ति से दिखलाया कि मिथिला नगरी धाय-धाय कर जल रही है और राजर्षि से बोला—मुने ! आपकी यह मिथिला कुछ ही क्षणों मे भस्मसात् हो जाने वाली है । आप इसकी शान्ति का कोई उपक्रम करे । आपकी आँखों मे अमृत है । आप एक बार भ्रातृ भी लेंगे तो मिथिला-दहन शान्त हो जाएगा । देखिए, आपकी रानिया, पुत्र, पौत्रादि, पारिवारिक, सभासद्, स्त्री, बाल, वृद्ध आदि नागरिक, हाथी, घोड़े, गाय आदि पशु किस प्रकार रोदन कर रहे हैं । आप उन सब पर करुणा कर एक बार उनकी ओर भाकें । नमि राजर्षि ने उत्तर दिया—

सुह वसामो जीवामो जस्सि मे नत्थि किंचण ।

मिहिलाया डज्जमाणाया नमे डज्जइ किंचण ।

मैं सुख में वश रहा हूँ, सुख मे जी रहा हूँ । मिथिला के जलने मे मेरा अपना कुछ नहीं जल रहा है । इस प्रकार अनेक बार कहने पर भी नमि राजर्षि ने मिथिला की ओर नहीं भाका और अपनी निर्मोह स्थिति मे लीन रहे ।

गजसुकुमाल

गजसुकुमाल श्रीकृष्ण के छोटे भाई थे। वे बहुत सुकुमार थे। एक बार २२वें तीर्थंकर श्री अरिष्टनेमि प्रभु द्वारिका नगरी में आए। श्रीकृष्ण के साथ गजसुकुमाल भी बन्दन करने के लिए गए और वहाँ भगवान् नेमिनाथ की देशना सुनी। चरम शरीरी होने के कारण गजसुकुमाल को तत्क्षण वैराग्य उत्पन्न हुआ और इस नश्वर ससार के प्रति अत्यन्त ग्लानि हुई। माता देवकी और ज्येष्ठ बन्धु श्रीकृष्ण ने उन्हें दीक्षा न लेने के लिए बहुत कुछ समझाया, पर वे अपने सकल्प में दृढ़ रहे। अन्ततोगत्वा माता और बन्धु को उनके दीक्षा-ग्रहण में सहमत हो जाना पड़ा। गजसुकुमाल दीक्षित हो गए। भगवान् नेमिनाथ की आज्ञा लेकर दीक्षा के प्रथम दिन ही उन्होंने भिक्षु की बारहवीं पडिमा (प्रतिमा) अंगीकार की। रात को श्मशान भूमि में जाकर ध्यानस्थ मुद्रा में बैठ गए।

सौमिल नामक ब्राह्मण की एक सुख्खा कन्या को गजसुकुमाल के साथ ब्याह देने के लिए श्रीकृष्ण ने सकल्प कर रखा था। जब उस सौमिल को यह पता चला कि गजसुकुमाल ने मुनिव्रत अंगीकार कर लिया है तो वह अत्यन्त उद्विग्न हुआ। रात को वह उसी श्मशान भूमि में आयी और गजसुकुमाल को ध्यानस्थ मुद्रा में देखकर और भी क्रोधित हुआ। उस क्रोध विह्वल सौमिल ने ध्यानस्थ मुनि के सर पर गीली मिट्टी की पाल लगादी और बीच में श्मशान भूमि के जलते-जलते अगारे लाकर रख दिए। गजसुकुमाल के धैर्य और अहिंसा की वह अग्नि-परीक्षा थी। गजसुकुमाल झटोल मेरु की तरह स्थिर रहे। उन्होंने अपने आप सब कुछ सहा, पर अग्निकायिक जीवों के प्रति और उस सौमिल के प्रति पूर्ण अनुकम्पा का भाव दिखाया। उसी उपसर्ग में वे कैवल्य प्राप्त कर मोक्षगामी हुए।



तुम्बी और तीर्थ-स्नान

महाभारत-विजय से पाण्डवों के मन में जहा उल्लास उभरता था, चिन्तन के क्षणों में वहा कुछ विषाद भी होता था। अपने विद्यागुरु, पितामह, पारिवारिकों व भाइयों की अपने ही हाथों से असमय मृत्यु की स्मृति से उनका हृदय ग्लानि से भर जाता। कई बार तो उनके सामने विजय का वह बीभत्स रूप सामने आता तो आखे छलछला जाती। अपने उस पाप से निवृत्त होने के लिए श्रीकृष्ण से उन्होंने तीर्थ-यात्रा की अनुमति चाही। श्रीकृष्ण ने उन्हें अनुमति प्रदान कर दी और साथ ही अपनी एक तुम्बी देते हुए कहा—इसे भी तीर्थ-स्नान करा देना।

पाण्डव बड़ी खुशी से चले। एक के बाद एक, उन्होंने सारे तीर्थों में स्नान किया। तुम्बी को भी बड़े हर्ष के साथ प्रत्येक तीर्थ में तीन-तीन बार नहलाते। उन्हें इस बात से परम प्रसन्नता थी कि हमने अब अपना सारा पाप धो डाला है। खुशी में उछलते हुए वे श्रीकृष्ण के दरबार में पहुँचे। कुशल-सवाद के अनन्तर बहुत ही आदरपूर्वक उन्होंने वह तुम्बी श्रीकृष्ण को भेंट की। श्रीकृष्ण ने भी सकुशल लौट आने पर उन्हें बधाई दी और पूछा—तीर्थ-स्नान कैसा रहा है? पाचों ही भाइयों ने प्रसन्नता के साथ उत्तर दिया—आपके आशीर्वाद से बहुत ही अच्छा रहा।

श्रीकृष्ण ने दूसरा प्रश्न किया—तुम्बी को स्नान कराना कहीं भूल तो नहीं गए? बराबर कराते रहे न?

पाचों पाण्डवों ने उत्तर दिया—हा महाराज! इस बात में कभी भी गलती नहीं हुई। अपितु हम एक बार स्नान करते और इसे तीन-तीन बार नहलाते। यह आपकी धरोहर तो हमें बहुत प्यारी लगती थी।

श्रीकृष्ण ने तुम्बी के छोटे-छोटे पाच टुकड़े किए और प्रत्येक पाण्डव के हाथ में देते हुए कहा—तीर्थ-स्नान के इस प्रसाद को जरा चखो तो?

पाण्डवों ने उसे हाथ में लेते हुए कहा—आपका यह प्रसाद तो शिरोधार्य है, पर मुह खारा क्यों करवाते हैं?

श्रीकृष्ण ने कहा—नहीं, एक बार चखो तो सही?

पाण्डवों ने उसे मुह में डाला तो सारा मुह खारा हो गया।

श्रीकृष्ण ने पूछा—क्यों स्वाद कैसा है ?

पाण्डवों ने कहा—बिलकुल खारा ।

श्रीकृष्ण ने आश्चर्य और आक्षेप की भाषा में कहा—यह कैसे हो सकता है ? इतने तीर्थों में स्नान कर लेने के बाद तो तुम्बी खारी नहीं रह कैसे सकती है । यदि यह खारी ही है तो इसका मतलब तो यह है कि तुमने इसको अच्छी तरह स्नान कर-बाया नहीं ।

पाण्डवों ने सोचा—यह लेने का देना और पडा । इतनी सावधानी के साथ तो इसे रखा । स्नान कराया और आज श्रेय यह मिल रहा है । उन्होंने साहस किया और बोले—राजन् ! तीर्थ-स्नान कर लेने मात्र से ही क्या तुम्बी के स्वभाव में रहा हुआ खारापन कभी जा सकता है ?

श्रीकृष्ण ने स्मित भाव से कहा—तो फिर तुम्हारी आत्मा के स्वभाव में रहा हुआ पाप कल्मष इस बाहरी स्नान से कैसे दूर हो सकता है ?

पाण्डवों के दिल में श्रीकृष्ण की तर्क घर कर गई । उन्होंने चिन्तनशील स्वर में पूछा—क्या हमारे इस उपक्रम का हमारी आत्मा पर कुछ भी फलित नहीं होगा ?

श्रीकृष्ण—नहीं ।

पाण्डव—तब फिर आपने हमें पहले ही सावधान क्यों नहीं किया ?

श्रीकृष्ण—उस समय यह बात इतनी सरलता से हृदयगम नहीं हो सकती थी ।

पाण्डव—अब हमें क्या करना चाहिए ?

श्रीकृष्ण—आत्मा नदी, सयम तोय पूर्ण, सत्यावहा शीलदयातटोर्मि ।

तत्राभिषेकं कुरु पाण्डुपुत्र ! न वारिणा शुद्धयति चान्तरात्मा ॥

आत्मा नदी सयम जल से पूर्ण हो, सत्य का उसमें प्रवाह व दया तथा शील के दोनों तट हो, ऐसे स्थान पर हे पाण्डुपुत्रो ! तुम स्नान करो । तुम्हारी आत्मा पवित्र होगी । इस पानी से अन्तरात्मा की शुद्धि नहीं होने वाली है ।



गाजीखां कौर मुल्लाखां

किसी ने आचार्य श्री भिक्षु से कहा—आप और वे एक क्यों नहीं हो जाते ? आचार्य श्री भिक्षु ने कहा—महाजन, कुम्भार, जाट व गूजर आदि तुम सब एक हो सकते हो या नहीं ? आगन्तुक ने उत्तर दिया—हम तो एक कैसे हो सकते हैं ? हमारी और उनकी तो जाति भी भिन्न है। आचार्य श्री भिक्षु ने कहा—यही बात हमारे सम्बन्ध में है। जिनके मिलने के लिए कह रहे हो, वे तो पूर्णतः मिथ्यात्वी हैं। गाजीखा व मुल्लाखा के साथी हैं।

आगन्तुक ने पूछा—गाजीखा व मुल्लाखा कौन थे ?

आचार्य श्री भिक्षु ने कहा—एक ब्राह्मण व ब्राह्मणी प्रवेश गए। वहाँ ब्राह्मण ने बहुत धन कमाया। कुछ समय बाद ब्राह्मण कालधर्म को प्राप्त हो गया। ब्राह्मणी ने एक पठान के साथ शादी कर ली। उसके दो पुत्र हुए। एक का नाम गाजीखा रखा गया और दूसरे का नाम मुल्लाखा। संयोग की बात थी, कुछ समय बाद पठान भी मर गया। ब्राह्मणी दुःखित हो गई। वह अपना सारा धन व पुत्रों को लेकर अपने गांव में आ गई। धन देखकर परिवार के बहुत सारे लोग झकट्टे हो गए। कोई उसे बुझा कहने लगा और कोई चाची। इस प्रकार काफी स्वागत हुआ।

ब्राह्मणी ने प्रस्ताव रखा—अब इन बालकों का उपनयन संस्कार तो होना चाहिए। सभी पारिवारिकों को यह ठीक लगा। शुभ मुहूर्त देखकर दिन व समय निश्चित कर लिया गया। सभी पारिवारिकों को आमन्त्रित किया गया। भोजन के लिए विविध पकवान बनाए गए। आनन्दपूर्वक सभी ने साथ बैठकर खाना खाया। सब कामों से निवृत्त होकर ब्राह्मणी ने अपने दोनों लड़कों को नामग्राह्य पुकारा; बेटे। गाजीखा और मुल्लाखा आओ। सुनते ही सारे ब्राह्मण चौक पड़े। बोले—पापिन ! ये क्या नाम ? ब्राह्मणों के नाम तो श्रीकृष्ण, हरिकृष्ण, हरिलाल, रामलाल, श्रीधर इत्यादिक होते हैं। ये नाम तो मुसलमानों के हैं। कुछ ब्राह्मण तो बिल्कुल गुस्से में भर गए। तलवार खींचते हुए बोले—‘दुष्टे ! सच-सच बता, यह किसका ब्रह्म है। यदि नहीं बताया तो तुझे मारेंगे और हम भी मरेगे।’ डरती हुई ब्राह्मणी ने सारी घटना बता दी और कहा कि ये तो पठान के हैं।

ब्राह्मणों को बहुत दुःख हुआ । उन्होंने कहा—तेरी वजह से हम सब भ्रष्ट हो गए । अब हमें गंगा की यात्रा करनी होगी । स्नान, जप-तप कर शुद्ध बनेंगे ।

ब्राह्मणों ने नम्रतापूर्वक कहा—मैं आपका उपकार नहीं भूलूंगी, यदि आप इन बालकों को भी साथ ले जाकर शुद्ध कर देंगे । मैं फिर ब्रह्म-भोज करूंगी और आपके इंगित पर चलूंगी ।

ब्राह्मणों ने उत्तर दिया—ये शुद्ध कैसे हो सकेंगे ? ये तो पठान के पुत्र हैं, अतः मूलतः ही अशुद्ध हैं । हम मूलतः शुद्ध हैं । केवल तेरा भोजन खाने से अशुद्ध हुए हैं, अतः तीर्थयात्रा से शुद्ध हो सकते हैं ।

आचार्य श्री मिश्र ने प्रश्न पूछने वाले से कहा—दोषी साधु तो प्रायश्चित्त लेने के बाद शुद्ध हो सकता है, किन्तु जो मूलतः ही मिथ्यात्वी हैं, गाजीखा व मुल्लाखा की तरह विपरीत श्रद्धा वाले हैं, वे शुद्ध कैसे हो सकते हैं ? यदि शुद्ध नहीं हो सकते तो फिर एकीकरण की तो बात ही कहा से हो सकती है ? शुद्ध श्रद्धा भ्राने के बाद यदि नई दीक्षा रूप जन्म हो जाता है और उससे शुद्ध बन जाते हैं, फिर तो हमारा व उनका मिलन स्वभावतः हो सकता है ।

मल्लिकुमारी

मिथिला नगरी का राजा कुम्भ था। उसकी रानी का नाम पद्मावती था। पद्मावती ने एक बार गज, वृषभ, सिंह, लक्ष्मी, पुष्पमाला, चन्द्र, सूर्य, ध्वजा, कलश, सरोवर, सागर, विमान, रत्नराशि व निर्घर्म अग्नि, ये चवदह स्वप्न देखे। प्रातः काल स्वप्न पाठको से स्वप्न के बारे में पूछा गया। उन्होंने कहा—ये स्वप्न भावी तीर्थंकर या चक्रवर्ती की माता ही देखती है। पद्मावती को इससे बहुत हर्ष हुआ। क्रमशः समय बीतने पर रानी ने उन्नीसवें तीर्थंकर के रूप में एक पुत्री को जन्म दिया, जिसका नाम मल्लिकुमारी रखा गया।

मल्लिकुमारी के प्रत्येक अंग से लावण्य टपकता था। उसके शरीर को देख कर ऐसा लगता था, जैसे कि कोई विशेष रचना की गई हो। वह बड़ी विचक्षण व प्रतिभाशालिनी थी। बहुत आगे घटने वाली घटना को वह पहले ही जान सकती थी। उसने अपने पिता से अनुमति लेकर अशोकवाटिका में एक विशेष भवन बनवाया। उसमें छह द्वार युक्त छह कमरे व बीच में एक विशेष कक्ष था। भवन के मध्य में मल्लिकुमारी की एक स्वर्णमूर्ति स्थापित की गई, जो उसकी आकृति, वस्त्र व लावण्य में तत्सम थी। दर्शक को एक बार तो ऐसा भ्रम होता कि स्वयं मल्लिकुमारी ही खड़ी है। उस स्वर्णमूर्ति के मस्तक पर एक कमलाकार ढक्कन लगा दिया गया। मल्लिकुमारी जो भोजन करती, उसका एक ग्रास प्रतिदिन उस मूर्ति के अन्दर डाला जाता। भोजन के सड़ जाने से सर्प, गी या अन्य किसी मृत कलेवर के समान उसमें से अत्यधिक बदबू आने लगी।

उसी समय साकेतपुर में प्रतिबुद्धि, चम्पा में चन्द्रछाय, श्रावस्ती में रूपी, वाराणसी में शङ्ख, हस्तिनापुर में अदीनशत्रु, कम्पिलपुर में जितशत्रु आदि राजा राज्य करते थे। मल्लिकुमारी के लावण्य की प्रशंसा दूर-दूर तक फैल चुकी थी। इन छह राजाओं ने भी उसे सुना। उनके मुँह में पानी भर आया। अपने राजदूतों को विशेष सन्देश देकर मिथिलानगरी भेजा और मल्लिकुमारी की याचना की। एक ही साथ इस प्रकार छह राजाओं द्वारा अपनी कन्या की मांग सुनकर कुम्भ राजा क्रोधित हो गया। उसने छह राजदूतों को तिरस्कार के साथ अपनी सभा व राज-

धानी से निकाल दिया और स्पष्ट शब्दों में कहलवा दिया कि मल्लिकुमारी का विवाह इस प्रकार किसी के साथ नहीं हो सकेगा। छहो राजदूतों ने अपने-अपने राजा की सारी परिस्थिति व अपमान से परिचित किया। माम की अपूर्ति और अपमान से उनकी भुजाएँ फड़कने लगी और सभी युद्ध का स्वप्न देखने लगे। राजदूतों द्वारा प्रत्येक राजा को यह भी सूचना मिली कि इस प्रकार एक नहीं छह बड़े-बड़े राजाओं का अपमान एक मिथिला के राजा द्वारा हुआ है। छह ही राजाओं के पास परस्पर दूत आए और सभी युद्ध करने के लिए तैयार होकर एक साथ मिथिला पर चढ़ कर आ गए। राजा कुम्भ ने भी पौरुष के साथ युद्ध लड़ा, किन्तु छह राजाओं की सेना के सामने उसकी सेना टिक थोड़े ही सकती थी। राजा कुम्भ घबरा गया। इज्जत और जीवन बचाने का प्रश्न सामने आ गया। वह बड़ी चिन्ता में पड़ गया। मल्लिकुमारी ने यह सब जाना तो अपने पिता से कहलवा भेजा कि गुप्त रूप से आप छहो राजाओं को सन्देश भिजवा दीजिए कि वे अशोकवाटिका में बने नये भवन में आ जायें और वहाँ मेरे से बातचीत कर लें। पर एक राजा को कहलाए गए सन्देश का दूसरो को पता नहीं लगना चाहिए। राजा ने वैसा ही किया।

सायंकाल का समय था। सूर्य क्षितिज के उस पार पहुँचा ही था। गोधूलि बेला में छहो राजा सज-धज कर वाटिका के नये भवन में पहुँच गए। सभी के आने के मार्गें भिन्न-भिन्न थे और कमरे भी भिन्न-भिन्न। सभी ने वह मूर्ति देखी। दीपक के मन्द-मन्द प्रकाश में वह साक्षात् कुमारी ही प्रतीत होती थी। छहो राजा उस मूर्ति को देख रहे थे। सभी को ऐसा लग रहा था कि कुमारी हमारी ओर ही भाक रही है। किन्तु एक दूसरे राजा को एक दूसरा नहीं देख सकता था। थोड़ी ही देर में मल्लिकुमारी वहाँ पहुँच गई। उसने केन्द्रीय कक्ष में सबको आमन्त्रित कर लिया। छहो की वहाँ परस्पर आँखें मिली। कुमारी ने मूर्ति से झटपट उस कमलाकार ढक्कन को हटा दिया। भयकर दुर्गन्ध उछलने लगी। सभी राजाओं ने अपने-अपने नाक कपड़े से ढाक लिए और बोल पड़े—यह क्या ? यह क्या ?

मल्लिकुमारी ने कहा—कुछ नहीं। जिसके लिए लालायित होकर आप आए हैं, उसीका यह स्वरूप है। छहो ही राजा एक साथ बोल पड़े—नहीं, यह तो बच्चों को भरमाने जैसी बात है। तेरे जैसी अप्सरा के लिए यह कैसे कहा जा सकता है।

मल्लिकुमारी हड़ता के साथ बोली—महाभाग ! आप अज्ञान में हैं। जो भोजन मैं प्रतिदिन करती थी, वही इस मूर्ति के अन्दर डाला गया है। उसमें कोई अन्तर नहीं है। इस मूर्ति की सुन्दरता व मेरी सुन्दरता में भी आपको कोई पृथक् अनुभूति नहीं होती है। इसके अन्दर जाकर यदि भोजन सडान्व को पा लेता है तो क्या मेरे अन्दर भी वह इस तरह सड नहीं जाता है। आपने भी तो मेरी चमड़ी को पहचाना है, पर इसकी तह में कितनी अशुधि भरी है, उस ओर भी क्या

आपका ध्यान गया ? यह आकर्षण आपका शरीर के प्रति है जोकि मल-मूत्र, रक्त आदि का भण्डार है, किन्तु इसके साथ रहे अनन्त शक्ति-सम्पन्न चैतन्य के प्रति नहीं है। यदि ऐसा होता तो यह युद्ध नहीं लड़ा जाता।

अपने पूर्व भव का सम्बन्ध बताते हुए कुमारी ने कहा—आप सभी ने मुझे विकार की दृष्टि से देखा है, किन्तु पिछले जन्म से अपना मित्र का सम्बन्ध चला आ रहा है। कुमारी ने अपने महाबल^१ अन्नगार का सारा वृत्तान्त विस्तार से बताया और कहा—हम सातो ही व्यक्ति साथ-साथ तपश्चरण करते थे। मैं अपने कपट से यहाँ स्त्री रूप में उत्पन्न हुई और आप पुरुष रूप में। हमें उसी तरह इस जन्म में भी तपश्चरण करना है और नि श्रेयस् की ओर बढ़ना है।

छहो राजाओं के विचार बदले। उन्हें भी अपने विगत जीवन की जाति-स्मरण ज्ञान के द्वारा स्मृति हुई। अपने प्रस्ताव पर पछताने लगे। कुमारी और राजा से उन्होंने क्षमा मांगी और हृदय में वैराग्य भर कर अपनी-अपनी राजधानी में लौट आए।

मल्लिकुमारी ने ससार त्याग कर प्रव्रजित होने का सकल्प किया। छहो ही राजाओं को इसकी सूचना मिली तो वे सभी अपने-अपने ज्येष्ठ पुत्रों को पदासीन कर चरण महोत्सव में सम्मिलित होने के लिए व स्वयं प्रव्रजित होने के लिए मिथिला पहुँच गए। मृगसर शुक्ला एकादशी को मध्याह्न से पूर्व मल्लिकुमारी ने दीक्षा ग्रहण की और चौथे पहर केवलज्ञान प्राप्त कर लिया। तीर्थ का प्रवर्तन किया और वह उन्नीसवा तीर्थंकर बनी। दूसरे दिन छह ही मित्र राजाओं ने प्रव्रज्या ग्रहण करली। तपश्चरण व शुक्ल ध्यान का अवलम्बन कर सिद्ध, बुद्ध व मुक्त बने।

१. देखें, जवाहरण संख्या ४६ पृ० ३७८

अर्जुनमाली

अर्जुनमाली राजगृह का रहने वाला था। उसकी पत्नी का नाम बन्धुमती था। शहर के बाहर उसका एक बगीचा था, जिसमें मुग्दरपाणि यक्ष का एक यक्षायतन भी था। अर्जुनमाली के वंशज परम्परा से उस यक्ष की पूजा करते आ रहे थे। वह भी बचपन से उसका ही भक्त था और प्रतिदिन घूप, दीप, पुष्प व चन्दन आदि से उनकी अर्चा करता था। एक दिन जब वह अपनी धर्मपत्नी के साथ यक्ष की पूजा कर रहा था तो ललित आदि छह गठीले पुरुष वही छुपे हुए थे। उन्होंने एक ही साथ अर्जुनमाली पर आक्रमण किया, उसे बाध दिया और बन्धुमती के साथ अमानुषिक व्यवहार किया। अर्जुनमाली ने यह सब कुछ अपनी आँखों से देखा। उसे बहुत दुःख हुआ। सबसे अधिक दुःख उसे उस समय हुआ, जबकि उसकी पत्नी ने उन छहों व्यक्तियों का कुछ भी प्रतिकार नहीं किया। अपितु सहर्ष उनके साथ हो गई। उसने मुग्दरपाणि यक्ष को ललकारा। बोला—इतने दिन तक निर्बाध रूप से मैंने तेरी उपासना की। तेरे से कभी प्रतिदान नहीं मागा। आज जबकि मेरी ही पत्नी के साथ छह आततायी इस प्रकार अनाचरण कर रहे हैं और तू ऐसे ही देख रहा है? इससे तो मुझे यह प्रतीत होता है कि तेरे में कुछ भी शक्ति नहीं है और तू पूजनीय नहीं है। कोई भी देव यदि ऐसे अवसर पर भी अपने भक्त के काम न आए तो वह कोई अभिवन्दनीय थोड़ा ही होता है।

हृदय से निकली हुई आवाज में अद्भुत शक्ति होती है। असम्भावित कार्य भी उससे सम्भावित हो जाया करते हैं, जहाँ कि व्यक्ति की कल्पना भी पहुँच नहीं पाती। यक्ष ने अर्जुनमाली के शरीर में प्रवेश किया। अर्जुनमाली की प्रत्येक नसें फड़कने लगी, खून उबलने लगा और भुजदण्ड उछलने लगे। एक साथ बन्धन टूटे और मुग्दर हाथ में लेकर छहों पुरुषों व अपनी धर्मपत्नी पर टूट पड़ा। एक साथ सातों को यमराज के द्वार पहुँचा दिया।

अर्जुनमाली का हृदय घृणा व ग्लानि से भर गया। उसकी आँखों के सामने वह दृश्य नाचने लगा। वह विक्षिप्त-सा हो गया और उसके बाद घर नहीं लौटा। शहर के बाहर घूमता रहता और उस घटना का प्रतिशोध लेने के निमित्त

वह प्रतिदिन छह पुरुषों व एक स्त्री की घात करने लगा । शहर में आतक छा गया ।

राजा श्रेणिक ने अपने वीर योद्धाओं को उससे लोहा लेने व पकड़ने के लिए भेजा, पर वह किसी से भी परास्त न हो सका । उसका अपना कार्य मुक्त रूप से चलता था । श्रेणिक ने शहर के दरवाजे बन्द करवा दिए और यह उद्घोषणा करवा दी कि कोई भी व्यक्ति किसी भी कार्य से बाहर न जाए ।

दिन व महीने बीत गए, किन्तु अर्जुनमाली का आतक शान्त न हुआ । एक बार भगवान् श्री महावीर ग्रामानुग्राम विहरण करते हुए राजगृह नगर के बाहर गुणशील उद्यान में पधारे । हर बार की तरह इस बार कोई भी व्यक्ति वन्दना करने व उपदेश सुनने के लिए नहीं पहुँचा । सबको ही अर्जुनमाली का आतक खाए जा रहा था । राजगृह में एक सेठ सुदर्शन भी रहता था । वह प्रियधर्मी, हठधर्मी व धर्मोपजीवी था । धर्म के प्रति उसके मन में अगाध श्रद्धा थी । वह अपने अत-नियमों पर अचल था । जब कभी भगवान् श्री महावीर वहाँ पधारते, वह प्रतिदिन उनके दर्शन करता व धर्मोपदेश सुनता । भगवान् के शुभागमन की जब उसे सूचना मिली, उसने अपना अहोभाग्य माना और वन्दनार्थ जाने के लिए तैयार होने लगा । सुदर्शन के पिता ने उसे रोका । अर्जुनमाली का भय बताया । सुदर्शन ने स्पष्ट रूप से कहा—सच्चा धार्मिक अभय होता है । उसके सामने आसुरी शक्तियाँ हमेशा ही पराजित होती हैं । आप अर्जुनमाली से भयभीत हैं, किन्तु मुझे तनिक भी भय नहीं है । एक व्यक्ति के आतक से भय खाकर भगवान् महावीर जैसे महान् आत्मा को नमस्कार करने के लिए न जाने का तात्पर्य मैं तो केवल यही समझता हूँ कि हमारे में देवत्व नहीं है, दनुजत्व है । हमारे पर यदि राक्षसी वृत्तियाँ हावी न हों तो कोई भी व्यक्ति चाहे वह दैत्य भी क्यों न हो अपनी आसुरी शक्ति का प्रभाव नहीं डाल सकता । भगवान् के समवसरण में सिंह, व्याघ्र व मृग आदि नित्य विरोधी पशु भी बैर भाव को भूल जाते हैं और पारस्परिक प्रेम में आबद्ध हो जाते हैं । यदि एक व्यक्ति की अहिंसा से इस प्रकार प्राणी अनुप्राणित हो सकते हैं तो क्या अर्जुनमाली जैसे दैत्य हमारी धर्म-प्रवणता के समक्ष नहीं झुक सकते ? सुदर्शन को बहुत कुछ मना किया, पर उसने एक भी नहीं सुनी । वह अपनी हार्दिक भक्ति के साथ घर से चल पड़ा । शहर के कुछ बाहर आया तो अर्जुनमाली किसी की प्रतीक्षा कर ही रहा था । वह मुग्ध उम्रए दौड़ता हुआ सुदर्शन की ओर बढ़ा । सुदर्शन सबकुछ पर ही ध्यान की मुद्रा में स्थिर होकर खड़ा हो गया । अर्जुनमाली ने प्रहार करने के लिए हाथ ऊँचे उठाए, किन्तु नीचे न हुए । वह सुदर्शन और अर्जुनमाली का सघर्ष नहीं था, अपितु अहिंसा व हिंसा का ज्वलन्त सघर्ष था । सुदर्शन की एक आँख भी भय से विचलित न हुई । मुग्धप्राणि यक्ष को पराजित होना पड़ा और वह अर्जुनमाली के शरीर को छोड़कर भाग खड़ा हुआ । अर्जुनमाली एक शान्त, जिज्ञासु व लज्जित भाव में कुछ क्षण तो सुदर्शन की ओर देखता रहा । उसकी

आत्मा मे एक आध्यात्मिक ज्योति प्रज्वलित हुई और वह उससे प्रेरित होकर सुदर्शन के चरणों मे गिर पड़ा ।

पतित को पावन बनाने वाला मनुष्य ही होता है । किन्तु उस मनुष्य मे दैवी शक्तिया अघिष्ठित होती हैं, अत मनुष्य से ऊँचा कहलाता है । सुदर्शन को देखने मात्र से ही अर्जुनमाली की एक बार भावना उभ्र हुई, किन्तु दूसरे ही क्षण पूर्णत शान्त हो गई । सैकड़ों का हत्यारा एक व्यक्ति के ससर्ग से अहिंसक भाव मे आ गया । अर्जुनमाली ने सुदर्शन के प्रति कृतज्ञता प्रकट की और पूछा—आप किधर जा रहे हैं ?

सुदर्शन ने उत्तर दिया—मैं भगवान् श्री महावीर के दर्शनार्थ जा रहा हू ।

अर्जुनमाली—यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं भी चलना चाहता हू ।

सुदर्शन—आनन्द के साथ चलो । वे भगवान् तेरा कल्याण करेंगे ।

सुदर्शन और अर्जुनमाली एक साथ भगवान् श्री महावीर के चरणों मे उपस्थित हुए । भगवान् ने प्रवचन किया और जीवन की महत्ता व ससार की नश्वरता पर प्रकाश डाला । अर्जुनमाली के हृदय मे वैराग्य जागृत हुआ और वह वही दीक्षित हो गया । उत्कट तपश्चरण करने लगे । प्रति दो दिन का उपवास और एक दिन आहार करते हुए विचरने लगे । राजगृह नगर मे भी वे भिक्षा के लिए आए । मार्ग मे मिलने वालों मे से क्रुद्ध होकर कोई उनके लिए इस प्रकार कहता कि यह कितना निर्दंष्ट्र है, जिसने मेरे भाई को मार डाला । कोई कहता—आज यह साधु बनकर धर्मात्मा होने का दम्भ भरता है, किन्तु कल तक इसने सैकड़ों व्यक्तियों को मौत के घाट उतार दिया था । मेरे पिता को भी तो इसने ही मारा था । कोई मा व बहिन की हत्या का आरोप लगाता तो कोई और क्रुद्ध । इस प्रकार मिलने वाले सभी व्यक्ति उनकी निन्दा करते, अपमान करते, गालिया निकालते, चाटा, लात, घूसा भी मारते । किन्तु एक साधु होने के नाते अर्जुनमाली पूर्णत शान्त रहते और बिना किसी उद्विग्नता के अपने पथ पर चलते रहते । उनका एक ही विशेष चिन्तन रहता कि मैंने तो इनके सम्बन्धियों को जान से मार डाला है । ये लोग तो मुझे बहुत थोड़े मे ही छुटकारा दे रहे हैं । इतने बड़े अपराध के लिए तो यह बहुत ही छोटा दण्ड है । समभावपूर्वक उस आक्रोश को सहते और अपनी तपश्चर्या और कायोत्सर्ग मे तल्लीन रहते । भिक्षा मे भी कभी उन्हें भोजन मिलता और कभी न मिलता । क्योंकि उन्हें देखते ही जनता के मन मे आक्रोश के साथ दुःख उभर आया करता था । जो कुछ उन्हें मिलता, उसी मे वे सन्तुष्ट रहते और साधना को विषुद्ध से विषुद्धतर व विषुद्धतर से विषुद्धतम बनाने का प्रयत्न करते । आत्म-अध्यवसायो मे वे कलुषता नहीं आने देते । छह महीने तक इस प्रकार तपश्चर्या करते रहे । उसके बाद पन्द्रह दिन की सलेखना की और शुभ अध्यवसायो व शुभ लेख्या मे आरूढ़ होकर केवलज्ञान व केवलदर्शन उत्पन्न कर मोक्ष पद को प्राप्त किया ।

हरिकेशी मुनि

एक चाण्डाल कुल में बालक का जन्म हुआ। जिसका नाम माता-पिता ने हरिकेशी रखा। वह अत्यन्त कुरूप था। बड़ा हुआ तो अत्यन्त कटुभाषी और हो गया। कुरूपता और कटुभाषिता इन दो दोषों के कारण प्रत्येक आदमी उससे घृणा करता। यहाँ तक कि कुटुम्ब के लोग भी उसे अपने से दूर बैठने के लिए कहते। एक दिन जाति-भोज का प्रसंग आया। सब लोग आमोद-प्रमोद में एक साथ बैठकर खा रहे थे। हरिकेशी को उस मधुर गोष्ठी से दूर कर दिया गया। उसका अपमानित हृदय कुछ सोच ही रहा था, उसी समय उस मधुर गोष्ठी के पास एक विषैला सर्प निकल आया। चण्डाल लोग देखते ही उस पर दृढ़ पड़े और तत्क्षण उसे मार डाला। कुछ ही समय पश्चात् एक निर्विष दुमुहा जन्तु निकला। चण्डालों ने उसे मारा नहीं, प्रत्युत उसकी पूजा की। हरिकेशी को इस घटना ने आश्चर्य में डाल दिया। वह सोचने लगा, यह क्या? एक की तर्जना और एक की अर्चना। तत्काल उसके ध्यान में आया, सविषता और निर्विषता ही इसका एकमात्र कारण है। अपनी आत्मा के बारे में भी उसे यही सूझा। दूसरे लोगों का अनादर नहीं होता और मेरा होता है, इसका भी एकमात्र हेतु यही है कि मेरी वाणी में जहर भरा है। इस आत्म-चिन्ता में उसे जाति-स्मरण हो आया। प्रव्रज्या ग्रहण कर ली और पूर्व संचित कर्मों के साथ जोड़ा लेने के लिए धोर तप करने लगे। उनके तप प्रभाव से एक यक्ष भी उनकी सेवा में रहने लगा।

एक दिन मुनि भिक्षा के लिए पर्यटन करते हुए एक यज्ञ-मण्डप में आ पहुँचे। वहाँ ब्राह्मणों ने मुनि के रगरूप और चर्या की भर्त्सना की। यक्ष से यह सब न देखा गया। उसने मुनि के शरीर में प्रवेश कर उनसे वादविवाद करना प्रारम्भ कर दिया। फिर भी ब्राह्मण भिक्षा देने के लिए तैयार नहीं हुए, प्रत्युत तत्रस्थित विप्र-पुत्र बैठ, वण्डे और कोड़े से मुनि को मारने लगे। मुनि के अनुकम्पक यक्ष ने अपने देव-बल से उन विप्र-पुत्रों को झोंके मुख धरती पर गिरा दिया और सबके मुह से रुधिर बहने लगा। अन्त में सभी लोगों ने आकर मुनि से क्षमा-याचना की तो मुनि ने कहा—मेरा तुम लोगों के प्रति जरा भी रोष नहीं है। यह जो कुछ था, वह यक्ष विहित था। उसने मेरी अनुकम्पावश यह सब किया।

समुद्रपाल

चम्पा नगरी मे पालित नामका एक व्यापारी रहता था। वह जीव, अजीव, पुण्य, पाप आदि का ज्ञाता और निर्ग्रन्थ धर्म का उपासक था। एक बार व्यापार करने के लिए वह जहाज द्वारा पिटुड नगर मे आया और वहा व्यापार करने लगा। थोडे ही दिनों मे व्यापार बहुत बढा और वह नगर का प्रतिष्ठाप्राप्त व्यापारी बन गया। एक वैश्य ने अपनी लावण्यवती कन्या का विवाह उसके साथ कर दिया। आनन्द-पूर्वक समय बीतने लगा। कुछ दिनों पश्चात् अपनी गर्भवती पत्नी को साथ लेकर पालित श्रावक जलपोत द्वारा चम्पा नगरी जाने के लिए विदा हुआ। पालित की पत्नी ने समुद्र मे चलते उस जलपोत मे ही एक पुत्र को जन्म दिया। समुद्र मे पैदा होने के कारण उसका नाम समुद्रपाल रखा गया। बालक बहुत ही क्रान्तिवान् और जलप्रिय था। उपशुक्त वय मे उसने योग्य गुरु से बहत्तर कलाओं व नीति-शास्त्र का ज्ञान प्राप्त किया। युवावस्था मे सुरूपा कन्या के साथ उसका विवाह सम्पन्न हुआ। रमणीय महलो मे वह सासारिक सुखो का भोग करते हुए रहने लगा।

एक दिन वह अपने महल के गवाक्ष मे बैठा हुआ राजपथ की हलचल देख रहा था। इतने ही मे उसने देखा—एक चोर को बघक जन बध्य भूमि की ओर लिए जा रहे है। उस चोर की स्थिति पर विचार करते हुए उसे वैराग्य उत्पन्न हुआ और वह एकाएक समस्त भोग-विलासो को ठुकरा कर साधु बन गया। अनेक वर्षों तक सयम का यथाविधि पालन कर मोक्ष को प्राप्त हुआ।



: ८२ :

धर्मरुचि

प्राचीन काल की घटना है। धर्मघोष नामक महान् आचार्य चम्पानगरी में आए। धर्मरुचि अनगर उनके तपस्वी शिष्य थे। उनके एक महीने की तपस्या पूरी हुई। भिक्षा लाने के लिए गुरु से आज्ञा लेकर सघन बस्ती में आए। उसी नगरी में नागश्री नामक एक ब्राह्मणी (द्रौपदी के पूर्व भव का जीव) रहती थी। उसने उस दिन अपनी भोजन सामग्री में तुम्बे का शाक भी बनाया था। बनाने के बाद ज्योंही उसने वह शाक चखा उसे भान हुआ कि यह तो कड़वा तुम्बा है, खाने के योग्य नहीं है। ज्यों ही वह उस शाक को हाथ में लेकर किसी उत्कर (उकरडी) पर गिराने के लिए चली, घूमते-फिरते महातपस्वी धर्मरुचि अनगर उसकी रसोई के द्वार पर पहुँच गए। नागश्री ने सोचा, वृथा ही मुझे कहीं दूर इसे ढालने के लिए जाना पड़ता। अच्छा हुआ यह मुनि आ गया। इसके पात्र में ही यह कटुक शाक क्यों नहीं डाल दूँ। मेरा बर्तन तो खाली हो ही जाएगा। यह सोचकर उसने मुनि के पात्र में वह कड़वे तुम्बे का शाक डाल दिया। मुनि ने समझा कैसी श्रद्धा है, सारा शाक एक बार में ही बहरा दिया। मुनि उस शाक को लेकर अपने परम गुरु धर्मघोष आचार्य के पास आए और अपनी भिक्षा उन्हें दिखलाई। उस शाक को देखकर गुरु ने कहा, यह तो कड़वा तुम्बा है। यदि इसे खालेगा तो तत्काल मृत्यु हो जाएगी। यह भक्ष्य नहीं है, इसलिए एकान्त निखट स्थान में जाकर इसे परठ दे।

शाक का परिष्ठापन करने के लिए मुनि एकान्त स्थान में आए। शाक की एक-दो बूद भूमि पर पड़ी कि बहुत सारी चीटियाँ वहाँ आ गईं और देखते-देखते उस विषोपम शाक से सब मर गईं। यह देखकर मुनि ने सोचा, एक-दो बूद मात्र से इतनी चीटियाँ मर गईं, यदि सारा शाक परठ दूँगा तो न जाने कितनी चीटियों की हिंसा होगी? इस प्रकार अपने द्वारा होनेवाली हिंसा को टालने के लिए मुनि ने चीटियों की अनुकम्पा की और वह सारा शाक ज्यों का त्यों अपने आप खा गए। उस विषोपम शाक के भक्षण से शरीर में वेदना हुई तो मुनि ने आमरण अनशन (सथारा) कर लिया। समाधिपूर्वक अपना मनुष्य भव सम्बन्धी आयु शेष कर वे सर्वार्थसिद्ध अनुत्तर विमान में देवरूप से उत्पन्न हुए। उस देव-योनि से महाविदेह क्षेत्र में मनुष्य रूप में उत्पन्न होंगे और वहाँ समय ग्रहण कर मोक्ष-पद प्राप्त करेंगे।

सन्त सुकौशल

अयोध्या नगरी में कीर्तिघर नामक राजा राज्य करता था। सहदेवी उसकी रानी थी। राजा युवावस्था में था, पर ससार से इतना विरक्त था कि वह न तो राजकाज ही सम्भालता और न वह अन्य सासारिक भोगों में ही रस लेता। मंत्री को इस बात से चिन्ता हुई। उसने राजा से इसका कारण पूछा। राजा ने कहा—मैं साधु होना चाहता हूँ। मेरे पूर्वज भी साधु धर्म स्वीकार करते रहे हैं। मंत्री ने कहा—यह ठीक है, आपकी पुनीत वंश-परम्परा में आपको राजाओं ने राजसिंहासन छोड़कर साधु-धर्म स्वीकार किया है, किन्तु वृद्धावस्था में पुत्रादिक को सिंहासन सम्भाल कर ऐसा किया है। आप तो युवा हैं। अब तक आपके कोई राजकुमार भी नहीं है। वीक्षा लेनी ही है तो पुत्रोत्पत्ति के बाद लेनी चाहिए, नहीं तो अनगिन वर्षों से चला आने वाला यह राज्य-वैभव दूसरों के हाथों में चला जाएगा। राजा के मन में यह बात जच गई। वह सामाजिक जीवन जीने लगा।

कालान्तर से राजा के पुत्र हुआ। मंत्री व रानी ने सोचा—राजा को इस बात का पता चला तो वह तुरन्त ही राज्य-सिंहासन छोड़ देगा। उन्होंने पुत्रोत्पत्ति के सवाद को बहुत समय तक छिपाकर रखा। राजा को जब इस बात का पता चला तो अपने पुत्र को राज्य-सिंहासन पर आरोढ़ कर स्वयं महाव्रती मुनि बन गया और सुदूर देशों में विहार करने लगा।

कुछ वर्षों पश्चात् राजर्षि कीर्तिघर एकाकी विहार करते हुए अयोध्या नगरी में आए। ग्रीष्म ऋतु थी। वे भिक्षा लेने एक घर से दूसरे घर पर्यटन कर रहे थे। नगर में राजर्षि का पुत्र सुकौशल राजा था और उनकी रानी सहदेवी राजमाता। राजमाता ने अपने महलों के गवाक्ष से राजर्षि को नगर में घूमते हुए देखा। उसके मन में सद्भाव उत्पन्न होना चाहिए था, किन्तु स्वार्थवश राजर्षि को देखते ही वह रोष में भर गई। उसने सोचा—राजर्षि स्वयं तो साधु बन ही गया, पर यह न हो कि अब वह सुकौशल को भी साधु बना कर चलता बने। अपने आरक्षकों को बुला कर उसने कहा—तुम लोग शीघ्र जाओ और वह मुनि जो नगर में आया है, उसे नगर से बाहर निकाल दो। आरक्षकों ने वैसा ही किया। वे राजर्षि के पास आए और बोले—राजमाता की आज्ञा है, आप नगर छोड़कर चले जाए। राजर्षि यह

सुनकर अवाक् रह गए और मन ही मन सोचने लगे—यह है ससार की स्वार्थपरता । राजर्षि क्षमाशील थे । मान-अपमान उनके लिए सम था । वे तत्काल नगर छोड़कर उपवनो में आ गए ।

नगर में चर्चा चल पड़ी । लोग राजमाता को धिक्कार देने लगे । इस अनहोनी घटना का विचार नगर की भोपड़ियों से लेकर राजमहलो तक गूज गया । महलो में रहने वाली एक घाय ने यह सवाद राजा सुकौशल को जा सुनाया । सुकौशल रज और क्षोभ से भर गया । वह सोचने लगा—मेरे ही नगर में मेरे ही जनक राजर्षि का मेरी ही माता द्वारा यह अपमान ? जगत् स्वार्थमय है । वह दौड़ा-दौड़ा उपवन में आया । राजर्षि के चरणों लगा और बोला—इस स्वार्थमय ससार से मुझे छुड़ा है । आप मुझे दीक्षा दीजिए । मुझे एक दिन भी अब इस वचनापूर्ण जगत् में नहीं रहना है । राजर्षि कीर्तिधर ने अवसर समझकर अपने पुत्र सुकौशल राजा को मुनिव्रत की आजीवन दीक्षा दे दी ।

राजमाता ने जब यह सुना तो उसके दुःख का पार नहीं रहा । वह सोचने लगी—मैंने ही पुत्र को साधु होने के लिए प्रेरित कर दिया । मैं ऐसा नहीं करती तो सम्भवतः यह दुःखद घटना नहीं घटती । हाय ! मेरे पति ने भी मेरे साथ यह किया और मेरे पुत्र ने भी यही । इसी दुःख में रानी बडाम से घरती पर गिरी और सदा के लिए इस ससार को छोड़ गई । उसके परिणामों में भयकरता थी, इसलिए वह मर कर एक घने जंगल में बाघिनी हो गई ।

कीर्तिधर व सुकौशल मुनि घोर तपस्या में लगे । गिरि-गुफाओं में चार-चार महीनों की तपस्याएं कर लेते । कार्तिक पूर्णिमा का दिन था । चार मास की तपस्या पूर्ण हो चली थी । दोनों ही मुनि गिरि-गुफाओं से नगर की ओर चले । ज्यों ही वे उस घने जंगल में आए, देखा सामने से बाघिनी दौड़ी आ रही है । बचाव का कोई चारा नहीं था । कीर्तिधर ने कहा—सुकौशल पीछे रह, मैं आगे रूंगा । सुकौशल बोला—यह नहीं हो सकता । आगे तो मैं ही रूंगा । कर्तव्य पालन में मुझे मौत का तनिक भी डर नहीं है । आए परिषदों को सहता साधु का धर्म है । मैं क्षत्रिय हूँ । एक भी पैर पीछे नहीं दूंगा । सुकौशल यह कह ही रहा था, इतने में बिजली की तरह बाघिनी उसके ऊपर आ गिरी । बाघिनी के नुकीले दात और जहरीले नाखूनों से उसका शरीर क्षत-विक्षत होता रहा, पर उसकी भावनाएं जरा-भी पराजित नहीं हुईं । न उसके मन में बाघिनी के प्रति रोष था और न अपने जनक के प्रति राग । विचारों की समस्थिति में उसे केवलज्ञान मिला और जन्म-मृत्यु के द्वन्द्व से मुक्त होकर मोक्ष में जा पहुंचा ।

बाघिनी अपने पिछले जन्म के पुत्र को मचल-मचल कर खा रही थी । कभी वह रुधिर पीती और कभी वह मांस चबाती । सहसा उसे जातिस्मरण ज्ञान ही आया । उसने जाना, हाय ! यह तो मेरा ही पुत्र था । पिछले जन्म में भी मैं इसके

लिए दुःखदायक बनी और इस जीवन में भी मैंने इसे नोच-नोच कर खाया । इस आत्मानुताप में वह भाव-विह्वल हो गई । उसने आमरण अनशन कर लिया । भावों की शुद्धि की । शान्त अवस्था में उसने अपना वह शरीर छोड़ा और अष्टम स्वर्ग में देव-योनि में उत्पन्न हुई ।

राजर्षि कीर्तिधर ने यह सब कुछ देखा और सहा, पर अपने आत्मभाव में लीन रहे । यथासमय कालधर्म को प्राप्त कर वे भी मोक्षधाम पहुँचे ।



मरुदेवा

माता मरुदेवा प्रथम तीर्थंकर भगवान् श्री ऋषभनाथ की माता थी। वह अत्यन्त सरल, भद्र व विष्टुड हृदयवाली थी। क्रोध, अह, छल, मात्सर्य व लालसा से सर्वथा दूर थी। कषायचतुष्क के अभाव में उसके कर्म-बन्धन भी अल्प व शिथिल होता था। भगवान् ऋषभनाथ के प्रव्रजित होने के बाद वह सभी सासारिक कार्यों से यथासम्भव दूर ही रहती थी और स्वाभाविक धर्म-जागरण में ही अपना अधिकांश समय लगाती रहती।

भगवान् ऋषभनाथ को दीक्षित हुए बहुत लम्बा समय बीत गया। इस बीच मरुदेवा को उनके दर्शन प्राप्त नहीं हुए। एक दिन केवलज्ञान प्राप्त होने के बाद भगवान् अयोध्या पधारे। मरुदेवा व्यग्र हो रही थी, किन्तु अचानक जब उसे यह सवाद मिला तो खुशी का पार न रहा। मरुदेवा तो बहुधा यह सोचा करती थी कि प्रव्रजित होने के बाद अब ऋषभ की कौन परिचर्या करता होगा और कौन उसके प्रत्येक कार्य का ध्यान रखता होगा। कभी-कभी वह मोह-अनुराग में बह जाया करती थी। उसका चिन्तन कभी-कभी यह करवट भी ले लेता कि इतने वर्ष बीत गए और ऋषभ ने मेरी सुध भी नहीं ली। माता और पुत्र का सहज स्नेह-सम्बन्ध जब मरुदेवा के मन में उभरता तो वह विह्वल हो जाया करती थी। ऋषभनाथ भगवान् जब स्वयं अयोध्या पधार गए तो वह फूली नहीं समाई और कुछ उलाहना देने व आगे के लिए इतनी दूरी न हो, इसलिए हाथी पर सवार होकर भरत आदि पौत्रो व अन्य पारिवारिको तथा सैनिको के परिवार से चली। विचारो में उतार-चढ़ाव बढ़ता जा रहा था। दूर से ही जब उसने समवसरण में भगवान् ऋषभनाथ को चउतीस अतिथियो से युक्त देखा तो उसके पूर्व विचार बदल गए। उसने अपने मन ही मन कहा—यह तो किसी बात की कमी नहीं है। देव व मानव हजारों की सख्या में पर्युपासना कर रहे हैं। इतनी समृद्धि तो राज्य में भी नहीं थी। विचारो ने दूसरा मोड़ लिया। उसने मन में कहा—तू किधर जा रही है? क्या सोच रही है? ऋषभ तो धीतरागी बन गया है। मैं अनुराग की बातें सोच रही हूँ। माता और पुत्र के सम्बन्ध से तो अब यह ऊपर उठ चुका है और मैं इसमें लिप्त हो रही हूँ। यह

तो सर्वथा बाह्यभाव है। इस तरह विचारो की श्रेणी बढी। सम्यक्त्व से व्रत और व्रत से महाव्रत की ओर बढी। प्रमत्त अवस्था से अप्रमत्त भावना मे आरूढ हुई और क्षपक श्रेणी का अवलम्बन कर शुक्ल ध्यान मे आरूढ हुई, केवलज्ञान उत्पन्न हुआ और योगो का निरोध कर शैलेशी अवस्था से हाथी के ऊपर ही सिद्ध पद को प्राप्त हो गई। इस अवसर्पिणी काल मे वह प्रथम सिद्ध हुई।

भगवान् ऋषभनाथ देशना कर रहे थे। बीच ही मे उन्होने कहा—‘मरुदेवा भगवई सिद्धा’ मरुदेवा सिद्ध हो गई है। दर्शको ने पीछे मुडकर देखा तो हाथी पर केवल मूर्ति की तरह उसका भौतिक शरीर ही दिखाई दिया। उन्हे बहुत आश्चर्य हुआ। सभी के मुह से एक ही ध्वनि निकल रही थी—‘जीवन को शुद्ध बनाती यो ऋजुता-मृदुता, ऋजुता-मृदुता’

दृढप्रहारी

दृढप्रहारी का जन्म एक ब्राह्मण के घर हुआ। उसके पिता बड़े धार्मिक व नीतिनिपुण व्यक्ति थे, किन्तु वह स्वयं मद्य-पान, मांस-भक्षण, झूत, चोरी, व्यभिचारी आदि सातो व्यसनो में रत रहता था। पिता ने उसे बहुत समझाया, पर उसने एक भी न मानी। अतः उसे घर से निकाल दिया गया। वह भी क्रोधित हुआ, घर से निकल पड़ा और चलते-चलते तस्कर पल्ली में पहुँच गया। वह डाका डालने में, किसी को छुटने में व मौत के घाट उतारने में बहुत कुशल था, अतः वह सबका ही प्रिय बन गया। पल्लीपति उसकी चातुरी को देखकर बहुत प्रसन्न हुआ। उसके दृढ साहस, अतुल पराक्रम और प्रहार की अचुकता से पल्लीपति ने उसका नाम दृढप्रहारी रखा और उसे अपना पुत्र ही मानने लगा। धीरे-धीरे वह सब तस्करो में आदरणीय बनता गया। अक्सर पाकर एक दिन वह सब तस्करो का स्वामी भी बन गया। सारे तस्कर उसके निर्देश से काम करते।

अपने साथियों को साथ लेकर एक दिन उसने एक बड़ा नगर छूटा। बहुत घन बटोरा व कइयो के प्राण भी छूटे। दृढप्रहारी एक ब्राह्मण के घर विश्राम कर रहा था। घर में ब्राह्मणी, उसके बच्चे व स्वयं ब्राह्मण भी थे। ब्राह्मण के घर उस दिन खीर का भोजन बना था। उसके बच्चे खीर खाने के लिए आतुर हो रहे थे। दृढप्रहारी को भी निमंत्रित किया गया तो वह भी रसोई में आकर खीर के बर्तन के बिलकुल पास बैठ गया। ब्राह्मणी को यह अच्छा न लगा। उसने उसे डाटते हुए कह दिया—ए मूर्ख! इतनी तो समझ तुम्हें होनी चाहिए कि तेरे छूने के बाद यह खीर हमारे काम नहीं आएगी, अतः थोड़ा दूर बैठ जा। मैं तुम्हें भोजन अवश्य करा दूँगी, किन्तु घर की मर्यादाओं का थोड़ा बहुत ज्ञान तुम्हें भी होना चाहिए। यह ब्राह्मण का घर जो ठहरा।

दृढप्रहारी को यह कहना बहुत बुरा लगा। उसने इधर-उधर कुछ न देखा। तलवार चला दी। ब्राह्मणी के दो टुकड़े होकर वहीं गिर पड़े। पत्नी की कण चित्कार सुनकर उसके सहयोग के लिए स्नान करता हुआ ब्राह्मण भी चला आया। दृढप्रहारी ने उसे भी उसी प्रकार यमराज के घर पहुँचा दिया। घर में गाय खड़ी थी। उसने

अपने स्वामी व स्वामिनी की इस प्रकार निर्भर हत्या देखी तो उसके प्रतिशोध के लिए वह भी दौड़ आई। दृढप्रहारी तो इस बात का अम्यस्त था। तलवार का एक ऐसा वार किया कि वह आधे पेट से चीरी गई। वह पूर्ण गर्भवती थी। तडफड़ता हुआ गर्भ बाहर निकल पड़ा। एक ओर ब्राह्मणी व ब्राह्मण के शव दो-दो टुक हुए पड़े थे और एक ओर गौ तथा उसका अकालजात बछड़ा व नराधम दृढप्रहारी। हिंसा अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच गई। ऐसे अवसर पर भी यदि किसी का हृदय नहीं पिघलता तो वह हृदय नहीं, पत्थर है।

दृढप्रहारी भी खड़ा-खड़ा उस दृश्य को देखता रहा। वह भी मनुष्य था। उसमें भी अनुभूति थी। करुणा जाग उठी। उस बछड़े की तडफड़ाहट से उसका अन्तस्चेतन विह्वल हो उठा। हाथ में लोह से सनी तलवार थी और मन में निर्वेद की धारा। वह खड़ा-खड़ा सोचना रहा। उसके सामने उसका भूतकालिक जीवन व वर्तमान बीभत्स रूप से आ गया। उसका दिल अपने ही प्रति घृणा से भर गया। सुषुप्त मानवता उद्बुद्ध हुई। मैं मनुष्य हूँ। सुख-दुःख की अनुभूति करने वाला हूँ। अपने सुख और आराम के लिए दूसरों के प्राण लूटूँ, धन चुराऊँ और पीड़ित करूँ, क्या यही मेरी मनुष्यता है? गाय जैसा एक पशु भी अपने स्वामी के दुःख-मोचन में अपने प्राणों का उत्सर्ग कर सकता है, उसमें भी इतना विवेक है और मेरा हृदय कभी कम्पित भी नहीं होता? हाय! इससे बढ़कर और क्या अधमता होगी? बछड़े की मृत्यु ने घोर हिसक व अन्यायी दृढप्रहारी जैसों का भी हृदय बदल दिया। वह तलवार डालकर व वेश बदलकर निकल पड़ा। एक आततायी तस्कर भी घोर तपस्वी का व्रत लेकर, केश-सूचन कर निकल पड़ा। सोचने लगा, सुनसान जंगलों में चला जाऊँ और उग्र तप का अनुष्ठान करूँ। ध्यानस्थ होकर समाधिपूर्वक बैठ जाऊँ। महीनो ही हिलना-डुलना रोक दूँ। फिर मन में आया—मैंने सैकड़ों और सहस्रों के दिल दुखाए हैं, सैकड़ों माताओं की गोद खाली की हैं, सैकड़ों युवतियों का सुहाग लूटा है और सैकड़ों बहिनों को भ्रातृत्व का वियोग दिया है। लाखों और करोड़ों की सम्पत्ति का अपहरण कर हजारों व्यक्तियों को दुःखित किया है। उन सबके हृदयों में मेरे प्रति प्रतिशोध की ज्वाला जलती होगी। क्यों नहीं, मैं शहर के बाहर ही कायोत्सर्ग करूँ। वहाँ मुझे अधिक परिषद् सहना होगा तो कर्म-निर्जरा भी अधिक होगी। यदि अधिक कर्म-निर्जरा न होगी तो कृत पापों से छुटकारा पाना भी सम्भव नहीं है।

दृढप्रहारी मुनि पूर्व दिशा के द्वार पर कायोत्सर्ग कर खड़े हो गए। सैकड़ों स्त्री-पुरुष व बच्चे उस रास्ते से गुजरते। दृढप्रहारी मुनि को खड़े देखते। रोष जाग उठता। कोई कहता—तू ने मेरे भाई को मारा है, कोई कहता मेरे चाचा को। कोई अपने धन चुराने की बात को दुहराता तो कोई अपने सगे-सम्बन्धी की। गुस्से में आकर कोई ढेले फेंकता, कोई धूल उछालता, कोई उन पर थूकता व कोई गालिया

भी देता । दृढप्रहारी मुनि समभाव में खड़े रहते और अपना मन कायोन्सर्ग से विचलित न होने देते । डेढ़ महीने तक वही ध्यानस्थ खड़े रहे । बीरे-धीरे लोगो का रोष ठण्डा पड़ा । सैकड़ों आदमी उस रास्ते से गुजरते, पर कोई कुछ न कहता ।

दृढप्रहारी मुनि ने वहाँ से विहार किया और दूसरी दिशा के नगर-द्वार पर आकर कायोत्सर्ग करने लगे । वहाँ भी उन्हें डेढ़ महीने तक उसी प्रकार भीषण परिषद् सहने पड़े । क्रमशः तीसरे और चौथे दरवाजे पर भी डेढ़-डेढ़ महीने तक उन्होंने कायोत्सर्ग किया । लोगो का ज्यो-ज्यो रोष शान्त होता, दृढप्रहारी मुनि के कर्म-क्षय होते ? ध्यानस्थ मुद्रा में अटल क्षमा का उन्होंने परिचय दिया । जान-बूझकर वे परिषद् की ओर बढ़े । जिस प्रकार तस्कर-वृत्ति में कुशल थे, मुनि-वृत्ति में भी उसी प्रकार कुशलता का परिचय दिया । उन्होंने भगवान् श्री महावीर की इस उक्ति को पूर्णतः चरितार्थ कर दिया—‘जे कम्मे सूर, ते धम्मे सूर’—जो कर्म में शूर होते हैं, वे धर्म में भी शूर होते हैं । छह महीने के इस कठोर तपश्चरण के अनन्तर उन्होंने पूर्वाजित कर्मों का नाश किया और अनुपम केवलज्ञान को प्राप्त किया ।



श्रमणोपासक श्ररणक

चम्पानगरी मे चन्द्रच्छाया राजा राज्य करता था । श्रमणोपासक श्ररणक भी इसी नगरी का निवासी था । वह एक वैभवशाली वैश्य था । जैनधर्म मे उसकी अद्भुत श्रद्धा थी, अतः वह दृढधर्मी व प्रियधर्मी आदि विशेषणो से पुकारा जाता था । इस तरह धन और धर्म का उसके जीवन मे पूरा सुयोग था । उसका प्रमुख व्यवसाय एक देश से दूसरे देश मे समुद्र मार्ग से माल पहुंचाना था । आए अवसर पर वह अपने नगरवासी अन्य व्यवसायियों के साथ अपने देश के विशेष माल से जहाज भर कर दूसरे देश ले जाता और पुन लौटते समय वहा का विशेष माल लेते आता । इस तरह माल के विनिमय से उसका व्यवसाय बहुत चलता और उससे उसके अर्थजिन भी बहुत होता ।

श्ररणक ने एक बार अपने अन्य साथियों के समक्ष व्यवसाय हेतु दूसरे देश जहाज ले चलने के लिए प्रस्ताव रखा । कुछ एक व्यक्तियों के वह नहीं जचा । विरोध हुआ और उस विरोध ने विवाद का भी रूप ले लिया । श्ररणक प्रभावशाली व वाक्पटु था, अतः अन्ततः उसका प्रस्ताव स्वीकृत हो गया । निश्चित समय पर गाडी मे चार ही प्रकार का माल लादकर समुद्र-तट की ओर प्रयाण कर दिया । समुद्र-तट पर गहरे पानी मे उन्हे बड़े-बड़े जहाज मिले, जिनमे माल भर दिया गया और अपने सगे-सम्बन्धियों से विदा लेकर आगे की ओर चल पडे ।

बहुत कुछ सोच-समझकर व्यक्ति अपने भले के लिए ही कदम बढ़ाया करता है, किन्तु किस समय और कहा विघ्न आकर उपस्थित हो जाता है, इसका अनुमान वह नहीं कर सकता । सत्प्रवृत्ति के अतिरिक्त इसीलिए व्यक्ति के पाम दूसरा और कोई चारा नहीं है । परिणाम की बात उसे अपने भविष्य पर ही छोड़ देनी पडा करती है । श्रावक श्ररणक का जहाज समुद्र की छाती को चीरता हुआ अव्याबाध गति से चला जा रहा था । बड़ा सुहावना मौसम था । ऊपर स्वच्छ आकाश और नीचे गहरे पानी को देखकर जहाज मे बैठे हुए व्यक्ति प्रकृति की गोद का आनन्द ले रहे थे । उनके मन मे एक अपूर्व हर्ष था । जहाज तट से सौ मील करीब पहुंचा होगा, एक बीभत्स व अकल्पनीय दृश्य सामने आ खडा हुआ । अचानक आकाश

बादलो से भर गया, बिजली कड़कने लगी, बादल गरजने लगे और आकाश में एक भयंकर दैत्य अट्टहास करता हुआ जहाज में बैठे हुए व्यक्तियों को दिखाई दिया। उसका बड़ा विकराल रूप था। दोनों जघाएँ ताडवृक्ष के समान लम्बी और पतली थीं। दोनों भुजाएँ जैसे कि आकाश को छूती हों। अत्यन्त श्याम वर्ण, लम्बे होठ, दात मुँह से निकले हुए व दोनों जीभ इतनी बाहर आई हुई थी कि ललाट को भी छू सकती थीं। सर के केश बिखरे हुए थे। सर बड़े घड़े के समान था। सूप की तरह लम्बे-लम्बे कान और उनको ढकने वाले उन पर मोटे-मोटे और लम्बे केश। कुण्डल की जगह फुत्कार करते हुए दो बड़े सर्प थे। गले में रुण्डमाला पहनी हुई थी और सियाल व बिल्ली कन्धे पर बैठे हुए थे। काले और श्वेत सर्पों का कटिसूत्र बना रखा था। खून से सारा शरीर लिप्त था और हाथ में बिजली की तरह चमकती हुई नगी तलवार थी। वह उछलता-कूदता हुआ उस जहाज की ओर ही आगे बढ़ा।

जहाज में बैठे हुए सारे ही व्यक्ति भयभीत होकर एक दूसरे के भीतर घुसने लगे। सब ने ही अपने-अपने कुलदेवों का स्मरण किया, पूजा की व अन्य भी तरह तरह के सैकड़ों उपक्रम किये, किन्तु उपसर्ग टला नहीं। सभी परस्पर बोलने लगे—आज समुद्र में ही सबकी असमय मृत्यु होगी। अब न घर पहुँच सकेंगे और न परिवार वालों से मिल ही सकेंगे। अरण्य को पहले कहा गया था कि समय उपयुक्त नहीं है, अतः नहीं चलना चाहिए, पर उसने किसी की भी एक न सुनी। उसका ही यह परिणाम होगा कि प्राण भी जायेंगे और माल भी बरबाद होगा। घर पर कोई सूचना पहुँचाने वाला भी नहीं रहेगा। श्रमणोपासक अरण्य ने भी यह सारी परिस्थिति देखी। एक ओर भयंकर दैत्य और दूसरी ओर साधियों की यह करुण-स्थिति देखकर वह चकित-सा रह गया। अपने सभी साधियों को आश्वस्त करते हुए उसने कहा—यह कायरता किसलिए? यदि हमारा जीवन इतना ही है तो हमें कोई बचा नहीं सकता और यदि लम्बा है, ऐसी भवितव्यता नहीं है तो कोई मार नहीं सकता। जन्म और मृत्यु तो जीवन के दो छोर हैं। एक छोर से आरम्भ होकर व्यक्ति दूसरे छोर की ओर बढ़ा ही करता है। हम भी बढ़ रहे हैं और यदि इस समय वहाँ पहुँच गये तो इसमें दुःख, विलाप और हाय-तोबा क्यों? व्यक्ति जीता है, अपने व ससार के भले के लिए। यदि वह अपनी भलाई को सुरक्षित रखता हुआ प्राणों का उत्सर्ग भी कर देता है तो उसमें चिन्ता की क्या बात?

अपनी बात को दूसरा मोड़ देते हुए उसने कहा—जीने के लिए हमारे मन में आतुरता नहीं होनी चाहिए और मरने के समय व्यग्रता नहीं होनी चाहिए। जीवन और मृत्यु की इस भूमिका से ऊपर उठने के लिए हमारे मन में अटूट धैर्य होना चाहिए, जिससे मानव के रूप में देव का उदाहरण भी उपस्थित कर सके। इस समय आप एक-दूसरे से कातरभाव से सुरक्षा की भीख माग रहे हैं। अपने कुलदेवों को याद कर रहे हैं, किन्तु ये सारे बाह्य शरण हैं। इनसे आपकी सुरक्षा हो सकती,

यह मान कर नहीं चलना चाहिए। वास्तविक शरण आपके लिए चार हैं—
१ अरिहन्त, २ मित्र, ३ साधु और ४ केवलीप्ररूपित धर्म। यदि मानसिक दुर्बलता को दूर कर हृदय से ये चार शरण ग्रहण किये गये तो कोई भी दैत्य आपको पराजित न कर सकेगा। मैं स्वयं अब इन्हीं चार का शरण ग्रहण करता हूँ और आप भी ऐसा ही करें।

अरण्यक भयरहित होकर अपनी समाधि में बैठ गया। अरिहन्त व सिद्धों के प्रति उसने नमोत्थुरा का पाठ किया और सागरी अनशन लेकर धन, परिवार व अपने शरीर के भ्रमत्व से भी विरहित हो गया। वह दैत्य धीरे-धीरे जहाज के समीप आया। उपस्थित व्यक्ति और भयभीत हो गये। सबके मुँह से एक ही तरह के शब्द निकल रहे थे—हाय ! अब मरे। हमारा कोई रक्षक नहीं है। इस दैत्य के हाथों मरने के बजाय तो समुद्र में गिरकर मरना अधिक अच्छा है।

दैत्य ने निकट आते ही सर्वप्रथम श्रमणोपासक अरण्यक को ललकारा। उसने उसे अपत्यपत्थिया, मूढ़, गवार आदि शब्दों से सम्बोधित किया और कहा—कोई भी व्यक्ति असमय में मृत्यु नहीं चाहता, किन्तु तू इसका अपवाद है। तुझे अपने व्रत-प्रत्याख्यान से चलित होना नहीं कल्पता है तो तू दृढ़ रहना। मैं देखना हूँ, कब तक तू ऐसा करता रहेगा। यदि तू अपना धर्म नहीं छोड़ेगा तो इन सब व्यक्तियों की केवल तेरे लिए हत्या होगी। यह सारा पाप तेरे सर पर चढ़ेगा। मैं जहाज को ऊँचा उठाऊँगा। बहुत ऊपर ले जाकर जैसे तबे पर रोटी इधर से उधर फिराई जाती है, जहाज को घुमाऊँगा और ओधी कर समुद्र में गिरा दूँगा। फिर तेरे आर्तघ्यान होगा और असमाधि में मृत्यु को प्राप्त कर नीच योनि में उत्पन्न होगा। अरण्यक ने अपने साथियों की व दैत्य की सारी बातें सुनी, पर अपने ध्यान से विचलित न हुआ। उसने कायोत्सर्ग नहीं छोड़ा। उस दैत्य ने एक बार कहा, दो बार कहा, तीन बार कहा, पर अरण्यक अपने कायोत्सर्ग में दृढ़ रहा।

दैत्य तो सब कुछ करने पर तुला हुआ ही था। जब अरण्यक ने उसकी बात नहीं मानी, उसने जहाज को ऊँचा उठाया और तबे पर रोटी की तरह उसे आकाश में घुमाने लगा। जहाज में रहे हुए सारे व्यक्ति विलापात करने लगे और अरण्यक से कड़वी-मीठी सब तरह की बातें कहने लगे। उनका एक ही विशेष कथन था—आवकजी ! एक बार यदि आप धर्म छोड़ भी देते हैं तो आपके क्या जाता है। यह सारा पाप हमें लग जायेगा। आप हम सबकी रक्षा करें। इस पर भी जब अरण्यक ने कुछ भी उत्तर नहीं दिया तो लोग कहने लगे—धर्म के केवल ठेकेदार बनते हो, किन्तु हृदय में दया का कोई नाम तक नहीं है। इस तरह यदि सैकड़ों व्यक्तियों की यद्वा पर हत्या हो गई तो उसके पाप का भागी और कौन होगा ? केवल मौन धारण करने से धर्म नहीं हो जाता। धर्म तो दया में है और यदि इसका पालन नहीं किया

गया तो ढोंग के अतिरिक्त और क्या होगा ?

श्रमणोपासक अरण्यक को अपने व्रत से विचलित करने के लिए दैत्य व साथियो ने भरसक प्रयत्न किया, किन्तु वह विचलित नहीं हुआ। अपने कायोत्सर्ग में पूरी तरह डूब रहा। दैत्य को हार माननी पड़ी और अरण्यक के पाव गिरना पड़ा। उसने जहाज को धीरे-धीरे नीचे उतारा और पानी पर स्थिर कर दिया। अपना बीभत्स रूप बदला और देव के रूप में अरण्यक के समक्ष उपस्थित हुआ। उसने अपने आने का कारण बताते हुए कहा—अरण्यक ! इन्द्र ने सुधर्म सभा में देवताओं के समक्ष तेरे दृढधर्मी व प्रियधर्मी होने की भूरि-भूरि प्रशंसा की थी। इन्द्र ने यह भी कहा कि अरण्यक को अपने धर्म से कोई भी शक्ति विचलित नहीं कर सकती। मैं तेरी परीक्षा के निमित्त यहा आया और ये कष्ट दिये। किन्तु तू तनिक भी विचलित नहीं हुआ। जैसा इन्द्र ने कहा था, वैसा ही है। मैं तेरी दृढधर्मिता पर अत्यन्त हर्षित हू। दो कुण्डलों की एक तुच्छ-सी भेंट करता हू, जिसको तुझे स्वीकार करना होगा। देव ने दोनों कुण्डल अरण्यक के समक्ष रख दिये और स्वर्ग की ओर चल दिया। उपस्थित साथियों ने भी अरण्यक की निर्भीकता व दृढधर्मिता की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

यह घटना उन्नीसवे तीर्थंकर भगवान् श्री मल्लिनाथ के समय की है, जबकि वे गृहस्थाश्रम में थे।



मृगापुत्र

मृगानगर मे विजय क्षत्रिय नामक राजा राज्य करता था । उसकी धर्मपत्नी का नाम मृगावती था । उसके एक पुत्र हुआ जो मृगापुत्र के नाम से ही पुकारा गया । वह जन्म से ही अन्धा, गूगा, बहुरा व लगडा था । उसका सस्थान हुडन था अर्थात् शरीर के समस्त अवयव बेढब थे । उसके हाथ-पैर आदि कोई अंग-उपांग नहीं थे । शरीर मे केवल आकृतिया मात्र थी । रानी उसे छुपाकर तलघर मे रखती थी । वही पर उसे स्वयं खाना-पीना पहुँचाती और उसका लालन-पालन करती ।

इसी नगर मे एक अन्धा आदमी और रहता था । उसकी भी भौड़ी व डरा-बनी शक्ल थी । उसके चारो ओर प्रतीक्षण बहुत सारी मक्खियां भिनभिनाती रहती थी । वह उन्हे उड़ाने का प्रयत्न करता तो कुछ उड़ती ही नहीं और कुछ उड़ती तो पुन आकर उस पर ही बैठ जाती । वह अपने साथी के साथ नगर मे लकड़ी के सहारे इधर-उधर घूमता रहता ।

एक बार भगवान् श्री महावीर स्वामी उसी नगर मे पधारे । विजय राजा दर्शन करने व उपदेश सुनने के लिए आया । शहर से और भी मँकडो-हजारो व्यक्ति आए । अन्धपुरुष ने जब एक ही दिशा मे इतने व्यक्तियों को जाते हुए सुना तो अपने साथी से पूछ ही लिया—आज नगर के बाहर क्या इन्द्र महोत्सव, स्कन्ध महोत्सव या ऐसा ही कोई अन्य महोत्सव हो रहा है, जो इतने व्यक्ति एक ही दिशा मे जा रहे हैं ।

साथी ने अन्धपुरुष को बताया—महोत्सव कोई नहीं है । चौबीसवे तीर्थंकर भगवान् श्री महावीर पधारे हैं, जिनके दर्शन करने व उपदेश सुनने के लिए इतनी जनता व स्वयं राजा विजय भी जा रहे हैं ।

अन्धपुरुष ने अपने साथी से कहा—मैं भी भगवान् को नमस्कार करना व उनके उपदेश सुनना चाहता हूँ । मुझे भी वहाँ ले चल ।

दोनों व्यक्ति सहस्रो व्यक्तियों के साथ भगवान् के समवसरण मे पहुँच गए । सभी ने उपदेश सुना, यथाशक्ति व्रत-धारण किए और अपने-अपने घर चले गए । उस अन्ध-पुरुष को गौतम स्वामी ने देखा । उसकी दयनीय स्थिति ने उनके मन मे कई प्रकार

के प्रश्न उभार दिए । किन्तु उन्होंने भगवान् महावीर के समक्ष एक ही प्रश्न रखा—
क्यों भगवन् ! इस अच्छे व्यक्ति से बढकर और कोई दुखी व्यक्ति तो इस मनुष्य
जीवन में सम्भवतः नहीं होगा ?

भगवान् महावीर ने कहा—नहीं गौतम ! इससे भी बढकर दुखी मनुष्य इस
संसार में क्या इस नगर में है । उसके समक्ष यह तो कुछ भी दुखी नहीं है ।

गौतम स्वामी—वह ऐसा कौन है भगवन् ! किसके घर में रहता है और किस
प्रकार वह दुख भोगता है ?

भगवान् महावीर ने कहा—यह किसी छोटे घर की बात नहीं है । वह राजा
विजय की मुख्य रानी मृगावती का पुत्र है । बड़ी भयंकर वेदना सहन कर रहा है ।
गौतम स्वामी को भगवान् ने मृगापुत्र के बारे में सारी घटना बतलाई ।

गौतम स्वामी—भगवन् ! यदि आपकी आज्ञा हो तो ऐसे व्यक्ति को मैं
देखना चाहता हूँ ।

भगवान् महावीर—गौतम ! जैसा तुम चाहो ।

गौतम स्वामी केवल मृगापुत्र को देखने के लिए उद्यान से राजमहल में आए ।
रानी ने उन्हें भक्तिपूर्वक नमस्कार किया और अपने महल में पधारें जानकर अपने
आपकी बन्धु सम्भ्रा । गौतम स्वामी के पास पात्र नहीं थे, अतः आहार आदि ग्रहण
करने के लिए रानी ने उनसे प्रार्थना नहीं की । रानी ने उनसे पूछा—प्रभो ! आज
इस कुटिया को पावन करने की कृपा कैसे हुई ?

गौतम स्वामी ने कहा—भद्रे ! मैं तेरा पुत्र देखने आया हूँ ।

मृगावती को गौतम स्वामी के कथन से बहुत प्रसन्नता हुई । वह अपने चारों
पुत्रों के पास गई, उन्हें अच्छे कपड़े व बहुमूल्य गहने पहनाए और शीघ्र ही उन्हें
अपने साथ लेकर आ गई ।

गौतम स्वामी ने कहा—भद्रे ! मैं इन पुत्रों को देखने नहीं आया हूँ ।

मृगावती—(आश्चर्य के साथ) तो प्रभो ?

गौतम स्वामी—जो तेरे तलघर में छुपा रहता है और तू ही भोजन-पानी
पहुँचाकर जिसका लालन-पालन करती है ।

मृगावती को गौतम स्वामी के उस कथन से बहुत आश्चर्य हुआ । उसने मन
ही मन सोचा, जिस घटना को मैं, राजा व एक दासी के अतिरिक्त और कोई नहीं
जानता, उसका मुनिवर को कैसे पता चला ? उसने गौतम स्वामी से पूछा तो उन्होंने
भगवान् के द्वारा सुना हुआ वह सारा वृत्तान्त मृगावती को कह सुनाया ।

गौतम स्वामी व मृगावती को बातचीत करते हुए कुछ समय लग गया ।
मृगापुत्र के भोजन के समय का भी अतिक्रमण हो गया था । रानी ने उसे खिलाने के
लिए भोजन-पानी साथ लिया और मुह ढाकने के लिए धरुण लेकर तलघर की ओर
चल दी । गौतम स्वामी भी उसके साथ हो लिए । जब तलघर के समीप पहुँचे तो

रानी ने अपना मुह चार परत वाले कपड़े से बाधा और गौतम स्वामी से भी बाधने के लिए कहा। जब दरवाजा खोला गया तो भयकर बदबू बाहर आई। साप, कुत्ता, गौ आदि के बहुत दिन के कलेवर से जितनी दुर्गन्ध उछलती है, उससे वह कम न थी।

मृगापुत्र भूख से व्याकुल हो रहा था। जब उसे भोजन की गन्ध आई, वह अकुलाने लगा। भोजन उसके सामने रखा तो जैसे भूखा कुत्ता रोटियो पर टूट पड़ता है, वह खाने लगा। अतिशीघ्र खाने के कारण वह भोजन तत्काल नष्ट हो गया व खून व रस्सी के रूप में परिणत होकर शरीर से बाहर आने लगा। मृगापुत्र इतना कुत्सित था कि उस खून व रस्सी को भी पुन खाने लगा। गौतम स्वामी ने जब यह सारा हाल देखा तो उनका हृदय वैराग्य से भर गया। बार-बार उनके मस्तिष्क में एक ही प्रश्न उठता—इस जीव ने ऐसे क्या दुष्कर्म किये थे, जिनका फल उसे इस रूप में भोगना पड़ रहा है। वे सोचते जा रहे थे। कभी उनके मन में आता—क्या जीव-हिंसा कर यह अत्यन्त हर्षित हुआ था या ग्रहण किए हुए व्रतों को इसने तोड़कर पुन प्रायश्चित्त नहीं किया था? कुपात्र को दान दिया था या मद्य, मांस आदि का भोजन कर अत्यधिक उन्मत्त हुआ था? इन्हीं विचारों में तैरते-डूबते हुए गौतम स्वामी भगवान् महावीर के पास आ गए। उन्होंने निवेदन किया—भगवन्! जैसा आपने कहा, वह प्राणी वैसा ही है, किन्तु उसने अपने गत जन्म में ऐसे कौनसे दुष्कर्म किये थे, इसका कृपया निरूपण करे।

भगवान् महावीर ने कहा—गौतम! ध्यान से सुन। इसी भरतक्षेत्र में विजयवर्धन नामक खेड था। उसका अधिपति इक्काई नामक राष्ट्रकूट था। उसके अधीन पाव सौ गाव थे। वह बड़ा अधर्मी, अधमानुरागी, अधर्मजीवी, अधर्मसेवी व अधर्मप्रलोकी था। उसके मुह से प्रतिदिन मारो, काटो, छेदो जैसे घृणित शब्द ही निकला करते थे। प्राणियों की विविध प्रकार से हत्या करना, उन्हें उत्पीडित करना उसका मुख्य कार्य था। वह चोरो का साथ देता था। लूट खसोट से घन इकट्ठा करता था और जनता पर अनहद कर का भार लादता था। उसके अत्याचारों से जनता थरती थी। इस प्रकार अति घोर व रुद्र परिणामों से उसने अशुभ कर्मों का अतिशय उपाजन किया। अन्तिम समय में उसके सोलह भयकर रोग उत्पन्न हुए। बड़े-बड़े चिकित्सकों से उपचार करवाया गया, पर कोई लाभ नहीं हुआ। अन्तिम समय तक वह क्रूरता, पापबुद्धि व आसक्ति में ही रहा, जिसके परिणामस्वरूप वह इतनी भयकर वेदना में उत्पन्न हुआ है। अपने किये हुए शुभ, अशुभ कर्मों का परिपाक तो व्यक्ति को स्वयं भोगना ही पड़ता है।

एक दिन का राजा

एक राजकुमार और दो बरिक्-पुत्रों की अच्छी दोस्ती थी। तीनों साथ-साथ रहते, खेलते, पढ़ते व आनन्दपूर्वक कालक्षेप करते। तीनों ही किशोरावस्था से तारुण्य की ओर बढ़ रहे थे। एक दिन बरिक्-पुत्रों ने राजकुमार से कहा—अपनी यह दोस्ती तो थोड़े ही दिनों की है। जब तुम राजा बन जाओगे, किसी को भी याद नहीं करोगे। फिर अपना मिलना, इस प्रकार बाँटे करना सब असम्भव-सा हो जाएगा।

राजकुमार—नहीं, मैं ऐसा नहीं होने दूँगा। अपनी दोस्ती के बीच बाधक कौन बनेगा ?

बरिक्-पुत्र—आज तो तुम्हारा प्यार हमको मिल रहा है, पर जिस दिन इस सिंहासन पर तुम आरूढ़ हो जाओगे, हमारे जैसों की वहाँ क्या गणना होगी ?

राजकुमार—नहीं मित्रों ! प्रेम सदा विषुद्ध होता है और उसे कोई भी छिन्न-विछिन्न नहीं कर सकता। मेरे हृदय में तुम लोगों के प्रति आज जो भावना है, उसमें किसी प्रकार का भी कोई अन्तर नहीं आ सकता।

बरिक्-पुत्र—हा राजकुमार ! आज तो तुम यही कहोगे, पर उस दिन जो परिस्थिति होगी, उसका उत्तर तुम आज थोड़े ही दे सकते हो ?

राजकुमार—क्यों नहीं ? जैसे तुम चाहो, मैं आज भी प्रतिज्ञाबद्ध हो सकता हूँ।

बरिक्-पुत्र—राजा बनने के बाद क्या तुम हम दोनों को एक-एक दिन का राज्य दे सकते हो ?

राजकुमार—क्यों नहीं ? मैं अभी तुम दोनों के नाम से रुक्का लिख देता हूँ। जब मैं राजा बनूँ, तुम मेरे पास आना और मैं तुम्हें एक-एक दिन के लिए राजा घोषित कर दूँगा।

बरिक्-पुत्रों ने राजकुमार के हाथ का लिखा हुआ रुक्का ले लिया। तीनों की मैत्री प्रतिदिन बढ़ती ही गई। तीनों बड़े हुए और अपने-अपने कार्यक्षेत्र में उत्तर गए। राजा के देहावसान के बाद राजकुमार राजा बन गया और दोनों बरिक्-पुत्र व्यवसाय में लग गये। तीनों को ही अपना व्यवसाय छोड़, इधर-उधर आने-जाने का अवकाश ही कहा था ?

एक दिन एक वारिक्-पुत्र अपने पुराने कागजात सम्माल रहा था । राजकुमार के हाथ का लिखा हुआ वह खका'अचानक उसके हाथ में आ गया । उसने सोचा, खका पुराना तो बहुत हो गया है । सम्भव है, लिखने वाले को अब याद भी न हो, पर प्रयत्न कर लेना तो उचित ही है । वह राजा के पास पहुँचा । उसने खका राजा के हाथ में दिया । राजा को अपने हाथ से लिखे खके का व अपने मित्र का स्मरण हो आया । उसने बड़े प्रेम से आगन्तुक मित्र का सम्मान किया और कहा—जब चाहो एक दिन का राज्य ले सकते हो

मित्र ने कहा—कल ही ।

दूसरे दिन प्रातः काल होते ही उद्धोषणा हो गई कि आज एक दिन के लिए, अमुक वारिक्-पुत्र राजा होगा । सारी जनता चकित रह गई । मन्त्री ने सोचा—एक दिन में तो राज्य का चाहे जो किया जा सकता है । कहीं राज्य चौपट न हो जाए । वह सावधान हो गया । ज्योंही वारिक्-पुत्र आया, मन्त्री ने अनुचरो को आदेश दिया, नए राजा साहब के खूब अच्छी तरह तेल-मर्दन किया जाए व स्नान करवाया जाए । खूब अच्छा भोजन बने, विश्राम हो और फिर सगीत व नृत्य का कार्यक्रम रखा जाये । वारिक्-पुत्र इसमें लुभा गया । उसने सोचा, राजप्रासादों का यह आनन्द जीवन में बार-बार थोड़े ही मिलने को है । मन्त्री को समय व्यतीत करना ही था । दिन का करीब तीसरा पहर समाप्त हो गया । अब नए राजा को राज्यसभा में लाया गया और सभी प्रमुख-प्रमुख व्यक्तियों से परिचय करवाया गया ।

नए राजा ने पूछा—भण्डार में धन कितना है ?

मन्त्री—महाराज ! खजाना तो खाली है ।

नया राजा—तो क्यों नहीं कर बढ़ा दिए जाए ?

मन्त्री—हा महाराज ! यह उचित ही है ।

नया राजा—उद्धोषणा कर दो, आज से अमुक-अमुक वस्तुओं पर इतना कर बढ़ा दिया गया है । शहर के बड़े-बड़े श्रीमन्तों को बुलाया जाए और रिक्त खजानों को उनसे ब्याज पर रकम लेकर पूरा किया जाए ।

मन्त्री—महाराज ! रुपए किसके नाम से लिए जाए ?

नया राजा—मेरे नाम से ।

मन्त्री ने बड़े-बड़े श्रीमन्तों को बुलाया और भण्डार भर लिया । सायकाल हुआ और मन्त्री ने फिर सगीत व नृत्य प्रारम्भ करवा दिया । आमोद-प्रमोद व विश्राम में रात्रि पूर्ण हुई और दूसरे दिन वारिक्-पुत्र अपने घर पहुँच गया ।

देश में ज्योंही कर-वृद्धि की उद्धोषणा सुनी गई, जनता ने उसका तीव्र विरोध किया । सारे ही कहने लगे—यह क्या राजा आया है । इस प्रकार यदि कर-वृद्धि हुई तो यहाँ रहना दूबर हो जाएगा । एक ही दिन में इस राजा ने सारा व्यवसाय चौपट कर दिया ।

कुछ ही दिन हुए कि वे श्रीमन्त उस वणिक्-पुत्र के पास पहुँचे और अपनी रकम और उसका ब्याज मागने लगे। रकम व उसका ब्याज वह कहा से लाए। वह राज्य-भण्डार में जमा हो चुकी थी। कर-वृद्धि की निन्दा, रकम व उसके ब्याज के प्रश्न को लेकर वह वणिक्-पुत्र बहुत दुःखित हुआ और अन्ततः उसे वह देश छोड़ कर चले जाना पड़ा।

दूसरे वणिक्-पुत्र को भी याद आया कि एक दिन का राज्य तो मुझे भी मिला हुआ था। रकम लेकर वह भी राजा के पास पहुँचा। राजा ने उसकी बात को भी स्वीकार किया और उसे भी एक दिन का राजा बना दिया। मन्त्री घबराया। उसने सोचा कि इस तरह एक-एक दिन के राजा कितने आयेंगे? राज्य-व्यवस्था भग हो सकती है और अशान्ति फैल सकती है, पर वह भी चतुर था। जिस तरह पहले वणिक्-पुत्र के साथ समय-यापन किया था, उस प्रकार इसके साथ भी करने का प्रयत्न किया गया, किन्तु सफल न हो सका। वणिक्-पुत्र ने उत्तर दिया—मैं तो तेल-मर्दन, स्नान, नाश्ता आदि सब कुछ घर से कर आया हूँ। मुझे तो भण्डार में ले चलो। मन्त्री बेचार क्या करता? नया राजा और मन्त्री दोनों वहाँ चले आए। भरा हुआ खजाना देखकर राजा विस्मित हो गया। उसने आदेश दिया, जब इतना धन भण्डार में पड़ा है, क्यों नहीं इसे व्यवसाय के लिए कम ब्याज पर वितरित कर दिया जाए? शहर के बड़े-बड़े व्यवसायी बुलाए गए और लाखों रुपये उनमें बाँट दिए गए। व्यवसायियों ने पूछा—हम किसके नाम से रुपये जमा करें?

राजा ने कहा—मेरे नाम से।

राजा ने मन्त्री को आदेश दिया—जनता पर कर-भार बहुत है, इसलिए अमुक-अमुक वस्तुओं पर से कर हटा दिया जाए। मन्त्री को स्वीकार करना पड़ा। जनता बड़ी खुश हुई। सायकाल ही वणिक्-पुत्र अपने घर जा सोया। हर जगह इस नये राजा की प्रशंसा ही प्रशंसा होने लगी। एक ही दिन के राज्य में एक ने यश अर्जित किया और एक ने अपयश, एक सुखी हुआ और एक दुःखी। सचमुच ही यह मनुष्य-जीवन एक दिन के राज्य जैसा है। उसे प्राप्त कर मनुष्य अपना आगे का जीवन सुधार भी सकता है और बिगाड़ भी।

खन्धक मुनि

श्रावस्ती नगरी में कनककेतु नामक राजा था। उसकी महारानी का नाम मलयामुन्दरी, कुमार का नाम खन्धक व पुत्री का नाम सुनन्दा था। खन्धक की प्रतिभा बड़ी विलक्षण थी। वह प्रत्येक कार्य को बड़ी कुशलता के साथ करता था। सुनन्दा भी अपने भाई की तरह ही विदुषी, सूरूपा व गुणवती थी, भाई और बहिन के बीच गहरा प्रेम था। सुनन्दा का विवाह कुन्ती नगर के राजा पुरुषसिंह के साथ हुआ।

एक बार श्रावस्ती नगर में विजयसेन मुनि का शुभागमन हुआ। हजारों श्राद्धियों ने उनके दर्शन किये व प्रवचन सुना। राजकुमार खन्धक भी गया। मुनि के उपदेश ने उसके विचार ही बदल दिये। राजकुमार से उसे एक निर्ग्रन्थ बनने की प्रेरणा जाग्रत हुई। मुनि से उसने प्रार्थना की। उन्होंने उसे और उपदेश दिया जिससे उसकी वैराग्य भावना और सुदृढ़ हो गई। राजकुमार ने माता-पिता से अनुमति ग्रहण कर भागवती दीक्षा ग्रहण करली। स्थाविर मुनियों के सहवास में वे रहते तथा तपश्चरण, स्वाध्याय व ज्ञानाभ्यास करते। एक समय बीतने तक उन्होंने अपने शास्त्रीय ज्ञान में एक सीमा तक प्रवणता प्राप्त कर ली।

साधना की भी विभिन्न श्रेणियाँ होती हैं। कुछ एक में एक साधक दूसरे साधु की नेत्राय में रहकर साधना करता है और उसके बाद वह स्वतन्त्र होकर भी कर सकता है। खन्धक मुनि ने अपने ज्ञानाभ्यास व साधना की एक श्रेणी पार कर चुकने पर गुरु से अकेले विहरण की अनुमति प्राप्त कर ली। तपस्या में रत रहते हुए वे अकेले ही ग्रामानुग्राम विचरण करने लगे। खन्धक मुनि के पिता राजा कनककेतु को जब यह पता चला तो उसने अपने पाच सौ सुभट उनके अग्ररक्षक के रूप में नियुक्त कर दिये। यद्यपि साधक किसी का भी अवलम्बन व सहयोग नहीं चाहता और न वह किसी भी परिस्थिति में भय खाता है। खन्धक मुनि को इनकी आवश्यकता नहीं थी, पर राजा ने अपने मोह-राग के बश ऐसा कर दिया। खन्धक मुनि ने उसे कभी भी मन से नहीं चाहा। वे पाच सौ सुभट जिधर मुनि विहार करते उनकी छाया की तरह उनके साथ-साथ जाते।

सौ-सौ प्रयत्न के बावजूद भी होनहार कभी नहीं टल सकती। खन्धक मुनि के साथ भी ऐसा ही हुआ। वे विहरण करते हुए अपनी बहिन की राजधानी कुन्ती नगर में पधारे। उस दिन उनके एक मास के तप का पारण था। मुनि गोचरी के लिए शहर में आये। सहवर्ती पाच सौ सुभटों ने सोचा कि यह तो बहिन की राजधानी है। यहाँ इनकी सत्कर्ता की क्या आवश्यकता है। वे शहर में इधर-उधर घूमने के लिए निकल पड़े।

राजा और रानी ऊपर गवाक्ष में बैठे चोपड़ खेल रहे थे। अचानक रानी की नजर मुनि पर पड़ी। उसे अपने भाई की स्मृति हो आई, अतः खेलने से दिल उचट गया। राजा को उससे रानी पर मुनि के साथ अनुचित सम्बन्ध का सन्देह हुआ। उसने झल्लाते हुए खेल को उसी समय समाप्त कर दिया। सभा में आया और झल्लादो को बुलाकर उसने आदेश दिया कि जो मुनि अभी-अभी महलों के नीचे से गुजरा है, उसकी अतिशीघ्र ही चमड़ी उतार दी जाये। झल्लादो ने आदेश शिरोधार्य किया और मुनि को पकड़कर इमशान में ले गये। चमड़ी को छीलना आरम्भ कर दिया। वह भयंकर वेदना थी। किन्तु मुनि का मन अडोल रहा। उस समय न किसी के प्रति शत्रुता थी और न प्रतिशोध की भावना। समत्व में झूलते हुए ध्यानस्थ वस्थित रहे। उनके मुँह से उफ की ध्वनि तक भी नहीं निकली। अविचलित मन से स्थिर रहे। उन्हें देखकर ऐसे लग रहा था कि जैसे उनके शरीर से उनका कोई सम्बन्ध भी नहीं है। उसी तितिक्षाभाव में उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त किया और निर्वाण पद पर आरूढ़ हुए।

मुनि के छीलने की बात विद्युत्वेग से शहर में फैल गई। पाच सौ सुभटों ने भी वह सारी घटना सुनी तो उनका दिल रो पड़ा। वे राजा के पास पहुँचे और उन्हें सारी वस्तुस्थिति बताई। अपने साले की अपने ही द्वारा इस तरह निर्मम हत्या से राजा को भी बहुत दुःख हुआ। रानी के पास यह सूचना पहुँची तो हृदय को बहुत आघात लगा। ऐसी हृदय विदारक बात वह अपने जीवन में कभी सुनेगी भी, ऐसी कल्पना भी कैसे की जा सकती थी? नगरवासियों ने भी उसे बड़ी घृणा व ग्लानि-पूर्वक सुना।

बर्मघोष मुनि उसी दिन वहाँ पधारे। राजा, रानी व सहस्रो व्यक्ति वहाँ पहुँचे। राजा और रानी के मन में दुःख भरा हुआ था। राजा के मुँह से सहज ही में यह प्रश्न निकल पड़ा—भगवन्! मेरे से यह पाप क्यों हुआ? इसकी भूमिका क्या है?

मुनिवर ने उत्तर दिया—राजन्! खन्धक से अपने पूर्व भव में एक महापाप हुआ था। खन्धक उस समय भी राजकुमार था। उसने बहुत प्रसन्नता के साथ एक काचर का छिलका उतारा। तब उस समय उसी काचर में एक बीज था। पूरा का पूरा

छिलका बिना कही तोड़े उसने उतार लिया था । कुमार अपनी इस चातुरी पर फूला नहीं समाया । उस समय उसके कर्मों का गाढ़ बन्धन हुआ । उसके परिणाम स्वरूप उसकी चमड़ी उतारी गई और तेरे द्वारा इसलिए उतारी गई कि तू भी उसी काबर में एक बीज था ।



दन्तिल

दन्तिल एक स्वाभिमानी हरिजन युवक था। उसके हृदय में अपने स्वामी के प्रति सहज श्रद्धा रहती थी और साथ ही साथ कार्य-निष्ठा भी। वह अपने आत्म-सम्मान के विरुद्ध कुछ भी चही सह सकता था। राजमहल व प्रधानमंत्री-आवास के शौचालयों की सफाई करना उसके जुम्मे था। वह प्रतिदिन प्रातः काल यथा-समय अपने काम पर पहुँच जाता। कभी किसी ने भी उसके काम की शिकायत नहीं की।

एक बार प्रधानमंत्री के पुत्र का विवाह-प्रसंग आया। प्रधानमंत्री द्वारा उसके लिए अभूतपूर्व तैयारियाँ आरम्भ हुईं। उसके मन में अपार उल्लास था। मकानों को अच्छी तरह से सफाया गया और भव्य सजावट की गई। तोरण द्वार बनाए गए और वहाँ पुष्पमालाओं, कलशों व कदलीदल आदि मांगलिक वस्तुओं से भव्यता में मोहकता उड़ेली गई। छत्र, चवर, ध्वजा व अन्यान्य तत्सम उपकरण विशेष नये बनाए गए। दशों दिन पूर्व से ही वहाँ सैकड़ों-सहस्रों व्यक्तियों का भोजन बनता और बड़े आमोद-प्रमोद में सभी निमग्न रहते। इस मांगलिक अवसर पर दन्तिल भी अपने काम में पूर्णतः सावधान था। वह अपना दैनंदिन कार्य तो करता ही और साथ ही साथ जब सभी भोजन से निवृत्त हो लेते तो झूठी पत्तलें व इधर-उधर बिखरे हुए जठन को बड़ी तत्परता व चातुरी से उठाता। जब वह अपना कार्य कर चुकता, उसे एक हर्ष की अनुभूति होती।

उत्सव के इन्हीं दिनों में एक दिन वरिष्ठ सरकारी अधिकारियों का भोजन हो रहा था। एक ओर की पक्कि भोजन से निवृत्त हो चुकी थी और दूसरी ओर भोजन हो रहा था। दन्तिल सफाई करने के निमित्त शीघ्रता से आया और अपने काम में जुट पड़ा। प्रधानमंत्री की उस पर नजर पड़ी। उसे यह अनवसर की बात लगी। बड़े जोर से उसे डाटते हुए प्रधानमंत्री ने कहा—कौन है यह अस्मृत ? भीतर कैसे घुस आया ? सरदार लोग खाना खा रहे हैं और इसे लगी है सफाई करने की उतावल ? जल्दी निकल बाहर वरना डण्डे मारे जाएंगे।

प्रधानमंत्री की तर्जना दन्तिल के दिल को कचोट गई। उसका स्वाभिमान

जाग उठा। भरती हुई आखी व गर्म निश्वास के साथ उसके मुह से यह आह निकल पड़ी कि कर्तव्यपरायणता का यह पुरस्कार ? अन्त्यज हू तो क्या मैं मनुष्य नहीं ? इतना तो कुत्ते को भी नहीं दुत्कारा जाता। ज्योंही वह अपना मन मसोसे बाहर जा रहा था, उसकी नजर एक कुत्ते पर पड़ी, जिसे मोती के नाम से पुकारा जाता था। वह गद्दे पर बैठा था और दगो-बीसो आदमी उसके साथ आमोद-प्रमोद कर रहे थे। दन्तिल का धाव और गहरा हो गया। उसके मन में आया, मैं सफाई का काम करता हूँ, इसका तात्पर्य यह तो नहीं कि एक कुत्ते के बरातल से भी नीचा बन जाऊँ। उसकी आखें लाल हो गईं, भुजाएँ फड़कने लगीं, दात होठ काटने लगे और हृदय में आग लग गई। उसने अपने मन ही मन कहा—बैभव और सत्ता से सम्पन्न होकर व्यक्ति दूसरे को दुत्कारता है। वह अपने अह में भर जाता है, अन अपने से अतिरिक्त मनुष्य को नगण्य समझता है। किन्तु वह नगण्य प्राणी भी अपने स्वत्व पर ही जीता है। प्रधानमंत्री अधिकार-सम्पन्न है तो राज्य-संचालन करने के लिए है, किन्तु किसी का स्वाभिमान लूटने के लिए नहीं। मैं भी प्रधानमंत्री के यहाँ काम करता हूँ, इसका तात्पर्य यह नहीं कि मैंने अपना सम्मान इसके यहाँ गिरवी रख दिया है ? अधिकारी की मादकता जीवन की अलहता की तरह मनुष्य को अन्धा बना देती है, पर जब तिरस्कृत व्यक्ति के हृदय में भी प्रतिशोध की ज्वाला भभक पड़ती है तो वह उसमें उसे भस्म भी कर डालता है। मैं वह दन्तिल हूँ जो प्रधानमंत्री को भी यह सोचने के लिए बाधित कर दूँगा कि जिने छोटा समझकर दुत्कारा जाता है, वह क्या नहीं कर सकता ?

दन्तिल जहर की एक घूट पीकर प्रधानमंत्री के निवास से निकल पड़ा और उन्हीं विचारों में तैरता-डूबता अपने घर पहुँच गया। दिन भर खोया-खोया-सा रहा। रात को पूरी नीद भी नहीं आई, फिर भी यथासमय राजमहलों की सफाई के लिए वह और उसकी श्रीमती, दोनों पहुँच गए। थोड़ी देर काम किया और बाद में थकावट का बहाना लेकर विश्राम के निमित्त दन्तिल एक ओर बैठ गया। उसकी श्रीमती भी उसके पास आकर बैठ गई। दोनों में बातचीत आरम्भ हुई। दन्तिल ने अपनी श्रीमती से कहा—अपना राजा तो निरा बुद्धू है। शासन-संचालन की पद्धतियों से पूरा अनभिज्ञ है।

महतरानी ने उसे बीच ही में टोकते हुए कहा—बस, बस रहने दो। कुछ हौश से बात करो। हमारे राजा तो बड़े उदार, जनसेवी व कुशल प्रशासक हैं। ऐसे राजा तो भूतकाल में भी थोड़े ही हुए हैं। ऐसे राजा के लिए ये शब्द आज कहे हैं और कभी कहा तो जीभ निकाल लूँगी।

दन्तिल ने महतरानी की बात पूरी होने के पूर्व ही कहा—पहले मेरी पूरी बात तो सुनले। राजा की उदारता व न्यायप्रियता से मैं दो मत थोड़े ही हूँ, पर केवल उदारता व न्यायप्रियता से ही काम नहीं चल सकता। राजा बहुत ही भोला है और

जमाना है चारसौबीसी का। यह सब कुछ प्रधानमंत्री पर ही छोड़ देता है। जो वह चाहे, करे। इस प्रकार राज्य-व्यवस्थाएँ थोड़े ही चल सकती हैं। जिस व्यक्ति के हाथ में पूरे अधिकार आ जाएँ, क्या वह यह नहीं चाहेगा कि प्रभुसत्ता को हथिया कर स्वयं ही सर्वेसर्वा बन जाए। प्रधानमंत्री आजकल ऐसी ही चालें चल रहा है और राजा के विश्वास का अनुचित लाभ उठा रहा है। वह तो आजकल राज-सिंहासन हथियाने की पूरी तैयारियाँ कर रहा है। उसके तो पुत्र का विवाह क्या हो रहा है, शासन-सूत्र उलटने का बड़े से बड़ा षड्यन्त्र सफल हो रहा है। राज्य के वरिष्ठ अधिकारी कई दिनों से उसके यहाँ माल उठा रहे हैं। मला जो व्यक्ति इतने दिन तक उसके यहाँ का नमक खाएगा, वह उसके हाथ में नहीं हो जाएगा? प्रधानमंत्री कूटनीतिज्ञ है। वह किसी को प्रलोभन देकर, किसीकी पदोन्नति कर, सबको अपने से प्रभावित कर अपने हाथों में कर रहा है। दूसरी ओर छत्र, चवर आदि विविध बानें बनाये जा रहे हैं और अस्त्र-शस्त्र भी सवारे जा रहे हैं। आवश्यकता हुई तो उनका उपयोग भी किया जाएगा। विवाह का तो केवल बहाना है और उसके माध्यम से राज्य-क्रान्ति करने के उपक्रम हो रहे हैं। कूटनीतिज्ञों को कोई भी पहचान नहीं सकता। ये किस बिल में घुसते हैं और न जाने कहाँ जाकर किस बिल से निकलते हैं।

महतरानी—महाभाग! मैं आपके पाव पकड़ती हूँ। ऐसी बात जबान से मत निकालो। अपने क्या लेना-देना है, कोई राजा हो। अपने को तो सिंहासन मिलेगा नहीं। यदि ये बातें किसी ने सुन ली तो हम तो सब तरह से मारे जाएंगे। राजा इसलिए क्रुपित होगा कि उसकी हमने निन्दा की है। प्रधानमंत्री इसलिए जलेगा कि हमने उसके षड्यन्त्र का भण्डाफोड़ कर दिया। ऐसी बात मुह से न निकालने में ही अपना मला है। देखते रहो क्या-क्या होता है?

दन्तिल—तू तो बहुत ही डरपोक है। यहाँ अपनी बात कौन सुन रहा है। क्या कोई तीसरा व्यक्ति भी आस-पास में तुझे दिखाई देता है?

महतरानी—दिखाई चाहे कोई भी न दे, पर दिवालो के भी कान होते हैं। बात को फूटते समय नहीं लगता। अपने को मजदूरी करनी है और उससे जो कुछ मिल जाए, उससे जीवन-निर्वाह करना है।

राजा अपने दैनिक कार्यों से निवृत्त होकर गवाक्ष में खड़ा शहर की ओर आकाश रहा था। हरिजन दम्पति का सारा सवाद उसके कानों में अनायास ही पड़ा। वह क्रोध में उबलने लगा। भावी चिन्ताओं से व्यथित हो गया और प्रधानमंत्री की दुश्चेष्टाओं पर खौलने लगा। दन्तिल का कहना ठीक है या प्रधानमंत्री की राज्य-मन्त्रि, इस सशय के झूले में झूलने लगा। नाना प्रकार के विचारों से उसका दिमाग भारी हो गया। उसने इस कथन की सत्यता को परखने के लिए अपने निकटतम गुप्तचरों की बुलावा और जाच-पड़ताल करने का निर्देश किया।

गुप्तचर तत्क्षण प्रधानमंत्री के यहाँ पहुँचे, जानकारी प्राप्त की और उल्टे पाव लौट आए। राजा से सारी वस्तुस्थिति बतलाई। दन्तिल का कहना यथाथ निकला। राजा ने तुरन्त कार्यवाही की और प्रधानमंत्री को बन्दी बनाकर जेल में डाल दिया। पुत्र का विवाह धरा ही रह गया। सारी खुशियाँ हवा हो गईं। प्रधानमंत्री पर वज्रा-घात-सा हुआ। उसे इस बात की वेदना थी कि जीवन में कभी भी किसी का दुःख नहीं किया। सबके हित का ध्यान रखा और आज यह सर्वथा अनानोचित क्यों हुआ, और किसने किया? वह अपने प्रतिस्पर्धी व प्रतिद्वन्दी व्यक्तियों को याद करने लगा, पर एक भी घटना व व्यक्ति याद नहीं आया, जिसमें ऐसा कुछ बना हो। अन्ततः दन्तिल को दी गई डाँट उसे याद आई। हृदय में बिजली-सी कोश गई। वह ममभ्रम गया, यह सब कुछ उसी की करामात है। प्रधानमंत्री ने अपने पुत्र को बुलाया और वस्तुस्थिति कह सुनाई। पिता की अनुमति पाकर मिठाइयों व मेवे के वट्टत मारे थाल भरकर लडका दन्तिल के घर पहुँचा। दन्तिल ने जब उसे अपने घर देखा तो मन ही मन अपनी बुद्धि को मी-सी बार सराहने लगा। अमात्यपुत्र का स्वागत करते हुए उसने कहा—साहब! मेरे जैसे अश्वम व्यक्ति के लिए आपके द्वारा यह कष्ट कैसे?

अमात्यपुत्र कुछ शर्माया-सा बोला—अपना तो घरेलू सम्बन्ध है। विवाह का प्रसंग था, सबको मिठाइयाँ बाँटी गईं थी तो उसमें तुम्हारा भी तो नम्बर था। और जगह मिठाइयाँ देने के लिए दूसरे व्यक्तित्व गए हैं और तेरे घर में स्वयं आया हूँ।

अमात्यपुत्र के दो शब्दों से ही दन्तिल पानी-मानी हो गया। उसके मुँह पर हसी खिल उठी। उसके तनिक भी रोष नहीं रहा। वह उस व्यवहार से बहुत अधिक दब गया। अमात्यपुत्र के पैरों में गिर पड़ा। बोला—निर्देश करें। मैं तो आपका ही दास हूँ। मेरे योग्य कोई भी सेवा हो, मैं उसके लिए रात-दिन तत्पर हूँ।

डबडबाई हुई आँखों से अमात्यपुत्र बोला—‘अभी तो सबसे बड़ी सेवा यही है कि तुम अपना जाल समेटो।’ वह आगे कुछ भी नहीं बोल पाया। उसका गला रुन्ध गया। दन्तिल का भी दिल उमड़ पड़ा। उसने कहा—महाभाग! घर जाकर आराम से लेटें। कल दोपहर बाद प्रधानमंत्री आप सबके बीच हिल-मिलकर बातें करते हुए मिलेंगे।

दूसरे दिन सबेरा होते ही दन्तिल अपनी पत्नी के साथ उसी तरह सफाई करने के लिए राजमहलों में पहुँचा। थोड़ी देर काम किया और थकावट का बहाना बनाकर उसी जगह बैठ गया और बातें करने लगा। राजा ने उन्हें बातें करते हुए देखकर अपने कान गड़ा दिए। वह भी सुनने में तल्लीन हो गया। दन्तिल ने कहा—राजा तो कानों के कच्चे होते हैं। उनमें अपने मस्तिष्क से सोचने का कोई माह्र नहीं हुआ करता। जैसे उनके कान भर दिए जाते हैं, वैसे ही कदम उठा लेते हैं।

पिता के समान प्रधानमंत्री को राजा ने बन्दी बना डाला। वह तो राजा और प्रजा के हित-चिन्तन में ही अर्हनिश प्रयत्नशील रहता था। बड़ा राज-भक्त था। उसके कोई भी शत्रु नहीं था और आज तक उसने किसीका बुरा भी नहीं किया था। ऐसे प्रधानमंत्री तो बिरले ही होते हैं। उसने तो सारा जीवन ही राज्य की सेवा में होम दिया था। आज उसे इसका यह पुरस्कार मिला है।

महतरानी—तुम्हारे क्या हो गया ? आए दिन तुम्हें यह क्या सूझता है ? जब देखो तब राजा की ही आलोचना। क्या जीवन भार लगने लगा है ? कल तो प्रधानमंत्री की निन्दा करते थे और आज इस तरह उसके गुण बघारते हो।

दन्तिल—कल मैंने क्या कहा था ? क्यों किसी के सिर झूठा दोष मढ़ती हो ? प्रधानमंत्री के विरुद्ध कुछ कहना तो बहुत बड़ी बात है, मैं उसके विरुद्ध कुछ सोच भी कैसे सकता हूँ ? जिस व्यक्ति ने रात-दिन एक कर जनता की व राजा की मलाई के लिए अपने जीवन का भी उत्सर्ग कर दिया है, वह कभी भी किसी की बुराई नहीं कर सकता।

महतरानी ने कल की सारी घटना उसे याद दिलाई। दन्तिल ने कहा—मैं तेरी सौगन्ध खाकर कहता हूँ, मैंने कभी ऐसा नहीं कहा। वह राजा को क्यों भारना चाहेगा। उसका तो वर्तमान में भी राजा से कोई कम सम्मान थोड़े ही है। उसके तो अभी लडके की शादी हो रही है। वह तो राजा तथा अन्य अतिथियों के स्वागत के लिए नाना तैयारियाँ कर रहा है। छत्र-चवर तो वह इसीलिए बनवा रहा है। राज्य-शासन को उलटने की तो वह स्वप्न में भी नहीं सोच सकता।

राजा ने यह सारा उदन्त सुना तो वह समझ नहीं पाया कि आखिर सत्य क्या है ? वह इस समस्या में उलझ गया कि कल इसने वैसा क्यों कहा ? चौबीस घण्टे में बात का इतना अन्तर क्यों हुआ ? महतरानी को भी यह समस्या सताए जा रही थी। उसने दन्तिल से पूछ लिया—कल तुमने मुझे वह बात क्यों कही थी ?

दन्तिल ने कहा—कल तो मैंने बोलत अधिक चढ़ा ली थी। उस बहक में सम्भव है, कुछ अनर्गल निकल गया हो, पर प्रधानमंत्री तो बड़े ही सज्जन, राज्य व प्रजा के हितचिन्तक तथा न्यायप्रिय हैं।

राजा को मन में बहुत ग्लानि हुई। उसने सोचा—दूसरो के कहने से मैंने अनर्थ कर डाला। प्रधानमंत्री ने जीवनभर प्राणोत्सर्ग कर मेरी सेवा की और मैंने उसे यह पुरस्कार दिया ? महलों से उसी समय दीठा और अपने हाथों से प्रधानमंत्री को बन्धन-मुक्त किया। पुन-पुन उससे क्षमा-याचना की और ससम्मान उसे घर पहुँचाया।

दन्तिल को जब यह सवाद मिला तो वह बासो उछलने लगा। उसके हृदय से अभ्यक्त-सी ध्वनि निकली—छोटे में भी करामात होती है। जिसे उपेक्षणीय समझा जाता है, वह भी सृष्टि का महत्त्वपूर्ण सदस्य होता है।

सेठ पद्मरुचि

राम का जीव किसी एक भव मे महापुर नामक नगर मे एक श्रेष्ठपुत्र था। उसका नाम पद्मरुचि था। वह धर्म तत्त्व का ज्ञाता, द्वादश व्रतधारी श्रावक था। एक दिन महापुर नगर से एक गोकुल गुजरा। एक वृषभ अशक्त होकर रास्ते पर ही गिर पड़ा। गोकुल आगे चला गया। असहाय वृषभ अपनी अन्तिम श्वासे गिन रहा था। श्रेष्ठपुत्र पद्मरुचि वहा महज ही आ पहुँचा। उसके मन मे वृषभ की मरणा-सन्न स्थिति पर करुणा आई। वह सद्भावपूर्वक वहा ठहरा। वृषभ को चार शरण दिलाए, नवकार मन्त्र सुनाया। वृषभ उस सद्विचार के साथ मरा और उमी पुण्य-प्रभाव से उसी नगर के राजा छत्रछाय के घर पुत्र रूप मे उत्पन्न हुआ। माता-पिता ने उसका नाम वृषभध्वज दिया।

एक दिन राजकुमार क्रीडा करता हुआ वही पहुँच गया, जहा अपने वृषभ के भव मे वह मरा था। स्थल को देखकर उसे जातिस्मरण ज्ञान हो गया। अपने पूर्व भव का सारा वृत्तान्त उसे याद आ गया। उसे अपने उपकारी से मिलने की और उस पर प्रत्युपकार करने की प्रबल इच्छा हुई। उसने वहा एक देहरा बनवा दिया और उसकी दीवारो पर उस घटित घटना का चित्र बनवा दिया। वहा एक आरक्षक नियुक्त किया और उससे कहा—जो कोई व्यक्ति इस चित्र के हार्द को ममझने वाला आए, उसे मेरे पास ले आओ। वह मेरा परम उपकारी है।

किसी दिन श्रेष्ठकुमार पद्मरुचि जो अब स्वयं श्रेष्ठी के नाम से ही विख्यात हो चला था, वहा आ गया। उसने चित्र देखा। सारी घटना तत्काल स्मृति मे आई। आरक्षक से उस देहरे का वृत्तान्त जाना तो उसने समझ लिया कि इस नगर का राजा वृषभध्वज ही मेरे द्वारा उपकृत उस वृषभ का जीव है। आरक्षक के साथ वह राजदरबार मे पहुँचा। परिचय पाकर राजा उसके चरणो मे गिर पड़ा और बोला—यह राज्य आपकी ही देन है। अतः आप इसका उपभोग करे।

राजा ने नगर मे सेठ को अपना ज्येष्ठ बन्धु घोषित कर दिया। राजकाज भी उसके परामर्श से चलाने लगा। तात्पर्य, नगर के लोग दोनों को ही राजा की बुद्धि से देखते। दोनों का प्रेम अन्त तक निभा। जन्मान्तर से वे ही दोनों मित्र राम और सुग्रीव हुए। सेठ का जीव राम, वृषभ का जीव सुग्रीव। सेठ ने वृषभ का उपकार किया था, अतः सुग्रीव ने सीता की खबर लाकर अपने उपकार का बदला चुकाया।

बैया और बन्दर

सर्दी का समय था। आकाश बादलो से भरा था। फिरमिर-फिरमिर बूँदें गिर रही थी। ठण्डी-ठण्डी हवा चल रही थी। सर्दी की ठिठुरन से कोई भी मनुष्य घर से बाहर निकलना नहीं चाहता था। पशु भी अपनी माद में सिकुड़े हुए बैठे थे। एक बैया अपने घोसले में सुखपूर्वक बैठा था, किन्तु एक बन्दर ऐसे मौसम में ठिठुरता हुआ शरण पाने के लिए इधर से उधर दौड़ रहा था। बैया की अचानक नजर उस पर पड़ी। उसे दया आ गई। वह बोला—

तव कला विपुला प्रतिवर्तते, तव वपुश्च जनेन सम कपे !

मनसि चित्रमशेषमिहास्ति मे, किमु न यत् कुरुषे निजमन्दिरम् ?^१

हे बन्दर ! मनुष्य के समान तेरी आकृति है। बड़ा होशियार भी है। मुझे बड़ा आश्चर्य है कि ऐसी स्थिति में भी तू अपने रहने के लिए कोई स्थान क्यों नहीं बना लेता ? यदि कोई स्थान बनाया हुआ होता तो आज कड़ाके की इस सर्दी में इस तरह ठिठुरता तो नहीं। देख, तेरे सामने मैं तो एक छोटा-सा व अशुद्ध प्राणी हूँ, फिर भी इतनी समझ तो रखता हूँ। सर्दी में बड़े आनन्द से बैठा हूँ।

बैया का यह उपदेश बन्दर को अच्छा नहीं लगा। आक्रोश के साथ उसने बैया के घोसले की ओर देखा और बोला—छोटे व्यक्तियों द्वारा इस तरह धृष्टतापूर्ण उपदेश ? मैं कभी सहन नहीं करूँगा। वह उछला और एक ही क्षण में उसके घोसले को तोड़कर वृक्ष पर जा बैठा। बैया से स्वामिमान के साथ बोला—तू ने मेरी आकृत देखी ?

अपनी आँखें मलते हुए बैया ने उत्तर दिया—अपात्र को हित-शिक्षा देने का यही परिणाम आया करता है।

^१. राजस्थानी भाषा में इसके लिए निम्न बोझा कहा जाता है—

हाथ तेरे पाव तेरे, मानुष-सी बेह रे।

भोंपड़ी क्यों ना मंडे बन्दर, ऊपर वरखे मेह रे ॥

श्रेणिक का नरक गमन

भगवान् श्री महावीर वृहत् श्रमण-समुदाय के साथ राजगृह नगर में पधारे । राजा श्रेणिक राज-परिवार और सेना के साथ बड़े ठाठ से वन्दन करने के लिए आया । विशाल परिषद् में धर्मोपदेश हुआ । देशना के अनन्तर श्रेणिक राजा ने खड़े होकर विनम्र भाव से भगवान् से पूछा—भगवन् ! आपके निर्ग्रन्थ प्रवचन में मेरा पूर्ण विश्वास है और उसे ही मैं यथार्थ मानता हूँ । आपके प्रति मेरी अगाध श्रद्धा है । आप बताएं, मैं यहाँ से काल-धर्म को प्राप्त होकर किस योनि को प्राप्त करूँगा ? सारी परिषद् जानने को उत्सुक हो उठी थी । श्रेणिक के मन में अपूर्व उत्साह था और निश्चय था—भगवान् मेरे लिए कोई विनिष्ट गति का ही निरूपण करेंगे ।

भगवान् ने उत्तर दिया—श्रेणिक ! यहाँ से आयुष्य पूर्ण कर तू पहली नरक में पैदा होगा ।

श्रेणिक स्तब्ध रह गया । सारी परिषद् विस्मित हो उठी । भगवान् ने कहा—श्रेणिक ! डरो मत । विराट सुखो की ओर जाते हुए तुम्हारा यह नरकवास बहुत ही लघु है । उस नरक योनि को पारकर तू फिर मनुष्य योनि प्राप्त करेगा और मेरे ही जैसा भावी चौबीसी का प्रथम तीर्थंकर होगा ।

श्रेणिक—भगवन् ! किन कर्मों के परिणामस्वरूप मुझे यह नरक का भोग मिला ?

भगवान्—तूने ग्राहृत्—धर्म प्राप्त करने से पूर्व शिकार खेलते समय एक गर्भवती मृगी को अपने बाण से मारा था और उस हिंसा-कृत्य पर गर्वित हुआ था कि मैंने कैसा लक्ष्य साधा है कि एक ही बाण से हिरणी और उसके गर्भस्थ बच्चे बीध गए । उस अकृत्य की अतिशय श्लाघा से यह निकाचित (नहीं टूटने वाला) कर्म-बन्ध हुआ और वह तुझे अनिवार्य रूप से भोगना ही पड़ेगा ।

वृद्धावस्था में यही श्रेणिक राजा राज्यलोलुप पुत्र कौणिक के द्वारा कारावास में डाला गया । माता चेलना के द्वारा कौणिक दुत्कारा गया तो उसे अपने कृत्य पर पश्चात्ताप हुआ और वह पिता को मुक्त करने के लिए कारावास की ओर गया । श्रेणिक ने समझा, यह दुष्ट पुत्र मेरी और भी विडम्बना करना चाहता होगा । अच्छा है मैं अपने आप मर जाऊँ । राजा के हाथ में विष मुद्रिका थी और वह उस माध्यम से आत्म-हत्या कर मर गया और नरकगामी हुआ ।

पाली के बाजार में नाटक

तेरापथ के चतुर्थ आचार्य श्रीमज्जयाचार्य बचपन में ही थे। एक बार वे पाली (भारवाड) के बाजार में एक दुकान में ठहरे हुए थे। अपने लेखन का कार्य कर रहे थे। उनकी दृष्टि अपनी दवात व पन्ने से कहीं इधर-उधर नहीं जा रही थी। मनोयोगपूर्वक लेखन कर रहे थे। सामने ही बाजार में नाटक हो रहा था। सँकड़ो आदमी उसे देख रहे थे। उनमें एक बूढ़ा आदमी भी था। उसकी दृष्टि श्रीमज्जयाचार्य पर पड़ी। उसने ध्यानपूर्वक देखा कि बालक साधु आख उठाकर नाटक की ओर नहीं देख रहा है। जितनी देर तक नाटक होता रहा, जयाचार्य अपने लेखन में लगे रहे तो वह बूढ़ा भी उन्हें देखने में। दोनों ने ही नाटक नहीं देखा। जब नाटक समाप्त हुआ तो जनता के बीच में गरजते हुए उस वृद्ध ने कहा—हम लोग तो प्रयत्न करते हैं कि किसी भी तरह तेरापथ के पैर उखड़ जायें, किन्तु इस वर्ष की सौ वर्ष की नींव तो जम ही गई।

उपस्थित जनता ने आश्चर्य के साथ पूछा—यह कैसे? वृद्ध ने जयाचार्य की ओर संकेत करते हुए कहा—इतनी देर नाटक होता रहा। सभी देखने में तल्लीन रहे, किन्तु इस बालक साधु ने एक क्षण भी नाटक नहीं देखा। जिस सच में ऐसे-ऐसे बाल मुनि हैं, वह सच कितनी प्रगति करेगा, यह तो भविष्य ही बता सकता है। यह साधु आज करीब बीस वर्ष का है। कम से कम अस्सी वर्ष की यह अवस्था पाये तो आगे चालीस वर्ष तक यह धर्म और भी चल सकता है।



तेले का दण्ड

तेरापथ के द्वितीय आचार्य श्री भारमल्लजी तेरापथ के प्रवर्तक आचार्य श्री भिक्षु के चरणों में जब शिशु मुनि के रूप में थे, आचार्य भिक्षु ने उनसे कहा—कोई भी गृहस्थ ईर्या समिति आदि किसी भी कार्य में दोष निकाले ऐसा, कार्य नहीं करना चाहिए। यदि हो जाए तो एक तेले का दण्ड।

भारमल्लजी स्वामी ने विनय के साथ पूछा—प्रभो ! कोई व्यक्ति द्वेष वश झूठ-भूठ ही दोष निकाले तो ?

आचार्य श्री भिक्षु ने कहा—तू ऐसे ही समझना कि मेरे पिछले पाप उदय में आये हैं।

भारमल्लजी स्वामी ने उसे श्रद्धापूर्वक स्वीकार किया।



दो-चार अंगुल कपड़ा

आचार्य श्री भिक्षु एक बार पादु पधारे । एक भाई ने उनसे कहा—हेमराजजी स्वामी की पछेवडी प्रमाण से बडी है । आचार्य श्री भिक्षु ने हेमराजजी स्वामी को अपने पास बुलाया और उनकी पछेवडी हाथ से नापी । वह बराबर निकली । आचार्य श्री भिक्षु ने उसके बाद उस भाई को बहुत फटकारा । उनका कहना था कि क्या हम दो-चार अंगुल कपड़े के लिए अपना साधुपन ताक पर रख देगे ? तुम्हे थोडा विचार होना चाहिए और साधुओं पर विश्वास भी । इतना ही विश्वास न होगा तो जंगल मे यदि हम कच्चा पानी भी पी ले तो तुम्हे क्या पता चलेगा ? भाई उनके चरणों मे गिर पडा और क्षमा-याचना करते हुए बोला—मेरे झूठी ही शका पड गई ।



अभ्यागत औषधि और आचार्य श्री कालूगणी

आचार्य श्री कालूगणी तेरापथ के आठवे आचार्य थे। वे ११ वर्ष की अवस्था में दीक्षित हुए और ३३ वर्ष की अवस्था में आचार्य-पद पर आसीन हुए। मस्कृत भाषा के प्रति आपका विशेष अनुराग था। आचार्य-पद ग्रहण करने के बाद आपने 'सारस्वत चन्द्रिका' कठस्थ की। आपकी प्रेरणा व मार्गदर्शन से प्रचीन सस्कृत व्याकरणों का नवनीत ग्रहण कर 'भिक्षुशब्दानुशासन' जैसे व्याकरण का निर्माण किया गया। आपके पच्चासो शिष्य सस्कृत के धुरन्वर विद्वान् हुए।

जैनधर्म व तेरापथ की प्रभावना के लिए आपने शिष्यों को सुदूर प्रान्तों में भेजा। स्वयं आपने भी कई यात्राएँ कीं। अपने अन्तिम दिनों में आपने मालवा व मेवाड़ जैसे दुर्लभ प्रान्तों की पद-यात्रा की। इस यात्रा में आपके बाएँ हाथ में एक फोड़ा हो गया। वह फोड़ा विषैला था, अतः बहुत उपचार करने पर भी ठीक नहीं हुआ। आपने अपना अन्तिम चतुर्मास उदयपुर डिवीजन में गगापुर किया। वहाँ वह व्याधि और भी अधिक बढ़ गई। देश के कोने-कोने में बिजली की तरह वह बात फैल गई। सभी प्रान्तों से हजारों श्रावक-श्राविकाएँ आपके दर्शन करने के लिए आईं। उनके साथ अपने-अपने प्रान्तों के प्रमुख-प्रमुख वैद्य व डाक्टर भी आपकी विशेष रूप से चिकित्सा करने के लिए वहाँ आये। किन्तु तेरापथ का यह विशेष नियम है कि कोई भी साधु अभ्यागत अर्थात् उसी निमित्त से आये हुए उस वैद्य या डाक्टर से औषधि ग्रहण नहीं करते। आचार्य श्री कालूगणी ने भी वह औषधि इसलिए ग्रहण नहीं की। उस समय आपके शरीर की शक्ति क्षीण प्रायः हो चुकी थी फिर भी आपका एक ही कहना था—'प्राण जाये पर प्रण नहीं जाये'।



: ६८ :

कम्बल में बिच्छू

वि० स० १९८६ की घटना है। तेरापथ के अष्टमाचार्य श्री कालूगणी श्री दूगरगढ (राजस्थान) में मर्यादा महोत्सव सम्पन्न कर आढसर पधारे। आढसर एक छोटा-सा कस्बा है। उन दिनों सर्दी बहुत पड़ती थी। राजस्थान में सर्दी वैसे भी बहुत अधिक पड़ती है, पर देहातो और कस्बों में तो वह कभी-कभी सीमा भी लाघ जाती है। आचार्य श्री कालूगणी रात को दो कम्बल ओढ़े विश्राम कर रहे थे। सयोगवश कब व कैसे उन दोनों कम्बलों के बीच ४½ इंच लम्बा एक बिच्छू रातभर बैठा रहा।

जैन सिद्धान्तानुसार मुनि के लिए प्रात और अपराह्णान्तर प्रतिदिन काम आने वाले वस्त्रों का प्रतिलेखन करना आवश्यक माना गया है। आचार्य श्री कालूगणी प्रातःकाल प्रतिलेखन कर रहे थे। ज्योंही उन दोनों कम्बलों को खोला गया, बिच्छू बाहर निकला और दौड़ पड़ा। आचार्य श्री कालूगणी ने जब उसे देखा तो कहा—भगवान् श्री महावीर ने प्रतिलेखन का विधान न किया होता तो यह बिच्छू या तो मरता या काट खाता। प्रतिलेखन आत्म-सयम और अहिंसा दोनों दृष्टियों से उपादेय है।



जो देखती है, वह बोलती नहीं

भयानक जंगल में एक तपस्वी अपनी समाधि में तल्लीन था। उसका आसन एक घुमावदार मार्ग की मोड़ पर था। एक दिन एक शिकार तपस्वी के आगे से गुजरा और उसके पीछे-पीछे शिकारी भी आया। उसने तपस्वी से पूछ लिया—क्या इधर से मेरा शिकार गया? तपस्वी समस्या में उलझ गया। सत्य कह देने में हिंसा थी और असत्य कहने में आत्म-हानि। तपस्वी मौन रहा। शिकारी ने दो, तीन बार पूछा, किन्तु कोई उत्तर नहीं मिला। वह गुस्से में भर गया। तपस्वी को ललकारते हुए उसने कहा—क्यों बताता है या नहीं? यदि नहीं बतायेगा तो तेरा ही शिकार हो जायेगा।

तपस्वी के समाधिस्थ मन ने एक युक्ति सोच डाली। उसने कहा—महाभाग! जो देखती है, वह बोलती नहीं और जो बोलती है, वह देखती नहीं। दोनों की ही अपनी पृथक्-पृथक् शक्तियाँ और कार्य हैं। एक की पूर्ति दूसरी शक्ति कैसे कर सकती है?

शिकारी के दिल में वह बात उतर गई और वह वहाँ से चल दिया।



: १०० :

कौन से ऊंट बैठे हैं ?

एक आचार्य अपने शिष्य-समुदाय के साथ एक गाव में आये। वे अपने शिष्यों को साधना में प्रतिक्रिया सावधान करते रहते थे। शिक्षाएँ देते, साधना के प्रकार बताते और शिष्यों की श्रद्धा को सुस्थिर किये रहते। साधना के छोटे से छोटे कार्य की भी अवहेलना को वे अक्षम्य मानते। उन्होंने अपने शिष्य से एक दिन पूछा— रात्रि में उत्सर्ग के लिए क्या स्थान प्रतिलेखन कर लिया ?

एक साधु ने उत्तर दिया—इसकी क्या आवश्यकता है ? वहाँ कोई ऊंट थोड़े ही बैठे रहते हैं।

आचार्य ने कहा—यह साधना की अवहेलना है जोकि उचित नहीं है। तुम्हें अपनी साधना का प्रतिक्रिया ध्यान रहना चाहिए ?

आचार्य की शिक्षा के उपरान्त भी उसकी लापरवाही वैसी ही चलती रही। स्थान-प्रतिलेखन के लिए उसने फिर भी ध्यान नहीं दिया। एक अन्धेरी रात में जब वह उत्सर्ग के लिए समीपवर्ती खुल्ले स्थान में गया तो वहाँ उसे ऊंट बोलते हुए मिले। वह उल्टे पाव वहाँ से दौड़ा और गुरु के पास आया और सारा घटना कह सुनाई। गुरु ने उसे सावधान करते हुए कहा—तू तो कहता था न कि वहाँ कौन से ऊंट बैठे हैं ?



पूणिआ श्रावक

पूणिआ श्रावक अत्यन्त गरीब था। उसके पास न तो धन-धान्यादि रूप चल सम्पत्ति थी और न जमीन आदि अचल सम्पत्ति ही। वह अपने श्रम से थोड़ा-सा कमाता और उससे ही अपना निर्वाह करता। गरीबी में भी उसके स्वाभिमान और उससे भी बढ़कर सन्तोष था। उसकी धार्मिक वृत्ति बहुत ऊँची थी। प्रतिदिन एक सामायक करता था। किसी भी परिस्थिति में वह अपने दैनिक धार्मिक कामों को गौण नहीं करता था। इससे वह गरीबी में भी परम सन्तुष्ट था।

एक बार राजा श्रेणिक उसकी कुटिया पर पहुँचा। राजा को बिना किसी निमन्त्रण के अपने घर पर पाकर वह हर्षित भी हुआ और कुछ असमजस में भी पड़ा। हर्ष स्वाभाविक था। असमजस इसलिए कि आखिर राजा किस प्रयोजन से आया? श्रेणिक ने ही वार्तालाप का आरम्भ करते हुए कहा—श्रावक! तू प्रतिदिन एक सामायक करता है न?

पूणिआ—हा, राजन्!

श्रेणिक—मैं चाहता हूँ कि एक दिन की सामायक तू मुझे बेच दे।

पूणिआ—यह तो कैसे हो सकता है?

श्रेणिक—क्यों नहीं हो सकता? मैं तुझे मन चाहा धन देने को तैयार हूँ। धन के द्वारा तो प्रत्येक वस्तु खरीदी जा सकती है?

पूणिआ—यह तो ठीक है, पर यह कोई वस्तु तो नहीं है। आत्मा का स्वभाव है, उसे मैं कैसे बेच सकता हूँ?

श्रेणिक ने अपनी घटना बताते हुए कहा—मैंने भगवान् महावीरसे अपने अगले जन्म के बारे में पूछा था। उन्होंने मेरे लिए प्रथम नरक का वास बतलाया। मैंने उनसे वहाँ से छूटने का उपाय पूछा। उन्होंने तेरी ओर संकेत करते हुए कहा कि यदि वह अपनी एक सामायक तुझे बेच दे तो तेरा नरकावास टल सकता है। मेरे राज्य में तू रहता है, अतः यह छी तू नहीं चाहेगा कि मैं नरक में जाकर पड़ूँ। मैं तेरे से यह भिक्षा मागने आया हूँ कि तू अपनी एक सामायक मुझे बेच दे। इससे तेरे तो कोई विशेष हानि नहीं होगी और मेरे लिए सहज ही मे हज़ारों वर्षों का नरकावास टल जायेगा।

पूणिआ के मन मे अव्यक्त कौतूहल-सा हो रहा था। वह स्वीकृति या अस्वीकृति दोनों ही देना नहीं चाहता था। उसने कहा—महाराज ! मेरी तुच्छ सेवा से यदि ऐसा हो सकता है तो मे क्यो नहीं करूंगा, किन्तु आप बनाइये मुझे क्या देने ?

श्रेणिक ने कहा—मन चाहा बन।

पूणिआ—नहीं, मैं तो उतना ही लेना चाहता हूँ, जितना कि उसका मूल्य हो।

श्रेणिक—तो मुझे बता दे कितना मूल्य होगा ?

पूणिआ—यह तो मुझे पता नहीं है।

श्रेणिक—तो इसका मूल्य और कौन बता सकता है ?

पूणिआ—भगवान् श्री महावीर के अतिरिक्त इसका मूल्य और कोई नहीं बता सकता।

श्रेणिक—हम दोनों वहाँ चलते हैं।

श्रेणिक और पूणिआ दोनों महावीर स्वामी के पास पहुँचे। श्रेणिक ने सारी घटना बताई और कहा—भन्ते ! अब तो आप पर ही यह अवलम्बित है। आप सामायक का मूल्य बता दे और मैं इसे दे दूँ। यह तो मुझे बेच देगा।

भगवान् महावीर—तू इसे क्या देना चाहता है ?

श्रेणिक—भन्ते ! जो आप आदेश करे।

भगवान् महावीर—श्रेणिक तेरा सारा राज्य भी इसके मूल्य में अपर्याप्त है। श्रेणिक सुनते ही अवाक् रह गया। उसने पूछा—तो भगवन् ! क्या मेरा नरकावास नहीं टलेगा ?

भगवान् ने उत्तर दिया—यह तो भवितव्यता है।



आनन्द श्रावक

वाणिज्य ग्राम नामक एक नगर था। आनन्द गृहपति वहा रहता था। उसके पास १२ करोड स्वर्ण मुद्राएँ और ४० हजार गाये थी। वाणिज्यग्राम नगर के बाहर कोलाक नाम का सन्निवेश था। वहा आनन्द गृहपति के अनेक स्वजन मित्र रहते थे। उस सन्निवेश मे एक बार भगवान् श्री महावीर आए। वहा जितशत्रु राजा वन्दन के लिए गया। सवाद पाकर आनन्द गृहपति भी वहा गया। सभी ने शान्त चित्त प्रवचन सुना। प्रवचन के पश्चात् राजा तथा अन्य लोग अपने-अपने स्थान गए। आनन्द वहा रुका रहा और उमने पाच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रत रूप श्रावक-धर्म अंगीकार किया।

१४ वर्ष तक वह श्रावक पर्याय पालता रहा। १५वे वर्ष मे अपने ज्येष्ठ पुत्र को अपना सारा दायित्व सम्भालकर पौषधशाला मे रहकर एकादश श्रावकपडिमा की आराधना करने लगा। शरीर मे शैथिल्य का संचार होते देखकर उसने आमरण अनशन ग्रहण कर लिया। उस आमरण अनशन से उसे सुविस्तृत अवधिज्ञान प्राप्त हुआ। जिससे वह उत्तर मे चूलहेमवन्तपर्वत तक, दक्षिण, पश्चिम और पूव मे पाच-सौ योजन लवण समुद्र तक, ऊपर सौधर्म देवलोक तक और अधो प्रथम नरक के लोलुच नरकावास तक देखने और जानने लगा।

उन्ही दिनो भगवान् श्री महावीर उद्यान मे आए। गौतम स्वामी तेले की नपस्या पूर्णकर भगवान् श्री महावीर से आज्ञा लेकर भिक्षा के लिए नगर मे आए। नगर मे आनन्द श्रावक के आमरण अनशन की जब चर्चा सुनी तो देखने का भाव उनके मन मे उत्पन्न हुआ। वे आनन्द की पौषधशाला मे आए। आनन्द ने शारीरिक असामर्थ्य के कारण लेटे-लेटे ही वन्दना की और चरण-स्पर्श किया। आनन्द ने कहा—भगवन् गौतम ! क्या आमरण अनशन मे गृहस्थ को अवधिज्ञान उत्पन्न हो सकता है ?

गौतम— हा, हो सकता है।

आनन्द—मुझे अवधिज्ञान प्राप्त हुआ है और वह पूर्व और पश्चिम आदि दिशाओ मे इतना विशाल है।

गौतम—आनन्द ! गृहस्थ को इतना विशाल अवधिज्ञान नहीं मिल सकता । अनशन में तेरे से यह मिथ्या सम्भाषण हुआ है, अतः तू इसकी आलोचना या प्रायश्चित्त कर ।

आनन्द—प्रभो ! महावीर प्रभु के शासन में सत्याचरण का प्रायश्चित्त होता है या असत्याचरण का ?

गौतम—असत्याचरण का ।

आनन्द—प्रभो ! आप ही प्रायश्चित्त करें । आप ही से असत्याचरण हुआ है ।

आनन्द की इस दृढ़तापूर्ण वार्ता को सुनकर गौतम स्वामी सम्भ्रान्त हुए । वहाँ से चलकर महावीर प्रभु के पास आए और वह मारा वार्तालाप उन्हें कह सुनाया ।

भगवान् महावीर ने कहा—गौतम ! तुम्हारे से ही असत्याचरण हुआ है । तू आनन्द के पास जा और उससे क्षमा-याचना कर ।

गौतम स्वामी तत्काल आनन्द के घर आए और कहा—आनन्द ! भगवान् महावीर ने तुझे ही सत्य कहा है । मैं वृथा विवाद के लिए तेरे से क्षमा चाहता हूँ ।



: १०३ :

सुलसा

राजगृह नगर मे श्रेणिक राजा था । उसका पुत्र अभयकुमार ही उसका प्रधानमंत्री था । उसी शहर मे एक नाग नामक रथिक रहता था, जिसकी धर्मपत्नी का नाम सुलसा था । दोनो ही जैनधर्मी थे । वे दृढधर्मी व प्रियधर्मी के नाम से पुकारे जाते थे । उनकी सम्यक्त्व निर्मल व सुदृढ थी । वे अपने श्रावक के व्रतो का शुद्धता-पूर्वक पालन करते थे । अरिहन्त उनके देव थे, शुद्ध साधु (निग्रन्थ) उनके गुरु थे और केवली प्ररूपित उनका धर्म था । इसके अतिरिक्त वे किसी अन्य देव, गुरु व धर्म में विश्वास नहीं करते थे । दोनो मे ही सुलसा धर्म मे अधिक दृढ थी । श्रावक नाग ने यह नियम कर रखा था कि अब वह दूसरा विवाह नहीं करेगा । दोनो ही आनन्द-पूर्वक अपना जीवन बिताते और धर्मारोपण करते ।

एक बार नाग ने किसी सेठ के बालको को घर के आगन मे खेलते हुए देखा । बच्चे बड़े सुकुमार, चंचल व मनोहारी थे । उनके खेलने से आगन खिल उठा । प्रत्येक दर्शक उन्हें देखकर प्रसन्न होता था । श्रावक नाग के हृदय मे वह दृश्य घर कर गया । उसकी आँखो के सामने वे बच्चे ही नाचते रहते । उसके मन मे बार-बार यह विचार उभरता कि वह घर सूना है, जहा ऐसे बच्चे न हो । किन्तु सूने घर की पूर्ति करना किसी के वश की बात तो नहीं है । पुत्र-प्राप्ति की प्रबल इच्छा ने श्रावक नाग को इसके लिए बहुत कुछ सोचने को बाधित कर दिया । वह लौकिक देव, ज्योतिषियो व पण्डे-पुजारियो के चक्कर मे घूमने लगा । सुलसा को जब यह ज्ञात हुआ तो उसने स्पष्ट शब्दो मे अपने पति से कहा—पुत्र, यश, धन आदि सभी अपने ही कृतकर्मानुसार प्राप्त होते है । मनुष्य के प्रयत्न या देव-कृपा केवल निमित्त मात्र ही हो सकते हैं । किसी वस्तु की प्राप्ति न होना, यह तो अपने अन्तराय कर्म से ही सम्बन्धित है । इसे दूर करने के लिए ज्योतिषियो द्वारा बताये गये अनुष्ठान, लौकिक देवो की उपासना व अन्य साधन कुछ भी नहीं कर सकेगे । हमारे लिए यह आवश्यक है कि हम अपना अधिक समय दान, शील, तपश्चर्या आदि धार्मिक अनुष्ठान मे लगायें । इससे अन्तराय कर्म क्षिणिल होगा और अपने अभिलषित की प्राप्ति होगी । मुझे लगता है कि अब मेरे से आपके पुत्र की उत्पत्ति नहीं होगी, अतः कितना सुन्दर हो, इसके लिए

आप दूसरा विवाह करले ।

श्रावक नाग ने उत्तर दिया—मुझे तुम्हारे ही पुत्र की आवश्यकता है । मैं दूसरा विवाह नहीं करना चाहता ।

सुलसा ने अपनी स्वाभाविक भाषा में कहा—यह तो सयोग-वियोग की बात है । प्राप्ति और अप्राप्ति में हर्ष व शोक दोनों ही नहीं होने चाहिए । जो व्यक्ति इनसे ऊपर उठता है, वह अपने लक्ष्य पर अवश्य पहुँच जाता है । सुलसा की इस प्रेरणा से नाग के मन में पुत्र के न होने का दुःख कुछ कम हुआ और वह अपने अन्य कार्यों के साथ धार्मिक क्रियाओं में सुदृढ़ हो गया ।

एक बार एक साधु 'सुलसा के घर आया । उसने सुलसा से बीमार साधु के नाम पर लक्ष्मण तेल की याचना की । सुलसा अपने घर में साधु को देखकर प्रफुल्लित हो उठी । शीघ्रता से तेल लाने के लिए अपने कमरे में गई । देव-योग से ज्यों ही वह तेल का बर्तन उतारने लगी, उसके हाथ से छूट गया और वह फूट गया । एक, दो, तीन बार में ऐसा ही हुआ । बर्तन भी फूट गया और बहुमूल्य तेल भी बिखर गया । स्वभावतः ही ऐसे अवसर पर व्यक्ति गुस्से में भर जाया करता है, पर उसके ऐसा न हुआ । घर में तेल के तीन ही बर्तन थे और तीनों ही इस तरह फूट गये । बाहर आकर उसने शान्त भाव से मुनि से सारी हकीकत कह सुनाई । साधु ने उसे अच्छी तरह से देखा । वह बिलकुल शान्त था और इतना होने पर भी उसके मन में साधु के प्रति भक्ति ही उमड़ रही थी । साधु ने अपना स्वरूप बदला और देव के रूप में सुलसा के सम्मुख खड़ा हो गया । सुलसा उसे समझ नहीं पाई कि आखिर यह है कौन ? किन्तु दूसरे ही क्षण देव ने कहा—देव-सभा में शक्रेन्द्र ने तेरी क्षमाशीलता की भूरि-भूरि प्रशंसा की थी । शक्रेन्द्र का कहना था कि वह अपने सम्यक्त्व व श्रावक-व्रत में इतनी दृढ़ है कि देव, दानव या मानव कोई भी उसे विचलित नहीं कर सकता और न कभी उसे क्रोध ही आता है । यह बात सुनकर परीक्षा करने के निमित्त मैं यहाँ आया । साधु कोई नहीं था, मैं ही था । बर्तन तेरे हाथ से फिसले है, पर उसके फिसलने में मेरी शक्ति भी लगी है । अस्तु, मैं तेरी दृढ़ धार्मिकता और उपशान्तता से बहुत प्रभावित हुआ हूँ और मुझे लगता है कि जैसा शक्रेन्द्र ने कहा था, वह वस्तुतः ठीक ही था । मैं बहुत प्रसन्न हुआ हूँ और तेरे से कुछ भी मागने के लिए आह्वान करता हूँ ।

सुलसा में मुस्कराते हुए उत्तर दिया—धन, ऐश्वर्य व सम्मान की मेरे लिए कोई कमी नहीं है । जीवन में खलने वाली केवल एक ही कमी है, जिसे आप भी जानते ही हैं । मैं समझती हूँ, समय आने पर मेरा वह मनोरथ भी सिद्ध होगा ।

देव सुलसा की भावना का गूढ़न बड़ा सम्मान करने लगा । वह उसके सुख-दुःख की अपना ही सुख-दुःख समझने लगा । उसने कहा—बहिन ! ये लो बत्तीस गोलिएँ । समय-समय पर एक-एक गोली खाना । तेरे बत्तीस पुत्र होंगे और तेरी कामना

सफल होगी। इसके अतिरिक्त और भी जब कभी कोई कार्य हो मुझे याद करना। सुलसा ने वे बत्तीस गोलियां ले ली और देव अन्तर्धान हो गया।

सुलसा के मन में आया—मैं बत्तीस पुत्रों का क्या करूंगी। मूने घर को भरने के लिए तो शुभलक्षणों वाला एक पुत्र भी पर्याप्त हो सकता है। क्या ही अच्छा हो, यदि इन गोलियों को एक साथ ही खालू। इससे बत्तीस ही शुभलक्षणों वाला एक पुत्र हो जायेगा। वह सभी गोलियां एक साथ ही खा गईं। परिणामस्वरूप बत्तीस गर्भ रह गये और धीरे-धीरे बढ़ने लगे। सुलसा के उदर में भयंकर वेदना आरम्भ हो गई। वह तिलमिला उठी। अपने कष्ट को दूर करने का उसे कोई भी उपाय नहीं सूझा। उसने उसी हरिन्गमेषी देव का स्मरण किया। देव उपस्थित हुआ तो सुलसा ने अपनी व्यथा कह सुनाई। देव ने कहा—तू ने भयंकर भूल की है। इससे एक गर्भ के स्थान पर एक साथ बत्तीस ही गर्भ रह गये हैं। अब तेरे बत्तीस ही सन्तान एक साथ पैदा होगी। यदि इनमें से एक की भी मृत्यु हो गई तो सब की ही मृत्यु सम्भावित है।

सुलसा ने कहा—आखिर होता तो वही है जो भवितव्यता होती है। तुम्हारे निमित्त से यदि कुछ बन भी गया तो आखिर उसका परिणाम तो वही आया। देव ने अपनी विशिष्ट शक्ति से उसका कुछ कष्ट शान्त कर दिया। समय पूरा होने पर सुलसा ने बत्तीस पुत्रों को जन्म दिया। बत्तीसों की एक ही जैसी आकृति थी और उनकी सुकुमारता, भव्यता व चंचलता से हर एक उनकी ओर आकृष्ट हो जाता था। नाग रथिक का सूना घर एक माथ खिल उठा। जब वह अपने बच्चों की ओर पलक मारता, उसका दिल हिलोरें लेने लगता। बत्तीसों ही कुमार बड़े हुए। यौवन में उनकी कुलीन कन्याओं के साथ शादी कर दी गई। वे एक साथ ही रहते व साथ ही साथ सब कार्य करते। राजा श्रेणिक के मगरक्षक के रूप में उन सबकी नियुक्ति हो गई। वे युद्ध-कला में पूर्णतः दक्ष थे।

एक बार राजा श्रेणिक के पास एक सन्यासिनी आई। उसके पास वैशाली के राजा चेटक की कन्या सुज्येष्ठा का एक चित्र था। किसी तरह से उसने वह चित्र राजा को दिखला दिया। राजा को वह केवल चित्र ही नहीं भाया, अपितु वह उस कन्या के प्रति आसक्त भी हो गया। सन्यासिनी चली गई, किन्तु राजा के मन में उस चित्र की स्मृति नहीं गई। श्रेणिक ने अभयकुमार को बुलाया और अपनी व्यथा कही। अभयकुमार ने अपने पिता की इच्छा को पूर्ण करने का वायदा किया और वह एक वणिक् का वेष बनाकर वैशाली में आ गया। राजमहलों के समीप ही एक दुकान किराये पर ले ली। दुकान में केवल सुगन्धित द्रव्य ही रहते। सभी पदार्थों के बीच उसने राजा श्रेणिक का एक चित्र सजा दिया। राजमहल की दामिया प्रतिदिन उस दुकान पर आती और सुगन्धित तेल व इत्र खरीद कर ले जाती। अभयकुमार जब दासियों को दुकान पर आते देखता तो श्रेणिक के चित्र की पूजा करने बैठ जाता और

कुछ देर तक करता रहता। दासिया बड़े ध्यान से उसकी पूजा तथा श्रेणिक का चित्र देखती। बहुत बार वे चित्र के बारे में कुछ पूछती भी, पर वह अपनी वाक्पटुता से सब कुछ ढाल देता। दासिया महलो में जाकर यह सारी घटना सुज्येष्ठा से सुनाती। दासियों ने एक बार बहुत आग्रहपूर्वक पूछा तो अभयकुमार ने कह दिया—यह चित्र मगध सम्राट् श्रेणिक का है। दासिया उछलती-कूदती महलो में गईं और उन्होंने सुज्येष्ठा से वस्तुस्थिति बतला दी।

एक की भावना का प्रतिबिम्ब दूसरे पर भी पड़ा करता है। उससे उत्सुकता, जिज्ञासा व श्रृणा, तीनों ही हुआ करते हैं। जैसे एक का विचार होता है, दूसरे के विचारों में भी उसी तरह की परिणति हो जाया करती है। श्रेणिक सुज्येष्ठा को हृदय से चाहता था तो सुज्येष्ठा भी श्रेणिक को चाहने लगी। उसने भी दासियों के द्वारा अपनी भावना वणिक् के रूप में अभयकुमार तक पहुँचाई। अभयकुमार बड़ा विचक्षण था। उसने वैशाली से राजगृह तक एक भूमिगत मार्ग बनवाया। चैत्र शुक्ला द्वादशी का दिन निश्चित हुआ और उस दिन श्रेणिक अपने उन बत्तीस अंग-रक्षकों के साथ वैशाली आ गया। सुज्येष्ठा को भी निश्चित समय की सूचना थी, अतः वह श्रेणिक की प्रतीक्षा भी करने लगी। सुज्येष्ठा को जब तैयार होते हुए उसकी छोटी बहिन चेलना ने देखा तो उसका हार्वं पूछा। सुज्येष्ठा चेलना से कुछ भी छुपा नहीं सकी। उसने स्पष्ट रूप से सब कृच्छ्र बता दिया। चेलना ने कहा—मैं भी तुम्हारे साथ जाना चाहती हूँ। जो तेरे पति होंगे, वे ही मेरे पति होंगे। सुज्येष्ठा ने उसे स्वीकार कर लिया। नियत स्थान पर पहुँचते ही सुज्येष्ठा को याद आया कि वह अपना रत्नकरण्ड तो महलो में ही भूल आई है। श्रेणिक तब तक पहुँचा नहीं था, अतः उसने चेलना से कहा—तुम उनकी यहाँ प्रतीक्षा करो और मैं अभी पुनः लौटकर आती हूँ, किन्तु मेरे आने से पूर्व कहीं तू ही अकेली उनके साथ मत चली जाना। यदि ऐसा हुआ तो मेरे साथ विस्वासघात होगा।

सुज्येष्ठा चली गई और चेलना श्रेणिक की प्रतीक्षा करने लगी। सुज्येष्ठा के जाने के दो-चार क्षण बाद ही श्रेणिक वहाँ आ गया। उसने चेलना को सुज्येष्ठा ही समझा, अतः बिना कुछ पूछे ही उसे अपने घोड़े पर बिठाया और जिघ्र से आये थे, उधर ही चल दिये। रत्नकरण्ड लेकर उसी समय सुज्येष्ठा वहाँ आई। उसे वहाँ चेलना नहीं मिली। उसकी आँखों से आसुओं की धारा बहने लगी और बहिन द्वारा दिया गया धोखा उसे विशेष रूप में झलने लगा। वह वहीं रोने-बिल्लाने लगी और उसने अपने पिता राजा चेटक से यह घटना इस रूप में सुनाई कि मगध के राजा श्रेणिक ने चेलना का अपहरण कर लिया। यह बात सुनते ही चेटक आग-बबूला हो गया और अपने वीर योद्धाओं को लेकर उसी भूमिमार्ग से श्रेणिक के पीछे निकल पड़ा। दोनों ही दलों की मार्ग में मुठभेड़ हो गई। उन बत्तीस ही अंगरक्षकों ने चेटक का रास्ता रोक लिया और श्रेणिक वहाँ से अपने महलो में पहुँच गया। दोनों ही

बलो मे खुद हुआ और उसके परिणामस्वरूप श्रेणिक का एक अग्ररक्षक मारा गया । एक की मृत्यु के साथ इकतीस योद्धा और गिर पड़े और इस तरह श्रेणिक के सारे अग्ररक्षक, सुलसा के सब पुत्र वहा काम आ गये ।

सकुशल बच निकलने से श्रेणिक के मन मे परम प्रसन्नता थी । राजमहलो मे पहुँचते ही उसने चेलना को सुज्येष्ठा के नाम से पुकारा । चेलना ने कहा— महाराज ! सुज्येष्ठा तो वही रह गई । हम दोनों आने वाली थी, किन्तु वह अपना रत्नकरण्ड भूल आई थी, अतः लाने के लिए वापिस गई और उन्ही समय आप पधार गये और आपने मुझे ही सुज्येष्ठा समझकर अपना लिया । इसे मैं अपना पूर्ण सौमन्य मानती हूँ ।

श्रेणिक को चेलना के लावण्य ने भी आकर्षित कर लिया । वह उसे पाकर भी पूर्णतः हर्षित था । राजमहलो मे मंगल महोत्सव होने लगा और नियत समय पर दोनों स्नेह-सूत्र मे आबद्ध हो गये ।

सुलसा ने जब अपने पुत्रों की इस प्रकार मृत्यु सुनी तो उसके लिए तो वह एक वज्राघात था । भरी जवानी मे किसी भी मा का यदि एक पुत्र भी चला जाता है तो उसे कितनी वेदना होती है, इसे वह स्वयं ही जान सकती है । किन्तु जिसके बत्तीस युवक पुत्रों की एक साथ मृत्यु हो जाये और भरा हुआ आगन इस तरह खाली हो जाये, उसके लिए वह घर और जीवन कितना दुःखद होता है, यह तो कल्पना के परे की बात है । बहुत प्रतीक्षा के बाद तो सुलसा की साध पूरी हुई थी और आज जब उसकी गोद एक साथ ही खाली हो गई तो उसका हृदय टुक-टुक हो गया । वह हठ धार्मिक थी, पर अपने पुत्रों के अनुराग से विह्वल हो उठी । प्रधानमंत्री अमय-कुमार उसे ढाढस बधाने के लिए आया । उसने भी उसको बहुत सान्त्वना दी । जो व्यक्ति ससार से चला जाता है, उसकी स्मृति कुछ दिन तक ताज़ी रहती है, किन्तु धीरे-धीरे वह भी विस्मृति के गर्त मे चला जाता है । सुलसा ने अपने विवेक को जागृत किया और वह अपने धर्मध्यान मे तल्लीन हो गई ।

एक बार भगवान् श्री महावीर ग्रामानुग्राम विहरण करते हुए चम्पानगरी मे पधारे । नगर के बाहर समवसरण की रचना हुई । परिषद् धर्मोपदेश सुनने के लिए आई । राजगृह का अम्बड आवक भी भगवान् की देशना सुनने व दर्शन करने के लिए आया । वह अपनी विद्या के आधार पर नाना प्रकार के रूप बदल सकता था । देशना के अन्त मे उसने भगवान् से निवेदन किया—प्रभो ! आपके उपदेश से मेरा जन्म सफल हो गया । आज मैं राजगृह जा रहा हूँ ।

भगवान् महावीर ने कहा—राजगृह मे एक सुलसा आविका है । वह अपने आवक-धर्म मे बहुत हठ है । ऐसे आवक बिरले ही होते हैं ।

अन्य उपस्थित व्यक्तियों व अम्बड आवक ने सोचा—सुलसा सचमुच ही बड़ी पुण्यशालिनी है, जिसको स्वयं भगवान् ने इस प्रकार बताया है । अम्बड के मन

मे आया, सुलसा का ऐसा कौन-सा विशेष गुण है, जिसको लेकर भगवान् ने उसे धर्म में हट बताया। मुझे उसकी परीक्षा तो करनी चाहिए। वह एक परिव्राजक (सन्यासी) के रूप में सुलसा के घर आया। सुलसा से उसने कहा—आयुष्यमती ! तुम मुझे भोजन दो। इससे तुम्हें धर्म होगा।

सुलसा ने उत्तर दिया—मैं जानती हूँ, किसे देने में धर्म होता है और किसे देने में केवल व्यवहार-साधन।

अम्बड वहाँ से लौट आया। उसने तपस्या आरम्भ कर दी और पद्मासन लगाकर निरालम्ब रूप में आकाश में उठर गया। यह एक अद्भुत चमत्कार था। दर्शकों की भीड़ उमड़ पड़ी। नगर के व आसपास के सहस्रो व्यक्ति वहाँ आने लगे और अम्बड की मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा करने लगे। सुलसा ने भी यह सब घटना सुनी, पर उसे कोई आश्चर्य नहीं हुआ। वह न वहाँ गई और न उसने उसके बारे में किसी से एक शब्द भी कहा। लोग अम्बड की तपस्या से प्रभावित हुए। सभी ने अपने-अपने घर भोजन करने के लिए उसे आमन्त्रित किया, पर उसने किसी का भी निमन्त्रण स्वीकार नहीं किया। अखिर जनता उसे पूछने लगी—तपस्विन् ! आपके भोजन का लाभ किस सौभाग्यशाली को प्राप्त होगा ?

अम्बड ने कहा—सुलसा को।

लोग दौड़े-दौड़े सुलसा के घर आये और उसे अत्यधिक बधाइयाँ देने लगे। उन्होंने उसे सूचित किया कि अम्बड जैसे महातपस्वी ने तेरे बिना प्रार्थना करने पर भी भोजन करने की स्वीकृति प्रदान कर दी है। अब तुम चलो और उनसे प्रार्थना करो। तुम तो निहाल हो जाओगी।

सुलसा ने एक वाक्य में ही उन सबको उत्तर देते हुए कहा—आप इसे तपस्या समझते हैं और मैं इसे ढोंग।

लोगों को सुलसा की बात आश्चर्य हुआ और उन्होंने अम्बड से भी जाकर कहा। अम्बड ने यह अच्छी तरह जान लिया कि सुलसा परम सम्यक्दृष्टि है और वह अरिहन्त व निर्ग्रन्थों के अतिरिक्त किसी को देव व गुरु नहीं मानती। उसे इस श्रद्धा से कोई भी क्षणिक विचलित नहीं कर सकती। अम्बड ने वह अपना पद्मासन समाप्त कर दिया और एक निर्ग्रन्थ साधु के वेष में वह सुलसा के घर आया। अम्बड केवल आकृति से ही निर्ग्रन्थ नहीं बना, अपितु उसके प्रत्येक क्रिया-कलाप में उसकी सजीव झलक थी। सुलसा ने उसे देखा तो नमस्कार किया और भक्तिपूर्वक सम्मान भी। अम्बड ने अपना असली रूप बनाया और भगवान् महावीर द्वारा की गई उसकी व्रत-प्रशंसा की सारी घटना सुनाई। वह भी उसके मुक्त-कण्ठ से गुणगान करने लगा।

सम्यक्त्व में हट होने के कारण सुलसा ने तीर्थंकर नामगोत्रकर्म का उपाजन किया। आगामी चौबीसी में वह निर्मम नामक पन्द्रहवा तीर्थंकर होगी।

रानी चेलना

मगध देश का अधिपति महाराज श्रेणिक एक बार भगवान् श्री महावीर की देसना सुनकर अपने महलो की ओर जा रहा था। रानी चेलना भी साथ थी। पोष-माष का महीना था। भयकर सर्दी पड़ रही थी। ओस के कारण वह और भी द्विगुणित हो रही थी। राह चलते हुए चेलना ने कायोत्सर्ग करते हुए एक पडिमा-धारी मुनि को देखा। तपश्चर्या के कारण वे एकदम कृश बन गए थे। शरीर पर भी कोई वस्त्र नहीं था। फिर भी वे निश्चल व निष्कम्प खड़े थे। रानी का ध्यान उधर खींच गया। वह भव्य मूर्ति उसके दिल में बस गई।

रात को सर्दी और बढ़ गई। रानी चेलना गर्म व कोमल वस्त्र ओढ़े हुए सो रही थी। उसका एक हाथ खुल्ला रह गया। अत्यधिक शीत के कारण वह सूना हो गया। चेलना की नींद टूट गई। उसने अपना हाथ कपड़ों में समेट लिया। उसे मुनि की स्मृति हो आई, अतः उसके मुह से अचानक एक वाक्य निकल पड़ा—‘उसका क्या होता होगा?’ राजा श्रेणिक ने वह सुन लिया। उसने उस वाक्य का अभिप्राय ही दूसरा समझा। उसके मन में आया—चेलना ने किसी को संकेत दे रखा होगा। अचानक उसकी स्मृति उभर आई होगी और उससे वह बोल उठी है। मेरे पास में होने के कारण उसके पास नहीं जा सकती, अतः अक्रुला रहूँ है।

श्रेणिक के मन में अपार दुःख हुआ। उसकी रात बड़ी कठिनता से कटी। प्रातः काल होते ही वह अकेला भगवान् महावीर के दर्शनार्थ चला। सामने अभय-कुमार दिखाई दिया। आक्रोश के साथ उसे आदेश देते हुए कहा—चेलना का महल, जब वह उसमें हो, शीघ्र ही जला दिया जाए।

राजा के मुख से यह अप्रत्याशित आदेश सुनकर अभयकुमार स्तब्ध रह गया। रानी चेलना के लिए महाराज श्रेणिक का यह आदेश हो सकता है, कोई कल्पना भी नहीं कर सकता था। अभयकुमार उसी क्षण समझ गया, कोई ऐसी ही घटना घटी है, जिससे पिताजी के मन में कोई भावना घर कर गई है। किन्तु माता चेलना ऐसी नहीं है।

श्रेणिक गुणशील उद्यान की ओर चला गया और अभयकुमार असमंजस में खड़ा सोचता ही रहा। अपनी माता के महलो में वह आग कैसे लगवा सकता

था। साथ ही राजा के आदेश का पालन न किया जाये, यह भी कैसे हो सकता था ? रानी चेलना के महलो के पाम ही एक पुरानी गजशाला थी। उसमे हाथी व मनुष्य कोई नहीं रहते थे। वह सूनी पड़ी थी। अभयकुमार ने उसमे आग लगवा दी। आग का आ धूकाफी ऊंचा उठने लगा। अभयकुमार भी भगवान् के दर्शनार्थ चल पड़ा।

राजा श्रेणिक भगवान् महावीर के समवसरण मे पहुँचा। वन्दना-नमस्कार किया और उपदेश सुनने लगा। प्रसंगवश भगवान् महावीर ने कहा—चेडा राजा की सातो ही पुत्रिया शीलवती है। उन्हे अपने ब्रह्मचर्य-व्रत से कोई भी नहीं डिगा सकता। श्रेणिक की आखे खुल गईं। उसने सोचा भगवान् यथार्थवादी हैं। इनकी वाणी मे चराचर जगत् का स्पष्ट व सही स्वरूप आता है। मैं ही गलती पर हूँ। मैंने यह आदेश देकर अनर्थ कर लिया। वह उसी समय वहा से उठा और अभयकुमार को मना करने के लिए द्रुत गति से चल पड़ा। अभयकुमार मार्ग मे ही मिल गया। श्रेणिक ने उतावले मन से पूछा—तू ने क्या किया ?

अभयकुमार ने नम्रता के साथ कहा—जो आपने आदेश दिया था।

श्रेणिक—क्या महल जला दिया गया ?

अभयकुमार—(दुःखित मन से) हा, प्रभो ! यह धूआ जो दीख रहा है।

श्रेणिक—अनर्थ हो गया। (क्रोध के साथ) उसमे जलकर तू क्यों नहीं भस्म हो गया।

अभयकुमार—(नम्रता के भाव से) जलने से क्या होगा ? आपका अभिप्राय यही तो है कि मैं आपकी आखो के समक्ष न रहूँ। मैं दीक्षा ले लेता हूँ।

श्रेणिक—(भल्लाकर) जो कुछ कर, पर मुझे मुह मत दिखा। भयकर अनर्थ हो गया। चेलना जैसी सती-साध्वी को जला दिया गया।

अभयकुमार ने अत्यन्त प्रसन्नता के साथ कहा—आपने तो ऐसा करने के लिए ही मुझे कहा था, किन्तु।

श्रेणिक के चेहरे पर थोड़ी-सी प्रसन्नता की आभा फूटी। उसने पूछा—किन्तु का तात्पर्य ?

अभयकुमार—मैंने अपनी माता का महल नहीं जलाया।

श्रेणिक—तो यह धूआ किसका दिखाई दे रहा है ?

अभयकुमार—गजशाला का। अपना उलाहना टालने के लिए और आपके आदेश का पालन करने के लिए ऐसा किया गया है।

श्रेणिक के खुशी का कोई ठिकाना न रहा। उसने अभयकुमार को छाती से भीड़ लिया और बोला मैं तुम्हे दीक्षित नहीं होने दूँगा।

अभयकुमार ने कहा—मैंने तो आपकी आज्ञा प्राप्त कर ली है। अब मैं महलो की ओर नहीं बढ़ूँगा।

श्रेणिक महलो की ओर चला गया और अभयकुमार भगवान् श्री महावीर के चरणो मे। दीक्षित होकर उसने तपश्चरण किया और परम पद को प्राप्त किया।

जहर मिश्रित छाछ

चार व्यक्ति विदेश से धन कमाकर लौट रहे थे। पद-यात्रा से चल रहे थे। राह चलते हुए एक छोटे से देहात में पहुँच गए। एक बुढ़िया के घर विश्राम लिया। बुढ़िया ने उनकी बहुत आदर-भगत की। चारों ही भूखे थे। रात बहुत चली गई थी। गहरा अन्धेरा हो गया था। बुढ़िया ने कहा—बेटे ! मैं तुम्हें भोजन करके खिलाती, किन्तु रात बहुत गुजर चुकी है। बूढ़ी हूँ, आँखों से भी पूरा नहीं देखता हूँ। शरीर भी लाचार है। सुबह तुम्हें गमागर्म रोटी खिलाऊँगी। थोड़ी छाछ पडी है, अभी तुम वह पीलो। चारों ने ही उसे स्वीकार कर लिया। बुढ़िया एक लोटा भर कर लाई और उन चारों को अच्छी तरह से तृप्त कर दिया।

चारों ही आनन्द से सो गए। थके हुए थे, अतः गहरी नींद आ गई। सुबह जल्दी ही चल पड़े। बुढ़िया ने उन्हें भोजन करने के लिए बहुत आग्रह किया, किन्तु उन्होंने आदरपूर्वक बुढ़िया को जल्दी प्रस्थान करने के लिए मना लिया। चारों ही उसे नमस्कार कर अपने घर की ओर चल दिए।

सूरज निकलने पर बुढ़िया ने अपने घर का काम-काज निपटाना आरम्भ किया। उसे दही भी बिलोना था, अतः उसी मटके के पास आई। पहले दिन की छाछ निकाली। उसमें मरा हुआ सर्प निकला। उसे देखते ही बुढ़िया की आँखें पथरा गईं। उसके मुँह से एक ही वाक्य निकला—अनर्थ हो गया। किन्तु अब वह क्या कर सकती थी ? चारों व्यक्ति बहुत पहले ही प्रस्थान कर चुके थे। बुढ़िया आँखें मलती ही रह गई।

बहुत दिनों बाद वे ही चारों व्यक्ति पुनः उसी गाँव में आए और उसी बुढ़िया के घर ठहरे। बुढ़िया ने आश्चर्य के साथ उन्हें पहचाना और पूछा—क्या तुम वे ही व्यक्ति हो ?

चारों व्यक्तियों ने नम्रता के साथ उत्तर दिया—हां, माता, हम वे ही हैं। तेरा आतिथ्य-सत्कार हमें फिर खींच लाया। घर जाने के बाद भी बहुत बार तेरी स्मृति आती रही।

बुढ़िया ने धूरते हुए उनकी ओर देखा और कहा—क्या तुम अभी तक

जीवित ही हो । मैंने तो समझ रखा था कि तुम चारो ने इस ससार से विदा ही ले ली होगी ।

चारो ही व्यक्तियों को बुढ़िया का यह कथन बहुत ही बुरा लगा । किन्तु वे जानते थे, बुढ़िया हमारा बुरा नहीं चाहती और न किसी प्रकार से हमारा दिल ही दुखाना चाहती है । इस कथन के पीछे अवश्य कोई रहस्य छुपा हुआ है । हमें पूछना चाहिए । बड़े ही मीठे स्वरों में बोले—बुढ़िया ! यह बात तेरे दिमाग में कैसे आई ? क्या इसके पीछे भी कोई घटना है ?

बुढ़िया का दिल बड़ा सरल था । वह आखे मलती हुई बोली—बेटा ! पूछो मत । पिछली बार जब तुम यहाँ आए थे, मैंने तुम्हें छाछ पिलाई थी । याद ही होगा । अन्धेरी रात थी और मुझे भी आँखों से कम ही दिखाई देता है । छाछ क मटके में काला सर्प मरा पड़ा था । मेरे जैसी अभागिन ने वह जहरीली छाछ तुम्हें पिला दी थी । मेरे से तो वह बहुत बड़ा पाप हो गया था ।

चारो ही व्यक्तियों ने अत्यन्त आश्चर्य के साथ कहा—क्या हमने उस दिन जहरीली छाछ पी थी ? इस कथन के साथ ही उनके शरीर में जहर व्याप्त हो गया और उसी समय उनके प्राण-पखेरू उड़ गए ।



रात्रि भोजन व चूहे का अचार

मथुरा नगरी में जयसिंह राजा राज्य करता था। एक बार वहाँ वसुधोष आचार्य अपने शिष्य समूह के साथ पधारे। जनता उनका उपदेश सुनने के लिए आई। उस दिन व्याख्यान का विषय रात्रि-भोजन-परिहार था। आचार्य ने उस विषय पर विस्तार से प्रकाश डाला। श्रोताओं के दिल पर उसका विशेष प्रभाव पड़ा। बहुत सारे व्यक्तियों ने आजीवन रात्रि भोजन न करने का नियम ग्रहण किया। कुछ ने महीने में बीस दिन, दस दिन आदि का यथाशक्ति व्रत-ग्रहण किया। श्रोताओं में से एक वरिष्क उछल पड़ा। उसने कहा—मैं तो प्रतिदिन रात्रि में ही भोजन करता हूँ। एक सूर्य में कभी दो बार नहीं खाता। तथापि मुझे तो उसमें कोई दोष मालूम नहीं दिया। न कभी ऊपर से जीव-जन्तु आकर गिरते हैं और न कभी भोजन ही विषैला होता है। बल्कि दिन की अपेक्षा रात्रि में भोजन करने से आनन्द अधिक मिलता है। वरिष्क ने आचार्य के उपदेश की सभा के बीच में कड़े जब्दों में अवहेलना की।

व्याख्यान समाप्त हुआ। परिषद् अपने घर गई। वरिष्क को ऐसा अनुभव हो रहा था, जैसे कि उसने बहुत बड़ा युद्ध जीत लिया है। वह प्रतिदिन अड़ोस-पड़ोस के गावों में जाया करता था। सायंकाल बहुत विलम्ब से लौटता, अतः खाना भी वह रात को ही खाता था। भोजन करते समय प्रतिरात आचार्य का वह कथन उसे याद आता और जी भर कर वह उसका उपहास करता। एक दिन वह प्रहर रात बीतने के बाद घर लौटा। खाना बने बहुत विलम्ब हो गया था, अतः ठण्डा हो गया। उसने अपनी धर्मपत्नी से कहा—आज पूड़ी शाक के साथ नहीं आम के अचार के साथ खाऊंगा। धर्मपत्नी ने उसी समय एक कटोरी में अचार परोस दिया। वरिष्क ने परम प्रसन्नता के साथ उसे खाया। जब वह अचार के टुकड़े करने लगा तो हुए नहीं। उसे लग रहा था कि अचार का एक ही बड़ा टुकड़ा है। उसने उसे दोनों हाथों से पकड़ा। ज्योंही तोड़ने लगा, उसके एक हाथ में पूछ जैसी प्रतीति हुई और दूसरे हाथ में छोटे-छोटे पाव जैसी। उसकी आंखें खुल गईं। अपनी धर्मपत्नी से दीपक पास में लाने के लिए कहा। ज्योंही पूरा उजाला हुआ, उसे स्पष्ट अचार में वह

मरा हुआ चूहा दिखाई दिया। उसका जी ग्लानि से भर गया। आचार्य का वह वाक्य याद आया कि रात्रि में ऊपर के जीव-जन्तुओं की भी काफी हिंसा होती है। मुह की शुद्धि करने के लिए उसने अपने नौकर से गोबर मगवाया। अन्धेरी रात थी। गली में से लाया और बरिण्क् के हाथ में दिया। उसने शीघ्रता से उसे मुह में डाल लिया। वह गोबर नहीं था। वह कुत्ते का विष्ठा था। मुह में डालते ही पता लग गया। बरिण्ये का मन ग्लानि से इतना भर गया कि वह कुछ बोल न सका। तत्क्षण वहा से दौड़ा और धर्मघोष आचार्य के चरणों में पहुँचा। अपनी सारी घटना सुनाई और आजीवन रात्रि-भोजन का परित्याग कर दिया।



वनमाला

राम लक्ष्मण और सीता के साथ वन विहार करते हुए विजयपुर के पास पहुँच गये। शहर के बाहर एक उद्यान में उन्होंने विश्राम लिया। वहाँ एक छायादार व मन्दिर के आकार वाला वट वृक्ष था। तीनों ही व्यक्ति उसके नीचे विश्राम के हेतु ठहर गये। सध्या का समय था। बड़ा सुहावना मौसम था। रात के समय राम व सीता तो लेट गये थे और लक्ष्मण जाग रहा था। चाद की चादनी वृक्षों के बीच से पृथ्वी पर छटक रही थी।

विजयपुरी के राजा का नाम महीधर, रानी का नाम इन्द्राणी और पुत्री का नाम वनमाला था। वनमाला ने बचपन में ही यह प्रतिज्ञा कर ली थी कि वह लक्ष्मण के अतिरिक्त अन्य किसी पुरुष के साथ विवाह नहीं करेगी। महीधर इसके लिए निश्चिन्त था, किन्तु राम-वनवास की जब उसने सुनी तो उसे निराशा हुई। क्योंकि वनमाला युवती हो चुकी थी और लक्ष्मण राम के साथ चौदह वर्ष के लिए वनवास चला गया था। अतः महीधर ने इन्द्रनगर के राजा सुरेन्द्ररूप के साथ वनमाला की सगाई कर दी।

विचारों के प्रतिकूल होने वाला कार्य प्रत्येक व्यक्ति के मानस में उद्वेलन पैदा करता है। कभी वह उद्वेलन साधारण स्थिति में ही रह जाता है और कभी वह मर्यादा का अतिक्रमण भी कर जाता है। अमर्यादित उद्वेलन विस्फोट का रूप ले लेता है, जहाँ जीवन ही खतरे में पड़ जाता है। वनमाला ने जब अपने पिता का निर्णय सुना तो गहरा धक्का लगा। वह अपने निर्णय पर अटल थी और किसी भी परिस्थिति में उसमें परिवर्तन करने का सोच भी नहीं सकती थी। उसने अपने पिता से कहा और पिता ने वनमाला से। किन्तु दोनों ही अपने निर्णयों पर अड़े हुए थे।

वनमाला इस निर्णय से बहुत ही दुःखित हुई। रात बीतने पर वह अकेली महलों से निकली और मरने के निमित्त से उसी उद्यान में, उसी वटवृक्ष के नीचे आई। लक्ष्मण ने उसे दूर ही से देख लिया। उसकी नजर उस पर टिक गई। लक्ष्मण को यह आश्चर्य हुआ कि इस निर्जन वन में इतनी रात बीतने पर अकेली स्त्री कैसे आई? इसके पीछे कोई रहस्य है। वनमाला ने लक्ष्मण को नहीं देखा। उसने साक्षात् पकड़ी

और ऊपर चढ़ गई। लक्ष्मण भी उसके पीछे-पीछे चढ़ गया। वनमाला ने वनदेवी व व्योमदेवी को सम्बोधित करते हुए कहा—‘आज तक मैंने तुम सबकी तन, मन, धन से रात-दिन सेवा की है। यदि तुम मेरे पर प्रसन्न हो तो मुझे लक्ष्मण ही पति के रूप में मिलने चाहिए। इस जन्म में यदि सम्भव न हो तो अगले जन्म में ही सही। किन्तु लक्ष्मण के अतिरिक्त मैं अन्य किसी को अपना पति नहीं चाहती।’ इस प्रकार बोलते हुए उसने अपने गले में फन्दा डाला और कूदने के लिए छलांग भरने लगी। लक्ष्मण असमजस में पड़ गया। उसने सोचा—यह तो मेरे लिए ही मर रही है और अब यदि एक-दो क्षण का भी विलम्ब हो गया तो यह तो अपने प्राण गवा बैठेगी। उसने उसी समय कहा—भद्रे ! क्यों दुःख करती हो। लक्ष्मण यह रहा, जिसके लिए तुम इतनी आत्मा हो रही हो। यह फन्दा धूर करो।

पीछे मुड़कर वनमाला ने देखा तो एक पुरुष खड़ा है। उसने अपने मन में सोचा—लक्ष्मण यहाँ कहा से आ सकता है। यह तो कोई प्रपञ्च है और मुझे छलने के लिए षड्यन्त्र। वह भयभीत हो गई और वट के पत्तों की ओट में छुपने का प्रयत्न करने लगी। लक्ष्मण ने कहा—भद्रे ! डरो मत। मैं लक्ष्मण ही हूँ। यदि तुम्हें विश्वास न हो तो नीचे देख, राम और सीता आराम से सो रहे हैं। वे आज सध्या समय ही यहाँ आये हैं।

वनमाला ने नीचे झुककर देखा तो एक तेजस्वी पुरुष व महिला सो रहे हैं। उसे कुछ विश्वास हुआ और अपने भाग्य को मन ही मन सराहने लगी। उसने लक्ष्मण से सारी आप बीती बता दी। लक्ष्मण ने कहा—‘अब चिन्ता की कोई बात नहीं है। मैं तेरी रक्षा के लिए स्वतः ही यहाँ चला आया हूँ। अब अपने को नीचे चलना है।’ वनमाला ने सकुचाते हुए कहा—‘मैं नीचे कैसे उतरूँगी। यदि गिर जाऊँगी तो?’ लक्ष्मण ने विनोद के साथ कहा—‘गिरने के लिए ही तो यहाँ आई थी? अब भय किस बात का?’ वनमाला मुस्करा दी। लक्ष्मण ने उसे अपने बाहु पाश में पकड़ कर नीचे उतार दिया।

लक्ष्मण और वनमाला के वर्तालाप से राम और सीता की नीद टूट गई। राम ने कहा—लक्ष्मण ! आधी रात में तू किससे बातें कर रहा है? लक्ष्मण ने हँसते हुए उत्तर दिया—एक प्राणी के प्राण बचाये हैं।

राम ने लक्ष्मण की बात के बीच ही विनोद के साथ पूछ लिया—यह देवी किसकी उठा लाया?

लक्ष्मण ने भी मजाक के साथ सीता की ओर संकेत करते हुए कहा—आभी अकेली थी। आपकी सेवा में तो मैं हूँ ही। इनकी सेवा करने वाला भी तो कोई चाहिए। अब यह इनकी खिदमत करेगी?

लक्ष्मण ने सारी घटना कह सुनाई। राम व सीता को बड़ी प्रसन्नता हुई। लक्ष्मण राम के पास बैठ गया और वनमाला सकुचाती हुई सीता के पास। दोनों

ही प्रेमपूर्वक मिली ।

रानी इन्द्राणी की नींद खुली तो उसने देखा, वनमाला तो नहीं है। उसने राजा से कहा। राजा ने इधर-उधर खोज कराई, पर वह तो नहीं मिली। पुत्री की खोज में अपने सैनिकों को साथ लेकर राजा स्वयं निकला। सयोग की बात थी, सभी उसी दिशा से चले जहां राम, लक्ष्मण, सीता व वनमाला चारों व्यक्ति बैठे थे। महीषर ने दूर ही से वनमाला को पहचान लिया। उसने सैनिकों को सकेत करते हुए कहा—राजकुमारी को उड़ाने वाले उस वट के नीचे बैठे हैं। ये तो भील जैसे लगते हैं। राजकुमारी को भील उड़ाकर ले जाय, यह तो राज्य का बहुत बड़ा अपमान है। चारों ओर से सावधानी पूर्वक इन्हे घेर लो और मारो, पकड़ो तथा अपनी राजदुलारी को इनके पाश से मुक्त करो ।

लक्ष्मण ने दूर ही से वह कोलाहल सुन लिया। उस ओर देखा तो ज्ञात हुआ, कोई चढ़कर (आक्रान्ता होकर) आ रहा है। वनमाला ने कहा—‘यह तो मेरे पिता की ही सेना है, दूसरी नहीं।’ लक्ष्मण अपना धनुष सम्मालते हुए उठा और राम से अनुमति लेते हुए बोला—‘श्वसुर का थोड़ा स्वागत तो कर आऊ।’ राम ने महर्षि अनुमति दे दी। देखते ही देखते लक्ष्मण उस सेना से जा भिड़ा। किन्तु लक्ष्मण के आगे वह राजा और वे सैनिक कहा तक ठहर सकते थे। सभी एक दूसरे से आगे-आगे दौड़ने लगे। महीषर को यह सब देखकर बहुत आश्चर्य हुआ। उसके मन में एक ही प्रश्न उठा—आखिर यह हे कौन ? बहुत कुछ सोचा तो सन्देह हुआ, कहीं यह लक्ष्मण ही तो नहीं है। वे दूर बैठे व्यक्ति भी राम और सीता जैसे लगते हैं। नाम पूछा तो वह और स्पष्ट हो गया। वह लक्ष्मण के पैरों में गिर पड़ा। उसे अपार प्रसन्नता हुई। उसने कहा—मेरे तो घर पर ही गंगा चली आई है। सभी राम के पास आए, नमस्कार किया और कहा—वनमाला आपको भेंट है। बहुत वर्षों की इसकी अभिलाषा पूर्ण हुई है। आप इसे स्वीकार करें और शहर में पधार कर मेरी कुटिया भी पावन करें।

राम और लक्ष्मण ने महीषर की प्रार्थना स्वीकृत कर ली। वहां से चलकर शहर में आये। दो-चार दिन विश्राम लिया और आगे चलने के लिए तैयार हुए। वनमाला को यह ज्ञात हुआ तो उसे बहुत दुःख हुआ। लक्ष्मण के पास आकर कहने लगी—बड़ी प्रतीक्षा के बाद तो आपके दर्शन हुए और अब भी आप मुझे इसी तरह निराश छोड़कर जा रहे हो, यह मुझे कैसे सहन होगा ? विवाह करिये और मुझे भी साथ लीजिए। मैं आपकी सेवा में तत्पर रहूंगी।

लक्ष्मण ने उसे सान्त्वना देते हुए कहा—भद्रे ! विवाह का यह अवसर नहीं है। वनवास में विवाह नहीं किया जाता। वनवास समाप्त कर जब राजधानी में आऊंगा, तब इस प्रस्ताव को क्रियान्वित करूंगा। अभी यह हठ उचित न होगा। ऐसे यदि तुम्हें विश्वास न हो तो मैं वचन देता हूँ।

वनमाला ने आग्रहयुक्त कहा—शपथ लिए बिना मैं जाने नहीं दूंगी । आप यदि इस बात को मानने के लिए तैयार हो कि वचन का पालन न हो तो रात्रि-भोजन में जितना पाप लगता है, उतना मुझे लगे, मैं आपको नहीं रोकूंगी । जैन रामायण में यह पद्य कहा गया है —

सूस बिना जावा न दू, रयणी भोजन पाप ।

नावो तो तुमनै अछै, मान लियो सो आप ॥

लक्ष्मण ने उसे सहर्ष स्वीकार कर लिया और आगे चल दिये ।



धन्ना अनगार

काकन्दी नगर मे जितशत्रु राजा राज्य करता था। उसकी राजधानी मे भद्रा नामक सार्थवाहिनी रहती थी। उसके एक पुत्र हुआ, जिसका नाम धन्ना रखा गया। वह रूप, कला व प्रतिभा मे अग्रणी था। यौवन मे उसका विवाह बत्तीस कन्याओं के साथ किया गया। उसके अपने घर मे भी बहुत धन था और दहेज मे भी बहुत मिला था। भौतिक समृद्धि के शिखर पर वह अपना जीवन बहुत ही आनन्दपूर्वक व्यतीत कर रहा था।

एक बार भगवान् श्री महावीर काकन्दी मे पधारे। उपदेश हुआ। धन्ना ने भी सुना। उसके हृदय मे उद्वेलन हुआ। विरक्त बना और साधु बनने की भावना जागृत हुई। माता भद्रा के समक्ष उसने अपने विचार व्यक्त किये। उसके लिए तो वह एक असह्य पीडा थी। माता ने धन्ना को समृद्धि का प्रलोभन बताया और साधु-जीवन की भयकरता भी बतलाई, किन्तु वह समृद्धि मे न आसक्त बना और न भयकरता से भीत हुआ। अध्यात्म की भूतवाद पर विजय होती ही आई है। भद्रा को धन्ना के विचारों से सहमत होना पडा। धन्ना ने अपनी बत्तीस पत्नियों व करोड़ों के धन-वैभव से सम्बन्ध तोड़ दिया और बड़े वैराग्य के साथ भगवान् श्री महावीर के चरणों मे दीक्षा ग्रहण कर ली।

जो व्यक्ति समृद्धि की पराकाष्ठा पर होता है, वह त्याग की पराकाष्ठा पर भी पहुँच जाता है। धन्ना ने अनगार बनते ही घोर तपस्या व उत्कट अभिग्रह का अवलम्बन आरम्भ किया, दो दिन का उपवास और उसके बाद पारण्ये मे आम्बिल, केवल पानी और रोटी के अतिरिक्त और कुछ नहीं। रोटी भी शरीर को पुष्ट करती है, किन्तु उसके लिये भी उन्होंने अभिग्रह कर रखा था कि जिस रोटी को गरीब व भीखमगे भी खाना न चाहते हों, वैसी रूखी-सूखी व नीरस रोटी ही ग्रहण की जाए। दाता के हाथ यदि दूसरी किसी अचित्त वस्तु से लिप्त हों, तभी वह रोटी ली जाये, अन्यथा नहीं। भगवान् महावीर ने उन्हें उस भीषण तप का अनुष्ठान और अभिग्रह करने की अनुमति प्रदान कर दी।

धन्ना अनगार अपनी आत्मा को साधना मे भावित करते हुए तपश्चरण्य मे लीन हो गये। नौ महीने इस प्रकार दुष्कर अनुष्ठान करते रहे। उनका वह

सुकुमल व हृष्ट-पुष्ट शरीर सूखकर काटे की तरह हो गया। उनके शरीर में केवल हड्डिया ही रह गई। शरीर विद्रूप हो गया, पर उनकी आत्मा पर आभा खिल उठी।

भगवान् श्री महावीर विहरण करते हुए राजगृह नगर में पधारे। यह उनके विहरण का प्रमुख क्षेत्र था। राजा श्रेणिक व सहस्रौ नागरिक दर्शनार्थ आये। प्रवचन के बाद राजा श्रेणिक ने भगवान् महावीर से एक प्रश्न पूछा—भन्ते ! आपके शासन में चवदह हजार साधु हैं। सभी बड़े-बड़े तपस्वी, वैरागी, स्वाध्यायी व समाधि वाले हैं, पर इन सब में उत्कृष्ट तप करने वाला कौन है ?

भगवान् महावीर ने कहा—धन्ना अनगर है।

श्रेणिक ने नम्रता के साथ फिर पूछा—प्रभो ! उनके गृहस्थ जीवन का परिचय क्या है ?

भगवान् महावीर ने कहा—काकन्दी नगर की भद्रा सार्यवाहिनी का वह पुत्र है। धन-सम्पत्ति व भरे पुरे परिवार को छोड़कर बड़े वैराग्य से उसने दीक्षा ग्रहण की है। नौ महीने से बेले-बेले का तप व उत्कट अभिग्रह कर रहा है। उसका शरीर सूखकर अस्थि पजर-सा हो गया है।

राजा श्रेणिक वहां से उठा और धन्ना अनगर के पास आया। भगवान् महावीर द्वारा बताई गई सारी हकीकत उन्हें सुनाई। श्रेणिक ने भी जब उनका शरीर देखा, बहुत आश्चर्य हुआ। राजा चला गया। रात को धन्ना अनगर का चिन्तन और ऊर्ध्वगामी हुआ। उन्होंने सोचा—अब मुझे हिलने-डुलने में भी काफी कष्ट प्रतीत होता है। मेरा शरीर अतिशय क्षीण हो चुका है। कितना अच्छा हो अब यदि सयारा करदू। शरीर को एक दिन छोड़ना तो है ही, फिर इसकी ओर देखने से क्या होगा ? उन्होंने भगवान् महावीर से अनुमति ली और राजगृह के पांच पर्वतों में से एक पर्वत विपुलगिरि पर जाकर स्थविर मुनियों की नेत्राय में पादोपगमन सयारा (बिना हलन-चलन का आभरण अनशन) आरम्भ कर दिया। एक महीने तक शान्त, निश्चल, एकाग्र चिन्तन मुद्रा में रहे। वहां से अपना आयुष्य समाप्त कर सर्वार्थसिद्ध विमान में उत्पन्न हुए।



शंख और शतक श्रावक

ढाई हजार वर्ष पूर्व के इतिहास में श्रावस्ती नगर का बहुत उल्लेख मिलता है। राजगृह की तरह यहाँ भी समय-समय पर भगवान् श्री महावीर व अन्य स्थविर मुनियों का बार-बार आगमन होता रहता था। शंख श्रमणोपासक इसी नगर का रहने वाला था। वह धन-धान्य से सम्पन्न व विद्या, बुद्धि व शक्ति के कारण सर्वत्र सम्मानित था। इसकी धर्मपत्नी का नाम उत्पला था। वह भी शंख श्रावक की तरह जीव, अजीव आदि नौ तत्त्वों की ज्ञाता थी। वह श्रावक के व्रतों का विविध पालन करती व पति के साथ धर्म-जागरणा करती।

शतक श्रावक भी इसी नगर में रहने वाला था। उसका दूसरा नाम पोखली भी था। वह भी शंख की तरह सम्यक्त्व व श्रावक के व्रतों में दृढ़ व धर्मपरायण था। शंख व शतक दोनों ही श्रावक प्रत्येक अष्टमी, चतुर्दशी व पक्षी को पौषध करते व अपने धर्मानुष्ठान में सजग रहते।

एक बार भगवान् श्री महावीर ग्रामानुग्राम विहरण करते हुए श्रावस्ती के कोष्ठक उद्यान में पधारे। सभी नागरिक धर्मोपदेश सुनने के लिए गए। शंख आदि श्रावक भी गए। उन्होंने भगवान् को वन्दना की व धर्म-कथा सुनकर बहुत हर्षित हुए। उन्होंने बहुत सारे प्रश्न भी पूछे। परम आनन्दित होकर उद्यान से निकले और श्रावस्ती की ओर प्रस्थान किया। मार्ग में अन्य श्रावकों के साथ शंख ने विचार-विमर्श किया और अपनी ओर से यह प्रस्ताव रखा कि घर पहुँचकर आहार आदि सामग्री तैयार करो और हम लोग एक साथ बैठकर खाना खाएँगे और उसके बाद औएक ही पौषधशाला में पौषध करेंगे। साथी सभी श्रावकों ने शंख का प्रस्ताव सहर्ष स्वीकार कर लिया।

सभी श्रावक अपने-अपने घर पहुँच गए और भोजन की तैयारियाँ करने लगे। शंख के मन में आया—आहारादि करते हुए पौषध का अनुष्ठान करना मेरे लिए इतना श्रेयस्कर नहीं होगा। मुझे तो अपना ही पौषधशाला में मरिण, सुवर्ण आदि का त्याग कर, माला उद्धर्तन व विलेपन आदि छोड़कर, धर्म का सथारा (विस्तार) बिछाकर अकेले ही बिना किसी सहयोग से धर्म-जागरणा करनी चाहिए। उसने

अपनी धर्मपत्नी उत्पला को अपना विचार बताया और पौषधशाला में जाकर विधिपूर्वक पौषध ग्रहण कर बैठ गया।

दूसरे श्रावको ने भी अपने-अपने घर जाकर असनादिक तैयार कराए। सभी एकत्रित हुए, किन्तु शख श्रावक नहीं आया। सभी मिलकर उसकी प्रतीक्षा करने लगे। बहुत देर तक जब वह नहीं आया तो स्वयं शतक श्रावक बुलाने के लिए उसके घर आया। उत्पला ने उसका हृदय से स्वागत किया। शतक ने उत्पला से शख के बारे में पूछा। उसने उत्तर दिया—वे पौषधशाला में पौषध कर रहे हैं। आप उनसे वहा मिल लें।

शतक पौषधशाला में आया और साथियों द्वारा होने वाली प्रतीक्षा के बारे में उसे परिचित किया। शख ने कहा—मैंने तो अब पौषध ग्रहण कर लिया है। मेरे लिए तो अब असनादि अभक्ष्य हैं और मैं तो यही अपनी धर्म-जागरणा करूंगा। तुम सब सम्मिलित रूप से पौषध-ग्रहण करो। शतक ने अपने साथियों को वह घटना बताई। उन्हें शख श्रावक का यह व्यवहार उचित नहीं लगा। किन्तु पौषध-ग्रहण कर लेने के बाद वे कर भी क्या सकते थे। उन्होंने भी सम्मिलित रूप से आहारादि से निवृत्त होकर पौषध-ग्रहण कर लिया।

शख श्रावक ने रात में धर्मध्यान करते हुए यह निर्णय कर लिया कि प्रातःकाल होते ही पौषध पूर्ण करने से पूर्व मुझे उद्यान में जाकर भगवान् श्री महावीर के दर्शन करने हैं। अपने निर्णय के अनुसार प्रातःकाल होते ही वह अपनी पौषधशाला से चला। श्रावस्ती के बीच से होता हुआ कोष्ठक उद्यान में पहुँचा। भगवान् को बन्धना की व पयुं पासना कर एक ओर बैठ गया। दूसरे श्रावक भी स्नानादि से निवृत्त होकर व अलङ्कृत होकर भगवान् के दर्शनार्थ आए, देशना सुनी और उसके बाद वे सारे ही शख श्रावक के पास आए। सभी ने उसे उलाहना देते हुए कहा कि हमको तो आपने आहारादि निष्पन्न करने के लिए आदेश दे दिया और स्वयं पौषध लेकर बैठ गए। यह तो आपका कोई उचित कार्य नहीं था। इस तरह हमारे साथ आपने तो अच्छा उपहास किया।

भगवान् श्री महावीर ने श्रावको का यह कथन सुन लिया। उन्होंने श्रावको को सावधान करते हुए कहा—आर्यों! शख को ऐसी बात मत कहो। शख की अव-हैलना, निन्दा या गद्दी करना किसी भी तरह से उचित नहीं है। यह प्रियधर्मों व हृदयधर्मों है। इसने प्रमाद व निद्रा का त्याग कर रात भर ज्ञानी की तरह सुषुप्ति-जागरिया (सुदृष्ट जागरिका) की है।

सभी श्रावक मौन हो गए। गौतम स्वासी ने भगवान् से पूछा—भन्ते! सुदृष्ट जागरिका का क्या तात्पर्य है?

भगवान् महावीर ने उत्तर दिया—गौतम! जागरिका तीन होती हैं, (१) बुद्ध जागरिका, (२) अबुद्ध जागरिका व (३) सुदृष्ट जागरिका। केवलज्ञान व

केवलदर्शन के धारक अरिहन्त बुद्ध कहलाते हैं। उनकी अप्रमत्त अवस्था को बुद्ध जागरिका कहा जाता है। जो अनगार ईर्यादि पाच समिति, तीन गुप्ति व पाच महाव्रतो का तो पूर्ण पालन करते हैं, पर वे सर्वज्ञ न होने के कारण अबुद्ध कहलाते हैं। उनकी जागरणा अबुद्ध जागरिका कहलाती है। जीव, अजीव आदि तत्त्वों के ज्ञाता आत्मको का धर्म-चिन्तन सुदृष्ट (सुदर्शन) होने से सुदृष्ट जागरिका कहलाता है।

गौतम स्वामी ने अगला प्रश्न किया—क्यों प्रभो ! शस्त्र आत्मक आपके पास चारित्र्य ग्रहण करेगा ? यदि करेगा तो कब करेगा ?

भगवान् महावीर ने कहा—गौतम ! शस्त्र अपने इस जीवन में आत्मक के व्रतों का ही विधिवत् पालन करेगा। उपवास, पौषध व विभिन्न प्रकार की तपस्या करता हुआ अपनी आत्मा को भावित करेगा, पर महाव्रत-धर्म स्वीकार नहीं करेगा। यह इन धर्माचरणों से अपनी आत्मा को निर्मल बना लेगा। इस प्रकार धर्म-जागरणा करता हुआ यह सौधर्मकल्प में चार पत्योपम की स्थिति वाला देव होगा। वहाँ से अपना आयु समाप्त कर इसी भरतक्षेत्र में आएगा और उत्सर्पिणी काल में देवश्रुत नामक छद्म तीर्थंकर होगा।



श्रेयान्सकुमार

हस्तिनापुर नगर में सोमप्रभ राजा राज्य करता था। वह भगवान् ऋषभदेव का पौत्र व तक्षशिला के अधिपति राजा बाहुबली का पुत्र था। श्रेयान्सकुमार सोमप्रभ का पुत्र व युवराज था। वह बहुत ही सुन्दर, बुद्धिमान् व वर्चस्वी था। एक बार पश्चिम रात में उसने एक स्वप्न देखा—‘काले पडते हुए सुमेरुपर्वत को मैंने अमृत-घट से सींचा, जिससे वह अधिक चमकने लगा।’ उसी रात को सुबुद्धि नामक सेठ ने भी एक स्वप्न देखा—‘हजारों किरणों से रहित होते हुए सूर्य को श्रेयान्सकुमार ने किरणों सहित कर दिया और वह पहले से भी अधिक प्रकाशित होने लगा।’ सयोग की बात थी, राजा सोमप्रभ ने भी उसी रात में एक स्वप्न देखा—‘एक दिव्य पुरुष शत्रु सेना द्वारा हराया जा रहा है। उसने श्रेयान्सकुमार के सहयोग से विजय प्राप्त कर ली।’

दूसरे ही दिन राज्यसभा में स्वप्न की चर्चा चली। तीनों ने ही अपने-अपने स्वप्न सुनाये और उसके फल पर चिन्तन करने लगे। किन्तु वास्तविकता पर नहीं पहुँच सके। फिर भी सबका एक ही मत था कि श्रेयान्सकुमार को कोई महान् लाभ अवश्य होगा।

राजा, सेठ व सभी सभासद अपने-अपने घर चले गये। श्रेयान्सकुमार अपने आवास की मातवी मजिल पर बैठा स्वप्न का चिन्तन कर रहा था। उसके मन में रह-रहकर यही आ रहा था कि आखिर मेरे द्वारा ऐसा क्या होने का है। अचानक उसकी दृष्टि राजपथ पर पड़ी। एक वर्ष की कठोर तपस्या से कुशकाय, कृष्ण कान्ति भगवान् श्री ऋषभनाथ पधार रहे थे। उसके मन में भावना उमड़ी। जातिस्मरण ज्ञान की प्राप्ति हुई। उसने जाना कि भगवान् तो एक वर्ष की कठोर तपस्या से कुशकाय हो रहे हैं। इन्हें कोई आहार-दान करने वाला नहीं है। भोले-भाले लोग इन्हें राजा समझकर मणि-मुक्ता, स्वर्ण-रजत, हाथी, घोड़े आदि भेंट करते हैं, किन्तु भोजन को छोटी बात समझकर इन्हें कोई नहीं दे रहा है। स्वयं मागते हैं नहीं, अतः एक वर्ष की स्वतः तपस्या हो चुकी है। श्रेयान्सकुमार वहाँ से दौड़ा। नीचे आया। भगवान् ऋषभनाथ भी उधर से ही पधार रहे थे। राजभवन से कुछ दूर ही श्रेयान्सकुमार ने दर्शन किये और प्रार्थना की—प्रभो ! यह कुटिया पावन करो और दान

का लाभ दो। श्रेयान्सकुमार के घर इक्षुरस के घट उपहार में आये पड़े थे। वे सर्वथा निर्दोष, एषणीय व प्रासुक थे। भगवान् ने अपना करपात्र ओष्ठ युगल पर लगाया और श्रेयान्सकुमार ने घट उठेलना आरम्भ किया। अक्षय तृतीया (वैशाखी तीज) के दिन वह वर्षीय तप पूरा हुआ। श्रेयान्सकुमार प्रथम दाता बना। उस दिन से जनता ने दान का महात्म्य व प्रकार जाना।



रूपीराय

वसन्तनागपुर नगर का राजा रूपीराय के नाम से प्रसिद्ध था। उसकी अवस्था बीस वर्ष के लगभग थी। एक दिन उसने एक सेठ के लड़के को एकान्तवास में आमन्त्रित किया। सेठ के लड़के की शादी हुई ही थी। वह बहुत सुन्दर, सुकुमार व शालीन था और वहा का ही दामाद था। शीघ्र ही वह राजा से भेंट करने के लिए आया। राजा को भी प्रसन्नता हुई। रूपीराय ने बात का आरम्भ करते हुए कहा—मित्रवर ! न जाने अपने किस जन्म के सस्कारों की प्रेरणा है कि तुम मुझे अपने ही लगते हो। तुम्हारे प्रति मेरे मन में अनायास ही स्नेह जागृत होता है और मन चाहता है कि मैं तुम्हारे मे और तुम मेरे मे समा जाओ।

सेठ के लड़के ने कुछ सकुचाते हुए कहा—महाराज ! यह तो मेरा सौभाग्य है।

राजा ने कहा—आज मैंने तुम्हें अपनी कुछ व्यक्तिगत बातें करने के लिए आमन्त्रित किया है। वे बातें आज तक मैंने किसी से नहीं कहीं हैं। दिल पर बहुत भार है, अतः हल्का करने के लिए मैंने तुम्हें बुलाया है। किन्तु वे बातें कुछ ऐसी हैं कि अन्यत्र प्रसारित करने की भी नहीं हैं।

सेठ का लड़का समझ नहीं पाया कि ये बातें क्या हो सकती हैं और उनके लिए मेरे जैसे अपरिचित व्यक्ति को क्यों चुना गया ? प्रथम भेंट में ही अपने जीवन के झुपे हुए रहस्यों को खोलने के लिए राजा क्यों अकुला रहा है। उसके मन में सहज जिज्ञासा हुई और उसने अपनी शालीनता के साथ कहा—मुझे इस योग्य समझा गया, यह मेरा अहोभाग्य है।

राजा ने कहा—आज से मैं तुम्हें अपना अभिन्न साथी चुनता हूँ। क्यों यह स्वीकार है न ?

सेठ का लड़का—मित्रता तो अभिन्न ही होती है। उसमें और कोई प्रश्न ही कैसे उठ सकता है ?

राजा ने कहा—बीस वर्षों से जो बात प्रछन्न रखी गई, आज मैं उसे प्रकट करता हूँ। जब मैं गर्भ में था, मेरे पिता का देहान्त हो गया था। वे अपने पीछे

कोई राजकुमार नहीं छोड़ गये। प्रधानमंत्री को बड़ी चिन्ता हुई। भविष्य की आशा में उसने वे महीने भी गुजार दिये। मेरा जब जन्म हुआ, बड़ी-बड़ी आशाएँ थी, किन्तु उन पर तुहिनपात हो गया। राजकुमार की आवश्यकता पर राजकुमारी का जन्म हुआ। प्रधानमंत्री ने अपनी कुशाग्र प्रतिभा से काम लिया और यह विश्रुत कर दिया कि राजकुमार का जन्म हुआ है। मुझे बहुत गुप्त रखा गया। इस घटना को मेरी माताजी व प्रधानमंत्री के अतिरिक्त कोई तीसरा व्यक्ति नहीं जानता। मुझे एक कुमार की तरह रखा गया। मेरा लालन-पालन, शिक्षण आदि सभी उसी तरह सम्पन्न हुए। कुछ वर्ष पूर्व मेरा राज्याभिषेक भी कर दिया गया। किन्तु वास्तविकता पर आवरण कब तक डाला जा सकता है? अवस्था के साथ-साथ अवयवों का विकास हुआ और नारीत्व भी उभर आया। कुछ महीनों से मैं महलों में ही रहती हूँ। प्रधानमंत्री इस समस्या का समाधान खोजने के लिए व्यग्र है। उसे कोई उचित मार्ग नहीं मिल पा रहा है। मैंने जब तुम्हें देखा, सहज ही हृदय में अनुराग जागृत हुआ। अपने दोनों की समान अवस्था, लावण्य, आकृति, कद आदि है। यदि मुझे स्वीकार कर लिया जाये तो राज्य पर आई हुई आपत्ति सहज ही में टल जायेगी, मेरी आकांक्षा की पूर्ति होगी और दोनों का भविष्य सुनहरा बनेगा। मेरे अभिमतानुसार इससे सब ओर ही प्रसन्नता होगी।

सेठ के लडके के समक्ष जटिल पहेली उपस्थित हो गई। उसका विवाह हुए कुछ एक ही महीने हुए थे। वह पूर्ण सदाचारी व स्वदारसन्तोषव्रती था। स्वीकृत पत्नी को छोड़कर दूसरी शादी करना वह महान् अन्याय समझता था। रूपीराय का प्रस्ताव उसे बहुत ही घिनौना लगा। किन्तु यह भी समस्या थी कि वहाँ से उसे छुटकारा कैसे मिले?

रूपीराय बहुत चतुर था। उसने सेठ के लडके को लुभाने के लिए कोई कसर नहीं छोड़ी। फिर भी काम न बना। सेठ के लडके को उस चगुल से निकलने का जब और कोई मार्ग न मिला तो उसने देह-चिन्ता की निवृत्ति के निमित्त जाने के लिए अनुमति मांगी। रूपीराय ने उसे स्वीकार कर लिया। सेठ का लडका वहाँ से उठा और महलों से बाहर चला आया। इतनी शीघ्रता से चला कि क्षणों में ही राज-भवन की सीमा को लाघ गया। विचारों में इतना सवेग आया कि वह घर न पहुँच कर मुनियों के पास पहुँचा और साधु बन गया। सेठ के लडके को कुछ शान्ति अनुभव हुई।

रूपीराय कुछ समय तक प्रतीक्षा करती रही। जब सेठ का लडका न पहुँचा तो वह व्यग्र हो उठी। उसने तत्काल अपने गुप्त अनुचरों को भेजा और उसकी खोज करवाई। कुछ घण्टों तक उसकी कोई सूचना नहीं मिली। शहर के चप्पे-चप्पे को छान डाला। जब वे उद्यान में पहुँचे, मुनियों के पास वह अपनी साधना में तल्लीन था। राजा को सूचना दी गई तो वह अत्यन्त उद्विग्न हुई। वह उसी समय महलों से

उतरी और नव दीक्षित सेठ के लडके के पास पहुँची। अपनी अनुरक्त भावना व्यक्त करने लगी, किन्तु मुनि अपनी रेखा से अशमात्र भी विचलित नहीं हुए। जब वह हार खा चुकी, मुनि ने उसे भावभीनी वारणी में उपदेश दिया। रूपीराय आगे-पीछे कुछ भी सोच न सकी और न अपने आपको सम्भाल कर रख सकी। फिर भी और कोई चारा नहीं था, अतः वह भी प्रव्रजित हो गई। मुनि अपनी साधना करते और वह साध्वी-समुदाय में रहती और साधना तथा तपस्या करती।

अनुराग और विराग का द्वन्द्व अनादि काल से चलता आया है। अनुरक्त विरक्त बन जाते हैं और विरक्त अनुरक्त। अनुरक्त के विरक्त बन जाने में श्रेय का मार्ग खुलता है और विरक्त के अनुरक्त बनने में पतन का। रूपीराय की विरक्ति स्थायी नहीं रही। प्रतिदिन आँखों के द्वार से अनुरक्ति व्यक्त होती रहती थी। जिस दिन वह उस मुनि को नहीं देखती तिल-मिलाने लगती। वह प्रतिदिन उस मुनि के पास ही अध्ययन करती। वह भी उसे भगिनी-बुद्धि से पढाता। किन्तु साध्वी की चेष्टाएँ उसे पाश-बद्ध करने की रहती। एक दिन उसका वह अनुराग मुनि पर भी छा गया। मुनि के मन में भी अनुराग जागृत हुआ और दोनों के नेत्र परस्पर मिलते ही एक ही बात करते। सहवर्ती साधुओं को इस घटना का पता लगा तो उन्होंने उन दोनों को ही डाटा और आगे के लिए सावधान किया। उन दोनों ने ही अपनी वास्तविकता को छुपाते हुए अपनी सफाई प्रस्तुत की।

शब्द हृदय का प्रतिनिधित्व करते हैं, किन्तु कभी-कभी जब उन पर आवरण डाल दिया जाता है, वस्तुस्थिति धुंधली हो जाती है। पारदर्शी व्यक्ति उस धुंधलेपन को भेदकर भी गहराई को परख लेते हैं। उनका उपक्रम आवरण को हटाने का होता है, पर सफलता या असफलता तो उनके अधीन नहीं होती। मुनियों और साध्वियों ने दोनों को ही विद्युद्ध करने का उपक्रम किया, पर सफलता नहीं मिली। रूपीराय और मुनि (सेठ का लडका) दोनों में चक्षु-कुशीलता चलती रहती। दोनों की ही एक दूसरे के प्रति आसक्ति बढ़ती गई। सब की आँखों में धूल झोककर वे अपने स्वभाव का पोषण करते रहते। जीवन भर साधुत्व के नाना कष्टों को सहन करते रहे, पर स्नेह राग ने एक दूसरे को विराघक बना दिया।

अनेक जन्मान्तरो के बाद मुनि (सेठ का लडका) इलापुत्र बना और रूपीराय नट के घर कन्या। इस जन्म में भी दोनों में अनुराग बढ़ा और अन्ततः अनुराग पर विराग की विजय हुई। इलापुत्र केवलज्ञानी बना और सिद्ध, बुद्ध व मुक्त बनकर अव्याधात सुखों में लीन हुआ।

शेर और माया की मार

खेत में एक बूढ़ा किसान काम कर रहा था। ढलते दिन उसने अपने साथियों को शीघ्रता करने की प्रेरणा दी। सारे ही पारिवारिकहँस पड़े और बोले— 'कौन-सा शेर बैठा है, जिससे इतने भयभीत होते हो ?' बूढ़े ने कहा—'शेर का मुझे तनिक भी भय नहीं है, किन्तु सन्ध्या का भय है। वह आने ही वाली है। उसके आते ही सबको भगना पड़ेगा और काम बीच ही में रह जायेगा।'

निकटवर्ती गुफा में बैठे एक शेर ने यह वार्तालाप सुना। वह भी चौका। उसने सोचा—मेरा इन्हे तनिक भी भय नहीं है और सन्ध्या से घबराते हैं, अतः वह तो मेरे से भी कोई बलिष्ठ पशु है। मुझे भी उससे सावधान रहना चाहिए। उसके मन में भय भुत्त गया। भयभीत शेर कभी इधर देखता और कभी उबर। थोड़ी-सी भी आहट सुनते ही वह चौक पड़ता और कापने भी लगता। वह अपनी भूख-प्यास भूल गया और कहीं सन्ध्या आक्रमण न कर दे, इसकी सजगता में बैठा रहा।

दिन ढल चुका था, अतः सूरज भी क्षितिज पार चला गया। सन्ध्या हो गई और धीरे-धीरे अन्धेरा बढ़ने लगा। एक घोबी अपने घाट पर कपड़े धो रहा था। अपना काम समाप्त कर वह घर चलने को उद्यत हुआ। कपड़ों की गठरी बांधी और गधे को खोजा तो वह नहीं मिला। आस-पास के खेतों और बागों में उसे खोजा, पर वह नहीं मिला। वह उकता गया और गुस्से में भर गया। हाथ में लाठी लिए घूमता हुआ बहुत दूर निकल गया। अन्धेरी रात और घने जंगल में वह कहीं दिखाई नहीं दिया। घोबी अपनी लाठी को जमीन पर मारता हुआ उस गुफा में पहुँच गया, जहाँ कि वह भयभीत शेर बैठा था। घोबी के आते ही वह शेर चौका। उसने सोचा, सन्ध्या आ गई है और उससे बचने का अब कोई भी उपाय नहीं है। वह डर के मारे गुफा के पत्थरों से बिलकुल सट गया। अन्धेरे में घोबी ने उसे अपना गधा समझा और गुस्से में भरकर दो-चार लाठियाँ जमा दीं। शेर ने चूँ तक नहीं की। घोबी ने उसे ललकारते हुए कहा—हराम कहाँ आकर छुपा है, पर मैं तेरा ही बाप हूँ। कहीं छुपने नहीं दूँगा और डण्डे मार कर सीधा कर दूँगा। निकल यहाँ से बाहर।

शेर घबराया हुआ तो था ही और ऊपर से जब मार और पड़ी तो वह इतना

दब गया कि उसमें प्रतिकार करने की कोई क्षमता ही नहीं रही। वह घोबी के आगे-आगे हूँ लिया। घोबी अपने घाट पर आया और कपडों की गठरी उस पर लाद कर चलता बना। थोड़ी ही दूर पर उसे एक अन्य शेर मिला। कपडों की गठरी लदी देखकर अपने साथी से वह बोल पड़ा—आज यह क्या अजीब माया है ?

शेर ने उत्तर दिया—चुप रहो, बोलो मत। यह सन्ध्या है। हमारे से भी बड़ा पशु है। अपने को भी कहीं निगल न जाए ?

आगन्तुक शेर ने कहा—अरे पागल ! यह तो तेरा केवल भ्रम ही है। सन्ध्या कोई पशु नहीं होता। यह तो किसी का माया-जाल है और उसमें तू फँस गया है। अपने पौष्ट को सम्भाल, अन्यथा इसके चंगुल में पड़ा सिसकिया भरेगा और बिना मौत मारा जायेगा।



राजर्षि शिव

भगवान् महावीर के समय हस्तिनापुर नगर था । उसके ईशान कोण में बहुत सुन्दर सहस्राब्ज उद्यान था । वहाँ के राजा का नाम शिव, रानी का धारिणी और राजकुमार का नाम शिवभद्र था । एक बार पश्चिम रात्रि में राज्य-व्यवस्था का चिन्तन करते हुए शिव राजा के मन में ऐसा अव्यवसाय उत्पन्न हुआ कि राजकुमार, रानी, राज्य, सेना, भण्डार आदि मेरे लिए सुख के निमित्त नहीं हैं । पूर्वकाल में भी तामली आदि गृहपतियो ने इन्हे अपना प्राण न समझकर तापस वृत्ति स्वीकार की थी । मेरे लिए भी यह श्रेयस्कर है कि मैं इन सबसे उपरत होकर गगानट पर अग्निहोत्रिक, वस्त्रधारी, भूमिसायी, दक्षिणकूलक, उत्तरकूलक, शस्त्रधर्मक, कूलधर्मक, दिशाप्रोक्षी, अम्बुभक्षी, वायुभक्षी, शेवालभक्षी आदि जो वानप्रस्थ तापस रहते हैं, उनके सान्निध्य में दिशाप्रोक्षी तापस बनूँ । वहाँ निरन्तर छठमतप (दो दिन का उपवास) करूँ । पारश्व में दिक्चक्रवाल विधि का अनुष्ठान करता हुआ ऊर्ध्वबाहु रहकर ध्यान का अवलम्बन करूँ ।

प्रातः काल होते ही राजा ने एक कौटुम्बिक पुरुष को बुलाया और उसे तापस योग्य अनुकरण तैयार करवाने का आदेश दिया । दूसरे कौटुम्बिक पुरुष को राजकुमार के राज्याभिषेक के लिए सब तरह की तैयारियाँ करने का आदेश दिया । दोनों ही कौटुम्बिक पुरुषों ने शीघ्रता से कार्य-सम्पन्न कर राजा को आदेश पुनः समर्पित किया । राजा शिव ने तत्काल ही राजकुमार का राज्याभिषेक किया और स्वयं उन तापसीय उपकरणों को लेकर गंगा के तट पर दिशाप्रोक्षी तापस हो गया तथा छठमतप आरम्भ कर दिया । तीसरे दिन अपने तप की पारखा करने के लिए उसने दिशा-प्रक्षालन

१ दिक्चक्रवाल विधि का तात्पर्य है कि तपस्या के पहले पारश्व में पूर्व दिशि, दूसरे में दक्षिण दिशि, फिर क्रमशः पश्चिम दिशि और उत्तर दिशि में एक-एक बार फलादिक ग्रहण करना तथा दिशा की पूजा के साथ उनका आहार करना । यह विधि यावज्जीवन तक के लिए होती है और उसमें कम से कम छठमभक्त अति-व्याय है ।

किया तथा दिक्चक्रवाल विधि का अवलम्बन किया। क्रमशः तपस्या से अपनी आत्मा को भावित करते हुए वे विहरण करने लगे।

राजर्षि शिव ने राज्य-व्यवस्था से उपरत होने के बाद कभी उस ओर मुह नहीं किया। उन्हें आनन्द की जितनी अनुभूति राजमहलों में होती थी, उतनी ही गंगा के तट पर वानप्रस्थ तापसी के आश्रमों में होती। वे अत्यन्त प्रकृति-भद्र, विनीत व निष्कषय थे। इससे उनका कर्म-बन्धन शिथिल पड़ गया और उससे उन्हें विभग अज्ञान मिला। उसके आधार पर वे सात द्वीप व सात समुद्रों तक अच्छी तरह देख सकते थे तथा ब्रह्मा की पर्यायो को जान सकते थे।

विभग अज्ञान की प्राप्ति के अनन्तर राजर्षि शिव अपने दण्ड-कमण्डल लेकर गंगा के तट से हस्तिनापुर के तापस-आश्रमों में आ गये। वहाँ अपने उपकरण रखकर शहर के प्रमुख चौराहों पर आए और आत्मी-जाती हुई बहुत सारी जनता को उन्होंने कहा—‘मुझे अतिशेष ज्ञान (ब्रह्म ज्ञान) मिला है। उसके द्वारा मैं सात द्वीप व सात समुद्रों तक के समस्त पदार्थों को हस्तामलकवत् जानता हूँ। मैं अपने ज्ञान के आधार पर इस निर्णय पर पहुँचा हूँ कि यह सारा लोक (विश्व) इतना ही है। जो यह प्रकृष्टण की जाती है कि असंख्य द्वीप व समुद्र हैं, वह मिथ्या है। कोई भी व्यक्ति इस मान्यता को प्रमाणित नहीं कर सकता।’ धीरे-धीरे यह बात सारे शहर में प्रसिद्ध हो गई।

भगवान् श्री महावीर इसी बीच विहरण करते हुए सहस्राब्ज वन में पधारे। जनता को सूचना हुई तो परिषद् एकत्रित हुई। भगवान् ने धर्म-देशना की। भगवान् श्री महावीर के ज्येष्ठ शिष्य गौतम स्वामी ने जनता के मुह से शिव राजर्षि की उक्त घटना सुनी। उन्हें आश्चर्य हुआ, अतः उन्होंने परिषद् के बीच में ही भगवान् श्री महावीर स्वामी से पूछ लिया—‘भन्ते ! शिव राजर्षि जो सात द्वीप व सात समुद्रों की प्रकृष्टण करते हैं, क्या वह सत्य है ?’ उत्तर मिला—‘नहीं, यह मिथ्या है। निर्यन्त्र लोक असंख्य द्वीप-समुद्रात्मक है।’

जनता में कौतूहल हो गया। एक ओर शिव राजर्षि अपने ब्रह्मज्ञान के आधार पर सात द्वीप-समुद्र ही बता रहे हैं और दूसरी ओर भगवान् श्री महावीर अपनी सर्वज्ञता के आधार पर असंख्य द्वीप-समुद्र। दोनों में सत्य कौन ? परिषद् अपने-अपने स्थान गई। शहर में सर्वत्र एक ही चर्चा हो गई। लोग कह रहे थे, भगवान् श्री महावीर का कथन कभी असत्य हो ही नहीं सकता। वे पदार्थ की यथार्थ प्रकृष्टण ही करते हैं।

सारी घटना शिव राजर्षि के समक्ष पहुँची। उन्हें इससे कष्ट हुआ और हृदय में शका, कांक्षा व विचिकित्सा उत्पन्न हुई। मन के परिणाम क्लुप्त हुए। परिणामस्वरूप वह विभग अज्ञान नष्ट हो गया। उन्हें उन सात द्वीप-समुद्रों की भी जानकारी नहीं रही। अपने अज्ञान के ग्रह की उन्हें अनुभूति हुई और तत्त्व-गवेषणा

की बुद्धि से समस्त तापसीय उपकरणों को लेकर वे भगवान् श्री महावीर के ममवमरण में पहुँचे । धर्म-देशना सुनी और असंख्य द्वीप-समुद्र विषयक चर्चा की । बहुत प्रश्नोत्तरो के बाद उन्हें यह प्रतीति व श्रद्धा हो गई कि भगवान् महावीर की प्ररूपणा सत्य है और मेरा कथन एक पक्षीय व अघूरा है । तापस के भण्डोपकरणों का उन्होंने वही त्याग कर दिया और भगवान् के चरणों में प्रन्नजित होकर निर्ग्रन्थ बन गये । दुष्कर नप का अनुष्ठान किया और अपने चिन्तन व अध्यवसायों को विशुद्ध बनाकर सिद्ध, जुड़ व मुक्त बने ।



नन्दीसेन

नन्दीसेन अत्यन्त गरीब, कुरूप व कुबड़ा था। हर कोई उससे घृणा करता। नन्दीसेन के दिल को यह सब कुछ कचोटता, किन्तु विधि के इस वरदान से वह दूर भी कैसे हो सकता था। धीरे-धीरे वह बाल्यावस्था को छोड़कर यौवन में आया। शादी करने की उत्कण्ठा जागृत हुई। बहुत प्रयत्न किये, पर ऐसी भौड़ी शक्ल वाले को अपनी लड़की कौन देता। जहाँ कहीं वह जाता, उसे तिरस्कार ही मिलता।

व्यक्ति चाहे सुख हो या कुरूप, अमीर हो या गरीब, जब उसके स्वाभिमान को ठेस पहुँचती है तो वह जीवन को भारभूत समझने लगता है। सारी ही सृष्टि उसे नरक-कुण्ड के समान लगने लगती है। नन्दीसेन के भी यही हुआ। जब उसे सह-धर्मिणी के बदले तिरस्कार, घृणा व दुत्कार की कड़वी छूट पीने को मिली तो एक दिन वह आत्म-हत्या का विचार कर घर से निकल पड़ा। उसके मन में कल्पनाओं का उतार-चढ़ाव आ रहा था। वह सोचता जा रहा था, जो समाज मुझसे घृणा करता है, मुझे भी उससे घृणा है। जिस समाज में व्यक्ति का मूल्य चमड़ी और दमड़ी से होता है, मैं उसमें आगे भरता हुआ जिन्दगी बसर नहीं कर सकता। आज ऐसे समाज से भुँह भोड़ लिया है तो पुनः उस समाज में लौटने का नाम भी नहीं लूँगा। हताश, उदास व विखिन्न-सा वह अपनी शीघ्र गति से चलता गया और एक सूने जंगल में पहुँच गया। एक ओर वहाँ ऊँचा पहाड़ था। उसमें छोटी-बड़ी कई गुफायें थीं। लताओं व वृक्षों से उसकी शोभा द्विगुणित हो रही थी। एक ओर गहरे-गहरे गड्ढे व दरारे थीं। नन्दीसेन ने सोचा, यदि पर्वत की किसी एक टोक से गिर जाऊँ तो फिर मेरी हड्डी भी इस धिनौने समाज के व्यक्ति को देखने के लिए भी नहीं मिलेगी। वह अविराम गति से चढ़ने लगा। पीछे से एक आवाज आई। उसमें मधुरता थी, प्यार था और भ्रातृत्व था, अतः नन्दीसेन की आँखें अनायास ही पीछे की ओर घूम गईं। उसने देखा, गुफा में शिलापट्ट पर एक साधु बैठे हैं। उनके मुख-मण्डल पर अपार शान्ति झलक रही है। उनका कृश शरीर उत्कट तपस्वी होने की सूचना दे रहा है। नन्दीसेन आगे न बढ़ कर पीछे घूम गया और तपस्वी के चरणों में नतमस्तक होकर खड़ा हो गया। नन्दीसेन को ऐसा लगा जैसे कि वह अपने किसी अत्यन्त निकट के

व्यक्ति के पास पहुँच गया हो। दो-एक क्षण वह उन्हें निहारता रहा। फिर हृदय भर आया और आँहें भर-भर कर रोने लगा। मुनिवर ने पूछा—भद्र ! तू कौन है ? कहा जा रहा है ?

नन्दीसेन—(रोता हुआ) मुनिवर ! यह न पूछें। मैं इस पृथ्वी माता का सबसे अभागा पुत्र हूँ। मुझे यह नहीं चाहती है, अतः जीवन से ऊँच गया हूँ। अब दस-बीस क्षणों का ही मेहमान हूँ।

मुनिवर—यह तो तेरा उचित निर्णय नहीं है। जीना तुझे अप्रिय है तो तू इससे छूटकाग भी पा नहीं सकता। एक शरीर से छूटकर दूसरे शरीर में चला जाएगा, पर जीवन तो कभी समाप्त होने वाला नहीं है। जिस कारण से तू यहाँ परेशान है, इसका क्या पता है कि अगले जीवन में भी वह नहीं होगा। जो अपने शुभाशुभ कर्म-बन्धन हैं, उन्हें तो भोगना ही पड़ेगा, चाहे इस शरीर में भोगा जाए या अगले शरीर में। यह तो तेरी कायरता है जो जीवन-सघर्ष से ऊँच कर इस तरह भागने का प्रयत्न कर रहा है। तुझे यदि समाज से घृणा है तो समाज में मग्न रह। एकान्तवास में समय, तप व त्याग का अनुष्ठान कर। इससे तेरी आत्मा पवित्र होगी और उससे आनुसंगिक रूप में तेरा यह बाह्य आवरण भी सुधरेगा। लोग तेरे से घृणा करते हैं तो उममें एकमात्र दोष उनका ही नहीं है, पात्र का भी है, जिसे समझना तेरे लिए अनिवार्य है।

मुनि ने अपने अभिप्राय की और व्याख्या करते हुए कहा— तू कितना ही क्रूर होगा, पर मनुष्य तो है। सोचने-समझने व करने की क्षमता तो तेरे में पूरी है। फिर क्यों बबराता है। मनुष्य जीवन का मर यह नहीं है कि सघर्ष से ऊँचकर मरने की सोचना, अपितु यह है कि अपने साहस के महारे त्याग और तपस्या के द्वारा आत्मा को निखारना। अपने पौरुष का परिचय देकर साधना के मार्ग में अग्रसर होना ही तेरे लिए श्रेयकर व क्षेमकर है।

नन्दीसेन खड़ा-खड़ा सुनता गया। मुनिवर की तप पूत वाणी ने उसके अधोमुखी विचार-प्रवाह को एक मोड़ दे दिया। जीवन के प्रति व्याप्त घृणा समभाव में परिणत हो गई और उससे उसके दिल में साधना के अकुर फूट निकले। उसने मुनिवर से प्रार्थना की—प्रभो ! आत्म-ज्ञान कुछ और दीजिए। नन्दीसेन जमकर बैठ गया और मुनिवर ने फिर उसे उपदेश देना आरम्भ किया। दोनों सम-रस में तल्लीन हो गये। नन्दीसेन मुनि के चरणों में गिर पड़ा और बोला—महामुने ! मेरा उद्धार करो। मुझे आप द्वारा निर्दिष्ट पथ स्वीकार है। मैं अपने इस पुराने सकल्प को छोड़ता हूँ और आपकी प्रेरणा से साधुत्व व्रत स्वीकार कर आप जैसा ही जीवन जीना चाहता हूँ। मुनि ने उसे सब प्रकार के पापकारी कर्मों से उपरत होने का प्रत्याख्यान करवाया और मुनि-जीवन किस तरह यापन किया जाता है, इसका शिक्षण दिया।

दीक्षित होने के अनन्तर नन्दीसेन ने उत्कट तप आरम्भ किया। एक महीने के बाद केवल एक दिन भोजन और तीस दिन तक ध्यान, कायोत्सर्ग और पदार्थ-

स्वरूप का चिन्तन । इससे उनका शरीर अस्थिर-पंजर मात्र ही रह गया । साथ ही साथ उनका दूसरा उपक्रम था—बूढ़, ग्लान व बाल मुनियों की अग्लान भाव से रात और दिन वैयावृत्ति करना । कोई साधु कहीं बीमार होता, सूचना पाते ही वे तत्काल वहा पहुँच जाते और उनकी सेवा में लग जाते । इस सेवा-कार्य से उनके मन में तनिक भी धिन नहीं होती थी । रुग्ण साधु के मल, मूत्र, खेल, खखार आदि की मफाई, जैसे अपने शरीर की की जाती है, करते । उनके लिए औषधि व यथासमय पथ्य आदि की व्यवस्था करते और अत्यन्त चित्तसमाधि पहुँचाते ।

एक दिन नन्दीसेन मुनि एक महीने की तपस्या का पारणा कर के लिए बैठे थे । एक ग्रास हाथ में लिया था और मुह में रख रहे थे । अचानक एक मुनि आये और मुनि नन्दीसेन पर बरस पड़े । बोले—नन्दीसेन ! सेवाभाविता का दम्भ भरना तुम्हें बहुत आता है । तू यहाँ बैठा आराम से आहार कर रहा है और बेचारे रोगी साधु शहर के बाहर पड़े तडफ रहे हैं । लोगो को कहता है—रोगी साधु का नाम सुनकर, उसकी परिचर्या के लिए दूसरे गाँव चला जाता हूँ और आज जबकि इसी शहर के बाहर रोगी साधु आए बैठे हैं, सब रहे हैं और तू यहाँ बैठा आनन्द से आहार करता है ? मैं तो समझता हूँ, तेरी यह सेवाभावना खाली है ।’ मुनि नन्दीसेन का कवल हाथ से मुह तक नहीं गया । वह अपने आप नीचे पात्र में गिर गया । आगन्तुक मुनि का सत्कार करने हुए उन्होंने शान्तभाव से कहा—‘मुने ! मुझे तनिक भी ज्ञात नहीं था कि कोई मुनि बाहर से आया है और वे रुग्णावस्था में है । यदि पता होता तो सम्भवत ऐसी गल्ती नहीं होती । किन्तु इसका दोष भी और किसी को नहीं है । पता लगाना तो मेरा अपना ही काम था । मैं अपने आपको दोषी मानता हूँ । मुझे क्षमा करें । भविष्य में ऐसी त्रुटि न हो, इसके लिए सावधान रहूँगा । आदेश करे, रुग्ण मुनि के लिए किस दवा की आवश्यकता पड़ेगी । मैं उसकी गवेषणा कर उनकी सेवा में उपस्थित होता हूँ ।’

आगन्तुक मुनि नन्दीसेन मुनि की तितिक्षा देखकर और उबल पड़े । आँखें लाल कर बोले—‘तुम्हें चिन्ता लगी है दवा की । बेचारा वह बूढ़ और रुग्ण मुनि तो प्यास से अकृला रहा है । पहले उसे पानी पिलाओ और फिर आगे की सोचना ।’ नन्दीसेन मुनि तत्काल उठे और पानी की गवेषणा के लिए शहर में निकल पड़े । एक महीने की तपस्या, चिलचिलाती धूप और नरम-नरम कहीं गई बातें, फिर भी उनके मन में तनिक भी व्याकुलता नहीं हुई । वे एक घर से दूसरे घर अपनी शान्त गति से गवेषणा करने लगे । मयोग की बात थी, उन्हें कहीं प्रासुक पानी नहीं मिला । वे सैकड़ों घरों में घूम आये । गारीरिक खिन्नता तो होने की ही थी, किन्तु उनके मन में किसी प्रकार का सन्ताप नहीं था । उनकी यही भावना थी कि कहीं पानी मिल जाए तो उसे लेकर वे बूढ़ व रुग्ण मुनि की परिचर्या में पहुँच जायें । बहुत विलम्ब के बाद उन्हें एक घर में थोड़ा-सा पानी मिला । उसे लेकर वे निर्दिष्ट स्थान

पर पहुँचे । मुनि नन्दीसेन को देखते ही वे वृद्ध व रुग्ण मुनि गुस्से में भर गये । उन्होंने कहा—क्या तेरी यही सेवाभावना है । घण्टों से बैठा हुआ मैं यहाँ प्यासा मर रहा हूँ और तू अपनी अक्कड़ में घूम रहा है । क्या सेवा करेगा ?

नन्दीसेन ने अपनी स्थिति का स्पष्टीकरण करते हुए कहा—प्रभो ! मैं इसी-लिए गोचरी गया था । ऐसा ही संयोग था कि बहुत धूमने पर भी पानी उपलब्ध न हो सका । तपस्विन ! यह इतना पानी मिला है । आप इसे स्वीकार करें और शहर में पधारें । वहाँ मैं आपके लिए पानी व दवा, सबकी व्यवस्था करने का प्रयत्न करूँगा ।

रुग्ण मुनि ने झुल्लाते हुए कहा—इतने पानी से मुझे क्या होगा ? इससे तो गला भी पूरी तरह नहीं भीगेगा । मैं तो इसे नहीं पीऊँगा । मुझे शहर में ले चल । वहाँ जाकर ही सब कुछ करूँगा ।

नन्दीसेन ने अपनी सहज नम्रता के साथ कहा—मुने ! मैं जानता हूँ, मेरी प्रतीक्षा में आपको बहुत कष्ट हुआ है । इसके लिए मैं क्षमाप्रार्थी हूँ । अब आप शहर में पधारें । वहाँ वैद्य से रोग का निदान हो जायेगा और चिकित्सा भी आरम्भ हो सकेगी ।

रुग्ण मुनि ने कहा—मेरे से चला नहीं जाता । यदि तू मुझे अपने कन्धे पर बैठा ले तो मैं आसानी से शहर में पहुँच सकता हूँ । मुनि नन्दीसेन ने उसे स्वीकार कर लिया । तपस्वी के दुर्बल व क्षीणकाय शरीर पर वह रुग्ण मुनि बैठ गया । दोनों शहर की ओर चले । रुग्ण मुनि का भार क्रमशः बढ़ता जाता था । नन्दीसेन मुनि एकदम क्लान्त हो गये । उन्हें बहुत वेदना का अनुभव हुआ । फिर भी सेवा-धर्म को परम धर्म मानते हुए चले ही जा रहे थे । इतना होने पर भी रुग्ण मुनि ने नन्दीसेन मुनि को झिड़कते हुए कहा—मूर्ख ! ऐसे कैसे चल रहा है ? इससे मुझे बहुत वेदना होती है । यदि तुझे इसी प्रकार चलना था तो मुझे क्यों उठा कर लाया । धीरे व सावधान होकर चल । मेरा जी ख़बर रहा है । नन्दीसेन मुनि को फिर भी गुस्सा नहीं आया । उन्होंने फिर क्षमा माँगी और आगे चलने लगे । रुग्ण मुनि ने उनके सिर पर वमन कर दी । वमन में बहुत अधिक सड़ान्ध थी । उनका शरीर और कपड़े वमन से भर गये । थोड़ी ही दूर चले होंगे, रुग्ण मुनि ने कन्धे पर बैठे-बैठे पाखाना कर दिया । चारों ओर बदबू उछलने लगी । इतना होने पर भी नन्दीसेन मुनि के मन में एक ही भावना उमड़ रही थी कि मेरी टेढ़ी-मेढ़ी चाल से मुनि को कितना कष्ट हो रहा है । मेरे कपड़े और शरीर तो धूल कर साफ हो जायेंगे, पर मुनि की वेदना कब और कैसे शान्त होगी ? ऐसा ज्ञात होता है कि वेदना बढ़ती जा रही है । शीघ्र ही मुझे इनको वैद्य के यहाँ ले चलना चाहिए । इसी चिन्तन में तैरते-डूबते हुए नन्दीसेन मुनि उस भारी भरकम वृद्ध व रुग्ण मुनि को उठाये अपने स्थान पर पहुँच गये । उनको अपने कन्धे से नीचे उतारा । वहाँ न कोई मुनि दिखलाई पड़े और न कोई वमन या पाखाना ही था । केवल एक दिव्य ध्वनि चारों ओर प्रतिध्वनित हो रही थी—नन्दीसेन ! तुम्हारी सेवा-भावना को शतशः साधुवाद ।

नन्दीसेन]

[५८३]

केशवकुमार

कुण्डनपुर नगर में यशोधर नामक एक व्यापारी रहता था। वह धर्म-कर्म को कुछ भी नहीं मानता था। पूरा नास्तिक था। उसके दो पुत्र हुए, जिनके हंस और केशव नाम रखे गए। दोनों ही भाइयों में अच्छी मैत्री थी। दोनों साथ ही खेलते व पढ़ते थे। एक दिन वे घूमते हुए एक उद्यान में पहुँच गए। वहाँ उनका एक जैन मुनि से सम्पर्क हुआ। धार्मिक चर्चा चली। दोनों ही भाई कई घण्टे तक उस चर्चा में तल्लीन रहे। मुनि ने उन्हें जीवन का स्वरूप समझाया और कुछ न कुछ व्रत-ग्रहण करने की प्रेरणा दी। दोनों के ही हृदय में वह बात जच गई। उन्होंने मुनि से निवेदन किया—हम आपके समक्ष प्रतिज्ञा ग्रहण करते हैं कि आज से रात्रि-भोजन नहीं करेंगे। मुनि ने उनकी इस भावना का अनुमोदन किया और व्रत में सुदृढ़ रहने की प्रेरणा दी।

दोनों भाई घर आए। उनके मन में अपार खुशी थी। सूरज को ढलते देखा तो दोनों ने ही मा से भोजन मांगा। मा समझ नहीं पाई कि आखिर आज दिन रहते ही खाना मागने का क्या प्रयोजन? प्रतिदिन रात्रि में ही भोजन बनता था और घर के सभी सदस्य उसी समय खाते थे। मा ने उनसे पूछा तो अपनी प्रतिज्ञा के बारे में उन्होंने बता दिया। मा को यह बहुत बुरा लगा। उसे यह सन्देह हुआ कि कहीं दोनों ही साधु न बन जाए। उसने दोनों को ही एक गहरी डाट दिखाई और फिर कभी ऐसा न करने के लिए कहा। उस दिन उनको भोजन नहीं मिला। पहर रात बीतने पर भोजन बना। यशोधर भोजन करने के लिए बैठा। उसने अपने दोनों पुत्रों को बुलाया और भोजन करने के लिए कहा। उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा का स्मरण दिलाया। यशोधर बहुत बिगड़ा। उसने कहा—कल के बच्चे और धर्म की यह ठेकेदारी? मैं कभी नहीं चलने दूँगा। मेरे घर में रहना है तो भोजन रात को ही मिलेगा। दोनों को ही बहुत डराया-धमकाया गया, पर वे अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहे। दो-चार दिन निकल गए। दिन को खाना नहीं मिलता और रात को वे खाते नहीं। माता-पिता और उनके बीच काफी वाद-विवाद चलता। दोनों ही पक्ष एक-दूसरे को समझाने का प्रयत्न करते, पर कोई भी किसी को अपने से सहमत न कर सका। यशोधर दोनों ही पुत्रों की इस प्रवृत्ति से बहुत रुष्ट हुआ। जब वे किसी भी तरह न माने तो

दोनो को ही घर से निकल जाने के लिए कह दिया गया। केशव को इससे तनिक भी कष्ट नहीं हुआ। उसने कहा—वह मनुष्य ही क्या जो अपने प्रण को न निभाए। मैं सब कुछ सहन कर लूँगा, पर अपनी प्रतिज्ञा नहीं तोड़ूँगा।

माता-पिता की यातना व कड़े आदेश के कारण हृष का दिल पसीजा और वह अपनी प्रतिज्ञा से विचलित हो गया। घर छोड़कर चले जाना उसे स्वीकार नहीं हुआ। केशव अकेला रह गया। एक बार उसके नामने समस्या-सी प्रतीत हुई, किन्तु उसने अपने आत्म-बल के सहारे उसे नगण्य समझा। वह अकेला घर छोड़ कर चला गया। यद्यपि उसके सामने और कोई लक्ष्य या मजिल नहीं थी, फिर भी उसे तनिक भी कष्ट की अनुभूति नहीं हुई। वह चलता हुआ बहुत दूर निकल गया। रात्रि का नीरव समय, चारों ओर अन्धेरा, फिर भी वह आनन्द के साथ अपने मार्ग पर बढ़ता ही जा रहा था। सामने उसे एक यक्ष-मन्दिर दिखाई दिया। वहाँ सैकड़ों भक्त यक्ष को प्रसन्न करने के निमित्त पूजा, यज्ञ, हवन आदि नाना अनुष्ठानों से निवृत्त होकर भोजन करने के लिए बैठे थे। केशव को अपनी ओर आते देख कर सारे ही खड़े हो गए और उसका आतिथ्य करने लगे। सभी व्यक्तियों ने उससे भोजन करने का आग्रह किया और कहा—अतिथि को भोजन कराना तो हमारा श्रेष्ठ धर्म है। जब तक अतिथि खाना नहीं खा लेता, अपने नियमानुसार हम भी खाना नहीं खा सकते, अतः महाभाग! इस प्रार्थना को स्वीकार करो।

केशव की दृढ़ता की यह दूसरी परीक्षा थी। वह असमजस में पड़ गया। यदि खाना खाता है तो प्रतिज्ञा भंग होती है और नहीं खाता है तो निमन्त्रण देने वाली के अतिथि-धर्म का उल्लंघन होता है। वे उसके इतने पीछे पड़े कि केशव का वहाँ से छुटकारा होना असम्भव-सा हो गया। आखिर उमने साहस के साथ कह दिया, कुछ भी हो, मैं अपनी प्रतिज्ञा को तो किसी भी परिस्थिति में नहीं तोड़ सकना। चाहे मुझे इसके लिए कितने भी कष्ट उठाने पड़ें। जब घर ही छोड़ दिया है तो यहाँ आकर अपनी प्रतिज्ञा क्यों तोड़ूँ?

उपस्थित सभी व्यक्ति आवेश में भर गए। उसे डाटते हुए बोल पड़े—क्या तेरी प्रतिज्ञा का यही प्रयोजन है कि हमें अपने धर्म से भ्रष्ट करना? हमने इतनी देर जो भी यज्ञ व अन्य क्रिया-काण्ड किए हैं, तेरे दुराग्रह के कारण सारे भ्रष्ट हो जाएंगे। बिना तेरे खाना खाए कोई भी भोजन नहीं करेगा। जब सभी व्यक्ति झुंझो मरेंगे तो बोल, इस प्रतिज्ञा की श्रुति में तुझे कितना पाप लगेगा? धर्म वहीं हो सकता है, जहाँ किसी का दिल नहीं दुखाया जाता। जब तू हमें सताने के लिए ही उतारू हो रहा है तो फिर सोच लेना, यदि हम भी तेरे पर इसी तरह दृढ़ पड़े तो तेरी क्या दशा होगी। वही व्यक्ति भला कहलाता है जो जिनकी सुरक्षा अपनी करता है, उमसे भी अधिक जनता की करता हो।

सब तरह से केशव को समझाने का प्रयत्न किया गया, किन्तु वह अपने

निर्णय से विचलित नहीं हुआ। केशवकुमार और वे पूजक परस्पर में एक-दूसरे के पक्ष को काटते गए, पर कोई किसीसे सहमत नहीं हुआ। वाक्-युद्ध चल ही रहा था कि अचानक यक्ष की वह प्रतिमा फटी और उसमें से एक दैत्य बाहर आया। वह केशव की ओर बढ़ा। आखे लाल कर बोला—‘केशव ! तुझे इतना घमण्ड ? मेरे ये भक्त भूखे बैठे रहेंगे और तू अपनी प्रतिज्ञा की दुहाई देता रहेगा ? चल खाना खा ले, वरना मुग़्दर के एक प्रहार में तेरा नामशेष हो जाएगा।’ केशव ने यह सब कुछ देखा। वह मन ही मन सोचने लगा—मेरी प्रतिज्ञा की यह अग्नि-परीक्षा है। यदि मैं विचलित हो गया तो फिर मेरा अस्तित्व भी समाप्त है। वह ध्यानस्थ वहीं खड़ा हो गया। उसने यक्ष द्वारा कही गई बात का कोई उत्तर नहीं दिया। वह तो इस निर्णय पर पटुव चुका था कि मृत्यु से अधिक तो कोई दण्ड नहीं है। मुझे वह स्वीकार है। भय किस बात का।

यक्ष केशव की भावभंगिमा के द्वारा उसके हृदय को पहचानता गया। उसे लगा कि मेरा भी इस पर कोई असर होने वाला नहीं है। अपनी बात को दूसरा मोड़ देते हुए उसने अपने भक्तों से कहा—अभी थोड़ी देर इसे सुला दो। बहुत दूर से आया है। क्लान्त हो गया है। रात बहुत बीत चुकी है। सुषोदय होने ही वाला है। जब सोकर उठेगा, बात मान लेगा। अतिथि अबध्य होता है, अतः चिन्तन के लिए एक अवसर इसे मैं और देता हूँ।

केशव सुखपूर्वक सो गया। पदयात्रा की थकावट थी, अतः जल्दी ही नींद आ गई। थोड़ी देर में जगा। वे सारे ही व्यक्ति फिर भोजन के लिए आग्रह करने लगे। उन्होंने कहा—‘महाभाग ! प्राची ने अपनी किरणें धरती पर फैला दी हैं। सूर्य निकल चुका है। अब तुम्हारी प्रतिज्ञा भी पूर्ण हो चुकी है। भोजन करे और हमें इस पुण्य का अवसर दे। छोटे-छोटे बच्चे भी बिलख रहे हैं। आप भोजन करेंगे तब हम अपने कार्यों से निवृत्त होकर घर को जाएंगे।’

आखे मलता हुआ केशव खड़ा हुआ। उसने चारों ओर दृष्टि डाली तो ऐसी प्रतीति हुई कि सूरज निकल चुका है, किन्तु मन इसकी साक्षी नहीं भरता था। उसके मन में रह-रह कर यह आ रहा था कि थोड़ी देर पहले मैं सोया था। इतनी जल्दी रात बीतनी तो नहीं चाहिए। उसने थोड़े गौर से देखा तो उसका सन्देह ठीक निकला। वस्तुतः सूरज नहीं निकला था, अपितु केशव की प्रतिज्ञा भग्न करने के निमित्त वह एक षड्यन्त्र रचा गया था। सूर्य के सदृश प्रभा वाला एक छत्र आकाश में चढ़ा दिया गया था। केशव ने उसे ताड़ लिया और कह दिया—वास्तविक सूर्य अभी उदय नहीं हुआ है। यह यो कृत्रिम सूर्य है। मैं अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ हूँ और अभी भोजन नहीं कर सकता।

सैकड़ों व्यक्तियों व यक्ष ने भय व छल दोनों ही प्रकार से केशव को छलने का प्रयत्न किया, पर वे सफल न हुए। सबका एक ही प्रकार का आग्रह देखकर केशव

फिर ध्यानस्थ खड़ा हो गया। दो-एक क्षण बाद कोलाहल स्वतः शान्त हुआ। केशव की आखें अपने आप खुल गईं। सामने न तो सैकड़ों आदमी थे, न भोजन था, न यक्ष, न मन्दिर और न वहाँ किसी प्रकार का आग्रह। केशव तो अकेला सूने जंगल में एक वृक्ष के नीचे खड़ा था। उसके सामने एक दिव्य पुरुष खड़ा था। केशव को सम्बोधित करते हुए उस पुरुष ने कहा—तुम अपनी प्रतिज्ञा को निभाने में पूर्णतः सफल हो। यह तो तुम्हारी परीक्षा हो रही थी। जिस दृढ़ता के साथ तुमने नियम ग्रहण किया था, आज भी उसी दृढ़ता के साथ तुम उसे निभा रहे हो, इसके लिए तुम्हें धन्यवाद है। मैं तुम्हारी इस दृढ़ता पर प्रमन्न हूँ और इच्छित वर मांगो।

नम्रतापूर्वक केशव बोला—मेरी तो केवल एक ही अभिलाषा है कि मैं अपनी प्रतिज्ञा का आजीवन अच्छी तरह पालन कर सकूँ। इसके अनिश्चित मुझे और कोई आवश्यकता नहीं है।

दिव्यपुरुष ने कहा—फिर भी मैं तुम्हें कुछ देना चाहता हूँ, तुम मांगो।

केशव—मुझे तो किसी पदार्थ की आवश्यकता नहीं है। मैं तो स्वयं तृप्त हूँ।

दिव्यपुरुष—दृढप्रतिज्ञा की सेवा का कुछ लाभ तो मुझे भी मिलना चाहिए।

केशव—यह आपकी इच्छा।

दिव्यपुरुष—मैं तुम्हें यह वरदान देता हूँ कि तुम्हारा चरणागुष्ठक धोकर जो भी पीयेगा, वह सर्वथा रोग-मुक्त हो जाएगा। जब कभी तुम मेरा स्मरण करोगे, मैं उपस्थित होऊँगा। कष्ट के लिए क्षमा।

दिव्यपुरुष आकाश में अन्तर्धान हो गया और केशव उस वृक्ष के नीचे पुनः सो गया। प्रातः काल जब वह उठा तो एक नगर के समीप था। नगर द्वार में प्रवेश कर आगे बढ़ा तो वह चलता हुआ एक धर्म परिषद् में पहुँच गया। प्रवचन चालू था। कुछ खिन्न-सा वह एक ओर जाकर बैठ गया।

नगर का नाम साकेत था। वहाँ का राजा धनजय था। वह बहुत दिनों से विरक्त था। साधु बनना चाहता था, किन्तु उसके कोई पुत्र नहीं था, अतः उत्तराधिकारी का प्रश्न उसे बार-बार विखिन्न-सा कर देता था। प्रवचन के अनन्तर राजा ने आचार्य से प्रार्थना की—प्रभो! रात को स्वप्न में मुझे ऐसा आभास मिला कि आज आपकी सभा में आने वाला नवीन व्यक्ति मेरे समय में सहयोगी होगा और मुझे वह चिन्ता-मुक्त करेगा। मैं जानना चाहता हूँ कि इस समुदाय में वह व्यक्ति कौन है और मुझे वह स्वप्न कैसे आया?

आचार्य ने अपने ज्ञान-बल से सारी परिस्थिति को जान लिया। उन्होंने केशव की ओर मकेत करते हुए कहा—वह व्यक्ति केशव है, जो कि उस कौन से बैठा है। यह सब आभास केशव की दृढप्रतिज्ञा की अग्नि-परीक्षा करन वाले देव ने तुम्हें दिया था।

राजा धनजय फूला नहीं समाया। उसी समय वह केशव के पास आया, उसे

गले लगाया और अपने महलो मे ले गया । केशव का राज्याभिषेक किया गया और वनजय दीक्षित हो गया । एक दिन केशव अपने महलो के गवाक्ष मे बैठा, राजमार्ग पर आने-जाने वाले व्यक्तियों को देख रहा था । अचानक उसकी दृष्टि एक वृद्ध पुरुष व वृद्ध महिला पर पड़ी । उनके कपड़े फटे हुए थे और दरिद्रता पूरी तरह से उन पर छा रही थी । केशव ने उन्हें पहचान लिया । वे उसके माता-पिता थे । उसने अपने अनुचरो को भेजकर उन्हें अपने महलो मे बुला लिया । वह उनके चरणों मे गिर पड़ा । केशव को बहुत वर्षों के बाद राजा के रूप मे पाकर माता-पिता के हर्ष का पार न रहा । दोनों ने उसे छाती से भीड़ लिया । दोनों और से सुख-दुख की बातें हुईं । केशव की आपबीती जब उन दोनों ने सुनी तो प्रतिज्ञा के प्रति उनका सहज आकर्षण हुआ । हस को उनके साथ न देखकर केशव ने खिन्नता के साथ पूछ लिया—‘भाई कहा है ?’ माता-पिता की आखें डबाडबा आईं । उन्होंने कहा—जिस दिन तू ने घर छोड़ा था, उसी दिन हमने उसका नियम तुझवा दिया था । रात को जब खाना खाने के लिए बैठा, उसके भोजन मे ऊपर बैठे नाग का विष टपक पड़ा । उसे कुछ मालूम नहीं हुआ । थोड़ी देर मे विष सारे शरीर मे फैल गया । हमने उसको बचाने के बहुत प्रयत्न किये । मरते हुए को उसे बचा तो लिया, किन्तु उसके मारे शरीर मे कोढ़ फूट गया । घर की सारी सम्पत्ति उसकी चिकित्सा मे लगा दी गई, फिर भी वह ठीक नहीं हुआ । घर मे दरिद्रता छा गई । खाने के भी लाले पड़ने लगे । काम- धन्धा कुछ भी है नहीं । भीख मागते हुए भटकते हैं । हस घर पर ही है । केशव ! हम पापी हैं । हमें अपने दुष्कर्मों को भोग लेने दो । केशव ने उन्हें धैर्य बढाया और भविष्य मे अधिकाधिक धर्म-आचरण करने की प्रेरणा दी । उसने हस को भी वहा बुला लिया । केशव ने दिव्यपुरुष द्वारा प्रदत्त वरदान का पहला प्रयोग हस पर किया । चरणागुष्ठक का प्रक्षालन कर उसे पिलाया गया । शरीर पर भी डाला गया । रोग दूर हो गया और शरीर कचन की तरह चमक उठा ।

केशव माता-पिता व भाई के साथ राज-प्रसाद मे रहते हुए भी सयम, मात्त्विकता व हठप्रतिज्ञता को अपने जीवन मे प्रमुख स्थान देता । राजा होते हुए भी वह एक माधु का जीवन जीता था । हजारों व्यक्तियों ने उससे स्वास्थ्य-लाभ के साथ-साथ आत्म-लाभ भी प्राप्त किया ।



परिशिष्ट २

पारिभाषिक संक्षिप्त व्यंख्या

१ :

मगल द्वार गीतिका ३ गाथा ३

पैतालीस लाख योजन मे किम तुम मकल ममाये ?

तिर्यक् लोक के असंख्य द्वीप-समुद्र उत्तरोत्तर दुगुने दुगुने आयाम-विषकम्भात्मक क्रमशः एक दूसरे को बलयाकार से परिवेष्टित हैं। उन सब द्वीप-समुद्रों के मध्य में एक लाख योजन विषकम्भात्मक जम्बूद्वीप है। जम्बूद्वीप को परिवेष्टित करने वाला दो लाख योजन विस्तृत लवण समुद्र, लवण समुद्र को परिवेष्टित करने वाला चार लाख योजन विस्तृत घातकी खण्ड द्वीप, घातकी खण्ड द्वीप को परिवेष्टित करने वाला आठ लाख योजन विस्तृत कालोदधि समुद्र और कालोदधि समुद्र को परिवेष्टित करने वाला आठ लाख योजन विस्तृत अर्ध पुष्कर द्वीप है।

लवण समुद्र २ लाख योजन

घातकी खण्ड ४ लाख योजन

कालोदधि ८ लाख योजन

पुष्करार्ध ८ लाख योजन

$२२ \times २ = ४४$ लाख योजन

जम्बूद्वीप + १ लाख योजन

४५ लाख योजन

पैतालीस लाख योजन प्रमाण यह क्षेत्र समय क्षेत्र या मनुष्य क्षेत्र कहलाता है। इस क्षेत्र में से ही कोई आत्मा सर्व कर्म करके सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो सकती है। सिद्ध होने वाली आत्मा जिस भू-भाग में अवस्थित होती है, उसी की समश्रेणी में ऊपरवर्ती सिद्ध शिला पर वह अवस्थित हो जाती है। आज तक अनन्त सिद्ध हो चुके हैं, पर वे सारे आत्म-प्रदेशों के अव्याघातत्व के कारण प्रदीपप्रभापटलवत् इसी पैतालीस लाख योजन विषकम्भ वाले क्षेत्र में ही समाहित हैं।



२ :

भगल द्वार गीतिका ५ गाथा ३

पञ्च महाव्रत पंचाचार निपुणता निर्मल भालो

पञ्च महाव्रत—१ हिंसा, २ असत्य, ३ स्तेय, ४ अन्नह्यार्च्य और ५ परिग्रह का यावज्जीवन के लिए मानसिक, वाचिक व कायिक तथा कृत, कारित व अनुमोदन विधि से परिहार ।

पञ्चाचार—निश्चयेस् के निमित्त किये जाने वाले ज्ञानादि आसेवत रूप अनुष्ठान विशेष को आचार कहा जाता है । वह पाच प्रकार का है—१ ज्ञानाचार, २ दर्शनाचार, ३ चरित्राचार, ४ तप आचार और ५ वीर्याचार ।

१ ज्ञानाचार—अविनय आदि आठ दोष रहित सम्यक् तत्त्व का ज्ञान कराने के कारणभूत श्रुतज्ञान की आराधना ।

२ दर्शनाचार—शका काक्षादि से रहित सम्यक्त्व की शुद्ध आराधना ।

३ चरित्राचार—ज्ञान एव श्रद्धापूर्वक अहिंसा आदि का पूर्णरूपेण पालन ।

४ तप आचार—इच्छा निरोध रूप अनशनादि व द्वादश प्रकार के तप का ग्रहण ।

५ वीर्याचार—अपनी शक्ति का गोपन न करते हुए धार्मिक कार्यों में यथा-शक्ति मन, वचन और काया से प्रवृत्त होना ।

—ठाणाय सूत्र ठा० ५ उ० २ स० ४३२ के आधार से



३ :

मंगल द्वार गीतिका ७ गाथा १

सहार च्यार घनघाती

मंगल द्वार गीतिका ८ गाथा २

अनन्त चतुष्टय धारो

मंगल द्वार गीतिका १० गाथा ३

प्रातिहार्य अठ परिमाण

मंगल द्वार गीतिका ७ गाथा १

द्वादश गुण है सघाती

जैन दर्शन के अनुसार ससार-परिभ्रमण के हेतु कर्म है। मिथ्यात्व, अविरति प्रमाद, कषाय और योग के निमित्त से जब आत्म-प्रदेशो में कम्पन होता है, तब जिस क्षेत्र में आत्म-प्रदेश है, उसी क्षेत्र में रहे हुए अनन्तानन्त कर्म योग्य पुद्गल आत्मा के साथ क्षीर-नीरवत् सम्बन्धित होते हैं। उन पुद्गलों को कर्म कहा जाता है। कर्म आठ हैं—

१ ज्ञानावरणीय—आत्मा के ज्ञान गुण (वस्तु के विशेष अवबोध) को आच्छादित करने वाला।

२ दर्शनावरणीय—आत्मा के दर्शन गुण (वस्तु के सामान्य अवबोध) को आवृत्त करने वाला।

३ मोहनीय—सम्यक्-दर्शन (तत्त्व-श्रद्धा) और चरित्र का विनाश कर आत्मा को व्यामूढ बनाने वाला।

४ अन्तराय—दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य-शक्ति की घात करने वाला।

५ वेदनीय—सुख और दुःख का हेतु।

६ नाम—नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगतियों में विविध पर्यायों को प्राप्त कराने का हेतु।

७ गोत्र—जाति, कुल आदि की उच्चता और निम्नता का हेतु।

८ आयुष्य—भव-स्थिति का हेतु।

ये आठो कर्म दो भागों में विभक्त होते हैं, १ घाती कर्म और २ अघाती

कर्म । घाती कर्म को धनघाती कर्म भी कहा जाता है । आत्मा के ज्ञानादि स्वाभाविक गुणों का घात करने वाले घाती कर्म और आत्मा के ज्ञानादि स्वाभाविक गुणों का घात न कर केवल आत्मा की वैभाविक प्रकृति शरीर, इन्द्रिय, आयु आदि पर असर करने वाले कर्म अघाती कर्म कहलाते हैं । उपरोक्त आठ कर्मों में प्रथम चार घाती हैं और शेष अघाती । अरिहन्त चार घाती कर्मों का नाश करते हैं । इन चार कर्मों के नाश से प्राप्त होने वाले अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र और अनन्त बल अनन्त चतुष्टय कहलाते हैं ।

चौतीस अतिशयो के अन्तर्गत आने वाली कुछ दैविक विशेषताओं व कुछ योग-जन्म विभूतियों का समवाय आठ प्रातिहार्य अतिशय है ।

१ एक योजन प्रमाण चैत्य नामक अशोक वृक्ष ।

२ प्रवचन-स्थल पर पाच वर्ण वाले पुष्पो की जानु प्रमाण वृष्टि ।

३ मालव कैंशिकी आदि ग्रामराग में उच्चारित ध्वनि का दिव्य ध्वनि के साथ एक योजन तक प्रसरण ।

४ आकाश में चन्द्र के समान उज्ज्वल चामर ।

५ आकाश में सपादपीठ स्फटिक सिंहासन ।

६ आकाश में मोती के समान उज्ज्वल तीन छत्र ।

७ मस्तक के पृष्ठ भाग में मनोहर भामण्डल ।

८ विश्वव्यापी देव दुन्दुभि ।

अनन्त चतुष्टय और आठ प्रातिहार्य अतिशय मिलकर ही अरिहन्तो के बारह गुण होते हैं ।

—श्रीलोकप्रकाश ब्रह्मलोक सर्ग १० श्लोक १२६-१३०, हरिभग्वीयाष्टक ३० ; कम्मपयडि टीका पृष्ठ ६, श्रीजैनसिद्धान्तदीपिका प्रकाश ४ सूत्र ८ व श्रीकाललोक प्रकाश सर्ग ३० श्लोक ६७६ से ६८७ के आधार से

मगल द्वार गीतिका ७ गाथा २

वास्तव वसु गुण वसनारा

आठ कर्मों का निर्मूल नाश कर जो आत्माएँ जन्म-मरण रूप मसार से मुक्त हो जाती है, उन्हें सिद्ध कहा जाता है। कर्मों के द्वारा आत्मा के ज्ञानादि स्वभाव आच्छन्न रहते हैं। उन आठ कर्मों के क्षय से मुक्त आत्माओं में आठ गुण प्रकट होते हैं और आत्मा अपने पूर्ण विकाम को प्राप्त कर लेती है। वे आठ गुण इस प्रकार हैं —

१ केवल ज्ञान—ज्ञानावरणी कर्म के क्षय से आत्मा का ज्ञान गुण पूर्ण रूप से प्रकट हो जाता है। इससे आत्मा समस्त द्रव्यों और पर्यायों का साक्षात्कार करती है।

२ केवल दर्शन—दर्शनावरणी कर्म के क्षय से आत्मा का दर्शन गुण (मान्य अवबोध) पूर्ण रूप से प्रकट हो जाता है। इससे मसार के समस्त द्रव्यों और पर्यायों का स मान्य अवबोध होता है।

३ आरिभक्त सुख—वेदनीय कर्म के क्षय से आत्मा को वास्तविक, अव्याबाध व स्थायी सुख की प्राप्ति होती है।

४ क्षायिक सम्यक्त्व—मोहनीय कर्म के क्षय से आत्मा को तत्त्वों पर यथार्थ व अविचलित श्रद्धा होती है।

५ अटल अवगाहना—आयुष्य कर्म के क्षय से आत्मा में अपुनरावृत्ति का गुण उत्पन्न होता है।

६ अमूर्तत्व—नाम कर्म के क्षय से आत्मा अशरीरी व अरूपी हो जाती है।

७ अगुरुलघुत्व—गोत्रकर्म के क्षय से उच्चत्व व निम्नत्व की परिसमाप्ति हो जाती है।

८ अनन्त शक्ति—अन्तराय कर्म के क्षय से आत्मा में अनन्त शक्ति उत्पन्न होती है।

—श्रीजैनसिद्धान्तदीपिका प्रकाश २ सूत्र ३५ के आधार से

सगल द्वार गीतिका ७ गाथा ३

छव युस्त तीस गुण वारा

चरणकरणानुयोग, धर्मकथानुयोग, द्रव्यानुयोग और गणितानुयोग के ज्ञाता, चतुर्विध सध के सचालन मे समर्थ और प्रतिबोध, दीक्षा व शास्त्र-ज्ञान आदि देने वाले आचार्य कहलाते है। उनके छत्तीस गुण होते है।

१ से १० पाच महाव्रत व पाच आचार से युक्त^१।

११ से १४ चार कषाय के वर्जक—मोहनीय कर्म के उदय से होने वाले आत्मा के क्रोध, मान, माया और लोभ रूप परिणाम कषाय^२ कहलाते है।

१५ से १६ पाच समिति से युक्त—मयमानुकूल प्रवृत्ति, दूसरे शब्दो मे सगत प्रवृत्ति को समिति कहा जाता है। वे पाच है—

ईर्य समिति—ज्ञान, दर्शन एव चारित्र के निमित्त शास्त्रोक्त विधि के अनुसार युग परिमाण (देह परिमाण) भूमि को देखते हुए तथा स्वाध्याय व इन्द्रियो के विषयो से रहित होकर चलना।

भाषा समिति—आवश्यकतानुसार भाषा के दोषो का परिहार करते हुए पाप रहित एव सत्य, हित, मित और असदिग्ध वचन बोलना।

एषणा समिति—गवेषण^३, ग्रहण और ग्रास सम्बन्धी एषणा के दोषो से रहित आहार, पानी आदि औषिक उपधि और शय्या, पाट आदि औपग्रहिक उपधि का अन्वेषण करना।

आदान निक्षेप समिति—वस्त्र, पात्र आदि उपकरणो को सावधानी पूर्वक लेना व रखना।

उत्सर्ग समिति—मल, मूत्र, खेल, थूक, कफ आदि का विधिपूर्वक—पहले देखी हुई एव प्रमाजित निर्जीव भूमि मे विसर्जन करना^४।

१. इन दसो गुणो का विवेचन व्याख्या सख्या २ मे देखें

२. ठाणंग सूत्र ठा० ४ उ० १ सूत्र २४८ के आधार से

३. गवेषण, ग्रहण और ग्रास सम्बन्धी दोषो का विवेचन व्याख्या सख्या ३० मे देखें।

४. ठाणंग सूत्र ठा० ५ उ० ३ सूत्र ४५७; समवायान सूत्र सन० ५, उत्तरा-ध्ययन सूत्र अध्या० २४ व श्रीजैनसिद्धान्तदीपिका प्रकाश ७ सूत्र ११ से १७ के आधार से

२० से २२ तीन गुप्ति से युक्त—मन, वचन और शरीर की अशुभ प्रवृत्तियों के निग्रह एवं यथासमय शुभ प्रवृत्तियों के सवरण को गुप्ति कहा जाता है। वे तीन हैं—

मनोगुप्ति—आर्त्त ध्यान, रौद्र ध्यान, सरम्भ, समारम्भ और आरम्भ सम्बन्धी मकल्प-विकल्प न करना, मध्यस्थ भाव रखना व शुभाशुभ योगों को रोककर शैलेशी अवस्था में होने वाली अन्तरात्मा की अवस्था को प्राप्त करना।

वचन गुप्ति—सरम्भ, समारम्भ और आरम्भ सम्बन्धी भाषा का प्रयोग न करना, विकथा न करना व मौन रखना।

काय गुप्ति—सरम्भ, समारम्भ और आरम्भ में शरीर को प्रवृत्त न करना व इन्द्रिय निग्रह करना।^१

२३ से २७ श्रोत चक्षु, घ्राण, रसन और स्पर्शन इन्द्रियों के विजेता।

२८ से ३२ नव बाड सहित ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले—जिम प्रकार गाव के समीप रहे हुए खेत की सुरक्षा के लिए बाड (प्राकार) की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए भी ब्रह्मचारी को नौ बातों का विशेष ध्यान रखना आवश्यक होता है। उन नौ बातों को ही नव बाड कहा गया है।

१ स्त्री, पशु व नपुंसक जिम स्थान में रहते हो, वहां न रहना।

२ स्त्रियों की जाति, कुल व रूप आदि की कथा न करना।

३ स्त्रियों के साथ एक आसन पर न बैठना।

४ स्त्रियों के अगोपाग न देखना।

५ दीवाल, पर्दा या बाग की टाटी के अन्तर से रात को जहां स्त्री-पुरुष रहते हो, वहां न रहना।

६ पूर्वकृत रति-क्रीडाओं का स्मरण न करना।

७ प्रणीत (उत्तेजक) भोजन न करना।

८ प्रमाणाधिक भोजन न करना।

९ स्नान, मजन आदि के द्वारा शारीरिक विभूषा न करना^२।

१ ठाणाग सूत्र ठा० ३ उ० १ सूत्र १३६, समवायाग सूत्र सम० ३, उत्तराध्ययन सूत्र अध्याय २४ व श्रीजैनसिद्धान्तदीपिका प्रकाश ७ सूत्र १८ के आधार से

२ उत्तराध्ययन सूत्र अध्याय १६ व आचार्य श्री भिक्षु रचित शील की नवबाड के आधार से

: ६ :

मंगल द्वार गीतिका ७ गाथा ४

गणना पच्चीस गुणा री

धार्मिक सिद्धान्तों को पढ़ने व पढ़ाने वाले उपाध्याय कहलाते हैं। आचार्य के द्वारा उपाध्याय की नियुक्ति होती है। उनके पच्चीस गुण होते हैं।

१ से ११ ग्यारह अंग

- १ आचारांग
- २ सूत्रकृतांग
- ३ स्थानांग
- ४ समवायांग
- ५ भगवती
- ६ ज्ञाताधर्मकथांग
- ७ उपासकदशांग
८. भन्तकृतदशांग
९. अनुत्तरोपपातिकदशांग
- १० प्रश्नव्याकरणांग
- ११ विपाकांग

१२ से २३ बारह उपांग

- १२ औपपातिक
- १३ राजप्रश्नीय
- १४ जीवाभिगम
- १५ प्रज्ञापना
- १६ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति
- १७ चन्द्रप्रज्ञप्ति
- १८ सूर्यप्रज्ञप्ति
- १९ निरयावलिका
- २० कल्पवतसिका
- २१ पुष्पिका

२२ पुष्पकूलिका

२३ वृष्णिबशा

उपाध्याय ग्यारह अंग और बारह उपाग के ज्ञाता होते हैं, अतः उनके ये २३ गुण मान लिए गए हैं।

२४ से २५ उपरोक्त २३ सूत्रों का वे स्वयं अध्ययन-मनन करते रहते हैं एवं दूसरों को करवाते रहते हैं।

एक अन्य परम्परा के अनुसार उपाध्याय के ग्यारह अंग बारह उपाग, चरण सत्तरी व करण सत्तरी ये पच्चीस गुण भी माने जाते हैं।

—आवक प्रतिक्रमण पृष्ठ २०६ व जैनशिक्षा पृष्ठ ४ के आचार से



: ७ :

मगल द्वार गीतिका ७ गाथा ५

गुण सप्तबीस सुखकारे

सम्यग् ज्ञान, सम्यग् दर्शन एव सम्यग् चरित्र के द्वारा मोक्ष की साधना करने वाले साधु कहे जाते हैं । उनके सत्तावीस गुण होते हैं ।

- १ से ५ पाच महाव्रत^१ से युक्त ।
- ६ से १० पाच इन्द्रियो के विजेता ।
- ११ से १८ चार कषायो^२ के वर्जक ।
- १५ भावो की सत्यता—विशुद्धि से युक्त ।
- १६ करण—क्रिया की विशुद्धि से युक्त ।
- १७ योगो की विशुद्धि से युक्त ।
- १८ क्षमाशील ।
- १९ वैराग्यशील ।
- २० मन की समाधि से युक्त ।
- २१ वचन की समाधि से युक्त ।
- २२ शरीर की समाधि से युक्त ।
- २३ ज्ञान-सम्पन्न ।
- २४ दर्शन-सम्पन्न ।
- २५ चारित्र-सम्पन्न ।
- २६ वेदना (कष्ट) में समभावपूर्वक सहिष्णु ।
- २७ मृत्यु में समभावपूर्वक सहिष्णु ।

—समवायाग सूत्र समवाय २७, व आवक प्रतिक्रमण पृ० २०८ के आचार से

१ देखें—व्याख्या संख्या २

२ देखें—व्याख्या संख्या ५

: ८ :

मगल द्वार गीतिका ८ गाथा ३

विहरमाण तुम बीस निरन्तर लेखों उत्कृष्टा रं ।

इकसोसत्तर एक समय में, भाग्य बड़ा दुनिया रं ॥

तिर्यक्लोक में अमख्य द्वीप और समुद्र हैं । जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड द्वीप व पुष्करार्ध द्वीप 'अट्टाई द्वीप' कहलाते हैं । इन द्वीपों में ही मनुष्य रहते हैं । जम्बूद्वीप भरत, हैमवत, हरि, महाविदेह, रम्यक्, हैरण्यवत, ऐरावत, देवकुरु और उत्तरकुरु, इन नव क्षेत्रों में विभाजित हैं । धातकीखण्ड व पुष्करार्ध में जम्बूद्वीप से दुगुने-दुगुने वर्षक्षेत्र है और उनके ये ही नाम हैं । इस प्रकार अट्टाई द्वीप में पाँच भरत क्षेत्र, पाँच ऐरावत क्षेत्र व पाँच महाविदेह क्षेत्र, ये पन्द्रह कर्म भूमि हैं, अर्थात् जहाँ असि, मणि, कृषि आदि कर्मों से जीवन-यापन किया जाता है । केवल इन्हीं क्षेत्रों में तीर्थकर, केवली व साधु हो सकते हैं । प्रत्येक महाविदेह क्षेत्र मुख्यतया चार भागों में विभाजित है । प्रत्येक विभाग में कम से कम एक अरिहन्त शास्वत विद्यमान रहते हैं । इस प्रकार पाँच महाविदेह क्षेत्र के बीस भागों में कम से कम बीस अरिहन्त तो होते ही हैं । इनको बीस विहरमान भी कहा जाता है । वर्तमान में पाँचों महाविदेह क्षेत्र में विहरमाण बीस अरिहन्तों के नाम इस प्रकार हैं—

१. श्री सीमन्वर स्वामी
२. श्री युगमन्दर स्वामी
३. श्री बाहु स्वामी
४. श्री सुबाहु स्वामी
५. श्री सुजात स्वामी
६. श्री स्वयम्भ स्वामी
७. श्री ऋषभानन स्वामी
८. श्री अनन्तविजय स्वामी
९. श्री सुरप्रभ स्वामी
१०. श्री विशालधर स्वामी
११. श्री वज्रधर स्वामी
१२. श्री चन्द्रानन स्वामी

- १३ श्री चन्द्रबाहु स्वामी
१४. श्री भुजग स्वामी
- १५ श्री ईश्वर स्वामी
१६. श्री नेमिप्रभ स्वामी
- १७ श्री वीरसेन स्वामी
- १८ श्री महाभद्र स्वामी
- १९ श्री देवयश स्वामी
- २० श्री अजितवीर्य स्वामी

महाविदेह क्षेत्र के प्रत्येक विभाग में आठ विजय (अन्तर्विभाग) है । इस प्रकार प्रत्येक महाविदेह क्षेत्र में बत्तीस और पाचो महाविदेह क्षेत्र में $32 \times 5 = 160$ विजय हैं । जब अरिहन्तो की सख्या उत्कृष्ट होती है, तब प्रत्येक विजय में एक-एक अरिहन्त विद्यमान होते हैं । इस प्रकार सामान्य रूप से जब अरिहन्तो की सख्या उत्कृष्ट होती है, तब एक सौ साठ अरिहन्त होते हैं । उस समय यदि सौभाग्य से पाच भरन क्षेत्र व पाच ऐरावत क्षेत्र में एक-एक तीर्थंकर हो तो यह सख्या एक सौ सत्तर भी हो जाती है ।



: ६ :

मगल द्वार गीतिका १० गाथा २

तीर्थचतुष्टय निर्माणं

जिससे ससार समुद्र तैरा जा सके, उसे तीर्थ कहा जाता है । तीर्थकरो का उपदेश, उमको धारण करने वाले गणधर व ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य को धारण करने वाले साधु, साध्वी, श्रावक तथा श्राविका रूप चतुर्विध सध को भी तीर्थ कहा जाता है । तीर्थकर केवलज्ञान प्राप्त कर लेने के अनन्तर ही उपदेश करते हैं और उसके प्रेरित होकर भव्यजन साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविकाए बनते हैं ।



मंगल द्वार गीतिका १० गाथा ३

अतिशय है चउतीस ईश की

सामान्यतया मनुष्य मे होने वाली असाधारण विशेषताओं मे भी अत्यधिक विशिष्टता को अतिशय कहा जाता है । राग और द्वेष रूप शत्रुओं को जीतने वाले व विशिष्ट महिमा-सम्पन्न पुरुष अरिहन्त कहलाते हैं । उनके चौतीस अतिशय होते हैं । चार अतिशय जन्म-काल से ही होते हैं और बाकी अतिशय चार घनघाती कर्मों के क्षय के अनन्तर प्राप्त होते हैं । वे अतिशय इस प्रकार हैं—

- १ मस्तक, दाढी के केश, रोम व नखों की मर्यादित अवस्थिति ।
- २ व्याधि व स्वेद-मल से रहित तथा अद्भुत रूप व गन्धयुक्त शरीर ।
- ३ रक्त और मांस गो-दुग्ध के समान उज्ज्वल व दुर्गन्ध रहित ।
- ४ कमल के सदृश परिमल युक्त श्वास ।
- ५ भोजन व मल-मूत्र-उत्सर्ग विधि चर्म-चक्षुओं द्वारा ग्रहण्य ।
- ६ आकाश मे घर्म प्रकाशक चक्र ।
- ७ तीन छत्र ।
- ८ श्वेत चामर ।
- ९ सपादपीठ स्फटिक रत्नमय सिंहासन ।
- १० लघु पताकाओं से परिमण्डित रत्नमय वज्रा ।
- ११ अशोक वृक्ष ।
- १२ मस्तक के पृष्ठ भाग मे सूर्य-मण्डल को भी तिरस्कृत करने वाला मनोहर भामण्डल ।
- १३ आस पास का अतिरमणीय भूमि भाग ।
- १४ कटको की अधोमुखता ।
- १५ सभी ऋतुओं की अनुकूलता ।
- १६ एक योजन परिमित क्षेत्र मे शीतल, सुगन्धित व मृदु वायु ।
- १७ सुरमित जल की मद मद वृष्टि ।
- १८ पांच वर्ण वाले पुष्पों की जानु प्रमाण वृष्टि ।
- १९ अमनोज्ञ शब्द, रूप, गन्ध, रस व स्पर्श का अभाव ।

- २० मनोज्ञ शब्द, रूप, गंध, रस व स्पर्श का प्रादुर्भाव ।
 २१ हृदयगम, मनोज्ञ व एक योजन तक निराबाध सुनी जाने वाली बाणी ।
 २२ अर्धमागधी भाषा में देशना (उपदेश) ।
 २३ मनुष्य, तिर्यंच व देवों के अपनी-अपनी भाषा में उपदेश की परिणति ।
 २४ पारम्परिक जाति-वैर व अनादिकालीन वैर का अभाव ।
 २५ अन्यतीर्थिक प्रावचनियों द्वारा भी नमस्कार ।
 २६ वाद-विवाद में अन्यतीर्थिकों का निरुत्तर होना ।
 २७ से ३४—चारों ही दिशाओं में पच्चीस-पच्चीस योजन, ऊर्ध्व व अबो दिशा में साढ़े बारह योजन तक—
 १ ईनि—धान्यादि का नाश करने वाले चूहों आदि के उपद्रव,
 २ मारी—सामूहिक मरण,
 ३ स्वचक्र का भय,
 ४ परचक्र का भय,
 ५ अतिवृष्टि,
 ६ अनावृष्टि,
 ७, दुर्भिक्ष,
 ८ रोग व पूर्व उपपात—इन आठों का अभाव ।

चौतीस अतिशयो के बारे में कुछ मत-भिन्नता है । समवायाग सूत्र में जिन अतिशयो का वर्णन किया गया है, हेमचन्द्राचार्य द्वारा अभिधान चिन्तामणि, त्रिषष्टि-शलाकापुरुषचरित्र आदि में किया गया विवेचन उससे कुछ भिन्न है । कुछ अतिशयो तो दोनों में भिन्न-भिन्न हैं और कुछ अतिशयो की परिभाषा में अन्तर है । इसी प्रकार दिगम्बर परम्परा व श्वेताम्बर परम्परा में भी काफी अन्तर है ।

— समवायाग सूत्र समवाय ३४ के आधार से—



मगल द्वार गीतिका १० गाथा ३

पंचतीस गण गर्भित वाणी

अरिहन्त के आठ प्रातिहार्य अतिशय, बारह गुण व चौतीस अतिशय की तरह पैंतीस वचनातिशय—वाणी के भी अतिशय होते हैं। वे स्वाभाविक होते हैं जो इस प्रकार हैं—

- १ सस्कारबत्व—लाक्षणिक भाषा—सुसंस्कृत भाषा में बोलना।
- २ औदात्त्य—एक योजन प्रमाण समवसरण में बिना किसी रुकावट के सभी सुन सके, इस प्रकार की उदात्त वाणी में बोलना।
- ३ उपचारपरीतता—ग्राम्य व तुच्छ भाषा से रहित बोलना।
- ४ गम्भीर घोषत्व—मेष के समान गम्भीर घोषयुक्त बोलना।
- ५ प्रतिध्वनि युक्तत्व—श्रोता प्रतिध्वनि सहित स्पष्टतया सुन सके व ममङ्ग सके, इस प्रकार की वाणी में बोलना।
- ६ बक्षिणत्व—सुनने से श्रोता को सन्तोष हो, ऐसी सरल भाषा में बोलना।
- ७ उपनीत रागत्व—मालव कैशिकी आदि ग्रामराग में उच्चारित ध्वनि का दिव्य ध्वनि के साथ एक योजन तक प्रसरण।
- ८ महार्थता—अल्प शब्दों में भी विस्तृत अर्थ वाली भाषा बोलना।
- ९ अभ्याहतत्व—पूर्वापर वाक्यों में विरोध न हो, इस प्रकार बोलना।
१०. शिष्टत्व—अभिमत सिद्धान्त के अर्थ को प्रकट करने वाली व शिष्टता-सम्पन्न भाषा बोलना।
- ११ संशयरहितत्व—श्रोता को सन्देह न हो, ऐसी भाषा बोलना।
- १२ निराकृत-अन्य-उत्तरत्व—वादी द्वारा अपराभिभूत भाषा बोलना।
- १३ हृदयगमता—श्रोताजनो को हृदयगम हो, ऐसी भाषा में बोलना।
१४. परस्पर सापेक्षता—पूर्वापर वाक्यों व पदों की सम्बद्धता से बोलना।
१५. प्रस्ताव-औचित्य—देश, काल आदि की अपेक्षा से प्रसगानुरूप हेतु, दृष्टान्त आदि से युक्त बोलना।
- १६ तत्त्वनिष्ठता—विवक्षित विषय को परिपुष्ट करने वाली तात्त्विक भाषा बोलना।

१७ अप्रकीर्ण-प्रसूतत्व—सबद्ध, सप्रयोजन व अतिविस्तार रहित बोलना ।
 १८ स्वहलाद्या, अन्य निन्दा रहितत्व—अपनी प्रशंसा व दूसरो की निन्दा रहित बोलना ।

१९ अभिजात्य—उपदेष्टा की सर्वगुण सम्पन्नता व उपदेश की प्रामाणिकता का प्रतीति हो, उस प्रकार बोलना ।

२० अतिस्निग्ध-मधुरत्व—अत्यन्त स्निग्ध व अत्यन्त मधुर भाषा में बोलना ।

२१. प्रशस्थता—प्रशसनीय भाषा बोलना ।

२२ अमर्मवेक्षिता—किसी के भी मर्म का उद्घाटन न हो, ऐसी भाषा में बोलना ।

२३ औदार्य—अभिधेय अर्थ की अनुच्छेता युक्त बोलना ।

२४ धर्मार्थ प्रतिबद्धता—धर्म और अर्थ से युक्त बारीकी बोलना ।

२५, कारकादि-अविपर्यसित्व—कारक, काल, वचन, लिंग आदि के व्यत्यय से रहित भाषा बोलना ।

२६ विभ्रमादि-वियुक्तता—विभ्रम, विक्षेप, क्लिक्कित (रोष, भय, अमिलाषा) आदि से रहित भाषा बोलना ।

२७ चित्रकृत्व—श्रोताओं को आश्चर्य उत्पन्न करने वाली भाषा बोलना ।

२८ अद्भुतत्व—अत्युत्सुकता रहित व धैर्य सहित बोलना ।

२९ अनतिबिलम्बिता—अविच्छिन्न मेघ धारा के समान सप्रवाह बोलना ।

३० अनेक जाति-वैचित्र्य—नाना पदार्थों के स्वरूप-विवेचन से उत्पन्न विचित्रता से युक्त बोलना ।

३१ आरोपित विशेषता—यथार्थ वाक्य-विन्यास और शब्द-विन्यास युक्त बोलना ।

३२ सत्व प्रधानता—निर्मयतापूर्वक बोलना ।

३३ साकारत्व—वर्ण, पद व वाक्यों को पृथक्-पृथक् व्यक्त करने वाली स्पष्ट भाषा बोलना ।

३४ अव्युच्छिन्नत्व—जब तक विवक्षित अर्थ की सिद्धि न हो, तब तक पुनरुक्ति दोष रहित धारा प्रवाह बोलना ।

३५ अखेदित्व—वक्ता और श्रोता को किसी प्रकार का श्रम व कष्ट न हो, उस प्रकार बोलना ।

पैतृम वचनातिशय में प्रथम सात अतिशय शब्दापेक्ष हैं और गेप अठावीस अर्थपेक्ष ।

—समवाय सृष्टि समवाय ३५, अभिधानचिन्तामणि नाममाला रत्नप्रभा व्याख्या देवाधिदेव काण्ड श्लोक ६५ से ७१, श्रीकाललोक प्रकाश सर्ग ३० श्लोक ८१ से ८८ के आधार से ।

मगल द्वार गीतिका १० गाथा ३

अ ग अलौकिक सठाण

शरीर की आकृति को सस्थान (मठाण) कहते हैं। प्रत्येक शरीरधारी आत्मा सस्थान के बिना नहीं रह सकती। छ प्रकार के सस्थानों में से जीव का अपने सस्थान-नाम कर्म के अनुसार शरीर का सस्थान होता है।

१ समचतुरस्र—सम=समान, चतु=चार, अस्र=कोण अर्थात् पूर्ण प्रमाणोपेत शरीर। पालथी मारकर बैठने पर जिस शरीर के चारों कोण समान हों, अर्थात् इस प्रकार का शरीर जिसमें आसन और मस्तक का अन्तर, दोनों जानुओं का अन्तर, वामस्कन्ध और दक्षिण जानु का अन्तर, दक्षिण स्कन्ध और वाम जानु का अन्तर समान हो।

२ न्यग्रोध परिमण्डल—वट वृक्ष की तरह जिसके नामि से ऊपर का भाग पूर्ण विस्तृत व नीचे का भाग प्रमाण रहित।

३ सावि (साची)—शाल्मली वृक्ष की तरह जिसके नामि से नीचे का भाग पूर्ण विस्तृत व ऊपर का भाग प्रमाण रहित।

४ वासन—जिस शरीर में छाती, पेट, पीठ आदि अवयव तो पूर्ण हों, पर हाथ, पैर आदि अवयव छोटे हों।

५ कुब्ज—जिस शरीर में हाथ, पैर, गर, गर्दन आदि अवयव ठीक हों, पर छाती, पेट व पीठ आदि टेढ़े हों।

६ वृण्डक—जिस शरीर के समस्त अवयव बड़े हों।

अरिहन्तो का सस्थान समचतुरस्र ही होता है।

—पन्नवणा सूत्र पद २३ उ० २ के आधार से

मंगल द्वार गीतिका १२ गाथा ४

समस्त जीविकाय मे

निकाय शब्द का अर्थ है—राशि । जीवो की राशि को जीविकाय कहा जाता है । जीविकाय छ हैं—१ पृथ्वीकाय, २ अप्काय, ३ तेजस्काय, ४ वायुकाय, ५ वनस्पतिकाय, ६ त्रसकाय । इन्हे छ काय के नाम मे भी कहा जाता है । काय शब्द का अर्थ है—शरीर । नाम कर्म के उदय मे होने वाली औदारिक और वैक्रिय पुद्गलो की रचना व वृद्धि । वीतगग इन छ जीविकाय मे मम व्यवहारी होते हे ।

: १४ :

मगल द्वार गीतिका १३ गाथा १

जीत्या क्रोधादिक छः शत्रु

आत्मा अनन्त शक्तिशाली होते हुए भी कर्म-रूप शत्रुओं से पराधीन है, अतः अनादिकाल से ससार में भ्रमण करती रहती है। साधक अपनी साधना के द्वारा इन शत्रुओं का नाश कर शाश्वत-मुक्ति का आनन्द पाना चाहता है। इसीलिए उसे इन शत्रुओं के साथ युद्ध करना पड़ता है। कर्म-शत्रुओं में मुख्य रूप से जो शत्रु गिने जाते हैं, वे हैं—१ क्रोध, २ काम, ३ लोभ, ४ मोह, ५ मद और ६ मात्सर्य। ये शत्रु-षट्क छः वर्गों के नाम से भी पहचाने जाते हैं। जो साधक क्रोधादिक छः शत्रुओं का क्षय कर लेता है, वह वीतराग अवस्था को प्राप्त कर लेता है। इस अवस्था के बाद आत्मा के अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चरित्र, अनन्त बल आदि गुण प्रकट हो जाते हैं।

—त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र पर्व १ सर्ग ५ श्लोक ७१ के आधार से



: १५ :

मंगल द्वार गीतिका १३ गाथा ४

बारह विध परिषद् में

अरिहन्त प्रभु के समवसरण (प्रवचन-स्थल) में बारह प्रकार के श्रोता होते हैं। उन श्रोताओं की अपेक्षा से ही वह परिषद् बारह प्रकार की कही गई है। वह इस प्रकार है—

- १ साधु
- २ साध्वी
- ३ वैमानिक देव
- ४ वैमानिक देविया
- ५ ज्योतिषी देव
- ६ ज्योतिषी देविया
- ७ व्यन्तर देव
- ८ व्यन्तर देविया
- ९ भुवनपति देव
- १० भुवनपति देविया
- ११ मनुष्य
- १२ महिलाएँ

—श्री काललोकप्रकाश सर्ग ३० इनोक्त २३ से ३८ के आधार से

प्रथम प्रवेश गीतिका ३ गाथा १

पच महाव्रत, बारह व्रत री

चारित्र्य को ग्रहण करने के सामर्थ्य की अपेक्षा से उसके दो विभाग हैं—
 १ सर्व विरति और २ देश विरति । सर्व विरति चारित्र्य में अहिंसा आदि पाच व्रतों का तीन करण—करना, करवाना व अनुमोदन करना व तीन योग—मन, वचन, काया से यावज्जीवन पालन होता है । देश विरति चारित्र्य के तीन भेद हैं—१ पाच अगुव्रत, २ तीन गुण व्रत और ३ चार शिक्षा व्रत । अहिंसा आदि पाच व्रतों का स्थूल रूप में पालन अगुव्रत कहलाते हैं । अगुव्रतों के गुणों की वृद्धि व पुष्टि करने वाले तीन व्रत गुण व्रत कहलाते हैं । पुन-पुन अभ्यास करने योग्य चार व्रतों को शिक्षा व्रत कहते हैं । तीनों का ही संयुक्त रूप बारह व्रत है ।

पाच अगुव्रत

१ स्थूल प्राणातिपात विरमण व्रत—प्रमाणातिरिक्त स्थावर हिंसा का त्याग एवं त्रस जीवों की सकल्पपूर्वक हिंसा का त्याग ।

२ स्थूल मृषावाद विरमण व्रत—कन्या, पशु, भूमि, धरोहर व माक्षा सम्बन्धी असत्य बोलने का त्याग ।

३ स्थूल अब्रह्मदान विरमण व्रत—सेवा लगाकर, गठडी आदि खोलकर, ताला तोड़कर, मार्ग में पड़ी बहुमूल्य वस्तु उठाकर व स्वामी के समक्ष भी स्नेयवृत्ति से वस्तु उठाकर चोर वृत्ति का त्याग ।

४. स्थूल अन्नहृत्यं विरमण व्रत—परिणीता स्त्री के अतिरिक्त अन्नहृत्यं-सेवन का त्याग ।

५ स्थूल परिग्रह विरमण व्रत—१ क्षेत्र—खुली जमीन,

२ वास्तु—घर, गाव आदि,

३. हिरण्य—चादी,

४ सुवर्ण,

५ वन - -सिक्के व जवाहरात,

६. धान्य,

७ द्विपद—नौकर आदि,

= चतुष्पद—पशु,

६ कुप्य—स्वर्ण रजनेतर वानुष व धर
का अन्य सामान आदि नवजानि के
परिग्रह का प्रमाणातिरिक्त त्याग ।

तीन गुण व्रत

६ दिशा परिमाण व्रत—ऊर्ध्व, अश्वो व तिर्यक् दिशाओ मे मर्यादानिरिक्त
जाने व वस्तु मगाने का त्याग ।

७ उपभोग परिभोग परिमाण व्रत—उपभोग—भोजन आदि, परिभोग—
वस्त्र गय्या आदि के व्यवहार का मर्यादा-उपरान्त त्याग ।

= अनर्थ दण्ड विरमण व्रत—अपने शरीर, परिवार, नौकर, देश, कृषि,
व्यापार आदि के अर्थ—निमित्त से होने वाली हिंसा अर्थ दण्ड है । इनके अतिरिक्त
अपध्यान, प्रमाद, हिंस्र-प्रदान (हिंस्र को अस्त्र-शस्त्र देना) व पाप-कर्मोपदेश से होने
वाली अनर्थ दण्ड हिंसा का परित्याग ।

चार शिक्षा व्रत

६ सामायिक व्रत—एक मुहूर्त्त तक पाप पूर्ण प्रवृत्तियों का परित्याग ।

१० देशवकाशिक व्रत—छठे व्रत में किए गए दिशाओ के परिमाण का और
अणुव्रत व गुण व्रतो में रखे हुए आगारो (अपवादो) का परिमित समय के लिए
सकोच करना ।

११ पौषधोपवास व्रत—एक अहोरात्र के लिए चारों प्रकार के आहार व
पाप पूर्ण प्रवृत्तियों का परित्याग ।

१२ अतिथि सबिभाग व्रत—पाच महाव्रतधारी साधु को अपने निमित्त
बने हुए—

१ भोजन

२ पानी

३ स्वादिम—फल, मेवा आदि

४ स्वादिम—लवण, सुपारी आदि

५ वस्त्र

६ पात्र

७ कम्बल

८ पादपोछन—रजोहरण

९ पीठ—छोटे पाट

१० फलक—बड़े पाट

- ११ शय्या—ठहरने के लिए मकान आदि
 १२ सस्तारक—बिछौने के लिए घास आदि
 १३ औषध—एक चीज की बनी हुई दवा
 १४ भेषज—अनेक चीजों के मिश्रण से बनी
 हुई दवा आदि अवदह प्रकार की वस्तुओं
 को आन्म-कल्याण की बुद्धि से देना ।

—आवक प्रतिक्रमण के आधार से



प्रथम प्रवेश गीतिका ३ गाथा ६ से ८

अमोञ्छ्वाम लहे पख्वारे ।

इक मागर आयुष के लारे ।

आहार महस वर्षा इक चारे ।

इक सागर आयुष के लारे ।

पल्योपम ता पल सम जावै ।

जैन-दृष्टिकोण के अनुसार व्यावहारिक काल का सबसे छोटा मान समय है और सबसे बड़ा पुद्गल परावर्तन । इन दोनों के बीच में आवलिका, मुहूर्त, दिवस, अहोरात्र, पक्ष, मास, सवत्सर, युग, पल्योपम, मागर, अवसर्पिणी व उत्सर्पिणी है । आवलिका से युग तक का मान सख्या में निकाला जा सकता है । समय काल का सूक्ष्मतम अंश है और पल्योपम से पुद्गल परावर्तन तक बृहत् । सूक्ष्म और बृहत् काल को आपेक्षिक व आनुमानिक आधार पर ही व्यक्त किया जा सकता है । पल्योपम से सागर और सागर से अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी का मान निकाला जा सकता है ।

पल्योपम तीन प्रकार के होते हैं, (१) उद्धार पल्योपम, (२) अद्धा पल्योपम और (३) क्षेत्र पल्योपम । तीनों ही पल्योपम सूक्ष्म और बादर दो प्रकार के होते हैं ।

सूक्ष्म अद्धा पल्योपम—एक दिन से सातदिन की आयु वाले उत्तरकुरु में पैदा हुए यौगलिकों के केशों के असह्य खण्ड कर एक योजन प्रमाण गहरा, लम्बा व चौड़ा कुआँ ठसाठस भरा जाए । वह इतना दबाकर भरा जाए, जिससे अग्नि उसे जला न सके, पानी भीतर घुस न सके और चक्रवर्ती की सारी सेना भी उस पर से गुजर जाए तो भी वह अशमात्र लचक न खाये । हर सौ वर्ष पश्चात् उस कुएँ में से एक केश-खण्ड निकाला जाए । जितने समय में वह कुआँ खाली होगा, उतने समय को सूक्ष्म अद्धा पल्योपम कहा जायेगा । सूक्ष्म अद्धा पल्योपम की दश कोटा-कोटि से एक सूक्ष्म अद्धा सागरोपम बनता है ।

देवता, नारक आदि का आयुष्य, कर्मों की स्थिति और पृथ्वीकायिक आदि जीवों की काय-स्थिति सूक्ष्म अद्धा पल्योपम व सूक्ष्म अद्धा मागरोपम से ही मापी जाती है ।

देवों का आयुष्य जघन्य १०००० वर्ष और उत्कृष्ट ३३ सागरोपम होता है । वे इतने सुखासीन और तृप्त होते हैं कि उन्हें मनुष्य की तरह प्रतिक्षण श्वासोच्छ्वास और प्रतिदिन आहार ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं होती । उनका श्वासोच्छ्वास और आहार ग्रहण करने का काल-अन्तर उनकी आयुष्य की स्थिति पर आधारित है । जिन देवों का आयुष्य १ सागरोपम का होता है, उनको जघन्यतया १ लव (= ७७ मृहत्त) तक श्वासोच्छ्वास और १ अहोरात्र (= ३० मृहत्त) तक आहार तथा उत्कृष्टतया १ पक्ष (= १५ अहोरात्र) तक श्वासोच्छ्वास और १००० वर्ष तक आहार ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं रहती । साथ में सलग्न तालिका में विविध प्रकार के देवों के जघन्य और उत्कृष्ट आयुष्य व श्वासोच्छ्वास और आहार का काल-अन्तर दिया गया है । उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार के देवों के आयुष्य के साथ उसके श्वासोच्छ्वास और आहार-ग्रहण का सम्बन्ध है ।

—पन्नवरण सूत्र पद ४, ७ व २८ के आधार से

प्रथम प्रवेश गीतिका ४ गाथा ६

परमाधामिक देवताजी जो हे पन्द्रह प्रकार

देवता चार प्रकार के हाते है, १ भुवनपति, २ व्यन्तर, ३ ज्योतिष्क और ४ वैमानिक । भुवनपति देवता के असुरकुमार, नागकुमार आदि दश भेद हाते है । असुरकुमार भुवनपति देवो म परमाधामिक जाति के देव भी होते है, जो गन्द्रह प्रकार के है । वे पापाचरण—क्रूर कम करने वाले होते है । तीमरी नरक तक के नारक जीवो को वे घोर कष्ट देते है । अत्यन्त अधार्मिक होने से वे परम अधार्मिक कहलाते है । उनके पन्द्रह प्रकार और उनके कार्यों के पन्द्रह प्रकार इस प्रकार है—

१ अम्ब—नारक जीवो को इधर-उधर फेंकते है, आकाश में उछालते है तथा नीचे गिरने समय शूलादिक में पिरोते है ।

२ अम्बरीष—मुद्गरादि के प्रहारो से मूर्च्छित नारक जीवो को कल्पनिका नामक शस्त्र से छोटे-छोटे टुकडे कर भट्ठी में पकाने योग्य बनाते है ।

३ श्याम—नारक जीवो को रम्मी, लात-धूमे आदि में पीटते है और उन्हें भयकर स्थानो में डाल देते है । वे स्वयं श्याम वर्ण के होते है ।

४ शबल—नारक जीवो के शरीर से आते, नमो व कलेजे आदि को चिमटे से बाहर खींच लेते है । वे स्वयं चित्त कबरे वर्ण के होते है ।

५ रुद्र—नारक जीवो को शक्ति, भाले आदि तीक्ष्ण शस्त्रो में पिरो देते है । बहुत भयकर होने के कारण इन्हे रुद्र कहा जाता है ।

६ उपरुद्र—नारक जीवो के अगोपागो को विदीर्ण कर डालते है ।

७ काल—नारक जीवो को कडाहे आदि में पकाते है । वे स्वयं काले रंग के होते है, अतः काल कहलाते है ।

८ महाकाल—नारक जीवो के चिरुने मांस के टुकडे-टुकडे करते है और उन्हें ही खिलाते है । वे बहुत काले होते है, अतः महाकाल कहलाते है ।

९ असिपत्र—वैक्रिय शक्ति द्वारा खड्ग के आकार व धार वाले पत्तो से युक्त शाल्मली वृक्ष के वन की विकुवर्णा कर वहा रहे नारक जीवो पर वे तलवार जैसे पत्ते गिराते है और उनके तिल के समान छोटे-छोटे टुकडे कर डालते है ।

१० धन—धनुष के द्वारा अर्धचन्द्रादि वाणों को छोड़कर नारक जीवों के कान आदि काट डालते हैं ।

११ कुम्भ—नारक जीवों के किये हुए छोटे-छोटे खण्डों को जो कुम्भियों में पकाते हैं ।

१२ बालुक—नारक जीवों को वैक्रिय शक्ति द्वारा बनाई गई कदम्ब, पुष्प या वज्र के आकार वाली बालू रेत में चनों की तरह धुनते हैं ।

१३ बैतरणी—नारक जीवों को तप्त ताबे व शीशे के समान उष्ण मांस, रुधिर, रस्सी आदि पदार्थों से उबलती हुई नदी में फेंक कर, उन्हें तैरने के लिए बाधित करते हैं ।

१४ खर स्वर—बज्र के कण्टको से युक्त शात्मली वृक्ष पर नारक जीवों को चढाकर, करुण क्रन्दन करते हुए उन्हें वापस नीचे की ओर खींचते हैं ।

१५ महाघोष—डर से भागते हुए नारक जीवों को पशु की तरह बाड़े में बन्द कर देते हैं और जोर-जोर से भयकर रूप में चिल्लाते हुए उन्हें वहीं रोके रहते हैं ।

—समवायान सूत्र समवाय १५, तथा लोक प्रकाश द्रव्यलोक सर्ग ८ श्लोक १ से १२ के आधार से ।

१६ :

प्रथम प्रवेश गीतिका ५ गाथा ८

दश बाल जा कोल पुरावे

प्रथम प्रवेश गीतिका २८ गा० ६

दुर्लभ दश वस्तु मिली मरे

आत्मा अनन्त काल से समार मे चौरासी लाख जीवयोनि मे भटक रही हे । कभी वह नरक गति मे जाती है तो कभी निगोद मे तो कभी नियञ्च गति मे, जहा अत्यधिक वेदना व व्याकुलता ही होती है । ऐसा संयोग व सोभाग्य बहुत ही कम मिलता है, जबकि वह मनुष्य-योनि को प्राप्त करे । कभी वह मनुष्य-योनि को प्राप्त कर भी ले तो उसके साथ-साथ अन्य बातों का मिलना तो और भी कठिन हो जाता है, जिनके प्राप्त होने पर वह अभीमिप्त धार्मिक अनुष्ठान कर मके । दुर्लभ-दशक' इस प्रकार है—

- १ मनुष्य भव
- २ आर्य क्षेत्र मे जन्म
- ३ उत्तम कुल
- ४ पाचो पूर्ण इन्द्रिया
- ५ आरोग्य
- ६ लम्बा आयुष्य
- ७ धर्म-विविदिषा
- ८ गुरु के समक्ष धर्मशास्त्रो क। श्रवण
- ९ धर्म पर श्रद्धा
- १० समय मे शक्ति का उपयोग

—हरिभट्टीयावद्वयक प्रथम भाग गा० ८३१ व ज्ञानसुधारस बोधितुर्लभ भावना के आधार से

प्रथम प्रवेश गीतिका ३० गाथा

अर्ध पुद्गल रं माय

सूक्ष्म^१ अर्द्धा पत्योपम की अपेक्षा से बीस कोटाकोटि सागरोपम का एक काल-चक्र होता है। अनन्त कालचक्र बीतने पर एक पुद्गल परावर्तन होता है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव और प्रत्येक के बादर और सूक्ष्म की अपेक्षा से इसके आठ भेद होते हैं। इनमें से तीसरा और चौथा भेद बादर क्षेत्र पुद्गल परावर्तन व सूक्ष्म पुद्गल परावर्तन है।

बादर क्षेत्र पुद्गल परावर्तन—ममस्त लोकाकाश के अमर्य्य प्रदेश होते हैं। जितने काल में एक जीव लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश को अपनी मृत्यु के द्वारा स्पर्शित करता है, उतने काल को एक बादर क्षेत्र पुद्गल परावर्तन कहते हैं। जिस प्रदेश में जीव एक बार मृत्यु प्राप्त कर चुका है और यदि उसी प्रदेश में पुन मृत्यु प्राप्त करता है तो वह नहीं गिना जाता। केवल वे ही प्रदेश गिने जाते हैं, जिनमें पहले मृत्यु प्राप्त नहीं की हो।

सूक्ष्म क्षेत्र पुद्गल परावर्तन—जितने काल में एक जीव लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश को अनुक्रम से अपनी मृत्यु के द्वारा स्पर्शित करता है, उतने काल को सूक्ष्म क्षेत्र पुद्गल परावर्तन कहते हैं। एक बार मम्यक्त्व को प्राप्त कर लेने वाला प्राणी ससार में अर्ध पुद्गल-परावर्तन से (सूक्ष्म क्षेत्र पुद्गल-परावर्तन की अपेक्षा) अधिक भ्रमण नहीं करता अर्थात् अधिक से अधिक इतने काल में तो वह निश्चित ही मोक्ष प्राप्त कर लेता है। यद्यपि इतने काल में अमर्य्य वर्ष व्यतीत हो जाते हैं, फिर भी अनन्त काल की अपेक्षा में तो यह अति अल्प ही है।

१ सूक्ष्म अर्द्धा पत्योपम का विवेचन व्याख्या सख्या १७ में देखें

: २१ :

प्रथम प्रवेश गीतिका ३० गाथा ६

समकित धर पिण सात वान रो वन्धन पाड नाय

तत्त्वोपरसत्यश्रद्धा रखने वाले को सम्यग् दृष्टि—सम्यक्त्वो कहते हैं। सम्यक्त्वो प्राणी निम्नोक्त सात प्रकृतियों का वन्धन नहीं करना।

- १ नरकायु
- २ तियञ्चायु
- ३ स्त्री वेद
- ४ नपुंसक वेद
- ५ भवनपति देव का आयु
- ६ व्यन्तर देव का आयु
- ७ ज्योतिषी देव का आयु।

द्वितीय प्रवेश गीतिका २ गाथा १

आगम मे दश जीवन शक्ति प्राण नाम आख्यात

जन्म के आरम्भ मे जीव आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन—इन छह पौद्गलिक शक्तियों का निर्माण करता है। इनकी अपेक्षा रखने वाली जीवन-शक्ति को 'प्राण' कहते हैं। वे जीवन शक्तियाँ दस प्रकार की हैं—

- १ स्पर्शनेन्द्रिय प्राण
- २ रसनेन्द्रिय प्राण
- ३ घ्राणेन्द्रिय प्राण
- ४ चक्षुरिन्द्रिय प्राण
- ५ श्रोत्रेन्द्रिय प्राण
- ६ मनोबल
- ७ वचन बल
- ८ काय बल
- ९ श्वासोच्छ्वास प्राण
- १० आयुष्य प्राण

समस्त जीवों मे प्राण शक्तियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं। किन्तु प्रत्येक प्राणी मे अधन्यतया स्पर्शनेन्द्रिय प्राण, काय-बल, श्वासोच्छ्वास प्राण और आयुष्य-प्राण, ये चार प्राण-शक्तियाँ तो होती ही हैं।

—श्री जैनसिद्धान्तदीपिका, प्रकाश ७ सूत्र १६ से २१ के आधार से



द्वितीय प्रवेश गीतिका १० गाथा १

श्रमण धर्म जो दश विध

मोक्ष की साधन रूप क्रियाओं के पालन करने को चारित्र-धर्म कहा जाता है और दूसरे शब्दों में यही श्रमण धर्म है। वे दश हैं—खती, मुत्ती, अज्जवे, महवे लाघवे, सच्चे, सजमे, तवे, वियाए, बभचेरवासे।

१ क्षमा—क्रोध पर विजय पाना।

२ मुक्ति—लोभ पर विजय पाना। पौद्गलिक वस्तुओं पर अनासक्त भाव।

३ आर्जव—कपट का परिहार करना—सरलता।

४ मादं व—मान का त्याग। जाति, कुल, रूप, ऐश्वर्य, तप, ज्ञान, लाभ और बल, इन आठों में से किसी एक का भी मद न करना।

५ लाघव—अल्प-उपधिता व गौरव-त्याग।

६ सत्य—हित और मित भाषा का व्यवहार।

७ समय—योगो की अशुभ प्रवृत्तियों का निरोध व कषाय तथा इन्द्रिय-विजय।

८ तप—इच्छाओं का निरोध व कष्ट-सहिष्णुता।

९ त्याग—मूर्च्छा-परिहार। मग्न-त्याग।

१० ब्रह्मचर्य—नवबाह सहित ब्रह्मचर्य का पालन।

—समवायग सूत्र समवाय १०, ठाणाग सूत्र ठा० १० उ० १ सूत्र ७१२ के आधार से

: २४ :

द्वितीय प्रवेश गीतिका २१ गाथा ६

दशवं गुणठाणं स्य मुनिवर,
पडै राग री ठोकर खाकर,
कइया नै तो आज्यावै पहलां गुणठाणां ।

मगल द्वार गीतिका १० गा० १

मो महिप नै प्रथम पछाडै प्रविशत बारम गुणठाण ।
तेरम ताडत कर्म त्रिवेणी, प्राप्त करै केवलनाण ॥

मगल द्वार गीतिका ११ गा० ४

चतुर्दश गुणस्थान गाहवै, अवस्था शैलेशी पावै ।
भ्राणाय ज्युं भालर भ्राणायै, अघाती च्यारु ही खप ज्यारै ॥

आत्मा की क्रमिक विशुद्धि को गुणस्थान कहते हैं। जैसे-जैसे आत्मा से कम-मल दूर होता रहता है, वैसे-वैसे आत्मा के गुणों का प्रादुर्भाव होता रहता है—आत्मा की विशुद्धि होती रहती है। विशुद्धि के तरतम भाव की अपेक्षा से आत्मा की चवदह प्रकार की अवस्था बतलाई गई है। इनको गुणस्थान कहा जाता है। मोक्षरूपी प्रासाद की चवदह सोपान श्रेणी के रूप में इसकी कल्पना की गई है। ससार के ममस्त प्राणी—चाहे वे मनुष्य हों या पशु, अस हों या स्थावर, सजी हों या असजी, मृध्म हों या बादर—किसी न किसी गुणस्थान को धारण करते ही हैं। अर्थात् प्रत्येक प्राणी में न्यूनाधिक मात्रा में विशुद्धि होती है। चवदह गुणस्थान इस प्रकार हैं।

१ मिथ्यादृष्टि गुणस्थान—जिस जीव को तत्त्व की यथार्थ श्रद्धा नहीं होती है, वह मिथ्यादृष्टि—मिथ्यात्वी कहलाता है। मिथ्यात्वी जीव के भी आशिक रूप में ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का अयोपक्षम होता है और उसकी इस आशिक विशुद्धि को 'मिथ्यादृष्टि गुणस्थान' कहते हैं। आत्मोन्नति की दिशा में यह प्राथमिक अवस्था है।

२ सास्वादन सम्यग्-दृष्टि गुणस्थान—यह गुणस्थान अपक्रमण अवस्था है। अर्थात् जिस समय सम्यक्त्वधारी जीव कर्मोदय के कारण सम्यक्त्व से व्युत्पन्न होता है, तब सक्रमण काल में उसकी यह अवस्था होती है। इस प्रकार यह अवस्था गुणस्थान के आरोहण क्रम में नहीं आती, किन्तु अवरोहण काल में आती है।

क्त्वी से मिथ्यात्वी की दशा को प्राप्त करता है, तब बीच में थोड़े काल के लिए उसकी 'मिश्र-दृष्टि' की अवस्था होती है। इस अवस्था में वह न तो सम्यक्त्वी होता है और न मिथ्यात्वी। यह सशयशील व्यक्ति की अवस्था है।

४ अविरत सम्यक् दृष्टि गुणस्थान—मिश्र गुणस्थान से निकलकर यदि जीव यथार्थ तत्त्व-श्रद्धा को प्राप्त कर लेता है तो 'सम्यग्-दृष्टि' बन जाता है। इस अवस्था में चारित्र-मोहनीय कर्म की सोलह प्रकृतियों में से प्रथम चार प्रकृति—अनन्तानुबन्धीय क्रोध, मान, माया और लोभ का अनुदय हो जाता है। किन्तु अप्रत्याक्षानीय क्रोध आदि का उदय होने से 'व्रत' करने के लिए वह समर्थ नहीं होता। व्रत का अर्थ है, सकल्पपूर्वक सावध प्रवृत्तियों का प्रत्याख्यान करना।

५ देश विरति गुणस्थान—सम्यग् दर्शन को प्राप्त करने वाला साधक जब सम्यक् चारित्र अर्थात् विरति की साधना आशिक रूप में प्रारम्भ करता है, तब उस अवस्था को 'देश-विरति' गुणस्थान कहा जाता है। यहाँ पर अप्रत्याक्षानीय क्रोध आदि चार प्रकृतियों का क्षयोपशम हो जाता है, किन्तु प्रत्याक्षानीय चतुष्क का उदय होने से 'सर्व-विरति' की अवस्था नहीं होती।

६ प्रमत्त सयत गुणस्थान—साधक जब देश-विरति से 'सर्व-विरति' की अवस्था प्राप्त करता है, तब छूटे गुणस्थान में प्रविष्ट हो जाता है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, इन पाँच महाव्रतों का स्वीकार करने से वह सर्व-विरति कहलाता है। समीचीन होते हुए भी जब तक प्रमादावस्था होती है, तब तक वह प्रमत्त सयत कहलाता है।

७ अप्रमत्त सयत गुणस्थान—साधक जब प्रमाद पर भी विजय प्राप्त कर लेता है, तब वह 'अप्रमत्त सयत' कहलाता है। इस अवस्था में वह समय में सतत जागरूक रहता है।

८ निवृत्ति बाधर गुणस्थान—अष्टम गुणस्थान से साधक विशेष रूप से मोह कर्म के साथ युद्ध करना प्रारम्भ करता है। यहाँ से भावना की विशुद्धि के आधार पर वह गुण श्रेणी का आरोहण करने लगता है। आरोह की दो श्रेणियाँ हैं, १. उपशम और २. क्षपक। उपशम श्रेणी को ग्रहण करने वाला साधक मोह को उपशान्त करता हुआ आगे बढ़ता है। यह आठवें गुणस्थान से ग्यारहवें गुणस्थान तक होती है। क्षपक श्रेणी का आलम्बन करने वाला मोह का क्षय करता हुआ आगे बढ़ता है। यह श्रेणी साधक को अन्तिम भजिल तक पहुँचाती है।

अष्टम गुणस्थान में साधक के कषायों की निवृत्ति प्रारम्भ हो जाती है।

९ अनिवृत्ति बाधर गुणस्थान—इस अवस्था में साधक अधिकांश कषायों से मुक्त हो जाता है, केवल कुछ अश अनिवृत्त (बाकी) रहता है।

१० सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान—जब केवल सूक्ष्मरूप में सम्पराय अर्थात्

कषाय (लाभाश) विद्यमान रहता है, तब यह अवस्था प्राप्त होती है ।

११ उपशान्त मोह गुणस्थान—यह अवस्था केवल उपशम श्रेणी को ग्रहण करने वाले साधक की होती है, क्षपक श्रेणी वाले की नहीं। इस अवस्था में आत्मा मोह को सर्वथा उपशमित कर वीतराग हो जाती है। किन्तु यह अवस्था स्थायी नहीं रह पाती। इसकी उत्कृष्ट स्थिति अन्तर मुहूर्त है। इसके बाद उपशमित मोह आत्मा पर पुन अपना आधिपत्य कर लेता है और साधक का अवरोह होना प्रारम्भ हो जाता है।

बारहवें गुणस्थान से गिरकर साधक दशवें गुणस्थान में आ जाता है। वहाँ रागाग्नि (मोहाग्नि) पुन उद्दीप्त होने पर वह पतन की दिशा में और ढकेला जाता है। कभी-कभी यदि राग की ज्वाला अत्यधिक तेज होती है तो दशवें गुणस्थान से साधक को गिराकर पुन प्रथम गुणस्थान तक पहुँचा देती है। एक बार का वीतराग साधक भी पुन मिथ्यात्वी बन सकता है।

१२ क्षीण मोह गुणस्थान—क्षपक श्रेणी का आरोहक दशवें गुणस्थान से सीधे ही बारहवें गुणस्थान में आ जाता है। यहाँ पर वह मोहकर्म का—राग और द्वेष का पूर्णतः और सदा के लिए नाश कर देता है। आठ कर्मों में मोहकर्म की प्रधानता है। यह सभी कर्मों का राजा माना जाता है। मोह को जीतने के पश्चात् साधक को अवरोह का भय नहीं रहता। बारहवें गुणस्थान में आत्मा के चारित्र्य गुण की पूर्ण विशुद्धि हो जाती है।

१३ सयोगी केवली गुणस्थान—साधक मोह-महिप को जीतकर उसके तीन सह-योगी कर्म—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय पर प्रहार करता है। सेनापति के भाग जाने से जैसे सेना का साहस टूट जाता है, वैसी ही दशा शेष कर्मों की होती है। इन तीन कर्मों के बन्धन भी टूट जाते हैं और अनन्त ज्ञान (केवलज्ञान), अनन्त-दर्शन (केवलदर्शन) और अनन्त बल की त्रिवेणी में आत्मा स्नान करने लग जाती है। साधक सर्वज्ञ—केवली हो जाता है। पाँच आस्रवों में से मिथ्यात्व, अविरत, प्रमाद और कषाय, इन चारों का सर्वथा निरोध हो जाता है। किन्तु योग आश्रव अब तक भी कर्मों को प्रतिक्षण खींचता रहता है। यद्यपि अशुभ योग का सर्वथा अभाव है, फिर भी शुभ योगों का प्रवर्तन होता रहता है, जिसके परिणामस्वरूप द्विसामयिक स्थिति वाले सातों वेदनीय कर्म का बन्ध होता रहता है।

१४ अयोगी केवली गुणस्थान—केवली के वेदनीय, नाम, गोत्र और आयुष्य, केवल ये चार कर्म शेष रहते हैं। ये चारों ही कर्म 'अधाती' कहलाते हैं, क्योंकि वे आत्मा के मूल गुण ज्ञान आदि का आवरण या निरोध नहीं करते। जब इन अवो-पग्राही कर्मों की स्थिति घटती-घटती केवल पाँच लु (ह्रस्व) स्वर के उच्चारण में लगने वाले समय जितनी हो जाती है, तब योगों का निरोध हो जाता है। जिस प्रकार झालर को बजाने के पश्चात् भी कुछ समय तक उसकी ध्वनि निकलती रहती

है और कुछ समय बाद स्वतः समाप्त हो जाती है, उसी प्रकार केवली के योग रूप कम्पन भी स्वाभाविक रूप से समाप्त हो जाते हैं। मन, वाणी और शरीर की समस्त (सूक्ष्म और स्थूल) प्रवृत्तियों का निरोध होकर साधना की अन्तिम भूमिका में साधक का प्रवेश हो जाता है। इस अयोगी अवस्था को शैलेयी अवस्था भी कहते हैं। जिस प्रकार शैलेय (मेरु-पर्वत) अडोल रहता है, उसी प्रकार चतुर्दश गुणस्थान में भी साधक की आत्मा सुस्थिर और समाधियुक्त होती है। इस अवस्था के बाद प्रथम क्षण में ही शेष रहे हुए चार अघाती कर्म आत्मा से पृथक् हो जाते हैं और साधक सिद्ध, बुद्ध और मुक्त अवस्था को प्राप्त कर लेता है।



: २५ :

द्वितीय प्रवेश गीतिका २६ गाथा ५

जो मानव अति मायावी ।
तिर्यञ्च गति लहै ठावी ॥

चार प्रकार के कार्य करने वाला जीव तिर्यच गति का आयुष्य बाधता है ।

१ माया—विषकुम्भ पयोमुखा की तरह मन में कुछ और रखना और बाहर कुछ और ।

२ निष्कृति—दोग के द्वारा दूसरो को ठगने की चेष्टा करना ।

३ असत्य—झूठ बोलना ।

४ झूठ तोल-माप —अपने लिए खरीदने के निमित्त भारी व बेचने के लिए हल्के बाट (माप) रखना ।

—ठाण्णाग सूत्र ठा० ४ के आधार से



तृतीय प्रवेश गीतिका २८ गाथा १

तीन तत्त्व, नव तत्त्व, द्रव्य षट् श्रद्धामय साक्षात्

पारमार्थिक वस्तु को तत्त्व कहते हैं। सम्यग् दर्शन के लिए देव, गुरु और धर्म, ये तीन तत्त्व अपेक्षित हैं। इन तीन तत्त्वों को यथार्थ समझे बिना सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं हो सकती।

१ देव—जो आत्माएं राग-द्वेष आदि दोषों से मुक्त हो जाती हैं और सर्व-ज्ञता को प्राप्त कर लेती हैं, वे ही दूसरों के लिए आराध्य बन सकती हैं और उनके वचनों को प्रमाण माना जा सकता है। अतः केवलज्ञानवान् अरिहन्त को देव कहते हैं।

२ गुरु—देव और धर्म का ज्ञान देने वाले गुरु होते हैं। अहिंसा आदि पाच महाव्रतों का पालन करने वाले निग्रन्थ साधु गुरु कहलाते हैं। तीन तत्त्वों में गुरु का स्थान मध्य में इसलिए रखा गया है कि सच्चे और निस्वार्थ गुरु के मिलने पर ही देव और धर्म का ज्ञान हो सकता है।

३ धर्म—आत्म-शुद्धि के साधन का धर्म कहते हैं। अरिहन्त द्वारा प्ररूपित मार्ग का अनुसरण करने से ही आत्म-शुद्धि हो सकती है। अतः अरिहन्त द्वारा प्ररूपित मार्ग धर्म है। अहिंसा, सयम, तप, त्याग आदि धर्म के अनेक प्रकार हैं।

नव तत्त्व

सम्यग् दर्शन से पूर्व सम्यग् ज्ञान होना आवश्यक है। 'तत्त्व क्या है?' यह अच्छी तरह से जान लेना सम्यग् ज्ञान है। जैन दर्शन के अनुसार तत्त्व नव हैं—

१ जीव तत्त्व—चैतन्ययुक्त पदार्थ—जिसमें जानने की शक्ति हो, वह जीव है।

२ अजीव तत्त्व—जिसमें चैतन्य न हो, वह अजीव है।

३ पुण्य तत्त्व—आत्मा अपनी शुभ-अशुभ प्रवृत्तियों के द्वारा कर्म-पुद्गलों को ग्रहण करती रहती है। शुभ प्रवृत्ति के द्वारा जो कर्म बन्धते हैं, वे उदय में आने पर पुण्य कहलाते हैं।

४ पाप तत्त्व—अशुभ कर्म-पुद्गलों को पाप कहते हैं।

५. आश्रय तत्त्व—कर्म-ग्रहण करने वाले आत्म-परिणामों को आश्रय कहते हैं।

६. सवर तत्त्व—आश्रय का निरोध करने वाले आत्मा के परिणाम सवर कहलाते हैं।

७. निर्जरा तत्त्व—तपस्या द्वारा कर्मों का छेदन करने पर होने वाली आत्मा की उज्ज्वलता निर्जरा है। उपचार से तपस्या को भी निर्जरा कहा जाता है।

८. बध तत्त्व—कर्म-पुद्गलो का आत्मा के साथ सम्बन्ध होना बध कहलाता है। शुभ और अशुभ कर्म जब आत्मा के साथ चिपकते हैं, तब वे बध कहलाते हैं और जब उदय में आते हैं, तब क्रमशः पुण्य और पाप कहलाते हैं।

९. मोक्ष-तत्त्व—सभी कर्मों के क्षय हो जाने पर आत्मा अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाती है। इस अवस्था को मोक्ष कहते हैं।

इन नव तत्त्वों को समझने के लिए तालाब का उदाहरण दिया जाता है। तालाब के समान जीव है। अतालाब के समान अजीव है। तालाब में से निकलते पानी रूप पुण्य और पाप है। जिनके द्वारा पानी तालाब में आता है, वह नाले के समान आश्रय है। नाले बन्ध करने के समान सवर है। नाले आदि के द्वारा पानी को तालाब से बाहर निकालना निर्जरा है। तालाब में रहे हुए पानी के समान बन्ध है। खाली तालाब के समान मोक्ष है।

षट् द्रव्य

गुण और पर्यायों के आश्रय को द्रव्य कहते हैं। अथवा जो सत् है, वह द्रव्य है। जैन दर्शन के अनुसार विश्व छः द्रव्यों का बना हुआ है।

१ धर्मास्तिकाय—गतिशील पदार्थों की गति में असाधारण रूप से सहाय करने वाले द्रव्य को धर्मास्तिकाय कहते हैं। यह सारे लोक (विश्व) में व्याप्त है। एक है और अखण्ड द्रव्य है। अरूपी है। अस्तित्व की दृष्टि से शाश्वत है—अनादि और अनन्त है।

२ अधर्मास्तिकाय—अगतिशील पदार्थों की स्थिति में असाधारण रूप से सहाय करने वाले द्रव्य को अधर्मास्तिकाय कहते हैं। यह भी एक, अखण्ड, अरूपी समस्त लोक में व्याप्त और शाश्वत द्रव्य है।

३ आकाशास्तिकाय—समस्त द्रव्यों को आश्रय—अवकाश देने वाले द्रव्य को आकाशास्तिकाय कहते हैं। यह एक, अखण्ड, अरूपी और शाश्वत है। क्षेत्र की दृष्टि से यह अनन्त है अर्थात् लोक (विश्व) और अलोक दोनों में व्याप्त है। लोक षड्-द्रव्यात्मक है और अलोक केवल आकाशमय है।

४ काल—समय, मुहूर्त आदि को काल कहते हैं। इसका गुण है—वर्तना। काल के कारण ही सभी द्रव्यों में पूर्व और पश्चात् रूप अवस्थाएँ होती हैं। यह दो प्रकार का है—नैवचयिक काल और व्यवहारिक काल। नैवचयिक काल समस्त लोक में वर्तता है, किन्तु व्यवहारिक काल केवल समय क्षेत्र (अर्द्धाई द्वीप) में

ही वर्तता है, क्योंकि सूर्य-चन्द्र आदि की गति के निमित्त से होने वाला कालमान ल अढाईद्वीप में ही है। काल अस्तिकाय के रूप में नहीं है, क्योंकि इसके प्रत्येक पृथक्-पृथक् होता है—प्रचय रहित होता है। यह भी अरूपी और शाश्वत है।

५ पुद्गलास्तिकाय—स्पर्श, रस, गंध और वर्ण वाले द्रव्य को पुद्गल कहते इसका गुण है—गलन-मिलन अर्थात् सघटन और विघटन। पुद्गल द्रव्य की से अनन्त है। समस्त लोक में व्याप्त और शाश्वत है। छ द्रव्यों में केवल यही द्रव्य रूपी है।

६ जीवास्तिकाय—चैतन्य लक्षण से युक्त द्रव्य को जीवास्तिकाय कहते हैं। की दृष्टि से जीव अनन्त है, क्षेत्र की दृष्टि से लोक में व्याप्त है। यह शाश्वत है र अरूपी है। छ द्रव्यों में चैतन्ययुक्त केवल जीव द्रव्य है, शेष पांच अजीव हैं।



: २७ :

तृतीय प्रवेश गीतिका ३८ गाथा ४

पाच प्रमाद सेवता प्राणी

धार्मिक विषयों में अनुत्साह प्रमाद कहलाता है । योग रूप प्रमाद के पाच भेद हैं, जो निम्न प्रकार से हैं—

१. मद्य—शराब आदि नशीले पदार्थों का सेवन ।
२. विषय—शब्द, रूप, गन्ध, रस व स्पर्श में आसक्त होना ।
३. कषाय—क्रोध, मान, माया व लोभ का आचरण ।
४. निद्रा—चेतना का अस्पष्ट भाव ।
५. विकथा—राग, द्वेषवश सलाप करना ।



तृतीय प्रवेश गीतिका ३८ गाथा ७

प्राप्त हुसी श्रवणादि बोल दश इसा भाग्य कद खुलसी

ज्ञानावरणादि आठ कर्म आत्मा के समस्त स्वाभाविक गुणों को आच्छन्न किए रहते हैं, जब तक इसकी प्रबलता होती है, तब तक आत्मा के आर्त्त, रोग परिणाम रहते हैं। इससे उनका गाढ बन्धन होता रहता है। कीचड़ में फसा हुआ व्यक्ति जैसे बाहर निकलने का प्रयत्न करता है, उसमें और फसता जाता है, इसी प्रकार आर्त्त, रोग परिणामों की बहुलता के कारण व्यक्ति की धार्मिक क्रियाओं से उदासीनता होती रहती है। अन्तराय कर्म का जब उदय होता है, तब व्यक्ति के मन में न धार्मिक भावना होती है और न सत्संग। उसमें अन्तराय कर्म के क्षयोपशम की आवश्यकता होती है।

मानसिक प्रवृत्तियों में एक बार यदि परिवर्तन हो जाता है और उसके बाद उसे अनुकूल साधन [सत्संग आदि] मिलते रहते हैं तो वह क्रम आगे बढ़ता ही जाता है और उससे आत्मा सब कर्मों का क्षय कर सिद्ध, बुद्ध व मुक्त बन जाती है। सत्संग से निर्वाण पद तक आत्मा कैसे पहुँचती है, इस प्रश्न का भगवान् महावीर और गौतम स्वामी के वार्तालाप में सुन्दर समाधान मिलता है। गौतम स्वामी ने एक बार भगवान् श्री महावीर से पूछा—भगवन् ! मूल गुण व उत्तर गुण से युक्त साधु की पर्युपासना करने का क्या फल होता है ? भगवान् ने उत्तर दिया—श्रवण फल। उससे उसे सिद्धान्त का श्रवण मिलता है।

गौतम स्वामी ने अगला प्रश्न किया—अन्ते ! शास्त्र-श्रवण का क्या फल होता है ?

भगवान् श्री महावीर—गौतम ! उससे श्रुतज्ञान की प्राप्ति होती है।

गौतम स्वामी—प्रभो ! श्रुतज्ञान का क्या फल है ?

भगवान् श्री महावीर—उससे हेयोपादेय का विवेक कारक विज्ञान—विशिष्ट ज्ञान होता है।

गौतम स्वामी—विज्ञान का क्या फल है, क्षमाश्रमण !

भगवान् श्री महावीर—विनिवृत्ति—पाप का प्रत्याख्यान।

गौतम स्वामी—प्रत्याख्यान का क्या फल है ?

भगवान् श्री महावीर—प्रत्याख्यान करने वाले को ही सयम^१ होता है ।

गौतम स्वामी—सयम का क्या फल है ?

भगवान् श्री महावीर—सयमी नए कर्मों का उपाजन नहीं करता । वह अनाश्रवी होता है ।

गौतम स्वामी—अनाश्रव का क्या फल है ?

भगवान् श्री महावीर—अनाश्रवी कर्म लघु होने से तप करता है ।

गौतम स्वामी—तप का क्या फल है, भन्ते ।

भगवान् श्री महावीर—व्यवदान—पुराने कर्मों की निर्जरा होती है ।

गौतम स्वामी—व्यवदान का क्या फल है ?

भगवान् श्री महावीर—अक्रिया—योगो का निरोध होता है ।

गौतम स्वामी—और प्रभो ! अक्रिया का क्या फल है ?

भगवान् श्री महावीर—सिद्धि—सब कर्मों का नाश हो जाता है ।

वह व्यक्ति बहुत सौभाग्यशाली होता है जो मूलगुण व उत्तर गुण से युक्त साधुओं की पर्युपासना करता हुआ, इन दश बातों को प्राप्त कर लेता है ।

—भगवती सूत्र शतक २ उ० ५ सू० १११ के आधार से



: २६ :

चतुर्थ प्रवेश गीतिका २ गाथा ४

बग्जो दश बोल, हास कितोल पन्थ मे

मार्ग मे चलते हुए साधु के लिए यह आवश्यक होता है कि वह देह प्रमाण भूमि को देखे व निम्नोक्त दश बातों का वर्जन करे ।

१ वाचना न दे—शिष्य को सूत्र व अर्थ न पढाए ।

२ पूछना न करे—वाचना मे सगय होने से या पूर्व कण्ठस्थित ज्ञान मे शका होने पर प्रश्न न करे ।

३ परिवर्तना न करे—कठस्थित ज्ञान विस्मृत न हो जाए, इस उद्देश्य से उसे पुन पुन परिवर्तित न करे ।

४ अनुप्रेक्षा न करे—सीखे हुए सूत्र के अर्थ मे विस्मरण न हो जाए इसलिए उनका बार-बार मनन न करे ।

५ धर्म कथा न करे—व्याख्यान न दे ।

६ से १०. चलते हुए पाचों इन्द्रियो के पाच विषय—शब्द, रूप, गन्ध, रस व स्पर्श का वर्जन करे ।



चतुर्थ प्रवेश गीतिका ४ गाथा ३

गवेषणा तो उद्गम उत्पादन रो दोष दिखाव,
ग्रहेषणा दश, घास एषणा पाच भाङ्गला गावैजी ।

चतुर्थ प्रवेश गीतिका १० गाथा ७

बैयालिय एषणा दोषणिया
तिम पच मण्डला ना भणिया

साधु को आहार-पानी की एषणा करते समय गवेषणा व ग्रहणेषणा के बैयालीस दोषों का वर्जन करना चाहिए ।

गवेषणा के बत्तीस दोष उद्गम और उत्पादन की अपेक्षा से दो भागों में विभक्त हैं । उद्गम के सोलह दोषों का निमित्त गृहस्थ देने वाला होता है और उत्पादन के सोलह दोषों का निमित्त साधु लेने वाला होता है ।

सोलह उद्गम दोष

१ आधाकर्म—साधु को लक्षित कर, उसके निमित्त मचित्त वस्तु को अचिन करना या अचित्त को पकाना आदि । यह दोष चार प्रकार से लगता है ।

(क) प्रतिसेवक—आधाकर्म आहार आदि का सेवन करना ।

(ख) प्रतिश्रवण—आधाकर्म आहार आदि के लिए निमन्त्रण स्वीकार करना ।

(ग) सबसन—आधाकर्म आहार आदि भोगने वालों के साथ रहना ।

(घ) अनुमोदन—आधाकर्म आहार आदि भोगने वालों की प्रशंसा करना ।

२. औद्देशिक—सामुदायिक रूप से बनाया गया आहार आदि ग्रहण करना । इसके दो प्रकार हैं—शोध और समुद्देश । अन्य प्रकार से इसके उद्दिष्ट, कृत व कर्म ये तीन भेद और प्रत्येक के उद्देश, समुद्देश, आदेश व समादेश, इस प्रकार बारह भेद भी किये जाते हैं ।

३. पूतिकर्म—निर्दोष आहार आदि में आधाकर्म आदि का अंश मिल जाना । आधाकर्म आदि आहार आदि से सखिलष्ट पात्र में रही हुई सामग्री का भी ग्रहण करना पूतिकर्म दोष है ।

४ मिश्रज्रात—अपने और साधु के लिए एक साथ पकाए हुए आहार आदि । इसके तीन प्रकार हैं —

(क) भाववर्धक—अपने और सभी याचकों के लिए एक साथ बनाया हुआ ।

(ख) पालण्डो मिश्र—अपने और साधु-सन्ध्यासियों के लिए एक साथ बनाया हुआ ।

(ग) साधुमिश्र—अपने और साधुओं के लिए एक साथ बनाया हुआ ।

५ स्थापना—निकेवल साधुओं को ही देने की इच्छा से आहार आदि अलग स्थापित करना ।

६ प्राभृतिका—साधु को विशिष्ट आहार आदि बहराने के लिए जीमनवार या निमन्त्रण के समय को आगे-पीछे करना ।

७ प्राबुष्करण—देय वस्तु के अवेरे में होने पर अग्नि, दीपक आदि से प्रकाश कर या खोल कर वस्तु को प्रकाश में लाना ।

८ क्रीत—साधु के निमित्त खरीदा हुआ आहार आदि ।

९ प्रामित्यक—साधु के निमित्त उधार लिया हुआ आहार आदि ।

१० परिवर्तित—साधु के निमित्त विनिमय कर लाया हुआ आहार आदि ।

११ अभ्याहृत—साधु के निमित्त एक स्थान से दूसरे स्थान पर लाया हुआ आहार आदि ।

१२ उद्भिन्न—साधु के निमित्त कुप्पी आदि का मुह खोल कर देना ।

१३. मालापहृत—ऊर्ध्व, अधो या तिर्यक् दिशा में जहाँ आसानी से हाथ न पहुँच सके वहाँ नसेनी आदि लगाकर आहार आदि लेना ।

१४. आच्छेद्य—निर्बल व्यक्ति या अपने आश्रित नौकर, पुत्र आदि से छीन कर आहार आदि देना । इसके तीन भेद हैं —

(क) स्वामी विषयक—ग्रामाधिपति द्वारा अपने आश्रित से छीन कर देना ।

(ख) प्रभु विषयक—गृहाधिपति द्वारा अपने आश्रित से छीनकर देना ।

(ग) स्तेन विषयक—चुराकर या लूट कर देना ।

१५ अनिसृष्ट—किसी वस्तु के एक से अधिक मालिक होने पर सबकी अनुमति के बिना देना ।

१६ अग्र्यवपूरक—अपने लिए बनते हुए भोजनादि में साधुओं का आगमन सुनकर उनके निमित्त अधिक मिला देना ।

सोलह उत्पादन दोष

१. धात्री पिण्ड—बच्चों को खिलाने-पिलाने रूप धाय का काम करके या किसी घर में धाय की नौकरी आदि लगवा कर आहार आदि लेना ।

२ द्विती विण्ड—किसी के सन्देश को गुप्त रूप में या प्रकट रूप में पहुँचा कर आहार आदि लेना ।

३ निमित्त विण्ड—भूत और भविष्य का शुभाशुभ बतलाकर या ज्योतिष आदि सिखला कर आहार आदि लेना ।

४ आजीविका विण्ड—स्पष्ट या अस्पष्ट रूप से अपनी जाति, कुल आदि स्थापित कर आहार आदि लेना ।

५ वनीपक विण्ड—भिखारी आदि की तरह दीन वचन कहकर आहार आदि लेना ।

६ चिकित्सा विण्ड—चिकित्सा कार्य कर आहार आदि लेना ।

७ क्रोध विण्ड—गृहस्थ को आप आदि का भय दिखाकर आहार आदि लेना ।

८ मान विण्ड—अपने को प्रतापी, तेजस्वी, बहुश्रुत बताते हुए अपना प्रभाव जमाकर आहार आदि लेना ।

९ माया विण्ड—छलपूर्वक आहार आदि लेना ।

१० लोभ विण्ड—आहार में लोभ करना अर्थात् गोचरी के लिए जाते समय जीभ की लालसा से मन में यह सकल्प करना, आज तो अमुक वस्तु ही खायेंगे और उसके सहजतया न मिलने पर इधर-उधर खोजते फिरना ।

११ पूर्व पदचात् सस्तव विण्ड—आहार-ग्रहण करने के पूर्व या पदचात् दाता की प्रशंसा करना ।

१२ विद्या प्रयोग—देवी द्वारा अधिष्ठित या जप, होम आदि से सिद्ध होने वाले अक्षरों की रचना विशेष को विद्या कहा जाता है । विद्या का प्रयोग कर आहार आदि लेना ।

१३ मन्त्र प्रयोग—देवता द्वारा अधिष्ठित अक्षरों की रचना, जिसके स्मरण मात्र से सिद्धि प्राप्त हो, उसे मन्त्र कहते हैं । मन्त्र प्रयोग से आहार आदि लेना ।

१४ चूर्ण प्रयोग—अवश्य करने वाले सुरसा आदि चूर्ण का प्रयोग कर आहार आदि लेना ।

१५ योग प्रयोग—योग विषयक सिद्धियों का प्रयोग कर आहार आदि लेना ।

१६ मूल कर्म प्रयोग—गर्भस्तम, गर्भाधान, गर्भपात आदि सावध क्रियाएँ कर आहार आदि लेना ।

ग्रहणैषणा के दश दोष

गवेषणा के अनन्तर आहार आदि ग्रहण करते समय साधु को निम्नोक्त दश दोषों का परिहार आवश्यक है ।

१ शक्ति—आवाकर्म आदि दोषों से युक्त होने की शक्ती होने पर ।

२ अक्षित—आहार आदि देय वस्तु या चमच्च आदि साधन या हाथ आदि किसी अंग के सचित्त वस्तु से छू जाने पर ।

३ निक्षिप्त—देय वस्तु सचित्त के ऊपर रक्षित होने पर ।

४ पिहित—देय वस्तु सचित्त द्वारा ढकी होने पर ।

५ सहृत—जिस पात्र में सचित्त वस्तु पची हो, उसमें से उसे निकाल कर, उस पात्र में से आहार आदि देने पर ।

६ दातृकर्म—दाता के अनधिकारी^१ होने पर ।

७ उन्मिथ—अचित्त के साथ सचित्त या सचित्ताचित्त अथवा सचिन् या सचित्ताचित्त के साथ अचित्त आहार आदि के मिले होने पर ।

८ अपरिणत—पूर्णतया पाक-क्रिया होने पर या पूर्णतया शस्त्र-परिणत होने पर सचित्त वस्तु अचित्त हो जाती है । उससे पूर्व ही आहार आदि ग्रहण करने पर ।

९ लिप्त—तत्काल लिप्त भूमि पर गमनागमन कर आहार आदि लेने पर ।

१० छविता—जिसमें से बूद आदि टपकते हो, वैसा आहार आदि लेने पर ।

बत्तीस गवेषणा व दश ग्रहणैषणा के दोष मिलकर ऐषणा सम्बन्धी बैयालीम दोष होते हैं । निम्नोक्त गाथाओं में इनका सक्षिप्तीकरण है—

आहाकम्मुद्देसिय पूर्वकम्मे य मीसजाए य ।

ठवणा पाहुडियाए पाओयर कीत पामिच्चे ॥१॥

परियट्टिय अभिहडे उन्मिन्न मालोहडे इय ।

अच्छिज्जे अणिसिट्ठे अज्झोयरए य सोलसमे ॥२॥

घाई दूई निमित्ते आजीव वणिमगे तिगिच्छाय ।

कोहे माणे माया लोभे य हवति दम ए ए ॥३॥

पुब्बिपच्छासथव विज्जा मते य चुण्णजोगे य ।

उप्पायणाइ दोसा सोलसमे मूलकम्मे य ॥४॥

सकिय भक्खिय निखित्त पिहिय साहरिय दायगुम्मीसे ।

अपरिणय लिप्त छड्डिय एसण दोसा दस हवति ॥५॥

पाच माडलिक दोष

गवेषणा और ग्रहणैषणा के पश्चात् जब साधु आहार करने के लिए मडलिए (आहार आदि रखने के वस्त्र) पर बैठता है तब उसे पाच माडलिक दोषों के परिहार की आवश्यकता है । वे पाच दोष इस प्रकार हैं—

१ सयोज्जना—स्वाद की उत्कर्षता पैदा करने के लिए एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य के साथ सयोग करना ।

२ अग्रमाण—स्वाद के लोभ से भोजन के परिमाण का अतिक्रमण करना ।

३ अनधिकारी दाता के ४० प्रकार का विस्तार पिण्डनिर्बुद्धि में देखें ।

भारिभाषिक सक्षिप्त व्याख्या]

३ अगार—स्वादिष्ट व सरस आहार करते हुए आहार की या दाता की प्रशंसा करना । जिस प्रकार अग्नि से जलते हुए खदिरआदि ईन्त्रन अगार हो जाते हैं, इसी प्रकार लोलुपता से चरित्र जलकर भस्म हो जाता है ।

४ शूल—विरस आहार करते हुए आहार या दाता की द्वेषवश निन्दा करना । यह द्वेष भाव साधु के चरित्र को जलाकर सधूम काष्ठ की तरह कलुषित करने वाला होता है ।

५ अकारण—१ क्षुधा वेदनीय शान्त करने के लिए,

२ साधुओं की वैयावृत्ति करने के लिए,

३ सयम निभाने के लिए,

४ ईर्या समिति में सजग रहने के लिए,

५ दश प्राणों की यत्ना करने के लिए,

६ स्वाध्याय, ध्यान आदि करने लिए, इन छ कारणों के अतिरिक्त बल, वीर्य आदि की वृद्धि के लिए, आहार आदि करना ।

—उत्तराध्ययन सूत्र अध्या० २६ गाथा ३२ के आचार से

: ३१ :

चतुर्थ प्रवेश गीतिका १० गाथा २

पण्चीस भावना पाचानी

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह, इन पाच महाव्रतों की पञ्चीस भावनाएँ बताई गई हैं। महाव्रत मूल हैं और भावना उनका भाव अर्थात् विस्तार हैं। वे भावनाएँ क्रमशः इस प्रकार हैं—

१ अहिंसा महाव्रत की पाच भावना

- १ ईर्यासमिति पूर्वक गमन करना।
- २ पाप-युक्त, सावद्य, क्रिया सहित, कर्म बधकारी, छेदकारी, भेदकारी, कलहकारी, द्वेष सहित व प्राणानिपाती मन का परिहार।
- ३ पाप पूर्ण, सावद्य, कर्म बधकारी सदोष वचन न बोलना
- ४ आदानभक्षनिक्षेपसमिति सहित प्रवर्तन करना।
- ५ एषणा समिति में सावधान रहना—बिना देखे आहार-पानी आदि का प्रयोग न करना।

२ सत्य महाव्रत की पाच भावना

- १ विचार पूर्वक बोलना।
- २ क्रोध का स्वरूप जानकर, उसका परिहार करना।
- ३ लोभ का स्वरूप जानकर, उसका परिहार करना।
- ४ भय का स्वरूप जानकर, भीरु न होना।
- ५ हास्य का स्वरूप जानकर, उसका परिहार करना।

३ अचौर्य महाव्रत की पाच भावना

- १ विचारपूर्वक परिमित अवग्रह की याचना करना।
- २ आज्ञापूर्वक आहार आदि का ग्रहण करना।
- ३ अवग्रह ग्रहण करते समय प्रमाण का उल्लंघन करना।
- ४ अवग्रह ग्रहण करते समय बार-बार मर्यादा बाधना
- ५ साधमिक के पास से भी विचार पूर्वक परिमित अवग्रह मागना।

४ ब्रह्मचर्य महाव्रत की पाच भावनाएँ

- १ बार-बार स्त्री-कथा न करना ।
- २ स्त्रियो के अगोपागो की ओर न भ्रुकना ।
- ३ कृत-क्रीडाओ का स्मरण न करना ।
- ४ अति मात्रा मे प्रणीत रस युक्त आहार का परिहार ।
- ५ स्त्री, पशु, नपुसक सञ्चटित आसन व शय्या का प्रयोग न करना ।

५ अपरिग्रह महाव्रत की पाच भावनाएँ

१ मनोज्ञ व अमनोज्ञ शब्द सुनते हुए उनमे आसक्त, गृद्ध, मोहित, तल्लीन व विवेक अष्ट न होना ।

२ चक्षु विषयगत मनोज्ञ व अमनोज्ञ रूप पर आसक्त, गृद्ध, मोहित, तल्लीन व विवेक अष्ट न होना ।

३ मनोज्ञ व अमनोज्ञ गन्ध पर आसक्त, गृद्ध, मोहित, तल्लीन व विवेक अष्ट न होना ।

४ मनोज्ञ व अमनोज्ञ रस पर आसक्त, गृद्ध, मोहित, तल्लीन व विवेक अष्ट न होना ।

५ मनोज्ञ व अमनोज्ञ स्पर्श पर आसक्त गृद्ध, मोहित, तल्लीन व विवेक अष्ट न होना ।

—आचारारण सूत्र, श्रुतस्कन्ध २ अध्यायन २४ व समवायाग सूत्र समवाय २५ के आधार से

: ३२ :

चतुर्थ प्रवेश गीतिका १० गाथा ४

तेजीस विषय पंचेन्द्रियना

वेसयचालीश विकार बना

छ द्रव्यो मे केवल पुद्गल द्रव्य ही एक ऐसा द्रव्य है जो स्पश, रस, गंध और वर्ण से युक्त होता है। शब्द भी पौद्गलिक परिणामन से ही उत्पन्न होता है। अत इन्द्रियो के द्वारा ग्राह्य भी केवल पुद्गल द्रव्य ही हो सकता है। इन्द्रिया पाच है—श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और स्पशनेन्द्रिय। गन्ध, रूप, रस और स्पर्श, ये क्रमश इनके पाच विषय हैं। इन पाच विषयो के ही तेजीस प्रभेद होते हैं।

श्रोत्रेन्द्रिय के तीन विषय

- १ जीव शब्द
- २ अजीव शब्द
- ३ मिश्र शब्द

चक्षुरिन्द्रिय के पाच विषय

- १ कृष्ण वर्ण
- २ नील वर्ण
- ३ रक्त वर्ण
- ४ पीत वर्ण
- ५ श्वेत वर्ण

घ्राणेन्द्रिय के दो विषय

- १ सुगन्ध
- २ दुर्गन्ध

रसनेन्द्रिय के पाच विषय

- १ आम्ल रस

२ मधुर रस

३ कटु रस

४ कषाय रस

५ तिक्त रस

स्पर्शान्द्वय के आठ विषय

१ शीत स्पर्श

२ उष्ण स्पर्श

३ रुक्ष स्पर्श

४ स्निग्ध स्पर्श

५ लघु स्पर्श

६ गुरु स्पर्श

७ मृदु स्पर्श

८ कर्कश स्पर्श

मनुष्य इन्द्रियो के द्वारा विषयो का ज्ञान करता है । विषय अपने आपसे न तो शुभ हैं और न अशुभ । किन्तु मनुष्य उन विषयो मे प्रिय और अप्रिय, शुभ और अशुभ का आरोप करता है । इससे विकार की उत्पत्ति होती है । प्रिय शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श मे आसक्ति से राग की और अप्रिय शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श के प्रति घृणा करने से द्वेष की उत्पत्ति होती है । इसी प्रकार सचित्त, अचित्त और मिश्र जनित और शुभ और अशुभ के आरोप से विकार बनते है जो २४० की सख्या मे हों जाते हैं । उन्हे सलग्न तालिका से जाना सकता है ।

	सचित्त शुभ	अचित्त शुभ	मिश्र शुभ	सचित्त अशुभ	अचित्त अशुभ	मिश्र अशुभ	सचित्त राग	अचित्त राग	मिश्र राग	सचित्त द्वेष	अचित्त द्वेष	मिश्र द्वेष	योग
जीव शब्द	१	०	०	१	०	०	१	०	०	१	०	०	६
अजीव शब्द	०	१	०	०	१	०	०	१	०	०	१	०	६
मिश्र शब्द	०	०	१	०	०	१	०	०	१	०	०	१	६
कृष्ण वर्ण	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१२
नील वर्ण	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१२
रक्त वर्ण	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१२
पीत वर्ण	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१२
श्वेत वर्ण	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१२
सुगन्ध	१	१	१	०	०	०	१	१	१	०	०	०	१०
दुर्गन्ध	०	०	०	१	१	१	०	०	०	१	१	१	१०
तिक्त रस	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१२
कटु रस	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१२
आम्ल रस	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१२
कषाय रस	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१२
मधुर रस	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१२
शीत स्पर्श	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१२
उष्ण स्पर्श	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१२
स्निग्ध स्पर्श	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१२
रुक्ष स्पर्श	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१२
मृदु स्पर्श	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१२
कर्कश स्पर्श	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१२
लघु स्पर्श	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१२
गुरु स्पर्श	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१२

चतुर्थ प्रवेश गीतिका १० गाथा १२

इच्छामिच्छादिक जे भारी

कही दश विध शुद्ध समाचारी

साधुओं की अवश्य करणीय क्रियाओं व व्यवहार को समाचारी कहा जाता है। वे दश हैं।

इच्छा मिच्छा तहक्कारो आवस्सिया निसीहिया।

आपुच्छणाय पडिपुच्छा छन्दणाय निमतणा।

उवसपयाय काले समाचारी भवे दस विहाउ॥

१ इच्छाकार—‘यदि आपकी इच्छा हो तो मैं अपना या अपने सहधर्मी का अमुक कार्य करूँ या आप चाहें तो मैं आपका यह कार्य करूँ।’ इस प्रकार गुरु से पूछना।

२ मिथ्याकार—सयम-जीवन में किसी सदोष आचरण के लिए प्रायश्चित्त करने के लिए साधु का आत्म-गर्हा करते हुए ‘मिच्छामि दुक्कड—मेरा पाप निष्फल हो’, ऐसा कहना।

३ तथाकार—सूत्र, उसका अर्थ व उन दोनों के विषय में प्रश्न पूछे जाने पर जब गुरु उत्तर दे तो ‘तहत्ति (जैसा आप कहते हैं, वैसा ही है) बोलते हुए शिष्य द्वारा उसे स्वीकार करना।

४ आवस्यिका—अपने स्थान से बाहर जाते समय साधु द्वारा ‘आवस्मिया’ (मैं आवश्यक कार्य के लिए जाता हूँ) कहा जाना।

५ नैवेधिका—कार्य-निवृत्त होकर आते हुए अपने स्थान में प्रवेश करते समय साधु द्वारा निसीहिया कहा जाना।

६ आपुच्छना—किसी भी कार्य में प्रवृत्त होने से पूर्व सर्वप्रथम ‘क्या मैं यह करूँ?’ इस प्रकार गुरु को पूछ कर आदेश ग्रहण करना।

७ प्रतिपुच्छा—गुरु द्वारा निषिद्ध कार्य में भी आवश्यकतावश प्रवृत्त होने के लिए पुनः गुरु से अनुमति ग्रहण करना।

८ छन्दना—पूर्व आनीत आहार के लिए साधुओं को आमन्त्रण देना । उनसे कहना—यदि आपके उपयोग में आ सके तो इस आहार को ग्रहण करें ।

९ निमंत्रणा—गोचरी जाने से पूर्व साधुओं को आहार के लिए निमंत्रण देना । उनसे पूछना—क्या मैं आपके लिए आहार आदि लाऊँ ?

१० उपसपद—ज्ञानादि प्राप्त करने के विशेष हेतु से अपना गच्छ छोड़कर विशेष ज्ञानी गुरु के आश्रय में जाना और उनसे कहना 'मैं अमुक काल तक आपकी सेवा में उपस्थित रहूँगा ।'

—ठाण्णगसूत्र ठा १० सूत्र ७४६ के आचार से



चतुर्थ प्रवेश गीतिका १० गाथा १३

तेतीमाशातन टालीजे

नवागीवृत्तिकार श्री अभयदेवसूरि ने आशातना शब्द की परिभाषा करने हुए कहा है—आय सम्यग् दर्शनाद्यवाप्तिलक्षणस्तस्य शातना —खडन निरुक्तादाशातना — जिस प्रवृत्ति विशेष से सम्यग्दर्शन आदि में शिथिलता या विराधना हो, उसे आशातना कहा जाता है। शब्दान्तर से इसकी परिभाषा इस प्रकार भी की जाती है—ज्ञानदर्शने शातयति—खडयति तनुता नयतीत्याशातना—जिस क्रिया के द्वारा ज्ञान, दर्शन और चरित्र की तनुता या खडना हो, उसे आशातना कहते हैं। विस्तार से इस अभिमत को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है कि अभिविधि, अनाचार-सेवन और मूल अत विराधना से होने वाले चरित्र-खडन अर्थात् अतिक्रम, व्यतिक्रम और अतिचार से होने वाली मूल गुण और उत्तर गुण की विराधना आशातना है। आशातना के दो भेद किए गए हैं—१ मिथ्याप्रतिपादना और २ मिथ्याप्रतिपत्तिलाभ। पदार्थों के यथावस्थित स्वरूप से अनभिज्ञ होकर उनके झूठे व कल्पित स्वरूप बनाकर कहना मिथ्याप्रतिपादना है और गुरुजनों पर मिथ्या आक्षेप करना, उनकी अवज्ञा करना या उनसे अपने आपको बड़ा मानना मिथ्याप्रतिपत्तिलाभ है। साराण यह है कि जिन क्रियाओं से चरित्र शिथिल पडता है या उसकी विराधना होती है, उसे आशातना कहा जाता है।

आत्मा में जब अहंभाव पैदा होता है, व्यक्ति हर एक के तिरस्कार के लिए तैयार हो जाता है। उस समय वह स्वयं श्रेष्ठ बन जाता है और दूसरे जो कि श्रेष्ठ भी हों, उसे नगण्य से प्रतीत होने लगते हैं। यह आत्मा का बहिर्भाव है। इससे ज्ञान सीमित होता है और उसके अनन्तर अज्ञा हिल जाती है। अज्ञा के अभाव में चरित्र की तो कल्पना ही कैसे हो सकती है? आशातना की अर्थाभिव्यक्ति अविनय व असम्भ्यता आदि व्यवहारिक शब्दों में भी की जा सकती है।

आशातना का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। एक ओर अरिहन्त, मित्र, आचार्य, उपाध्याय, साधु-साध्वी जैसे लोकोत्तम पुरुषों की आशातना से मावधान रहने के लिए

आवश्यक सूत्र में प्रत्येक श्रमण को प्रेरणा दी गई है, वही श्रावक, श्राविका व देव, देवी और सब प्राण, भूत, जीव तथा सन्ध की आशातना से बचना भी श्रमण के लिए अनिवार्य बताया गया है। तात्पर्य यह है कि व्यक्ति की प्रत्येक श्रमण प्रवृत्ति आशातना कही जा सकती है।

आशातना यद्यपि प्रत्येक से सम्बन्ध रखती है, तथापि गुरु के प्रति शैक्ष के कर्तव्य के रूप में ३३ प्रकार की बताई गई हैं, जो इस प्रकार हैं—

- १ गुरु से आगे चलना।
- २ गुरु के बराबर चलना।
- ३ गुरु को छूते हुए चलना।
- ४ गुरु के आगे खड़े रहना।
- ५ गुरु के बराबर खड़े रहना।
- ६ गुरु को छूते हुए खड़े रहना।
- ७ गुरु के आगे बैठना।
- ८ गुरु के बराबर बैठना,
- ९ गुरु को छूते हुए बैठना।
- १० गुरु और शिष्य एक साथ शौचार्थ गए हों और पात्र भी एक ही ने गए हो तो गुरु से पहले प्राचमन करना।
- ११ गुरु शिष्य एक साथ विचार-भूमि (स्वर्णिल) और विहार भूमि में आए हो तो शिष्य का गुरु से पहले हर्षाविही करना।
- १२ गुरु के दर्शनार्थ आए हुए व्यक्ति में शिष्य का पहले वार्तालाप करना।
- १३ गुरु पूछे, कौन सोता है, कौन जागता है, शिष्य का जागते हुए भी न बोलना।
- १४ आहार, पानी आदि बहर कर लाने पर गुरु में पूर्व अन्य साधुओं को निवेदन करना।
- १५ आहार, पानी आदि बहर कर लाने पर गुरु को दिखाने में पूर्व अन्य साधुओं को दिखाना।
- १६ आहार, पानी आदि बहर कर लाने पर गुरु को निमन्त्रित करने में पूर्व अन्य साधुओं को निमन्त्रित करना।
- १७ आहार, पानी आदि बहर कर लाने पर गुरु से बिना अनुज्ञा ग्रहण किए ही अन्य साधुओं को प्रचुर आहार आदि देना।
- १८ गुरु और शिष्य के एक ही मडलिये पर भोजन करते हुए शिष्य द्वारा शीघ्रतापूर्वक सरस, मनोज्ञ व स्निग्ध भोजन मन चाहा खाना।
- १९ गुरु द्वारा आमन्त्रित करने पर शिष्य द्वारा न बोलना।
- २० गुरु द्वारा पूछने पर शिष्य द्वारा आसन पर बैठे ही उत्तर देना।

२१ गुरु द्वारा शिष्य के बुलाने पर शिष्य का तिरस्कार पूर्वक, क्या कहते हो, क्या कहते हो, ऐसे कहना ।

२२ शिष्य का गुरु से 'तु' शब्द से पुकारना ।

२३ शिष्य का गुरु को अत्यन्त कठोर व प्रमाणाधिक शब्दों से आमन्त्रित करना ।

२४ गुरु के शब्दों की अनुकृति करना ।

२५ गुरु के कथा कहने पर शिष्य का बीच ही में बोल उठना—इस प्रकार से नहीं, इस प्रकार से प्रतिपादन करें ।

२६ गुरु के कथा कहने पर शिष्य का बोल उठना—आपको तो आता ही नहीं है ।

२७ गुरु के कथा कहने पर शिष्य का उपहृत-मन होना ।

२८ गुरु के कथा-वाचन करते समय परिषद् में भेद करना ।

२९ गुरु के कथा-वाचन करते समय कथा में विघ्न करना ।

३० सभा विसर्जित होने में पूर्व गुरु द्वारा विवेचित विषय का गुरु से अपनी प्रतिभा का विशेष परिचय देने के निमित्त पुन पुन विस्तार के द्वारा व्याख्यान करना ।

३१ गुरु के शैया-सस्तारक पैर से छू जाने पर अपनी दोष बिना स्वीकार किए ही चले जाना ।

३२ गुरु के शैया-सस्तारक पर खड़ा होना, बैठना या शयन आदि करना ।

३३ गुरु से समामन, उच्चासन आदि पर खड़ा होना, बैठना या सोना आदि ।

—दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र तृतीय दशा के आधार से



चतुर्थ प्रवेश गीतिका १० गाथा १३

असमाधिय नो मद गालीज

साधना और समाधि का पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध है। जैसे तो प्रत्येक कार्य समाधि को अपेक्षा रखता है, पर साधना तो समाधि के अवलम्बन में ही सफल हो सकती है। साधु जीवन में अधिक से अधिक समाधि कैसे रह सकती है और असमाधि किस प्रकार दूर हो सकती है, इसके लिए बीस असमाधि स्थान बतलाए गए हैं और माधक को यह शिक्षा दी गई है कि वह प्रतिक्षण उनसे दूर रहने का प्रयत्न करे। समाधि की परिभाषा करते हुए कहा है—समाधान समाधिश्चेतस स्वास्थ्य मोक्षमार्गश्चम्यानम्—चित्त का स्वास्थ्य भाव और निवृत्ति में पूर्णतः अवस्थिति को समाधि कहा जाता है। इसमें विपरीत असमाधि होती है। बीस असमाधि स्थान निम्न प्रकार से हैं—

- १ अति शीघ्र गमन करना।
- २ अप्रमार्जित स्थान में गमन करना।
- ३ दुष्प्रमार्जित स्थान में गमन करना।
- ४ मर्यादातिरिक्त पाट-बाजोट आदि का उन्मोचन करना।
- ५ आचार्य आदि पूज्य पुरुषों का तिरस्कार करना।
- ६ स्थविरो का उपघात करना या उपघात करने का चिन्तन करना।
- ७ ऐकेन्द्रियादि जीवों का उपघात करना।
- ८ प्रतिक्षण रोष करना।
- ९ क्रोध करना।
- १० पीठ पीछे निन्दा करना।
- ११ पुन-पुन निश्चित भाषा का प्रयोग करना।
- १२ नया कलह उत्पन्न करना।
- १३ उपशान्त कलह की उदीरणा करना।
- १४ सरजस्क पाणि पाद—अर्थात् सञ्चित रज से हाथ-पाव लिप्त हो तो

उन्हे बिना पूजे ही आसन आदि पर बैठना या किसी गृहस्थ के हाथ-पाव सरजस्क हो तो उनसे आहारादि ग्रहण करना।

- १५ अकाल मे स्वाध्याय करना ।
- १६ कलह करना ।
- १७ प्रहर रात्रि के बाद जोर-जोर से बोलना ।
- १८ गण मे भेद करने वाली भाषा का प्रयोग करना ।
- १९. सूर्योदय से सूर्यास्त तक खाने ही खाने की चेष्टा करना ।
- २० एषणा समिति के विरुद्ध आचरण करना ।

—समवायागसूत्रवृत्ति समवाय २० के आशार से



चतुर्थ प्रवेश गीतिका १० गाथा १३

सबला सहमूल उखाडीजे

साधना का मार्ग दुरुह होता है। उस पर आगे बढ़ने के लिए साधक को प्रतिश्रम सावधान होकर चलना होता है। यदि किसी समय असावधानी हो जाती है तो या तो वह वहां से भ्रष्ट ही हो जाता है या स्थलित होकर अपनी साधना में मलिनता कर लेता है। जब वह असावधानी अनाचार के रूप में हो जाती है तो साधना ममप्त हो जाती है। किन्तु जब तक वह अतिक्रम, व्यक्तिक्रम व अतिचार तक सीमित रहती है, मलिनता बढ़ती है, जिसे शबलता—कबुरंता कहा जाता है। शास्त्र में उसके इक्कीस स्थान बतलाये गये हैं, जो इस प्रकार हैं—

१. हस्त-कर्म करना।
२. अब्रह्मचर्य का सेवन करना।
३. रात्रि-भोजन करना।
४. आधाकर्मी आहार करना।
५. शय्यातरपिण्ड भोगना।
६. औद्देशिक, क्रीत व सम्मुख लाया हुआ आहार आदि ग्रहण करना।
७. पुन-पुन व्रत भग करना।
८. छह महीने में एक गण से दूसरे गण में जाना।
९. एक मास में तीन बड़ी^१ नदियों का उल्लघन करना।
१०. एक महीने में तीन माया-स्थानों का सेवन करना।
११. राजपिण्ड का आहार करना।
१२. जानबूझ कर प्राणातिपात करना।

१ बड़ी नदियों की परिभाषा करते हुए आचारारण सूत्र में बताया गया है कि जिस नदी का पानी जघा प्रमाण—जघा तक या जघा से ऊपर हो, किन्तु समवायण सूत्र की वृत्ति से नाभि प्रमाण जल बताया गया है।

- १३ जानबूझ कर मृषावाद का प्रयोग करना ।
- १४ जानबूझ कर अदत्तादान ग्रहण करना ।
- १५ जानबूझ कर सचित्त पृथ्वी पर खड़े होना, बैठना, कायोत्सर्ग व स्वाध्याय करना ।
- १६ जानबूझ कर सचित्त पृथ्वी, सचित्त प्रस्तर खड, धुन सहित काष्ठखड पर कायोत्सर्ग करना, शयन करना, बैठना ।
- १७ जानबूझ कर प्राणी, बीज, हरित, कीड़ी-नगर, पाच वर्ण के फूल, सचित्त पानी, सचित्त मिट्टी, कोलिया, जाला आदि सहित और तथा प्रकार के अन्य स्थानों पर भी कायोत्सर्ग करना, शयन करना, बैठना आदि क्रियाएँ करना ।
- १८ जानबूझ कर मूल-कन्द, त्वचा, (छाल) प्रबाल, (नवीन पत्ते, कापल आदि) पुष्प, फल, हरित (दूर्वादि) का भोजन करना ।
- १९ एक वर्ष में दस बड़ी नदियों का उल्लंघन करना ।
- २० एक वर्ष में दस माया-स्थानों का सेवन करना ।
- २१ सचित्त पानी से आर्द्र हाथ से आहार, जल, खादिम व स्वादिम ग्रहण करना व उनका उपभोग करना ।

—समवायागसन्नवृत्ति समवाय २१ के आधार से



चतुर्थ प्रवेश गीतिका॥१० गाथा २०

परिषह थी मन मनि कपावो

जो साधना का पथ स्वीकार करता है, उसे यह मानकर चलना होता है कि जिस मार्ग को वह अपनाता है, वह कष्टों से भरा हुआ है। विशेषतः महाव्रतों की साधना को खड्ग की धार पर चलने के समान माना जाता है। अहिंसा की साधना का आधार तितिक्षा है। कष्टों से घबराने वाला अहिंसक नहीं हो सकता।

जैन मुनि आजीवन के लिए अहिंसा आदि पाँच महाव्रतों का स्वीकार कर चलते हैं। इन व्रतों की रक्षा के लिए उन्हें नाना नियमों और उपनियमों का पालन करना होता है। समय-मार्ग में आने वाले कष्ट 'परिषह' कहे जाते हैं। जो 'परिषह' आने पर भी अपनी साधना के मार्ग से विचलित नहीं होता है, वह अपनी मजिल को पाने में सफल हो जाता है। वे परिषह विविध प्रकार के मुनि-जीवन की कमीटी करते हैं। मुख्य रूप से परिषह के बावीस भेद माने जाते हैं—

- १ क्षुधा परिषह
- २ पिपासा परिषह
- ३ शीत परिषह
- ४ उष्ण परिषह
- ५ दशमशक परिषह
- ६ अचेल परिषह
- ७ अरति परिषह
- ८ स्त्री परिषह
- ९ चर्या परिषह
- १० निसिद्धा परिषह
- ११ शय्या परिषह
- १२ आक्रोश परिषह
- १३ वध परिषह
- १४ याचना परिषह

- १५ अलाभ परिषह
- १६. रोग परिषह
- १७ तृण-स्पर्श परिषह
- १८ मेल परिषह
- १९ सत्कार-पुरस्कार परिषह
- २० प्रज्ञा परिषह
- २१ अज्ञान परिषह
- २२ दर्शन परिषह

—उत्तराख्यनसूत्र अ० २ के आधार से

परिशिष्ट ३

पद्यानुक्रम

उपयोगे उपधि ग्रहो सूको
 'उवग्रोग लक्खणो जीवो'
 'ऊदर नो आचार आरोग्यो'
 ऊपर स्यू दीसै आछो
 ऊर्ध्व, अधो मध्यस्थ भेद स्यू
 'ऋषि प्रसनचन्द रो
 एक उभय टक पडिलेहुए की
 एक बडी दिन थका श्याम का
 एक झूठ नै ढाकण
 ऐकण रे घर डेर
 एक, दो, सौ बार सहस, लाख जौ
 एक नयो पैसो भी थारै
 एक बार तो झूठ-साच कर
 एक हाथ स्यू कचरो कार्डू
 एकेन्द्रिय स्यू पञ्चेन्द्रिय पशु
 'गे जिए जिया पच' प्रमाण
 च्यार सुख-दुख रा साथी
 तो अन्नाणा रा त्राण
 श्रापण स्यू मन स्यू मानव
 अन अगम्य अपरम्पर पारावार है
 चंचल कर बिना बापरो
 रुणाई

च० प्र० गी० १० गा० ८
 तृ० प्र० गी० ३० गा० ३
 च० प्र० गी० १४ गा० १०
 तृ० प्र० गी० १६ गा० २
 तृ० प्र० गी० ३१ गा० १
 तृ० प्र० गी० १ गा० ८
 च० प्र० गी० ५ गा० ४
 च० प्र० गी० ६ गा० ५
 द्वि० प्र० गी० २८ गा० १
 द्वि० प्र० गी० ७ गा० ६
 च० प्र० गी० २ गा० ६
 प्र० प्र० गी० २३ गा० ४
 द्वि० प्र० गी० २८ गा० ४
 तृ० प्र० गी० १६ गा० ४
 तृ० प्र० गी० १३ गा० २
 प्र० प्र० गी० १६ गा० ३
 तृ० प्र० गी० ६ गा० ६
 तृ० प्र० गी० ७ गा० ५
 द्वि० प्र० गी० ११ गा० १
 च० प्र० गी० ७ गा० १
 च० प्र० गी० ७ गा० ३
 प्र० प्र० गी० ७ गा० १
 तृ० प्र० गी० ७ गा० १
 द्वि० प्र० गी० ३० गा० १
 प्र० प्र० गी० ३३ गा० २
 प्र० प्र० गी० ६ गा० १
 प्र० प्र० गी० १ गा० ७
 प्र० प्र० गी० १ गा० २
 प्र० प्र० गी० १ गा० ४
 प्र० प्र० गी० २ गा० २
 प्र० प्र० गी० २ गा० ०

करी नही सगत सन्तारी
 करै तपस्या जो कठोः
 करै मिलावट चोर बजारी
 करोडा मानव आर्य कहाय
 कर्म उदय मे आ भुगातीज्या
 कर्म-रोग, तप दिव्य दवाई
 कलह प्रियता परिहरो
 कष्ट पढ्या पिए कायम रहिये
 कही नर लोके भोगे भोगी
 कहो अनिष्ट-कर्ता ओ म्हारो
 काचन कामिनी रा त्यागी
 कादा छूत उतारया स्यू तो
 काक, कपोल, पोत, चटकादिक
 काचर-बीज, कर्म को कर्ता
 काछवो रेवै जद अपरणी इन्द्रया नै सकोच कै
 काठ काट अलि बाहिरै आवै
 काढ-काढ कचरो में थाक्यो
 कानपुर चौमासो सबत् दो हजार पनरा
 काम, क्रोध, मद, मोह लोभ मे
 कायक्लेश-विविध योगासन
 काय गुत्तयायेण भते । जीवे कि जणयई
 काया री प्रवृत्ति हरदम चालती रहै है
 काया वश मे करणी बात मामूली नही है
 काया-धेर नै तो आछो पीजरे मे राखणो
 काल असीम हुओ अहा । भमता
 कालूगणि निज पर हित इच्छू
 कालूगणि री सुन्दर शिक्षा
 कालो मूहडो, कर पग लीला
 किए मारग स्यू श्री जिनवरजी
 किती बार तू मरयो गर्भ मे
 किती इक थारो जीवणो
 क्रिया रूप धर्म नही तो भी दिल साफ जा
 कलीब कहै मन सङ्कृतवाणी
 कुभी मे जा ऊपजै सगु कै

प्र० प्र० गी० १२ गा० २
 त० प्र० गी० ३६ गा० २
 द्वि० प्र० गी० २६ गा० ३
 तृ० प्र० गी० ३२ गा० ४
 तृ० प्र० गी० २३ गा० २
 तृ० प्र० गी० २४ गा० ४
 द्वि० प्र० गी० २३ गा० ६
 च० प्र० गी० १४ गा० १६
 तृ० प्र० गी० ३१ गा० ३
 तृ० प्र० गी० ३५ गा० ३
 म० द्वा० गी० १५ गा० ३
 च० प्र० गी० १८ गा० ४
 च० प्र० गी० १४ गा० ६
 म० द्वा० गी० २० गा० २
 च० प्र० गी० १ गा० ५
 द्वि० प्र० गी० २१ गा० ४
 तृ० प्र० गी० १६ गा० १
 च० प्र० गी० १ गा० ६
 प्र० प्र० गी० १ गा० ५
 तृ० प्र० गी० २४ गा० २
 च० प्र० गी० १ गा० ८
 च० प्र० गी० १ गा० १
 च० प्र० गी० १ गा० २
 च० प्र० गी० १ गा० ६
 तृ० प्र० गी० १४ गा० १
 च० प्र० गी० ५ गा० ६
 च० प्र० गी० ६ गा० ६
 च० प्र० गी० १६ गा० ३
 म० द्वा० गी० ३ गा० १
 प्र० प्र० गी० २ गा० ४
 व० प्र० गी० १५ गा० ६
 द्वि० प्र० गी० १४ गा० ३
 प्र० प्र० गी० १६ गा० ५
 प्र० प्र० गी० ४ गा० ३

कुगुरु, कुदेव, कुधर्म, कुसगति
 कुण जाणै है कुण ही होली
 कुण मो सगपण दुओ न जग मे
 कुसुमावलि, सुगणावलि
 केई एकन्द्रिय कहिवावै

के लाभ तपस्या तीव्र तपो
 केवल आत्म-शुद्धि रे खातिर
 केवल समकित मय भग तीजो
 केवल सलिल-स्नान स्यू पावन
 केदाव कु वर तरणी पर लहिये
 कोई पर भी आल अणूतो
 कोडया साटै अहल हार मत
 कोण कुटुम्बी जो रे आज तक
 क्रोध कलह रो कारण
 क्रोध दाव उपशमन जलद सम
 क्रोध दाव दुर्दमतम
 क्रोध बडो दुगुण दुनिया मे
 क्रोध, मान, माया, लालच मे
 क्रोध, लोभ, भय, हास, झूठ रा
 क्रोध, लोभ, भय, हास्य आदि मे
 क्षण-अगुर इन्द्र धनुष-सी
 क्षत्र वेदना है धरणी

'खधक' गजसुकुमाल मुनि री
 खडगा री धारा पर बहणो
 खबर पढै तो इण पापी स्यू
 खमत खामगा छव अक्षर मे
 'खामेनि सब्बे जीवा'
 खाली हाथा आयो है तू
 खावण अन्न, वसन पहिरणने
 खिए खिए मे जो ख्यात राखता
 खुल्लै माथै भस्म सधाते
 खुह पिवास दुस्सिज्ज
 खू खू करतो नित खासै, धस धस घासै
 खूखो काम राग दल-दल मे

तृ० प्र० गी० १८ गी० ४
 च० प्र० गी० १६ गा० ६
 तृ० प्र० गी० ३५ गा० २
 तृ० प्र० गी० २८ गा० ३
 प्र० प्र० गी० १० गा० १
 द्वि० प्र० गी० २७ गा० ३
 तृ० प्र० गी० २३ गा० ३
 प्र० प्र० गी० ३० गा० ५
 तृ० प्र० गी० १६ गा० ३
 च० प्र० गी० १४ गा० १३
 द्वि० प्र० गी० २४ गा० १
 प्र० प्र० गी० २३ गा० २
 द्वि० प्र० गी० ११ गा० ४
 द्वि० प्र० गी० १० गा० २
 तृ० प्र० गी० २० गा० ४
 द्वि० प्र० गी० १० गा० ३
 द्वि० प्र० गी० ८ गा० १
 तृ० प्र० गी० ३८ गा० ५
 द्वि० प्र० गी० ४ गा० २
 च० प्र० गी० ३ गा० ६
 तृ० प्र० गी० ४ गा० ५
 प्र० प्र० गी० ४ गा० ४
 तृ० प्र० गी० ३४ गा० ७
 म० द्वा० गी० १६ गा० १
 तृ० प्र० गी० १६ गा० २
 च० प्र० गी० १८ गा० १
 तृ० प्र० गी० ३४ गा० १
 प्र० प्र० गी० २३ गा० १
 द्वि० प्र० गी० २० गा० २
 प्र० प्र० गी० २६ गा० ४
 च० प्र० गी० १६ गा० ५
 च० प्र० गी० १६ गा० ५
 प्र० प्र० गी० ११ गा० ५
 प्र० प्र० गी० १० गा० २

खो इज्जत, विश्वस, आबरु
 नगाशहर धर्म री गगा
 गणिए गण स्यू राखो डरुतारी
 गति, स्थिति मे सदा सहाई
 गन्दो गल्या नल्या रो पाणी
 गरमी बढता ही चढ ज्यावै
 गवेषणा तो उद्गम उत्पादन रो
 गहरा सम्बन्ध बणालै
 गाजै अरु सुलफै डुलपै पैय न दोन्यू
 गाडर ज्यू नीची गावड राखता रही
 गाली दे कोइ थे मत लेबो
 गालीवान कठै स्यू ल्यासी
 गाली सुण्या न हुवै गूमडा
 गात्र, मात्र भूमि जोबो चालता पथि
 गुण उपवन मे दाह लगावै
 गुरु आणा प्राणाधिक जाणो
 गुरु चेले पर, चेलो गुरु पर
 गुरु दर्शन सेवा बखाण रो
 गुरु लोभी, चेलो भी लोभी
 गृह भूक्यो मुनि जिह बैरागे
 गृह, समाज और राजनीत तज
 गौतम गणधर गुणनिलो
 गौतम ने भी ज्ञान अटकग्यो
 ग्रह-गणनायक चन्द्र कहावै
 घटती जावै आयु खिए खिए
 घरका नै तो टिचकार्या स्यू
 घर को दुश्मन है घर फोड़
 घर खोवै घर रो कलह
 घर गृहस्थ रै सरै न बन बिन
 घी स्यू भभकै आग
 घुमड घोर है गगन मडल मे
 घूसखोर अफसर सरकारी
 घृणा सदा दुर्गुण स्यू धार
 घृणित समझ उत्सर्ग काम री

द्वि० १० गी० १६ गा० ८
 च० प्र० गी० १६ गा० ७
 च० प्र० गी० १० गा० १८
 तृ० प्र० गी० ३० गा० १
 म० द्वा० गी० १६ गा० १
 द्वि० प्र० गी० ७ गा० २
 च० प्र० गी० ८ गा० ३
 तृ० प्र० गी० ३ गा० ३
 प्र० प्र० गी० ११ गा० ७
 च० प्र० गी० २ गा० ३
 द्वि० प्र० गी० ६ गा० ५
 द्वि० प्र० गी० ८ गा० ५
 द्वि० प्र० गी० ८ गा० ८
 च० प्र० गी० २ गा० २
 द्वि० प्र० गी० १६ गा० २
 च० प्र० गी० १० गा० १५
 प्र० प्र० गी० १२ गा० ५
 प्र० प्र० गी० २० गा० २
 प्र० प्र० गी० १२ गा० ३
 च० प्र० गी० १० गा० १६
 च० प्र० गी० २१ गा० १
 च० प्र० गी० १५ गा० ७
 द्वि० प्र० गी० २१ गा० ७
 च० प्र० गी० १२ गा० ७
 द्वि० प्र० गी० १ गा० १
 प्र० प्र० गी० २० गा० ६
 प्र० प्र० गी० १६ गा० १
 द्वि० प्र० गी० २३ गा० ५
 द्वि० प्र० गी० ७ गा० ८
 द्वि० प्र० गी० ६ गा० १
 प्र० प्र० गी० २६ गा० १
 द्वि० प्र० गी० २६ गा० ७
 तृ० प्र० गी० ३६ गा० ७
 च० प्र० गी० ६ गा० ४

घोर रौद्र दुःख भोगता रे
 घोरातक आया जब बेरै
 चड कोपवश चडकोशियो
 चक्रिभोज्यादिक उपनय मार
 'चक्री भरतेश्वर' भूलै
 चढयो हाथ हीरो लाखीणो
 चतुरधिक पचशय मुनि श्रमणी
 चतुर्दश गुणस्थान गाहवै
 चन्दनबाला और सुभद्रा
 चन्दन मे गोशीष प्रवरतर
 चरण कमल लयलीनता
 चवदम पाप चुगल मे पावै
 चाहे जितनो धन मेलो
 च्यार कषाय लाम मे निज गुण
 'चित्त-प्रधान', 'पूणियो आवक'
 चिन्मय ने पाषाण बणाऊ
 चिलम्या हित बेइलम्यापे कर कर जोडी
 चीवर जिम जीरण रे
 चुगली जो मानव-मुख उगली
 चुपके अन्दर ले चिमठायो
 चूरु शहर हुयो इकरगो
 चेतन तन भिन जानके
 चेला रा दिलडा कुमलाम्या
 चेला च्यार हजार भूख स्यू
 चोरी करके चोर गगा मे
 चौके मृगसर मास मे
 चौथो महाव्रत जिन कह्यो
 चौरासी के चक्कर मे तू
 छल-कपट, झूठ मे मति रे फसो
 छलना चलै न मन की कलना
 छाछ मध्यो अहि-विष निशि खायो
 छिन-छिन छिद्र गवेषण करणो
 छुटपुट झूठ बोलणो भी है
 छोटा मोटा सब जीवा स्यू

प्र० प्र० गी० ४ गा० ६'
 तृ० प्र० गी० ५ गा० १०
 द्वि० प्र० गी० ६ गा० ४
 तृ० प्र० गी० ३२ गा० ३
 तृ० प्र० गी० ३ गा० ५
 प्र० प्र० गी० २५ गा० १
 च० प्र० गी० १० गा० २२
 म० द्वा० गी० ११ गा० ४
 प्र० प्र० गी० २० गा० ८
 च० प्र० गी० १२ गा० ६
 म० द्वा० गी० ६ गा० ४
 द्वि० प्र० गी० २५ गा० १
 द्वि० प्र० गी० १७ गा० २
 तृ० प्र० गी० १८ गा० ६
 च० प्र० गी० ११ गा० ८
 म० द्वा० गी० २ गा० १
 प्र० प्र० गी० ११ गा० ४
 प्र० प्र० गी० १४ गा० ३
 द्वि० प्र० गी० २५ गा० ४
 प्र० प्र० गी० १६ गा० २
 च० प्र० गी० १८ गा० ७
 च० प्र० गी० १५ गा० ४
 च० प्र० गी० २० गा० ६
 च० प्र० गी० २१ गा० ४
 तृ० प्र० गी० १७ गा० २
 च० प्र० गी० १२ गा० २६
 च० प्र० गी० १२ गा० १
 प्र० प्र० गी० २ गा० १
 च० प्र० गी० १० गा० १४
 म० द्वा० गा० १६ गा० ६
 च० प्र० गी० १४ गा० ६
 द्वि० प्र० गी० २५ गा० ३
 द्वि० प्र० गी० २४ गा० ५
 द्वि० प्र० गी० २२ गा० १

छाटी-छोटी बात में	द्वि० प्र० गी० २३ गा० १
छोटो ही हूँ शत्रु खोटो	तृ० प्र० गी० ३५ गा० ५
छोड़ दे अब निद्रा आलस्य	प्र० प्र० गी० ६ गा० ५
छोड़ प्रकाश रह्यो चाबै रजनी अन्धारे रे	प्र० प्र० गी० १३ गा० २
छोड़ राज, पुर, परिजन, न्याती	च० प्र० गी० २० गा० २
छोड़ो काम-भोग अति आशा	द्वि० प्र० गी० ६ गा० ५
जगम स्यावर सब सुख प्यासा	तृ० प्र० गी० २६ गा० १
जकै काम में हाथ पसारयो	द्वि० प्र० गी० ११ गा० ५
जगी जिज्ञासा जो सिद्धान्त	तृ० प्र० गी० ३२ गा० ५
जठं क्रोध है, अहंकार की	द्वि० प्र० गी० ८ गा० ६
जननी पोख्या सुत पोखी जै	च० प्र० गी० १ गा० ८
जनम-जनम री अविकल अविचल सफल	म० द्वा० गी० १४ गा० २
करी शुभ साधना	
जन्म-जन्म री सचित करणी	प्र० प्र० गी० २ गा० ५
जन्मोच्छ्व री गग रलिया में	तृ० प्र० गी० ४ गा० १
जबर जलोदर जूका सेनी	च० प्र० गी० १४ गा० २
जब मान मिटायो	द्वि० प्र० गी० १२ गा० ५
जमी बिना जोखिम री शय्या	म० द्वा० गी० २० गा० ४
जय-जय निष्कारण करुणाकर	म० द्वा० गी० १० गा० ५
जयगा स्यू भोजन करता	च० प्र० गी० ६ गा० ३
जर, जोर री जटिल समस्या	म० द्वा० गी० १६ गा० २
जल बिच जनम मरै पुनि जल में	तृ० प्र० गी० १७ गा० १
जल में न्हाया, साग रचाया	प्र० प्र० गी० १२ गा० ६
ज्वलज्ज्वाल माला कुला	च० प्र० गी० १२ गा० १६
जाण देव, गुरु, धरम मरम	च० प्र० गी० १३ गा० ४
जाण बर्यो अणजाण करै है	तृ० प्र० गी० ३८ गा० ४
'जाण-बूझकर' जिनरक्षित ज्यू	तृ० प्र० गी० ११ गा० ७
जाणबूझतो झूठी	प्र० प्र० गी० २२ गा० ४
जात की न जाच, जाच इशानी शान की	म० द्वा० गी० १८ गा० ३
जाबक कम दुनिया में जीणो	द्वि० प्र० गी० १८ गा० ५
ज्ञान, ध्यान में जो तल्लीन	तृ० प्र० गी० ३६ गा० ६
ज्यारी कब ही न वय पलटाई	च० प्र० गी० १ गा० २
ज्यारी बाणी जन कल्याणी	म० द्वा० गी० १ गा० ४
जिए घट रो भो नही अग्निवासी	तृ० प्र० गी० ३३ गा० ४

जिण नै तू अपणो कर मानै
 जिणरै जीवित एक ही माता
 जिनमत मे मन्न अनादि
 जिनवर भाषित, गुरु अनुशामित
 जिनेश्वर धर्म सृष्टि करता
 जिम कृमि रागे रजित कम्बल
 जिम बाट बटाऊ रे
 जिवडा होकर रही मचेत
 जिहा जन्मोत्सव नृत्य गीत
 जीणो कितोक, दभ दल-दल मे ना फसो
 जीणो है सगला नै बाहलो
 जीव अनन्ता इण बन्धै मे
 जीवन की क्षण-भगुरता
 जीवन निर्वाह मात्र भिक्षा लै
 जीवन सयममय बणजावै
 जीवन सिंहालोक लहासी
 जीवित मरद बणै केई मुरदा
 ज्यू-ज्यू मूरख करणो चावै
 ज्यू थारो दुख थाने दोरो
 ज्यू भावितात्म मुनि
 ज्यू भाखी भोजन मे भावै
 जैन-धर्म भिक्षवगण एकी देखी
 जैन-मुनि रो आज पछै है
 जो आक्षेप व्यक्तिगत बाजै
 'जो एग जाणई सो सब्ब'
 'जो करसी बोही भरसी'
 जो काल-वर्तना हेतु
 जो कोई चावै तो तू उगानै
 जोगी, जती, सन्त, सन्यासी
 जो गुणीजन रा गुण
 जो जन्मोत्सव गीत गुवाया
 जो जीवन रो उन्नति चावो
 जो तू होणो चावै न्याल
 जो दान, शील, तप

तृ० प्र० गी० १४ गा० ८
 च० प्र० गी० १ गा० १
 म० द्वा० गी० १ गा० ५
 तृ० प्र० गी० ११ गा० ८
 म० द्वा० गी० ११ गा० १
 च० प्र० गी० १२ गा० १५
 प्र० प्र० गी० १४ गा० ४
 तृ० प्र० गी० ७ गा० ३
 तृ० प्र० गी० ३१ गा० ८
 द्वि० प्र० गी० १४ गा० ५
 द्वि० प्र० गी० २ गा० २
 द्वि० प्र० गी० ३० गा० २
 तृ० प्र० गी० ३ गा० ४
 च० प्र० गी० २२ गा० ४
 तृ० प्र० गी० २१ गा० ५
 च० प्र० गी० १७ गा० ५
 च० प्र० गी० १६ गा० ६
 द्वि० प्र० गी० २४ गा० ३
 द्वि० प्र० गी० २ गा० ३
 तृ० प्र० गी० १ गा० १७
 द्वि० प्र० गी० ५ गा० ५
 च० प्र० गी० १८ गा० ५
 च० प्र० गी० १३ गा० २
 द्वि० प्र० गी० २६ गा० ६
 तृ० प्र० गी० १३ गा० ५
 तृ० प्र० गी० ४१ गा० ५
 तृ० प्र० गी० ३० गा० २
 तृ० प्र० गी० ४० गा० २
 द्वि० प्र० गी० १८ गा० ४
 तृ० प्र० गी० १ गा० १८
 तृ० प्र० गी० ६ गा० ५
 प्र० प्र० गी० ७ गा० ५
 तृ० प्र० गी० ७ गा० २
 तृ० प्र० गी० १ गा० २

जो दान, शील, तप
 जो नास्तिक नृप पश्चेशी
 जो पक्षी गीष कहावै
 जो परहित न हुवै यारं स्यु
 जो पूर्ण परम समयधारी
 जो बबल बूल बीरोसी
 जोबन जोश-होश सब हरसी
 जोबन धन रो जोश भुलावै
 जो बात करो करमा की
 जो महिष महाबल बाजै
 जो मानव अति मायावी
 जो मानव जिसी करै करणी
 जो रे और तप न हुवै
 जो रे धारवा जोग वस्त्र
 जो शुभ-योग पुण्य को हेतु
 जो सत्य, अहिंसाधारी
 जो सुख-दुख अत्यन्त मे रे
 जो सुत मा री आज्ञा पालै
 ज्योतिर्मय निज रूप न अबलो
 ज्योतिर्मय सच्चिदानन्द पद
 भगडै री जड आ है बोली
 भूठ बातरो पातक मोटो
 भूठा है सब जग का भ्रष्ट
 डगर-डगर मे मगर भयकर
 डफ-सगत स्यु भलो आदमी
 डाली ऊपर फल जल खीचै
 डोल रही आस्था दुनिया री
 डू ढया भी जग मे मिलै नही
 डोर हुयो तू परवशता मे
 तज अधीनता आस्रव की
 तज अभिमान, मान बच मानव
 तज जजाल हाल ही कर तू
 तत्त्वतत्त्व विवेक न आवै
 तदपि मोहान्ध करम कर नीच

तृ० प्र० गी० १ गा० ३
 प्र० प्र० गी० २७ गा० ६
 प्र० प्र० गी० २७ गा० ७
 द्वि० प्र० गी० २५ गा० ७
 च० प्र० गी० २२ गा० ३
 तृ० प्र० गी० ८० गा० ५
 तृ० प्र० गी० ५ गा० २
 द्वि० प्र० गी० ६ गा० २
 प्र० प्र० गी० ५ गा० ४
 प्र० प्र० गी० ५ गा० ५
 द्वि० प्र० गी० २६ गा० ५
 प्र० प्र० गी० ७ गा० ३
 द्वि० प्र० गी० १० गा० ८
 च० प्र० गी० ६ गा० ८
 तृ० प्र० गी० १८ गा० ८
 प्र० प्र० गी० २७ गा० २
 प्र० प्र० गी० ४ गा० १०
 च० प्र० गी० १ गा० ६
 तृ० प्र० गी० १८ गा० २
 म० द्वा० गी० ३ गा० ५
 च० प्र० गी० ८ गा० ५
 द्वि० प्र० गी० ४ गा० १
 प्र० प्र० गी० २१ गा० ३
 म० द्वा० गी० ४ गा० ३
 च० प्र० गी० १६ गा० २
 म० द्वा० गी० १६ गा० ३
 तृ० प्र० गी० ३८ गा० २
 तृ० प्र० गी० ३३ गा० २
 प्र० प्र० गी० २ गा० २
 तृ० प्र० गी० २२ गा० १
 द्वि० प्र० गी० ११ गा० ८
 प्र० प्र० गी० २ गा० ६
 द्वि० प्र० गी० ३० गा० ३
 प्र० प्र० गी० ६ गा० ४

तन की तुष्णा तनिक कहावै
तन्मयता, दृढता
तपस्या तीव्र-तीव्र करके
तपस्या मे पिरा कर माया
तपो तपस्या तीव्र-तीव्र
तरुण तूफान अरुण हो अन्धड
तव स्मृति सुखद शिव हेतू
ताकै नर इत-उत फिरतो तुरत तमाखू
तारण-तरण शरण अशरण रा अनुपमेय

अज्ञेय हो
तिरा मे पिरा सुख रहै न पूरो
तीजी समिति स्यू भी बढकर
तीन तत्त्व अरु पाच पदा मे
तीन तत्त्व है रत्न अमोलक
तीन पथ है सन्त जनोदित
तीन्यू मारत सिखाई नीति
तीर्थंकर कहिवावै करकै
तीव्र तपस्या जो की तेरापथ पति
'तुलसी' आध्यात्मिक जो है
'तुलसी' कामधेनु सम पाइ
'तुलसी' गरुपति कालूगढ मे
'तुलसी' 'जम्बू' बण्यो विरागी
'तुलसी' नर-भव सकल बणावो
तू अमर शान्ति रो दिव्य द्वार
तू आयो है एकलो
तू भटक्यो लखचौरासी मे
तू सगी सब सम्पत सगी
तू सबके सुख-दुख मे साथी
तेतीशासतन टालीजै
तेबीस विषय पचेन्द्रिय ना
तैल बिना जिम दीपक सूनो
त्याग और तपस्या ही सन्ता री साधना
स्याग, तपस्या लोक वचन मे
स्याग नाग नही, सिंह बाघ नही

द्वि० प्र० गी० १८ गा० २
तृ० प्र० गी० १ गा० ५
म० द्वा० गी० ११ गा० २
द्वि० प्र० गी० २६ गा० ६
प्र० प्र० गी० २० गा० ३
प्र० प्र० गी० २६ गा० २
तृ० प्र० गी० २७ गा० ४
प्र० प्र० गी० ११ गा० ३

म० द्वा० गी० १४ गा० ४
द्वि० प्र० गी० १ गा० ३
च० प्र० गी० ६ गा० १
म० द्वा० गी० ८ गा० २
तृ० प्र० गी० २० गा० २
प्र० प्र० गी० ३० गा० २
च० प्र० गी० ५ गा० १
म० द्वा० गी० १० गा० २
द्वि० प्र० गी० १० गा० ८
तृ० प्र० गी० ३० गा० ५
प्र० प्र० गी० ३० गा० ८
च० प्र० गी० १४ गा० १५
द्वि० प्र० गी० २० गा० ४
द्वि० प्र० गी० ३० गा० ४
तृ० प्र० गी० २६ गा० १
तृ० प्र० गी० १२ गा० १
प्र० प्र० गी० ८ गा० १
तृ० प्र० गी० २७ गा० २
तृ० प्र० गी० २७ गा० ३
च० प्र० गी० १० गा० १३
च० प्र० गी० १० गा० ४
तृ० प्र० गी० २७ गा० १
म० द्वा० गी० १७ गा० ७
तृ० प्र० गी० २५ गा० १
च० प्र० गी० ११ गा० ७

त्याग-भोग रा सरल सुणाया
 त्याग भोग रो अल्ला-अलग मग
 त्राहि-त्राहि करता कइ बारा
 थानै पलक-पलक मै ध्याऊ
 थारै बिन घोर अन्धारो
 थारो म्हारो कर-कर मारो
 थारै रे कारणु ओ म्हारो
 थावर-हिंसा जो नही छूटै
 थोडे जीणै रे खातिर
 थोडे जीणै रे खातिर
 थोडो भी जो अविनय करसी
 दया-पात्र कुशमण नै समझी
 दयित बिहूणी नार नैण क्यू काजल सारै रे
 दरखत की छाह और चन्दा की चादणी
 दर्शन, ज्ञान, चरण, तप निज गुण
 दशकधर री दिव्य विभूति
 दशवैकालिक, उत्तराध्ययन मे
 दशवै गुणठाणै स्यू मुनिवर
 दानव, मानव, देवता
 दान शील तप भाव नाव मे
 दान, शील, शुभ भाव, तपस्या
 दाव-पेच पग-पग पर चालै
 दिनकर नै देखो रे
 दिनूगै रवि ऊगै आथण
 दिल गूहडी सूडी लग ऊडी
 दु खित अरु दीन दुभागी
 दुनिया की दुविधा मे क्यू अपनो हित हारै रे
 दुनिया रगभवन सी लागी
 दुनिया रा सब देव प्रभु
 दुनिया सारी लाय-लपट मे
 दुर्जन जन आदत वश
 दूजो श्रावक रा बारह व्रत
 दूढ प्रहारी सरिखा भारी
 दृष्टिवादधर मुनिवर भारी

तृ० प्र० गी० २६ गा० ५
 तृ० प्र० गी० २८ गा० ६
 तृ० प्र० गी० १४ गा० २
 म० द्वा० गी० १५ गा० ६
 म० द्वा० गी० १५ गा० ८
 प्र० प्र० गी० २२ गा० १
 प्र० प्र० गी० १७ गा० १
 द्वि० प्र० गी० २ गा० ६
 द्वि० प्र० गी० १७ गा० ६
 द्वि० प्र० गी० २८ गा० ५
 च० प्र० गी० १ गा० ५
 तृ० प्र० गी० ३४ गा० ४
 प्र० प्र० गी० १३ गा० ४
 म० द्वा० गी० १८ गा० १
 तृ० प्र० गी० १५ गा० ५
 द्वि० प्र० गी० ११ गा० ७
 च० प्र० गी० ३ गा० ८
 द्वि० प्र० गी० २१ गा० ६
 च० प्र० गी० १२ गा० ५
 प्र० प्र० गी० १ गा० ५
 प्र० प्र० गी० ३० गा० ७
 द्वि० प्र० गी० १५ गा० २
 प्र० प्र० गी० १४ गा० ५
 तृ० प्र० गी० २ गा० २
 च० प्र० गी० १८ गा० २
 प्र० प्र० गी० १० गा० ३
 प्र० प्र० गी० १३ गा० ६
 तृ० प्र० गी० ६ गा० ६
 म० द्वा० गी० १३ गा० ३
 द्वि० प्र० गी० १६ गा० ३
 द्वि० प्र० गी० १० गा० ४
 प्र० प्र० गी० ३० गा० ४
 तृ० प्र० गी० २५ गा० ४
 च० प्र० गी० १ गा० ७

देह-देह तीन प्रदक्षिणा
 देह-देह इण देह नै
 देखी जो दयनीय दशा
 देखी दुनिया री गति इसी
 देग वाला री कमी नही
 देव देव अरिहस्त बिराजै
 देश, वेश, वय, वरां, जातिया
 द्वेष-दाव, हिम पात राग है
 द्वेष भाव स्यू पतन आपरो
 द्वेष, राग दो बीज करम रा
 द्वेष राग रो करो निवेडो
 द्वेष रस समझै सहु
 द्वेष समझ मे भट आज्यावै
 दो आगल कपडै रे खातिर
 दो दो घोडा पर असवारी
 दोय सहस्र जेठ बदि द्वितीया
 दोय हजार एक की सबत्
 दोय हजार दोय वत्सर मे
 दोरो हटावणो है मनस्यू विकार ने
 धन इन्धन स्यू बढती जावै
 धन दौलत अरु सम्पति सबको
 धन-परिजन स्यू जो रे उबरता
 धन स्यू नही कोइ मानव घापै
 धन्य जघन्य समय शिव सम्भव
 धन्य घरा पर सन्त अहिंसक
 धरी रही सागर की पूजी
 धर्म ठिकारो मे तो पूरी
 धर्म सच रा धारण हार
 धर्म-सृष्टि का करता प्रभुवर
 धर्माचारज घृतिधारी
 धर्माधर्माकाश 'र पुद्गल
 धान छोड धूली भख सरे
 धार अहिंसा अयुधत जागृत
 धारो चरबा, बोल थोकडा

म० द्वा० गी० ६ गा० ३
 च० प्र० गी० १५ गा० ८
 प्र० प्र० गी० १७ गा० ७
 तृ० प्र० गी० १० गा० ५
 च० प्र० गी० २२ गा० २
 तृ० प्र० गी० ८ गा० १
 तृ० प्र० गी० १३ गा० १
 द्वि० प्र० गी० २१ गा० ३
 द्वि० प्र० गी० २२ गा० ३
 द्वि० प्र० गी० २१ गा० १
 द्वि० प्र० गी० २१ गा० ८
 म० द्वा० गी० १२ गा० ३
 द्वि० प्र० गी० २१ गा० २
 च० प्र० गी० ४ गा० ६
 प्र० प्र० गी० १२ गा० १
 तृ० प्र० गी० २८ गा० ७
 च० प्र० गी० ४ गा० ६
 च० प्र० गी० ५ गा० ६
 च० प्र० गी० ७ गा० ६
 द्वि० प्र० गी० १६ गा० १
 प्र० प्र० गी० ८ गा० २
 तृ० प्र० गी० ६ गा० ४
 द्वि० प्र० गी० १८ गा० १
 च० प्र० गी० ११ गा० ६
 द्वि० प्र० गी० २ गा० ५
 द्वि० प्र० गी० १६ गा० ५
 प्र० प्र० गी० २० गा० ४
 तृ० प्र० गी० ३६ गा० ५
 म० द्वा० गी० १३ गा० २
 म० द्वा० गी० ७ गा० ३
 तृ० प्र० गी० १३ गा० ४
 प्र० प्र० गी० २८ गा० ८
 द्वि० प्र० गी० २ गा० ७
 च० प्र० गी० १३ गा० ५

धार्मिक अधार्मिक हो फिर भी गुरु भेंट ल्यो	म० द्वा० गी० १८ गा० १
धुर अनशन ग्रह ऊनोदरता	तृ० प्र० गी० २४ गा० १
नग्न-नृत्य कब ही नरका रो	तृ० प्र० गी० १५ गा० ८
नरका मे जो रे । निवामी	प्र० प्र० गी० ५ गा० ८
नर-जीवन बोली चादर है	प्र० प्र० गी० ७ गा० ४
नर भव पा सयम मावै	प्र० प्र० गी० ५ गा० ६
नवकरवाली आत्म-चिन्तना	प्र० प्र० गी० १३ गा० ८
नव-नव वेश डेस स्यू सज्जित	तृ० प्र० गी० १६ गा० ५
नव बाढ ब्रह्मव्रत नी भाखी	च० प्र० गी० १० गा० ३
नहि धन तो दु ख, बहु धन तो दु ख	तृ० प्र० गी० ११ गा० १
नहि मणि माणक भोज्य कहावै	द्वि० प्र० गी० १६ गा० ६
नहि मुख दु ख रो दूजो कर्ता	तृ० प्र० गी० २३ गा० ८
नहि हित को उपदेश सुगै	तृ० प्र० गी० ११ गा० ४
नही तत, ताल, कसाल बजाऊ	म० द्वा० गी० २ गा० ३
नही नीपजै आत्म-असयम	च० प्र० गी० ६ गा० ६
नही परमेसर नै भजै रे	प्र० प्र० गी० ४ गा० २
नही फल, कुसुम की भेंट चढाऊ	म० द्वा० गी० २ गा० २
नही भोगी भामणिया का	म० द्वा० गी० १३ गा० ५
नागकुमारा बिच वरखेन्द्र	च० प्र० गी० १२ गा० १३
ना पुट्ठो वागरे किचि	च० प्र० गी० ३ गा० ६
नाभिराज मरुदेवा नन्दन	च० प्र० गी० २० गा० १
नारद न्याय निवेड्यो निर्मल	प्र० प्र० गी० १२ गा० ६
निकट अलोक प्रदेश अनन्ता	म० द्वा० गी० ३ गा० ३
निज अवगुण नै हेय भाव स्यू	प्र० प्र० गी० १६ गा० १
निज अवगुण पर क्षण-क्षण भाकी	तृ० प्र० गी० २६ गा० ६
निज अवगुण क्षण-क्षण सभारो	च० प्र० गी० १० गा० १७
निज कृत कर्म शुभाशुभ भोगै	तृ० प्र० गी० ३६ गा० ५
निज जीवन-वन गुरु अनुशासन	म० द्वा० गी० ६ गा० ३
निज जीवन निज नै प्यारो	प्र० प्र० गी० १० गा० २
निज जीवन-निर्माण दिशा मे पलक पसारै रे	प्र० प्र० गी० १३ गा० ५
निज तनु बल नै तोल नै	च० प्र० गी० १५ गा० १०
निज मन पर रोब जमावै	प्र० प्र० गी० २७ गा० ३
निज विनम्र व्यवहार उदार विलोक	द्वि० प्र० गी० १३ गा० ३
निज स्यू असघात पिछाणी	द्वि० प्र० गी० ३ गा० ४

निन्दा और प्रशंसा में सम,
 निन्दा-चुगली करणी छोड़ो
 निन्दा पर-परिवाद कहीं
 निन्दाएव पोष महीना में
 निर्धन, धनवान, पुण्यहीन, पुण्यवान हो
 निर्धन रो धन, निर्बल रो बल
 निरय, तिरय-गति निगम निरोधो
 निर्विधारत जरायु वय गुत्ते
 निशि-भोजन न करो पाच तिथि
 निशि-भोजन रो पातक मोटो
 निश्चित निज कर्तव्य पथ पर
 नि स्वार्थ निज वस्तु देवै
 नि स्वार्थ पर-उपकारी
 नि स्वार्थ पर उपकारी
 नीठ नीठ मानव-भव पायो
 नीठ लह्यो मानव-भव प्राणी
 नीति-शास्त्र विशेषज्ञा
 नु ईं डिजायन नु ईं फैशना
 नुक्ताचीणी ओरा री तो
 नेह निवारो देह रो
 पच महाव्रत करण जोग जुत
 पच महाव्रत पचाचार निपुणता
 पच महाव्रत पंच कठिनतम
 पच महाव्रत, बारह व्रत की
 पचाश्रव रत पचेन्द्रिय नै
 पचेन्द्रिय प्राणी की यद्यपि
 पचेन्द्रिय वश में सदा ह्वै
 पक्षपात में चक्षुपात कर
 पग-पग पर थारे लुंटाक
 पडिलेहण पडिक्कमणो करता
 पडिलेही, पूजी ग्रहो मूको
 पड्यो बैल मारग में सिसकै
 पण अनुगासन है जोशीलो
 पणवीस भावना पाचानी

म० द्वा० गी० २० गा० ६
 द्वि० प्र० गी० २५ ग० ७
 द्वि० प्र० गी० २६ गा० १
 च० प्र० गी० १० गा० २१
 म० द्वा० गी० १८ गा० २
 प्र० प्र० गी० २१ गा० ४
 च० प्र० गी० ११ गा० ५
 च० प्र० गी० ८ गा० ८
 द्वि० प्र० गी० २७ गा० ४
 च० प्र० गी० १४ गा० १
 तृ० प्र० गी० २० गा० ६
 च० प्र० गी० २२ गा० ६
 म० द्वा० गी० १ गा० ३
 म० द्वा० गी० १५ गा० ४
 प्र० प्र० गी० ३० गा० १
 तृ० प्र० गी० २६ गा० ६
 तृ० प्र० गी० ४० गा० ७
 प्र० प्र० गी० २० गा० ७
 प्र० प्र० गी० १८ गा० १
 च० प्र० गी० १५ गा० १
 म० द्वा० गी० ६ गा० २
 म० द्वा० गी० ५ गा० ३
 प्र० प्र० गी० ३० गा० ३
 प्र० प्र० गी० ३ गा० १
 तृ० प्र० गी० १८ गा० ७
 द्वि० प्र० गी० ८ गा० २
 च० प्र० गी० १२ गा० ३
 प्र० प्र० गी० २६ गा० ६
 तृ० प्र० गी० ७ गा० ४
 च० प्र० गी० १० गा० ११
 च० प्र० गी० ५ गा० ३
 तृ० प्र० गी० ३६ गा० १
 च० प्र० गी० १ गा० ४
 च० प्र० गी० १० गा० २

यनली पगडण्ड्या में बहणो
 पतित त्रस्त जीवन मथस्यू सरे
 पत्थर की मार, फिर भी फल में मिठास है
 पत्रकार बो घन रो पाजी
 पथ्यापथ्य, उचित, अनुचित रो
 पर-श्रवगुण श्रवगुण निज-गुण गुण
 पर-अहित करण जो ध्यावै
 पर उपकार परायण पल-पल
 परगुण देख रहे मन जलतो
 पर दया नाम व्यवहारे
 परदेशी नृप पतित शिरोमणि
 परधन-लिप्सा, निन्दा-खिसा
 परबचन जो पटुता ठाने
 परम पूज्य परमात्म प्रभु रो
 परम प्रभात समय हो सम्मुख
 परमाधार्मिक देवता जी
 परमारथ पथ नहीं नर-भव बिन
 परमेष्ठी पचक में ज्यारो
 परिजन-प्रेम घनाघन चंचल
 परिमित कर भव-भ्रमण
 परिमित वस्त्र-पात्र रहो धारी
 परिषद् थी मन मति कपावो
 पल-पल छिन छिन घड़ी-घड़ी निश-दिन
 पल-भर सगति सन्ता की
 पल रो पतो पडै नहीं कीरो
 पल्योपम तो पल सम जावै
 पनुवा री करुण कहानी
 पहली मा तो समय सुत नै
 पहिलै क्षण आण दुहाई
 पहिलै दिन सुर-सुख की आभा
 पहिलो ओ कर्तव्य भव्य जन
 प्रकट पाप है पर धन हरणो
 प्रगटी पूरबली पुण्याई
 प्रतिनिधि आप प्रथम पद का हो

प्र० प्र० गी० २५ गा० ३
 प्र० प्र० गी० २८ गा० ५
 म० द्वा० गी० १८ गा० ७
 द्वि० प्र० गी० २६ गा० ८
 च० प्र० गी० ८ गा० २
 प्र० प्र० गी० १६ गा० २
 द्वि० प्र० गी० २६ गा० ४
 म० द्वा० गी० ६ गा० ४
 द्वि० प्र० गी० २४ गा० २
 प्र० प्र० गी० १० गा० ८
 तृ० प्र० गी० ३६ गा० ३
 तृ० प्र० गी० २६ गा० २
 द्वि० प्र० गी० १५ गा० ३
 प्र० प्र० गी० २१ गा० १
 म० द्वा० गी० ५ गा० ५
 प्र० प्र० गी० ४ गा० ७
 प्र० प्र० गी० ३ गा० १०
 म० द्वा० गी० ५ गा० १
 तृ० प्र० गी० १४ गा० ५
 तृ० प्र० गी० २२ गा० ३
 च० प्र० गी० ५ गा० २
 च० प्र० गी० १० गा० २०
 म० द्वा० गी० ८ गा० १
 प्र० प्र० गी० २७ गा० १
 तृ० प्र० गी० २ गा० ७
 प्र० प्र० गी० ३ गा० ८
 द्वि० प्र० गी० ३ गा० ५
 च० प्र० गी० ४ गा० १
 तृ० प्र० गी० ३ गा० २
 तृ० प्र० गी० १० गा० ४
 प्र० प्र० गी० १८ गा० ५
 द्वि० प्र० गी० ५ गा० १
 प्र० प्र० गी० २४ गा० १
 म० द्वा० गी० ४ गा० ५

प्रतिपक्ष अहिंसा होवै
 प्रतिपल बलि पूजन करन
 प्रथम व्यसन जुओ कह्योसरे
 प्रथम सहनन अरु मस्थान
 प्रबल पुण्य रो पोरसो
 प्रमुख मुकुट जिम मब भूषण मे
 पाईकी नही आय खरच घर क्षमता बारै रे
 पाच प्रकार भार स्यू यदि
 पाच महाव्रत द्वादश व्रत
 पाच महाव्रत सुदृढ शाखा
 पाचू इन्द्रया मन नै कील
 पा केवल निर्वाण प्रथम
 पाणी रो लोटो परा हाथा स्यू
 पाप प्रथा नै त्याग प्रबुद्ध-जन
 पाप-पुण्य दो परभव
 पापधि कह्यो कितनी सचै
 पापी मोर पपीहा बोलै
 पामर पोमावै
 पालै समय निरअतिचार
 पावै जन-जन अभिनव विकार
 पावै दुमु ही खल की ख्यानि
 प्राणाधार हृदय अधिराजा
 प्राणान्ते पिरा रात्रि न जीमै
 पाणी ढोलै, रग झकोलै
 प्रात उठ मन मैल मिटाकर
 प्रात साय करो प्रार्थना
 प्रात समय उठ परमात्म को
 प्राप्त जन्म प्रत्येक योनि मे
 प्राप्त हुसी श्रवणादि बोल दश
 ग्रामश्चित्त — पाप मद्योधन
 प्रासुक्त, एषणीग परिभोजी
 पीठदिखावै इण तरह
 पीडै जो घर प्राण नै
 पीत रोग तो रोगी देख

द्वि० प्र० गी० ३ गा० ३
 म० द्वा० गी० ६ गा० २
 प्र० प्र० गी० २८ गा० २
 च० प्र० गी० १२ गा० १४
 च० प्र० गी० १५ गा० ६
 च० प्र० गी० १२ गा० ८
 प्र० प्र० गी० १३ गा० ३
 तृ० प्र० गी० २२ गा० २
 प्र० प्र० गी० ६ गा० ७
 तृ० प्र० गी० २८ गा० २
 तृ० प्र० गी० ३६ गा० ३
 च० प्र० गी० २१ गा० ७
 तृ० प्र० गी० २ गा० ४
 च० प्र० गी० १६ गा० ११
 प्र० प्र० गी० २२ गा० ५
 द्वि० प्र० गी० २ गा० ४
 प्र० प्र० गी० २६ गा० ३
 द्वि० प्र० गी० १२ गा० १
 तृ० प्र० गी० ३६ गा० १
 तृ० प्र० गी० २६ गा० ३
 द्वि० प्र० गी० २५ गा० ६
 तृ० प्र० गी० २७ गा० ५
 च० प्र० गी० १४ गा० ५
 च० प्र० गी० १६ गा० ४
 प्र० प्र० गी० २१ गा० ५
 च० प्र० गी० १३ गा० ७
 प्र० प्र० गी० ६ गा० ३
 तृ० प्र० गी० ३१ गा० ५
 तृ० प्र० गी० ३८ गा० ७
 तृ० प्र० गी० २४ गा० ३
 च० प्र० गी० ४ गा० ५
 च० प्र० गी० १२ गा० २५
 प्र० प्र० गी० ४ गा० १
 प्र० प्र० गी० १८ गा० ३

पुण्य पाप रा फल है परगट
 पुण्य बध तिण तपरै लारै
 पुण्योदय स्यू राजा रावण
 पुत्र-पिता कई चढे अदालत
 पुत्र, पौत्र, परपौत्र, गोत्र
 पुद्गल-वस्तु पिपासा पल पल
 पुर-पुर मध अभाग मिलामी
 पू जण, पडिलेहण, पडिकमगो
 पूरी पाछू मिली इद्रिया
 प्रेम-द्वेष स्यू परै मित्रता
 प्रेम परस्पर दर पीढ़्या रौ
 पैसठ भोमिया ऊच्च महल मे
 पैसे कौ पग-पग आकर्षण अपार हं
 पोढे ना पिलग और ओढे ना रजाई
 पौषध अष्ट प्रहरिया अथवा
 फल पल्लव बिन तर रे
 फूल खिलै जो डाली पर
 वचन रतन मुख कोट कहावै
 वचन मे आ लत पडज्यावै
 चडा-बडा शास्त्रा रा वेत्ता
 बगणो मुषिकल है सन्यासी
 बण निरीह निज अवगुण
 चदन बनावट खुद बतलावै
 बन-बन भूम्यो डोर की नाई
 बन्धन मुक्त महान सन्त की
 बरजो दश बोल हास, कितोल पथ मे
 बरस पुरुष रै अष्ट मास
 बरसी तप महिमा महकावै
 बहु बोलै रे पग-पग पर जोखिम
 बाज व्योम मे, भू पर पारधि
 बात-बात मे कपट कुटिलता
 बात-बात मे झूठ बोलतो
 बारह विध परिषद मे प्रभुवर
 बाल ब्रह्मचारी रह्यो

द्वि० प्र० गी० १ गा० ४
 प्र० प्र० गी० ३ गा० २
 द्वि० प्र० गी० १० गा० ५
 तृ० प्र० गी० ६ गा० ३
 द्वि० प्र० गी० ७ गा० ४
 तृ० प्र० गी० १८ गा० ५
 च० प्र० गी० १७ गा० २
 च० प्र० गी० ५ गा० ७
 प्र० प्र० गी० १ गा० ३
 तृ० प्र० गी० ३५ गा० ४
 द्वि० प्र० गी० ८ गा० ३
 प्र० प्र० गी० ३ गा० ५
 म० द्वा० गी० १७ गा० ५
 म० द्वा० गी० १७ गा० ४
 च० प्र० गी० १६ गा० ५
 प्र० प्र० गी० १४ गा० २
 तृ० प्र० गी० ७ गा० ३
 च० प्र० गी० ८ गा० १
 द्वि० प्र० गी० ५ गा० ६
 द्वि० प्र० गी० १८ गा० ३
 प्र० प्र० गी० २४ गा० ७
 तृ० प्र० गी० ३७ गा० ४
 च० प्र० गी० ८ गा० ३
 तृ० प्र० गी० ६ गा० ३
 प्र० प्र० गी० १२ गा० ८
 च० प्र० गी० ७ गा० ४
 च० प्र० गी० १६ गा० १
 च० प्र० गी० २० गा० ६
 च० प्र० गी० ८ गा० २
 द्वि० प्र० गी० २२ गा० ४
 द्वि० प्र० गी० १६ गा० २
 द्वि० प्र० गी० ४ गा० ४
 म० द्वा० गी० १३ गा० ४
 च० प्र० गी० १२ गा० ४

बाल्यवये जीत मुनि पाली रै बाजार
 बाहिर भीतर एक सरीखो
 बाही दिवाली 'रु बोही दगेरो
 बिद पख चन्द्र कला ज्यू
 बिन आगार सकल मुनि श्रमणी
 बिन ज्ञान तत्व कुरा जाएँ
 बिन मतलब ही प्राणी ठोवै
 बिना पिया मधु प्याली प्राणी
 बिना मोक्ष री अभिलाषा जो
 बिना विचारधा बोलण बालो
 बिन्दु सिन्धु 'तुलसी' बणज्यावै
 बिरलो ही कोइ इण युग मे
 बिल्ली चूहे ऊपर ताकै
 बिहरमाण तुम बीस निरन्तर
 बीज कर्म तर रा कह्या
 बीत्या द्वेष-राग दोन्यू जब
 बुद्धि और विवेक शक्ति है घट मे थारै रे
 वेचै घर को भी गावो, लावै तमाखू
 बेहोसी मे बावलो रे
 बैयालिय एषण दूषणिया
 बै शहरसुरगा नागाशाकी
 बो अपणो सचिन सुख पावै
 बो क्यू सोचै पीड पराई
 बो झूठो जीवारो घाती
 बोधि दुर्लभता को जो सूत्र
 बोधि है तत्वातत्व विवेक
 बोधि है दुर्लभ भर ससार
 बो नेतो खेलै आख-मिचौनी
 बोलण देखण हारी न्यारी
 बोली स्पू हुवै कितना अनरथ
 बो है नीच कुटिल हृद दर्ज
 भगडी कहिवावै पाव बुद्धि बिकलता
 भचभेड्या हाथी मिड्या
 भटक रह्यो मन भवर-भवर मे

च० प्र० गी० २ गा० ६
 द्वि० प्र० गी० १६ गा० ५
 म० द्वा० गी० १७ गा० १
 तृ० प्र० गी० २ गा० १
 च० प्र० गी० १६ गा० ३
 प्र० प्र० गी० ५ गा० ७
 तृ० प्र० गी० ११ गा० २
 प्र० प्र० गी० २६ गा० १
 तृ० प्र० गी० २३ गा० ४
 च० प्र० गी० ३ गा० ५
 म० द्वा० गी० १६ गा० ७
 द्वि० प्र० गी० १ गा० २
 द्वि० प्र० गी० २१ गा० ५
 म० द्वा० गी० ८ गा० ३
 म० द्वा० गी० १२ गा० २
 म० द्वा० गी० १३ गा० १
 प्र० प्र० गी० १३ गा० १
 प्र० प्र० गी० ११ गा० ६
 प्र० प्र० गी० १५ गा० ३
 च० प्र० गी० १० गा० ७
 तृ० प्र० गी० ४ गा० ३
 द्वि० प्र० गी० २४ गा० ४
 द्वि० प्र० गी० ६ गा० २
 द्वि० प्र० गी० २६ गा० २
 तृ० प्र० गी० ३२ गा० ७
 तृ० प्र० गी० ३२ गा० २
 तृ० प्र० गी० ३२ गा० १
 द्वि० प्र० गी० २६ गा० ४
 च० प्र० गी० ८ गा० ४
 च० प्र० गी० ८ गा० ६
 द्वि० प्र० गी० २६ गा० ५
 प्र० प्र० गी० ११ गा० २
 च० प्र० गी० १२ गा० २०
 म० द्वा० गी० ४ गा० ४

भद्रा सुत शालिभद्रजी
 भरत-भरत केइ नर नैरग्या
 भरचा पड्या है इक्षु-रस घट
 भर्यो अनन्त अखूट खजानो
 भव-पीडित प्राणी पर
 भव-भव भारी जोखिम भोगी
 भवसागर है अथग अमित जल
 भविजन अब तो मन समझाओ
 भवितव्य भाव कुरु टालै
 भवि भव-भव अभिनव वेश वरै
 भ्रमत-भ्रमत भव-कानन पायो
 भाई-भाई, मा वेदया मे
 भागा वागा बिच घोट मोटै मिलाडे
 भाग्य भलै बाबाजी आवै
 भाति-भाति रा मूर्त पदारथ
 भावा भावा स्यु
 भावा री महिमा
 भारमल्लजी स्वामी नामी तेरापथ मे
 'भारीमल्ल' 'ऋषिरायजी'
 भाषण शैली अजब नवेली
 भिक्षा लेण देण विधि कोई
 भिक्षा विवि अनभिज्ञ सकल जन
 भिक्षु-रचित बारह व्रत चौपी
 भीषण भव अटवी मे भटकै
 भूला भूतकाल री भूलो
 भूषण तज बहुमोला सामै
 भौतिक प्रलोभन अनेक भान्त-भान्त रा
 मणि मारणक की भेंट चढावै
 मण्डल गिरि मे प्रवर रुचकवर
 मत बोलो अणगमती बाणी
 मद्यपान स्यु मत्ततासरे
 मधुकर मधु सयुत रे
 मधुकर री ज्यू धर-धर फिर-फिर
 मध्यम मार्ग अणुव्रत सफल साधना धारे रे

च० प्र० गी० १५ गा० ५
 द्वि० प्र० गी० २० गा० ३
 च० प्र० गी० २० गा० ८
 प्र० प्र० गी० २३ गा० ३
 तृ० प्र० गी० १ गा० १५
 प्र० प्र० गी० १६ गा० ६
 म० द्वा० गी० ४ गा० १
 तृ० प्र० गी० ६ गा० ७
 तृ० प्र० गी० ४१ गा० ४
 तृ० प्र० गी० १० गा० ३
 तृ० प्र० गी० २८ गा० ४
 द्वि० प्र० गी० ७ गा० ७
 प्र० प्र० गी० ११ गा० १
 च० प्र० गी० २० गा० ५
 तृ० प्र० गी० १३ गा० ३
 तृ० प्र० गी० १ गा० ६
 तृ० प्र० गी० १ गा० ७
 च० प्र० गी० २ गा० ८
 च० प्र० गी० १२ गा० २३
 द्वि० प्र० गी० ११ गा० ६
 च० प्र० गी० २० गा० ३
 च० प्र० गी० २१ गा० २
 च० प्र० गी० ११ गा० १०
 तृ० प्र० गी० १८ गा० १
 च० प्र० गी० १८ गा० ३
 च० प्र० गी० १६ गा० ८
 च० प्र० गी० ७ गा० ७
 च० प्र० गी० २० गा० ४
 च० प्र० गी० १२ गा० ११
 च० प्र० गी० ३ गा० ४
 प्र० प्र० गी० २८ गा० ४
 प्र० प्र० गी० १४ गा० १
 च० प्र० गी० ४ गा० ४
 प्र० प्र० गी० १३ गा० ७

मन की व्यास बुझै नहीं चाहे	द्वि० प्र० गी० २० गा० १
मन 'भावदेव' रो भ्रान्त हुआ	द्वि० प्र० गी० २७ गा० ६
मन मत्ते ऊधे पथ चालै	तृ० प्र० गी० ३८ गा० ६
मन मन्दिर ओ माहरो	म० द्वा० गी० ६ गा० १
मन-मन्दिर मे मदा विराजित	म० द्वा० गी० ८ गा० ५
मन मान्या कर अरथ घरम रा	तृ० प्र० गी० ११ गा० ६
मन मे की और, और बोली मे, चाल मे	द्वि० प्र० गी० १४ गा० २
मन मे समता, तन मे ममता	म० द्वा० गी० २० गा० ५
मन रे पाप री तो शुद्धि हुबै प्राय मन स्यू	च० प्र० गी० ६ गा० ४
मन रो पाप मन ही जाणी बाणी रो	च० प्र० गी० ६ गा० ७
मुण्णिण्या	तृ० प्र० गी० २० गा० ५
मन, वच, काय योग मयम स्यू	द्वि० प्र० गी० ३ गा० २
मन, वचन, काय स्यू जाणी	प्र० प्र० गी० ८ गा० ३
मन मोहन स्त्री, परिजन, त्याती	च० प्र० गी० १२ गा० १६
मन्दर गिरि, गिरि मे वन नन्दन	म० द्वा० गी० ७ गा० ५
महाव्रत घर मुनि बड भागी	द्वि० प्र० गी० ७ गा० १
माईता स्यू मोह न	द्वि० प्र० गी० ६ गा० ३
माईता री मिली कमाई	प्र० प्र० गी० २४ गा० ३
मान्यो एक इस्यो वरदान	द्वि० प्र० गी० १४ गा० ४
मायनै तो माया, ऊपर करणी करै वणी	प्र० प्र० गी० २८ गा० ३
मास आहारी मानवीसरे	प्र० प्र० गी० २६ गा० ५
म्हारा पण सो भार न जग मे	प्र० प्र० गी० २६ गा० ४
म्हारी जाति देश हे ऊचो	प्र० प्र० गी० २६ गा० ३
म्हारो घर है, म्हारो परिकर	च० प्र० गी० १४ गा० ३
माखी भोजन सह चाखी जै	प्र० प्र० गी० २ गा० ३
माटी, जल जलचर, थलचारी	द्वि० प्र० गी० २३ गा० ३
मात, तात, गुरु, आत रो	प्र० प्र० गी० १६ गा० ५
मानव जन्म अमूल्य अक्षुप्त	तृ० प्र० गी० १४ गा० ८
मान-जलाशय ज्यू मृग जुगली	द्वि० प्र० गी० १६ गा० ३
मान महातम मायावी रो	प्र० प्र० गी० ११ गा० ८
मानव तन को ओ मोको मिलियो अनोखो	द्वि० प्र० गी० २२ गा० ५
मानवता रो महातम आको	प्र० प्र० गी० १४ गा० ७
मानव भव मेलो रे	प्र० प्र० गी० १० गा० ५
मानव भव लाभ उठावो	

मानव हो रजनी में रजे
 माया अथ आग बुझाई
 माया अथ घटा ज्यु छाई
 माया कटु कलुष की क्यारी
 मायावी आखिर मे पावै आराम ना
 माल बाट लेवै मिल न्यानी
 मिटी विषमता जीव-मात्र पर समता री

धारा बही
 मिनख हस्यो कोई बिरलो जग मे
 मिल्या अब सतगुरु तरणी नाब
 'मिल्यो इक दिवस राज सो मेल'
 मिल्यो मानव-भव मुबै मोल
 मिल्यो सब जोग, न सतगुरु जोग
 मिश्र, मृषा भाषा है मावज
 मुह आगे मधु, विष पीछे स्यू
 मुक्कै को प्रत्युनर मुक्को
 मुगति रा मारग
 मुक्ति-महल री पंचम पेडी
 मुनि पंच महाव्रत आदरिया
 मूल अशुद्ध म' शुद्ध हुवै
 मूल मलिन ओ तन है थारो
 मूल सकल सघर्ष रो
 मल्याकन इण रो कोण करे
 मृग-तृप्णा मे मृग ज्यु भटकै
 मृगतृप्णा मे मृग बन घावै
 मृगया मे मृग ज्यु रुलै सरे
 मृषावाद चोरी को माई
 मेह अन्धारी रात स्यू
 मै जाण्यो म्हारै मन्दिर मे
 मैं हू मतिशाली
 मैं मतुष्य, म्हारो कुल ऊचो
 मोक्ष-साधना रो सुख साधन
 मोटी चोरी नै तो छोडी
 'मोक्षेण मुखि' आगम गावै

च० प्र० गी० १८ गा० ८
 द्वि० प्र० गी० २६ गा० २
 द्वि० प्र० गी० २६ गा० १
 द्वि० प्र० गी० २६ गा० ३
 द्वि० प्र० गी० १४ गा० १
 द्वि० प्र० गी० ५ गा० ८

म० द्वा० गी० १४ गा० ३
 प्र० प्र० गी० १६ गा० ४
 प्र० प्र० गी० ६ गा० ३
 तृ० प्र० गी० ३२ गा० ६
 प्र० प्र० गी० ६ गा० १
 प्र० प्र० गी० ६ गा० २
 च० प्र० गी० ३ गा० २
 द्वि० प्र० गी० २५ गा० २
 द्वि० प्र० गी० ६ गा० ३
 तृ० प्र० गी० १ गा० १
 च० प्र० गी० ११ गा० ४
 च० प्र० गी० १० गा० १
 तृ० प्र० गी० १६ गा० ८
 तृ० प्र० गी० १७ गा० ४
 तृ० प्र० गी० १२ गा० ५
 तृ० प्र० गी० ३३ गा० ३
 तृ० प्र० गी० ३८ गा० ३
 तृ० प्र० गी० १५ गा० ८
 प्र० प्र० गी० २८ गा० ६
 द्वि० प्र० गी० ५ गा० ३
 प्र० प्र० गी० ८ गा० ६
 तृ० प्र० गी० १६ गा० ३
 द्वि० प्र० गी० १२ गा० २
 द्वि० प्र० गी० ११ गा० २
 प्र० प्र० गी० १ गा० १
 द्वि० प्र० गी० ५ गा० ७
 च० प्र० गी० ८ गा० ६

मोह महिष नै प्रथम पछाडै
 मोह, माया मे मुरभ्या प्राणी
 म्लान स्थान चचलता निरखी
 यद्यपि वन मचै गृहवासी
 यद्यपि मुञ्जिकल बगगगो
 रखज वीरज मचमुच गान्ति
 रजकग ने करो सुमेरु
 रमभम रमभम नृत्य रचाती
 रम्यो रहै समता मे तुलसी
 रयगाधिक मुनि तो विनय करो
 रस को लोभी चसकै
 रहगो अपरै आप मे भाई
 रहता शान्ति स्यू सेठ
 राक्षस-भोजन कह्यो रे रात रो
 राच पाप मे आप आतमा
 राजीमति सती महासती
 राजुल बच यम्यो रहनेमि
 रात-रात मात थारी बात करै ना
 रात्री-भोजन बरसा ऋतु मे
 रावरा सा राणा
 रवि मंडल को रोकै प्रखर प्रकाश
 रलता-नलत महा मुञ्जिल स्यू
 रोगप्रस्त इक गीध विहगम
 रौद्र ध्यान को पथ रोक कर
 लघी भगी लख चौरासी
 लक्ष्य कल्याण स्वपर करणो
 लाखा री राखी गई लाज
 लाखा लोग आज उपवासी
 लाग्या पेट भरण रै गेलै
 लोभी रै आ लगन करू
 लालच लाडू रो लन्यो रे
 वचन गुप्ति बिन भाषा समिति
 वज्र कपाट, कोट बिच बडसी
 वज्रादपि कठोर व्रत पालै

म० द्वा० गी० १० गा० १
 तृ० प्र० गी० ३८ गा० १
 म० द्वा० गी० २ गा० ४
 द्वि० प्र० गी० १६ गा० ७
 द्वि० प्र० गी० १० गा० ७
 तृ० प्र० गी० ३३ गा० ५
 म० द्वा० गी० १५ गा० ६
 प्र० प्र० गी० ३ गा० ४
 म० द्वा० गी० २० गा० ७
 च० प्र० गी० १० गा० १६
 प्र० प्र० गी० १७ गा० ७
 तृ० प्र० गी० १२ गा० ३
 द्वि० प्र० गी० १७ गा० ३
 च० प्र० गी० १४ गा० ७
 द्वि० प्र० गी० २२ गा० २
 च० प्र० गी० १२ गा० २१
 प्र० प्र० गी० १६ गा० ४
 च० प्र० गी० २ गा० ७
 च० प्र० गी० १३ गा० ६
 द्वि० प्र० गी० १२ गा० ३
 द्वि० प्र० गी० १३ गा० २
 द्वि० प्र० गी० १५ गा० १
 तृ० प्र० गी० ३६ गा० २
 तृ० प्र० गी० २० गा० ७
 द्वि० प्र० गी० १६ गा० ८
 म० द्वा० गी० ११ गा० २
 तृ० प्र० गी० २६ गा० ४
 च० प्र० गी० १७ गा० १
 च० प्र० गी० २१ गा० ५
 द्वि० प्र० गी० ७ गा० ३
 प्र० प्र० गी० १५ गा० ४
 च० प्र० गी० ८ गा० ७
 तृ० प्र० गी० ५ गा० ३
 तृ० प्र० गी० ८ गा० ३

वदन बचन अनुचित बदे
 वनमाला पति-पल्लव मूक्यो
 वर मद भरत मतग
 वसु, वसुन्वरा वरणी न किण री
 वस्तु विनिमय रो माधन
 वास्तव मे परकीय वस्तु रो
 बाह बलिष्ठता लोह-कुशी मै
 'विजयकवर' विजयासती
 विजय प्राप्त कर मोह महिष स्य
 विनय विहीन न पार्व ज्ञान विकाम
 विधियुक्त उभय टक पडिक्कमरणो
 विफल कियो कुल पुत्र रोष
 विविध शास्त्र स्य वीव नै
 विषभी वेतर्णी नदी
 विस्तृत वर्गान स्वामीजी कृत
 वीतराग अनुराग स्य
 वीतराग महाभाग त्यागमय मारो जीवन

आपरो
 वीतराग मोह, माया त्यागी
 वीर वीरता स्थूलिभद्र की
 'वेगवती' दृष्टान्त विलोको
 'वेगवती' भव मे मुनिवर पर
 वेणू देव सुपर्णकुवर मे
 व्यक्ति व्यक्ति मे है दृढ निष्ठा
 व्यसनी विषय-वासना मे तू
 'शस्त्रपोखली' 'अर्जुनमाली'
 'शस्त्रपोखली' भगवती म्त्रे
 शत्रु-भाव स्य निज दिल कलुषित
 शरणागत की शान रखारै
 शरणागत जन तारण कारण
 'शालिभद्र' अरु धन्य 'धन्व'
 शान्त करो सन्तोष सलिल स्य
 शान्त, दान्त, उपशान्त गुहागर
 शिव-माधन सामर्थ्य मनुज

द्वि० प्र० गी० २३ गा० २
 च० प्र० गी० १४ गा० ११
 च० प्र० गी० २१ गा० ३
 प्र० प्र० गी० २६ गा० २
 द्वि० प्र० गी० १७ गा० ५
 तृ० प्र० गी० १४ गा० ७
 द्वि० प्र० गी० ११ गा० ३
 च० प्र० गी० १२ गा० २४
 प्र० प्र० गी० २६ गा० ७
 द्वि० प्र० गी० १३ गा० ४
 च० प्र० गी० १० गा० १०
 द्वि० प्र० गी० ८ गा० ७
 प्र० प्र० गी० ४ गा० ८
 प्र० प्र० गी० ४ गा० ५
 तृ० प्र० गी० २३ गा० ५
 म० द्वा० गी० १२ गा० १

म० द्वा० गी० १४ गा० १
 म० द्वा० गी० २ गा० ५
 प्र० प्र० गी० १७ गा० ६
 तृ० प्र० गी० ३७ गा० ५
 द्वि० प्र० गी० २४ गा० ६
 च० प्र० गी० १२ गा० १२
 तृ० प्र० गी० ८ गा० ४
 प्र० प्र० गी० १७ गा० ३
 च० प्र० गी० १८ गा० ६
 च० प्र० गी० ११ गा० ६
 तृ० प्र० गी० ३५ गा० १
 तृ० प्र० गी० ६ गा० १
 म० द्वा० गी० १० गा० ४
 तृ० प्र० गी० २२ गा० ५
 द्वि० प्र० गी० १६ गा० ४
 म० द्वा० गी० ५ गा० ४
 तृ० प्र० गी० १६ गा० ७

डील मे न डील देखो डील भरै साखडी
 शुव दान हेतु है मुगति रो
 श्रमण-वर्म जो दश विध
 श्री अरिहन्त, सिद्ध, अणुगार
 श्री गुरुवर रै चरण सहारे
 'श्रीमल्ली' 'नेमीश्वरू'
 श्रीश्रेयासकुमार भरोले
 श्री मद्गुरु-मुख सुगियो आसव
 स्वासोच्छ्वास लहै पखवारै
 सकट-सरिता कोकाट करै
 सकट, सुख देणै वाला स्यू
 सकल्प-शक्ति निज
 सग छार, कर डार बगल मे
 सगम सगम स्यू यदि
 सचित सुकृत स्यू मिली सरे
 सजम मे राखो सदा रति
 सयम बढै आपरो पर रो
 सताप सलिल री गहराई
 सवत एके सुविलासे
 सगला पर मैत्री
 सगली भुगतै आपरी
 'मच्च भयव' सारभूय
 मज्झाय भाण मे
 सतगुरु-सगत स्यू नही रगत
 सतपुरुषारी सतसगत मे
 सत्य देव अरु धर्मादाक
 सत्य हीनता और अनडता
 सत् स्वाध्याय, ध्यान नुम व्याकर
 सद्गुरु भुगत-पथ रा मेढी
 सदिया, भदिया, कदिया आवक
 सदिया, भदिया भेला यासी
 सन्त तो साचे हीं म्हारै भाये रा मोर है
 सन्ता री सगत मे
 सपने मे भी सुख नही

म० द्वा० गी० १७ गा० ६
 च० प्र० गी० २२ गा० ७
 द्वि० प्र० गी० १० गा० १
 तृ० प्र० गी० ७ गा० १
 म० द्वा० गी० १६ गा० २
 च० प्र० गी० १० गा० २२
 च० प्र० गी० २० गा० ७
 तृ० प्र० गी० १६ गा० ५
 प्र० प्र० गी० ३ गा० ६
 तृ० प्र० गी० १० गा० १
 तृ० प्र० गी० ३४ गा० ५
 तृ० प्र० गी० १ गा० ६
 म० द्वा० गी० १६ गा० ७
 द्वि० प्र० गी० १० गा० ५
 प्र० प्र० गी० २८ गा० १
 द्वि० प्र० गी० २७ गा० ७
 च० प्र० गी० ३ गा० ७
 तृ० प्र० गी० १० गा० २
 म० द्वा० गी० ७ गा० ७
 तृ० प्र० गी० १ गा० १३
 तृ० प्र० गी० १२ गा० २
 म० द्वा० गी० १६ गा० ६
 तृ० प्र० गी० १ गा० ११
 तृ० प्र० गी० ११ गा० ५
 प्र० प्र० गी० ६ गा० ४
 च० प्र० गी० १६ गा० १०
 द्वि० प्र० गी० ५ गा० २
 तृ० प्र० गी० २४ गा० ४
 म० द्वा० गी० १६ गा० ६
 च० प्र० गी० १६ गा० ४
 च० प्र० गी० १७ गा० ३
 म० द्वा० गी० १७ गा० ३
 तृ० प्र० गी० १ गा० १०
 तृ० प्र० गी० १२ गा० ४

सप्तम तत्त्व मतत्व समभ मन
 सप्ता मणानी मात रात दिन
 सत्य, शील सन्तोष, शान्ति रो
 नबरो मुत पर पूरी प्रीति
 सबसे पहले काया रो निरोध है जरूरी
 नमस्ति धर पिण सान बात रो
 समकिन ही मजबूत मूल है
 सम छत्र जीवनिकाय मे
 सम्पति तरु को मूल ह
 सम्पति विपति, विपति अरु सम्पति
 सरल हृदय समभाव मित्रता
 सर्वदर्शी सर्वज्ञ शरण मे
 सहज प्राप्य सयम, तप स्य जो
 सहज रूप कर करुणा
 सहज, सकाम, अकाम भेद स्यू
 सहि निर्विकार निर्मोही
 सहि मुक्ति-महल रा वासी
 सहो कष्ट प्राणात प्राण-प्रिय
 साच भूठ मब भूल ठगै
 सावत्सर दिन जीवन जिणरो
 साक्षात्कार हुवै यदि साहिब
 सागर मे जिम रमण सयभू
 साठ घडी हुवै रात दिवस की
 सात-सात पीढ्या रो सासो
 साथी अभिन्न तब है विवेक
 सादो जीवन बणाओ
 साधू ब्रह्मचर्य नव गुप्ति
 सामायक सबर पडिकमणो
 साय शुभ प्रतिकमण करासी
 सारभूत नव तत्त्व मुरगा
 सारी जोण्या सिगै रे
 सारी सामग्री पा, जो नही
 सारी रत जगा रे
 सात्र काम तमाम त्याग

तृ० प्र० गी० २५ गा० ५
 प्र० प्र० गी० १२ गा० ८
 प्र० प्र० गी० २० गा० ६
 च० प्र० गी० १ गा० ३
 च० प्र० गी० ६ गा० ३
 प्र० प्र० गी० ३० गा० ६
 तृ० प्र० गी० २८ गा० १
 म० द्वा० गी० १२ गा० ४
 च० प्र० गी० १२ गा० ६
 द्वि० प्र० गी० १ गा० ७
 द्वि० प्र० गी० १५ गा० ५
 म० द्वा० गी० १३ गा० ७
 तृ० प्र० गी० ३१ गा० ६
 म० द्वा० गी० ८ गा० ४
 तृ० प्र० गी० २३ गा० १
 म० द्वा० गी० ७ गा० ६
 म० द्वा० गी० १ गा० २
 च० प्र० गी० ४ गा० ७
 द्वि० प्र० गी० २८ गा० २
 च० प्र० गी० १६ गा० २
 म० द्वा० गी० ३ गा० ४
 च० प्र० गी० १२ गा० १०
 प्र० प्र० गी० २१ गा० ६
 म० द्वा० गी० २० गा० ३
 तृ० प्र० गी० २६ गा० ५
 द्वि० प्र० गी० १७ गा० ८
 प्र० प्र० गी० १६ गा० ७
 प्र० प्र० गी० २० गा० १
 च० प्र० गी० १७ गा० ४
 तृ० प्र० गी० २६ गा० ७
 प्र० प्र० गी० १५ गा० १
 प्र० प्र० गी० १ गा० ४
 तृ० प्र० गी० ३६ गा० ८
 च० प्र० गी० १६ गा० ६

सावद-निरवद दो अनुकम्पा
 साश्वद आतम नाव पुराणी
 साश्वद आतम नाव पुराणी
 'सिचित समता सलिल स्यू
 'सिद्ध, सिद्ध सब कारण कीन्हा
 सीखो हमेश मन नै अपणै वश राखणो
 सुकृत अरु दुष्कृत रे
 सुकृति, सुचरित भरित दिल सागर
 सुख-दुख मै 'शरण चत्तारी'
 सुख-धाम सदा तू आत्म-राम
 सुख मे थारा सारा साथी
 सुख-साधन सन्तोष
 सुखी बणै सब प्राणी जग रा
 सुख हित की बात सुहाली
 सुणी हुसी जितशत्रुराय
 सुणो नित्य व्याख्यान ध्यान स्यू
 सुत सुविनीत कर्कशा नारी
 सुन्दर अशन, वसन, भूषण को
 सुन्दर कही स्वर्ग मन्दिर मे
 सुमरण स्यू भय नाशै-नाशै
 सुमरी तुम 'कुडरीक' करणी
 सुर्गा मे सुख शय्या पाई
 सूता सूता थारी बेला
 सूता सूता समय बितायो
 सूत्या काल राज महला मे
 सूत्र, अर्थ, तदुभय आगम रो
 सूनी ही काकडया 'रु सुना घर बारणा
 सैण सनेही स्वारथ रा
 सोबू बात प्रभात रात
 सोना, चान्दी कितना सचो
 सोवन-लका बणी विराणी
 स्थविर, तपस्वी, बालक, ग्लान
 स्याणा-स्याणा माणस बाजै
 स्वर्गापवर्ग छवि छाई

तृ० प्र० गी० २६ गा० ३
 म० द्वा० गी० ४ गा० २
 तृ० प्र० गी० २१ गा० ३
 च० प्र० गी० १२ गा० २
 तृ० प्र० गी० ८ गा० २
 च० प्र० गी० ७ गा० ६
 प्र० प्र० गी० १४ गा० ६
 तृ० प्र० गी० ३७ गा० ३
 तृ० प्र० गी० ५ गा० ५
 तृ० प्र० गी० २६ गा० २
 तृ० प्र० गी० ५ गा० ४
 द्वि० प्र० गी० १७ गा० ७
 तृ० प्र० गी० ३४ गा० ६
 तृ० प्र० गी० ४१ गा० ३
 द्वि० प्र० गी० ६ गा० ४
 च० प्र० गी० १३ गा० ३
 तृ० प्र० गी० ६ गा० २
 तृ० प्र० गी० १६ गा० ६
 तृ० प्र० गी० ३१ गा० २
 म० द्वा० गी० १३ गा० ६
 द्वि० प्र० गी० २७ गा० ५
 प्र० प्र० गी० ६ गा० १
 प्र० प्र० गी० २२ गा० ६
 प्र० प्र० गी० ६ गा० २
 तृ० प्र० गी० २ गा० ४
 म० द्वा० गी० ५ गा० २
 म० द्वा० गी० १७ गा० २
 तृ० प्र० गी० २ गा० ६
 प्र० प्र० गी० १७ गा० ५
 द्वि० प्र० गी० १५ गा० ४
 द्वि० प्र० गी० १ गा० ६
 तृ० प्र० गी० ३६ गा० ४
 च० प्र० गी० १६ गा० १
 तृ० प्र० गी० ३० गा० २

स्वर्गा मे सदा विलासी
 स्वर्गा-सी मानी म्हेजा
 स्वारथ स्यू मभूत सारी
 हय, हाथी, नाहर, बघेरा
 हंसित कही अनुकूल स्थिति मे
 हलवै-हलवै मारग हालो
 हवा स्यू भी तेज थारे मनडै री चोल है
 हस्तिनागपुर जगम सुरगिरि
 हा जठै महल महलायत
 हा धन हा धन की धुन भारी
 हिलर की फोजा
 हित अणहिन के हुवै
 हित शिक्षा सुण यदि कोई कोपै
 हिंसा आदिक पाच पाप जो
 हिंसा, वितथ, अदत्त, विषय-रस
 ही जठै रात दिन उठती
 हुई जकी अण हुई बतावण
 हृदय-विदार अपार वेदना
 हृदय विशाल 'समुद्रपाल' सम
 हृदय सरलता है अति सुन्दर
 हृदयहार जीवन री ज्योति
 हृदयागणरी आब बढावै
 है आहू ही प्रवचन माला
 है आत्म-रक्षिका भारी
 है उपाध्याय अधिकारी
 है कुटुम्ब सम मगला प्राणी
 है कूच की नौबत बाज रही
 है गुरु दिव्य देव घर-घर का
 है चर्या सात्विक माधुकरी
 है धर्म अहिंसा भारी
 है पतन कुसग प्रभावै
 है बढी बला सजम बहणो
 है विषम करम-गति दुनिया मे
 है शिक्षा अति बहु मोली

प्र० प्र० गी० ५ गा० १
 तृ० प्र० गी० ३ गा० १
 तृ० प्र० गी० ३ गा० ६
 प्र० प्र० गी० ५ गा० ६
 तृ० प्र० गी० १५ गा० ३
 च० प्र० गी० १० गा० ५
 च० प्र० गी० ७ गा० २
 च० प्र० गी० २१ गा० ६
 तृ० प्र० गी० ४ गा० २
 तृ० प्र० गी० ६ गा० १
 द्वि० प्र० गी० १२ गा० ४
 द्वि० प्र० गी० ७ गा० ५
 तृ० प्र० गी० ४० गा० ३
 तृ० प्र० गी० २० गा० ३
 च० प्र० गी० ११ गा० २
 तृ० प्र० गी० ४ गा० ४
 द्वि० प्र० गी० ४ गा० ३
 तृ० प्र० गी० १४ गा० ३
 तृ० प्र० गी० १८ गा० ६
 द्वि० प्र० गी० १६ गा० १
 म० द्वा० गी० १३ गा० ८
 तृ० प्र० गी० २८ गा० ५
 च० प्र० गी० १० गा० ६
 तृ० प्र० गी० ४१ गा० २
 म० द्वा० गी० ७ गा० ४
 तृ० प्र० गी० ३४ गा० २
 प्र० प्र० गी० ७ गा० २
 म० द्वा० गी० १६ गा० १
 च० प्र० गी० २२ गा० ५
 द्वि० प्र० गी० ३ गा० १
 प्र० प्र० गी० २७ गा० ७
 द्वि० प्र० गी० २७ गा० २
 प्र० प्र० गी० ८ गा० ५
 तृ० प्र० गी० ४१ गा० १

है सन्तोष शान्ति रो साधन
है सिद्ध सिद्धशिल वासी
हो, कोधित कोई गाली देव
होवै एकाग्र जीव मनो गुणि गुप्त ही

म० द्वा० गी० २० गा० १
म० द्वा० गी० ७ गा० २
तृ० प्र० गी० ३४ गा० ३
च० प्र० गी० ७ गा० ८

